वराह-पुराण

एक सांस्कृतिक अध्ययन

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय

7225

में प्रस्तुत

डी० लिट० शोध-प्रबंध

१९७५ ई०

डॉ० अवधविहारी लाल अवस्थी

587

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

श्रद्धेय
पूज्यपाद
गुरुवर
डॉ० बी० यन० पुरी डी० फ़िल (ऑक्सन)
प्रोफ़ेसर, व अध्यक्ष
प्रा० इति० पु० विभाग
लख० वि०

State Museum Library
7225
Lucknow

अवध बिहारी
अन्तेवासी

वराह-पुराण

एक सांस्कृतिक अध्ययन

State Museum Library Lucknow
7225

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रो बी एन० पुरी संग्रह
लखनऊ

में प्रस्तुत

डी० लिट० शोध-प्रबंध

१९७५ ई०

डॉ० अवधविहारी लाल अवस्थी

भूमिका

कृष्णो विष्णुः सुरेशो नुदतु मम रिपूनादिदेवो वराहः ।[1]

आधुनिक विद्वानों का ध्यान वराह पुराण की ओर नहीं गया है । १९६४ ई० में इंटरनैशनल कांग्रेस आफ ओरियन्टलिस्ट्स (न्यू देहली) के क्लासिकल सेक्शन में श्री आनन्द स्वरूप गुप्त शास्त्री (पुराण-संस्थान, काशी) ने अपना निबन्ध `पुराणों की व्याख्या` (`प्राबलम्स आन इन्टरप्रेटिंग दि पुराणाज़`) पढ़ा, तो मैंने उनसे निवेदन किया कि जिन सिद्धान्तों का उन्होंने उल्लेख किया है, क्या उन्हें उन्होंने किसी पुराण की व्याख्या करने में लगाये हैं? उन्होंने वराह पुराण का नाम लिया । मैंने पुनः उनसे पूछा कि वराह पुराण में उल्लिखित धर्मों की उत्पत्ति (वराह, अ० ३२) के विषय में उनका क्या विचार है । डॉ० काणे भी पास ही बैठे हुए थे । मैंने वराह पुराण में धर्म एवं इसके महत्व पर संक्षेप में संकेत किया था । उस समय से आज तक मेरी दृष्टि में वराह पुराण पर शोध-कार्य की ओर प्रवृत्त किसी महद्-व्यक्ति का दर्शन नहीं हुआ । तीन सूर्य-मन्दिरों का विवेचन करते हुए डॉ० मीराशी और सूर्य-धर्म पर विवेचन करते हुए डॉ० वी०सी० श्रीवास्तव ने इसका उल्लेख किया है । xx xxxx पुराने आचार्यों (विल्सन, विंटरनिट्ज़ और हाज़रा) ने भी इस पुराण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया । डॉ० हाज़रा ने धर्मशास्त्र सम्बन्धी उद्धरणों की समीक्षा करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ `पुराणिक रिकॉर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स ऐन्ड कस्टम्स` में इसका विषय-विवेचन किया है, तथापि उन्होंने विल्सन का अनुगमन करते हुए माना है कि यह एक वैष्णवों के लिये

---

[1] वराह, ११२

छोटा पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ ही है। किन्तु इसके सम्यक् अध्ययन (अ० १) से प्राचीन भारतीय भूगोल (अ० २), राजनीति (अ० ३), समाज (अ० ४), आर्थिक जीवन (अ० ५), धर्म (अ० ६), दर्शन (अ० ७) और शिक्षा तथा साहित्य (अ० ८) पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उत्तर में हिमालय पर स्थित बद्री, हृषीकेश, कोकामुख और नेपाल (धर्मारण्य, त्रिवेणी) से लेकर दक्षिण समुद्र के निकटस्थ सानन्दूर और काँची तक तथा पश्चिम में प्रभास से लेकर पूर्व में पुरुषोत्तम (पुरी) तक स्थित पवित्र धामों (तीर्थों) का वर्णन मिलता है। इससे वराह पुराण सम्पूर्ण भारत-भूमि का परिचय कराता हुआ राष्ट्र-भक्ति का सन्देश देता है। यही सन्देश, अन्तिम पृष्ठ पर उल्लिखित `सर्वशान्तिक' मन्त्र से भी मिलता है, जिसमें कहा गया है कि हमारा राष्ट्र सभी प्रकार से सशक्त और समृद्ध हो।

इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वराह पु० के अध्यायों में वर्णित विषयानुक्रमणी तथा वराह पु० के विषय में विल्सन, विंटरनिज़, हाज़रा प्रभृति पूर्वाचार्यों के मतों की परीक्षा करते हुए वराह पुराण के युग का काल निर्धारित किया गया है। डा० हाज़रा ने इसका समय ईसा की आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच माना है।[1] गाहड़वाल सम्राट् गोविन्दचन्द्र के प्रधानमन्त्री लक्ष्मीधर ने अपने विशाल ग्रन्थ `कृत्यकल्पतरु' में वराह पुराण के विभिन्न अध्यायों को उद्धृत किया है। हमने इन अध्यायों के तुलनात्मक अध्ययन से भी यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि लक्ष्मीधर और गोविन्दचन्द्र के पूर्व वराह पुराण विद्यमान था। अतः डा० हाज़रा और इस समीक्षा के आधार पर वराह पुराण का समय ईसा की दसवीं शताब्दी के आस पास ही होना चाहिए। यह गुर्जर-प्रतिहार-युग का वह समय था, जब कान्यकुब्ज में `मिहिर' (सूर्य) प्रभावित होकर भोज आदिवराह प्रथा को अपना कर रहा

---

[1] पु०रि०हि० रा०क०, पृ० ९६-१०५

था । किन्तु शत्रु (असुर, तुरुष्क) प्रबल थे जिनके प्रवाह में डूबती हुई धरा का उद्धार करने के लिये आदिवराह का स्मरण किया गया है :-

कृष्णो विष्णुः कुरुतु मम रिपूनादिदेवो वराहः ।[1]

इस प्रकार, प्रथम अध्याय में बताया गया है कि वराह पुराण का युग कान्यकुब्ज-साम्राज्य के उत्कर्ष का युग था । इसी युग में कान्यकुब्ज के अतिरिक्त कालिंजर, माहिष्मती, एकलिंग तथा दक्षिण में कांची राज्य उन्नत दशा में थे । अस्तु वराह पुराण का युग पूर्व मध्यकाल का वह समय था जब प्रतिहार वंश समुन्नत दशा में था और धीरे-धीरे चन्देल, चौहान और कलचुरीवंश तथा दक्षिण में चोलवंश भी उदीयमान थे ।

द्वितीय अध्याय में भूगोल का वर्णन करते हुए दिखाया गया है कि वराह पुराण का भुवनकोश अधिकांशतः वायुपुराण के भुवनकोश के अध्यायों पर आधारित है । किन्तु वाराही भूगोल-संहिता की अपनी विशिष्टताएं भी हैं जिनसे सम्पूर्ण पुराण-साहित्य में इसका महत्व परिलक्षित होता है । भारतवर्ष के नवभेदों में नवें द्वीप को यहां भारत (द्वीप) कहा गया है । यह तथ्य महत्वपूर्ण है । बहुत से पर्वतों (यथा चित्रकूट), नदियों, नगरों (यथा अयोध्या, काशी आदि) और वनों (यथा मथुरा मंडल के १२ वनों) आदि का उल्लेख तीर्थरूप में भी हुआ है, किन्तु इसका अधिकांश वर्णन इसी अध्याय में किया गया है ।

पौराणिक भुवनकोश से मध्य एशिया में वक्षु (आक्सस), सीता-भद्रा (तरीम-यारकन्द) नदियों की घाटियों, विशेषकर भद्राश्ववर्ष (चीन) पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । वराहपुराण में महाराज दुर्जय द्वारा भारतवर्ष के अतिरिक्त किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष, रम्यक, कुरु (उत्तर कुरु) भद्राश्व और इलावृत की विजय का वर्णन करते हुए उनके द्वारा जम्बूद्वीप की विजय का वर्णन

---

[1] वराह, १।२

अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।[1] यह भारत और मध्य एशिया तथा चीन के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की परिचायक घटना है ।

अध्याय तीन में राजधर्म और राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया गया है । वराह पुराण में कोई ऐसा खण्ड नहीं है जिसमें राजनीति-समुच्चय मिलता हो । यथा - अग्नि, मत्स्य और गरुड़ आदि में प्राप्त होता है । विभिन्न स्थलों पर बिखरी हुई सामग्री के संकलन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि राज्य, सप्तांग राज्य तथा राजधर्म ही प्राचीन राज्यव्यवस्था के मूलाधार थे । राजवृत्त, राजगुण, और भूमि-पालन-व्यवस्था (राजधर्म) के विविध पक्षों तथा युवराज और अन्य राज्यांगों के महत्व, स्वरूप एवं कार्यों का विवेचन किया गया है । वराह पुराण से ज्ञात होता है कि धर्म का राजनीति में क्या महत्व था ? धर्म ही राज्य की वह नियामिका शक्ति थी जिसे ‘स्टेट’ या ‘आर्गनाइज्ड फ़ोर्स’ (सबाइन) कह सकते हैं । किन्तु धर्म भी दण्ड के बिना असहाय ही था । इसीलिये मनु (७।१४) ने भी कहा है -

> तस्यार्थे (अथवा तदर्थं) सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
> ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ।।

यहाँ, और वराह में वर्णित धर्मोत्पत्ति (अ० ३२) से यही सिद्ध होता है कि धर्म ही वास्तविक शासक था’[2] (‘हिन्दू थाट काउन्ट्स धर्म ऐज़ दि ट्रू सावरेन आफ़ दि स्टेट’) ।

शासन-व्यवस्था में सामन्तों और राजपुरुषों पर भी विचार किया गया है । मन्त्री, दूतों और सेनानायकों का विशेष महत्व था । ‘नायक’ का विशेष महत्व था । इसके अभाव में विजय और व्यवस्था (पालन,

---

[1] वराह, ९०।३७-४०

[2] डा० आर०के० मुकर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य ऐण्ड हिज़ टाइम्स, पृ० ४६

रक्षण) संभव न था । यही राजत्व के उदय का वैदिक सिद्धान्त है ।

अध्याय चार में विश्व-तनु (विराट् पुरुष) के अंगों से उत्पन्न वर्णोत्पत्ति में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का विशेष महत्व था । वर्णाचार में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के अपने अपने निर्धारित कर्तव्य थे । सभी के लिये स्वधर्म पालन करना अत्यावश्यक था । आश्रमाचार, संस्कारों, विवाह, परिवार एवं दाम्पत्यजीवन, पंचमहायज्ञ श्राद्ध, दान, कर्म-विपाक (एवं प्रायश्चित्त-विधान) प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं जिन पर वराह पुराण एवं अन्य ग्रन्थों की सहायता से विचार किया गया है । तत्कालीन अन्न-पान, वस्त्राभूषण एवं आमोद-प्रमोद पर भी प्रकाश पड़ता है ।

अध्याय पाँच में आर्थिक-जीवन का वर्णन किया गया है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धन की आवश्यकता है । धन से ही गृहकृत्य भी किये जाते हैं (करोति गृहकृत्यानि धनोपायेन नित्यशः)[१] । धन से ही धर्मकार्य (दान आदि) और भोग में भी धन का व्यय होता ही है । धन के अभाव में भरणीय कुटुम्ब (पोष्य वर्ग) के भोजन आदि की चिन्ता भी होती है ।[२] धन प्राप्ति का साधन वणिज्याप[३] था । वराह पुराण से प्राचीन भारत के व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । व्यापारी मध्यदेश में स्थित मथुरा से उत्तरापथ तक और उत्तरापथ से मथुरा तक और इसी प्रकार मथुरा के पूर्वमंडल तक व्यापारी पण्य लिये हुए घूमते रहते थे ।[४] पूर्व मंडल के आगे भी लाभालाभविचक्षण व्यापारी `बहूनि बहुमूल्यानि परदेशगमानि सुपण्यानि` लिये हुए यातायात

---

१. वराह, १५५।८(१)
२. वही, १७०।३१-३२
३. वही, १७०।३३(१)
४. वही, १७०।३३(२)-३४, ७१-७२

करते रहते थे ।[1] समुद्रयानों द्वारा समुद्रयायी व्यापारी रत्नहारी सार्थों के साथ समुद्र-द्वीपों (द्वीपान्तर) में भी जाते थे । वराह में वर्णित समुद्र-यात्रा और उसमें दुर्गति के प्रकोप को पढ़कर फाहियान की वापसी चीन-यात्रा का स्मरण होता है ।[2] मथुरा के इस चतुर्दिक महत्व के कारण ही वह जम्बूद्वीप का प्रथित नगर था -

> इन्द्रस्येव पुरी रम्या यथा नाके मरावती ।
> जम्बूद्वीपे तथोत्कृष्टा मथुरा मम वल्लभा ।।[3]

अभी मथुरा की समृद्धि, शोभा और तीर्थायतन-मंडित-कला[4] पर क्रूर विध्वंसक का घातक-स्पर्श (महमूद गज़नवी) नहीं हुआ था ।

वाणिज्य के अतिरिक्त कृषि, पशुपालन और उद्योग भी होते थे । कृषि-विधान में सीता यज्ञ का महत्व था । राजा ही सस्य रक्षक था । भृत्य-वर्ग भी आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग था । सिक्कों का भी उल्लेख हुआ है ।

अध्याय ६: में धार्मिक जीवन का वर्णन किया गया है । वराह पुराण महत्वपूर्ण धर्म-संहिता है जिसमें धर्म (वराह अ० ३२) का महत्व दिखाया गया है । यह भगवच्छास्त्र है जिसमें वराह (आदिवराह) का महत्व बताते हुए भागवतधर्म के विभिन्न पक्षों का प्रतिपादन किया गया है । भगवान् विष्णु-नारायण ही पर ब्रह्म पुरुषोत्तम हैं । उन्होंने स्वनिर्मित-सेतु की रक्षा करने के लिये विभिन्न अवतारों को धारण किया था । इनमें कृष्ण-वासुदेव का विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया है । कृष्ण-पूजा, कृष्ण-

---

[1] वराह, १७०।३४-३५

[2] वही, अ० १७१

[3] वही, १५६।८

[4] वही, अ० १६०

दर्शन और कृष्ण-स्तुति का महत्व प्राप्त होता है (वराह, ९६।१२-१३, २१-२३)। स्वयं वासुदेव ने अपने धर्म के उदय और विकास का विवरण दिया है। उन्होंने धार्मिक-मात्सर्य की निन्दा की। वराह पुराण ने इसे ही सनातन विष्णुधर्म कहा है। भागवती-दीक्षा का भी वर्णन किया गया है। भागवत्-धर्मों (भक्तों के कार्याकार्य) का विवेचन करते हुए ३२ अपराधों और उनके हो जाने पर उनकी निष्कृतियों (प्रायश्चित्तों) का वर्णन किया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी का माहात्म्य तथा गीता के विचारों से स्वधर्म पालन करने की प्रेरणा दी गई है। दीन, हीन, चाण्डाल और व्याधों को भी भक्त रूप में चित्रित पाते हैं। इससे भागवत धर्म की उस संजीवनी शक्ति का स्वरूप परिलक्षित होता है जिसने पाषण्ड-पथ (बौद्ध एवं जैनधर्म) को हेय सिद्ध कर दिया (द्रष्टव्य, कृष्णमिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय)। नग्न-कापालिक-पाषण्डों की निन्दा की गयी है। भागवत धर्म सभी के कल्याण का सुगम मार्ग स्तुति, तीर्थ, व्रत, दान, संयम (यम, नियम) और ध्यान पर आधारित था। भगवान् निष्किन्चनों के प्रिय थे।

शिव और शैव धर्म का भी महत्व कम न था। शिव-नारायण का अभेद-दर्शन ही श्लाघ्य था। शैव तीर्थों - गोकर्ण (नेपाल), कालन्जर, एकलिंग का भी महत्व था। शक्ति (देवी), त्रिमूर्ति, सूर्य, गणेश, कार्तिकेय और नवग्रहों की भी पूजा होती थी। ऋतुओं, तिथियों और उनसे सम्बन्धित विविध व्रतों का माहात्म्य विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस के साथ-साथ अनाशक-व्रत और देह-त्याग का महत्व प्राप्त होता है। प्राय: सभी तीर्थ प्राण-त्याग के लिये प्रसिद्ध थे। वराह पुराण में तीर्थों का विशद वर्णन किया गया है। मथुरा माहात्म्य (अ १५२- अ १८०) का विशेष वर्णन किया गया है। मूर्ति-पूजा होती थी और विभिन्न प्रकार की सामग्री यथा, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, धातु और रत्नों से प्रतिमाएं बनायी जाती थीं। यहां हम तीर्थों का विवेचन नहीं कर रहे हैं।

अध्याय सात में दर्शन के क्षेत्र में पुराणों, विशेषकर वराह पुराण, के दार्शनिक महत्व का विवेचन करते हुए वराह-दर्शन पर गीता-दर्शन का साम्य दिखलाया गया है। अग्नि-विस्फुलिंग के दृष्टान्त द्वारा भेदाभेद दर्शन के सिद्धान्त का परिचय दिया गया है। यह आचार्य भास्कर का प्रथित मत था। सांख्य, योग और वेदान्त प्रसिद्ध दर्शन थे जिनका आस्तिक समाज पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा था।

अध्याय आठ में शिक्षा और साहित्य के विषय में उपलब्ध सामग्री के आधार पर शिक्षा, विद्या-महत्व, शिक्षा-केन्द्र, शिष्य-अध्यापक, अध्ययन और अध्यापन के विषय एवं वाङ्मय पर प्रकाश डाला गया है। ऐसे आश्रमों का चित्र मिलता है जहाँ शिष्यगण सामवेद का घोष करते थे।

इस प्रकार इन आठ अध्यायों में वराह पुराण से उपलब्ध वस्तु-सामग्री के आधार पर सांस्कृतिक जीवन का वर्णन यथासम्भव रूप से किया गया है। वराह पुराण के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध साक्ष्यों द्वारा भी विचारों की पुष्टि की गयी है। इसके प्रणयन में गुरुवर डा० बी० एन० पुरी (अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, लखनऊ वि०वि०) का निर्देशन प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन के बहुमूल्य समय को देकर इसके विषय-विवेचन और इसके निरूपण में कष्ट-साध्य श्रम किया है जिसके लिये उनका एक अकिन्चन शिष्य अत्यधिक आभार मानता है। स्व० डा० के० सी० पाण्डेय ने अपने सुझावों और पथ-प्रदर्शन से अत्यधिक अनुगृहीत किया था।

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका अ -

संकेत सूची क - ङ

अध्याय १ - वराह पुराण (वाराह शास्त्र) १-२५

वराह-माहात्म्य का प्रतिपादक वराह पुराण-भगवच्छास्त्र २-३

वराह पुराण के अध्यायों का विषय-विश्लेषण ३-९

वराह पुराण और विविध मत ९-१०

वराह पुराण का युग-निर्धारण-भूगोल, व्यापार, पैदावार-युग, भागवत पथ समाज और शिक्षा ११-१५

लक्ष्मीधर (कृत्यकल्पतरु) एवं वराह पुराण समीक्षा १५-२१

वराह पुराण और आदिवराह (भोज) २२-२३

मथुरा, कान्यकुब्ज (महागृहोदय-महोदय),
कलिंग और कांची राज्य
प्रभास, कालिंजर और एकलिंग माहात्म्य-भूमिखण्ड २३-२५

अध्याय २ - वाराही भूगोल संहिता २६-१४२

वाराही-संहिता, भुवन-कोश-भू-विद्या, वाराही भूगोल संहिता,
भू-विद्या (क्रम-मार्ग) २६-२७

वायु एवं वराह पुराण के भुवनकोश की समीक्षा २७-२९

वाराही भुवनकोश की मौलिकता-भारतद्वीप (कुमारीद्वीप) २९

वराह पुराण का भौगोलिक महत्व ३०

वराह पुराण कालीन भारत ३०-३१

भौमिक विस्तार ३२-३३

पृथ्वी, भूचित्रण ३४

द्वीपाख्यान- चतुर्द्वीपा पद्मा एवं सप्तद्वीपा मही ३५-३७

सप्तद्वीपा मही -सप्तद्वीप ३७-४२

जम्बूद्वीप - वर्षपर्वत और वर्ष ४२-५२

भारतवर्ष - भारतमहिमा (कर्मभूमि), स्थिति ५३-५५

नवभेद (नवद्वीप) ५६-६७

देश विभाग ६८-६९

जनपद ७०-७७

नगर (पुर, पुरी, पत्तन आदि) ७७-८२

पर्वत - विविध पर्वत श्रेणियां, वर्षपर्वत ८३-९२

कुल पर्वत ९२-९८

क्षुद्र पर्वत - कुलात्मक - तालिकाएं और वर्णन ९९-११३

नदियां - कुलनदियां एवं क्षुद्रनदियां ११४-१३८

वन-श्री १३९-१४०

उपसंहार १४१-१४२

अध्याय ३ - राज्य-व्यवस्था एवं राजधर्म १४३-२२६

प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र के अध्ययन में वराह पुराण का महत्व १४३-१४४

नीति का महत्व १४४-१४५

राजधर्म का महत्व १४५-१४७

राज्य और उसकी उत्पत्ति - पालक धर्म १४८-१५३

सप्तांग - सप्त प्रकृतियां, राज्य-भेद १५४-१५५ १५६-१६६

राजत्व - १५६-१९९

राजा का महत्व- राजा की उत्पत्ति (धार्मिक सिद्धान्त)- राजगुण एवं राजलक्षण - कर्तव्य

(व्यसन-मीमांसा) शिक्षा- युवराज-उत्तराधिकार-
नियम-राजमुद्रा- राज्याभिषेक (राजमहिषी, अमात्य
एवं पौर जानपद) - परिषात्कापदेश- राजधर्म (राजा
के कर्तव्य) - प्रजापालन, प्रजाराग, प्रजाप्रमोद, उत्थान
(उद्योगशीलता) - आत्मरक्षा, राज्यरक्षा, और धर्मकर्म
(धार्मिक कर्तव्य) - प्रशासकीय कार्य - आह्निक कर्म,
उपाधियां, चक्रवर्तित्व, राजा और प्रजा

अमात्य - २००-२०४

अमात्य का महत्व, मंत्रिपरिषद, मंत्रिमंडल, मंत्रियों
की संख्या, मंत्रियों की शिक्षा, मंत्रियों के कार्य (मंत्रणा)

पुरोहित २०५

सभा, समिति, जनसंद २०६-२०७

बल (सैन्य-व्यवस्था) - २०८-२११

चतुरंग बल, आयुधागार एवं आयुध, वाहन, सेनापति,
युद्धमाया

कोश २१२

दुर्ग २१३

मित्र २१४

राष्ट्र २१५

उपाय-नीति (`डिप्लोमेसी`- राजनय) २१६-२१७

शासन-व्यवस्था - २१८-२२२

शासन-सिद्धान्त, सार्वभौमराज्य, सर्वलोकहित, सर्व-
धर्मनिष्ठा, प्रजानन्द, पौरजानपद-तुष्टि, धर्म और
दण्ड, धार्मिक शासन, भूमि-भाटक व्यवस्था

सामन्त २२२

राजभृत्य २२३-२२५

उपसंहार २२६

अध्याय ४ - समाज व्यवस्था और सामाजिक जीवन २२७-३०८

प्राचीन भारतीय समाज की विशिष्टताएँ - समाज और धर्म २२७
धर्म और लोक-कल्याण २२८-२३०
वराह पुराण और धर्मशास्त्र २३०-२३१
चातुर्वर्ण्य विधान - वर्णोत्पत्ति, पंचमवर्ण, वर्णसंकरता २३२-२३६
स्पृश्य-अस्पृश्य, ऊँच-नीच भावना, वर्णावर्ण-विवेक २३७-२३८
वर्णधर्म (ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्तव्य)
वर्ण धर्म, वर्ण तथा कर्म-गुण २३८-२४०
ब्राह्मणों के कर्तव्य - षट्कर्म (ब्राह्मण), त्राणधर्म (क्षत्रिय),
वार्ता (वैश्य) २४१-२४३
क्षत्रिय-कर्म २४४-२४५
वैश्य-कर्म २४५-२४६
द्विजाति २४६
शूद्रकर्म २४७
वर्ण संकर २४७
व्यवसाय एवं जातियाँ २४८-२५२
आश्रमधर्म - २५३-२६२
ब्रह्मचारी एवं गार्हस्थ्यधर्म (पंचमहायज्ञ, पूजा एवं लोकहित
(पंचकर्म), आतिथ्य २५४-२६०
वानप्रस्थ - संन्यास (काम परित्याग) २६१-२६२
संस्कार - गर्भाधान से मृत्यु संस्कार तक २६३-२७४
विवाह- पाणिग्रहण-उत्सव, दाम्पत्य, पत्नी,
दाम्पत्य-प्रीति एवं प्रीति-विच्छेद, अनुलोम-
प्रतिलोम एवं सजातीय तथा अन्तर्जातीय
विवाह, अनेक पत्नीकता
मृतकसंस्कार २७५-२७८

नारी-जीवन २७६-२८७
अन्न-पान २८८-२९२
वस्त्राभूषण एवं अलंकार २९३-२९६
आमोद-प्रमोद २९६-२९९
कर्म-विपाक, अपराध, अगम्यागमन ३००-३०१
शुभाशुभ कर्म और प्रायश्चित्त (नाचिकेताख्यान) ३०२-३०४
उपसंहार ३०५-३०८

अध्याय ५ - आर्थिक जीवन ३०९-३५२

१. वराह पुराण और प्राचीन भारत का आर्थिक जीवन ३०९-३१०
२. अर्थ का महत्त्व ३१०-३१३
३. वसुन्धरा (भारत-भूमि) ३१३
४. वार्ता (वैश्य-कर्म) ३१३-३१४
५. कृषि - कृषि का महत्त्व, कृषि-विधान (सीता-यज्ञ), ३१५-३२०
समाज-व्यवस्था का आर्थिक आधार - कृषि (वैश्य वृत्ति),
कृषि कर्म, कृषि-क्रान्ति, अनाजोत्पत्ति, आराम-वाटिका
६. पशु-पालन-पशु (ग्राम्यारण्या), पशुपाल (गोपाल), ३२१-३२२
पशु और उनकी उपयोगिता, गो-माहात्म्य
७. वाणिज्य-स्वदेश एवं परदेश ३२३
स्वदेश वाणिज्य - मथुरा से पूर्वमण्डल और उत्तरापथ-यात्रा ३२४-३२५
उत्तरापथ-मध्य ३२५-३२८
शाकल और शाकल से मथुरा तक ३२८-३३२
मथुरा से दक्षिणापथ ३३२
सामुद्रिक व्यापार - भारत और अन्य द्वीप, रत्नद्वीप यात्रा ३३५-३३७
यात्रा के पूर्व धार्मिक कृत्य (दैवपूजा) ३३७
समुद्रयात्रा-संकट, प्रतिकूल वायु, तूफान ३३८
शुक-उपदेश, समुद्रमध्य शिखर, मंदिर, टापू सहायता

रत्नाकर द्वीप (रत्नद्वीप) - अवदान शतक, हरिवंश पुराण ३३८-३३९
पण्य - ३४०-३४१
सिक्के ३४१-३४२
यान-वाहन एवं श्रम, दास-भृत्य ३४३-३४४
वृत्तियाँ (वर्तनोपाय) - वेश्याकर्म ३४५-३४७
उद्योग ३४८-३४९
चौंसठ कलाएं ३५०-३५२
उपसंहार ३५२

अध्याय ६ - धर्म ३५३-५१०

(१) वराह पुराण एक धर्मसंहिता ३५३-३५५
(२) पौराणिक धर्म समीक्षा - ३५६-३६४
धर्म-प्रजापालक धर्म, धर्मशास्त्र और पुराण
(३) विविध धार्मिक पद्धतियाँ - ३६४-३६६
अलबेरूनी कालीन भारत
(४) धर्म प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ३६७
(५) वैदिक धर्म (कर्मकाण्ड) - ३६८-३७३
यज्ञ और यज्ञों का विरोध, बौद्ध-जैन धर्म का प्रभाव,
वेदोद्धार, यज्ञ और पशुहिंसा, विविध यज्ञ, विधि (वैदिक)
हिंसा- और कुमारिल भट्ट
(६) ज्ञान-मार्ग, शंकर-मत (प्रच्छन्न बौद्ध)- ३७३-३७५
वराह और मायावाद, वेदान्त
(७) वैष्णवधर्म एवं भक्ति ३७६
वाराह शास्त्र - पञ्चरात्र ३७६
विष्णु (परम देव), विष्णु-नामनिरुक्ति-परमात्मा ३७७
विष्णु और सविता ३७८

विष्णु के अवतार एवं अवतार प्रयोजन - ३७८-३८३ ३७७-३८२
दशावतार (मत्स्यादि नामानि)
द्वादश नाम, अष्टमूर्ति आदि अनेक अवतार
चतुर्मूर्ति, अष्टमूर्ति (पंचतत्व और त्रिमूर्ति)
परमात्मा का स्वरूप (वासुदेव सर्व)- हरिनारायण ३८४-३८६ ३८३-३८५
कपिल एवं जैगीषव्य के विचार
भागवत धर्म का इतिहास ३८७ ३८६-३८८
नारायणी धर्म, वासुदेव (कृष्ण)-संकर्षण,
अभिलेखिक साक्ष्य
वासुदेव कृष्ण-भक्ति - ~~अगस्त्य, आत्वत और नारद विचारधारायें~~ ~~३९०-३९१~~
अगस्त्य एवं नारद, पूजा के विविध प्रकार, - ~~वेदमार्ग, पंचरात्र मार्ग, क्षेत्रपदवीगमन,~~ ३८९-३९१
~~नाम-जप~~ वेदमार्ग, पंचरात्र मार्ग | एवं क्षेत्रपदवीगमन और नामजप ~~३९२~~
वेदोक्त विधि और आगमोक्त विधि
भक्ति-भेद ३९२-३९३ ~~३९२-३९४~~ one each ३९२
पञ्चरात्र विधि - नारद-पाञ्चरात्र ३९४-~~३९५~~ ३९५
भगवच्छास्त्र (पाञ्चरात्र) का उदय एवं विस्तार ३९५— ~~३९५~~ ~~३९६~~
भगवद्धर्म और भगवच्छास्त्र ३९६ ३९७
वासुदेव-सात्वत धर्म और शास्त्र के मूलस्रोत ३९७-३९८ ~~३९८-३९९~~
वासुदेव के पांच शिष्य - शाण्डिल्य, जाबालि, कपिल, उपसायक ३९८-४००
और भृगु ~~३९९-४०१~~
वाराहज्ञान (एक पाञ्चरात्र संहिता) - संक्षिप्त समीक्षा ४०१ ~~४०२~~
कृष्ण-भक्ति - प्रो० विल्सन का मत (भ्रम), कृष्ण-महिमा,
वृन्दावन के ध्येयदेव, कृष्णाष्टमीव्रत, गोपवेशधर, गोविन्द और
गोपीश्वर पूजा - नारायण-केशव ४०३-४०५
व्यूहवाद ४०६-४०७
विभव (अवतारवाद) - पूजा ४०८-४०९
उपचार-पूजा (क्रियायोग) एवं भक्ति ४०९-४१०
न्यास (अंग-न्यास) ४१०-४११

रामभक्ति ४११-४१३
हनुमन्त (गणेश्वर) ४१४
नवधा-भक्ति ४१५-४१७
भक्ति एवं 'नमो नारायणाय' ४१७-४१९
भागवतधर्म (भक्तों के कर्तव्य) भागवत लक्षण ४२०-४२२
भगवद्धर्म में द्वात्रिंशदपराध और प्रायश्चित्त ४२३
३२ अपराधों की दो तालिकाएं ४२३-४२५
अपराध और शुद्धि ४२६-४३३
भागवती दीक्षा - चातुर्वर्ण्य दीक्षा, दीक्षाविधि ४३३-४३६
मधुपर्क ४३७-४३९
विष्णुधर्म - सनातनधर्म ४४०-४४१
शैव धर्म - ४४२-४५३
    इसकी प्राचीनता - वैदिक संहिता (रुद्रसूक्त), रामायण,
    महाभारत, पुराण, वराह पुराण और रुद्र माहात्म्य ४४२-४४३
    ईश्वराराधन का महत्व ४४३
वैष्णव-शैव कलह - ४४३-४४५
    दक्ष-यज्ञ, शिवोपेक्षा, कलह-युद्ध, शान्ति एवं हरिहर,
    माहात्म्य
हरिहर का औदात्त्य ४४५
रुद्र (अर्द्धनारीश्वर) ४४६
कपाली ४४६-४४७
शिव और श्मशान ४४७-४४८
शैव सम्प्रदाय - ४४८-४४९
    दो वर्ग-सदाचारी (सात्त्विक) एवं दुराचारी (तामसिक)
    पाखण्ड-रत ४४९
    मोह एवं मोहशास्त्र-कर्ता रुद्र ४४९-४५०
    पाशुपत शास्त्र एवं पाशुपत-योग ४५०-४५१

पाषण्ड (शैव) ४५१-४५२
शिवाराधन (शिवभक्ति) - नेपाल के धर्मारण्य क्षेत्र में
नन्दी-सम ४५२
शुद्ध शैव धर्म (उपासना, भक्ति और ज्ञान) - ईशान व्रत ४५३
त्रिमूर्ति - ४५४-४५५
त्रिकला देवी (त्रिमूर्ति-शक्तियाँ) ४५५
शाक्तधर्म - ४५६
शक्ति (त्रिकला) - देवी भक्ति - त्रिशक्ति-समुद्भव-देवी माहात्म्य ४५७
ब्राह्मी (विधेश्वरी) सात्त्विक देवी ४५८-४५९
वैष्णवी (राजसी शक्ति) और उनकी अनुचरी देवियाँ,
महिषासुर-वध ४५९-४६०
रौद्री (तामसी शक्ति) ४६०-४६१
चामुण्डा, गायत्री, नन्दादेवी, गंगा आदि शक्तियाँ ४६१-४६२
अष्ट मातृगण ४६२-४६५
अन्य देवियाँ - तिथियाँ और पूजा ४६६-४६७

सूर्याराधन -

प्रो० भंडारकर के अनुसार सूर्योपासना का महत्व - वैदिक
युग से स्मृति के युग तक ४६८-४६९
अभिलेख, सिक्के और ह्वेनसांग (युवनच्वांग) तथा
अलबरूनी पुराण ४६९-४७०
वराह पुराण ४७०
सूर्याराधन का महत्व एवं कालप्रिय (काल्पी) में सूर्य और
कामदेव ४७०-४७१
सूर्य भक्ति - इसका महत्व ४७२-४७३
द्वादशादित्य ४७३-४७४
सूर्यास्थान (सूर्यभक्ति) ४७४-४७५
सूर्योपासना की प्राचीनता - रामायण, महाभारत और
वराह पुराण ४७५-४७७

सूर्य-स्तुति ४७७

नवग्रह-पूजन ४७७

गणेश - गणपति जन्म, गणनायक, गणपति-पूजन ४७८-४८०

कार्तिकेय - कार्तिकेय जन्म, विविध नाम, शाख-विशाख,
स्कन्द, कुमार, स्कन्द-पूजा, कामव्रत, षष्ठी तिथि
का माहात्म्य, मन्दिर ४८१-४८५

नाग-पूजा - पंचमी-तिथि, मथुरा क्षेत्र में नागपूजा की प्रसिद्धि ४८६-४८८

प्राण-त्याग - अनाशक व्रत ४८८-४९०

विविध धार्मिक क्रियायें ४९१

व्रत-चर्या, तिथि-माहात्म्य ४९२-४९३

प्रतिमार्चन और प्रतिमाएं, मथुरा और मूर्ति निर्माण ४९४-४९९

पाखण्ड-पथ (नास्तिक मत) ५००-५०१

इष्टा-पूर्त धर्म - वृक्षारोपण ५०२-५०३

तीर्थधर्म एवं तीर्थ ५०४-५०७

उपसंहार ५०८-५१०

अध्याय ७ - आत्मविद्या एवं दार्शनिक धाराएं ५११-५४७

(१) पुराणों का दार्शनिक महत्व ५११-५१३

(२) ब्रह्मविद्यामृतं ५१४-५१८

(३) पौराणिक - तत्व चिंतन ५१८-५२१

(४) वराह पुराण के दार्शनिक विचार - ५२१-५२९
नारायण परं ब्रह्म, औपनिषदिक दर्शन - ईशावास्य-उपनिषद, प्रज्ञा (गीता) दर्शन-योग (संन्यासयोग, ज्ञान-योग) एवं प्रपत्ति वासुदेवं सर्वं - अभेद दृष्टि

(५) वैष्णव धर्म का आध्यात्मिक तत्व - ५३०-५३५
कपिल, नैष्कर्म्य, भक्तियोग (पांचरात्र तत्व)

(६) दार्शनिक धाराएं - ५३९-५४४
पूर्वमीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग
(७) भास्कर-मत (भेदाभेद सिद्धांत) ५४४-५४६
उपसंहार ५४७

अध्याय ८ - शिक्षा एवं साहित्य ५४८-५७२

(१) प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति- ब्राह्मण और उसका गृह (गुरुकुल), माता-पिता एवं गुरु, गुरुकुल-वन्याश्रम ५४८-५५१
(२) विद्या का महत्व ५५१-५५२
(३) ब्राह्मण और विद्या एवं ब्राह्मणेतर ज्ञानी-जन ५५२-५५३
(४) दुःशिक्षा ५५३-५५४
(५) ब्रह्मयज्ञ एवं ब्रह्म तेज ५५४
(६) विद्योपार्जन- एक संस्कार - ५५५-५५६
विद्यारम्भ एवं गणेशपूजन, गायत्री और गुरुकुल, उपनयन (ब्रह्मचर्य)
(७) शिक्षा केन्द्र - ५५६
वेदसर, अवन्तिपुर (उज्जयिनी), पुष्कर (सारस्वतपुर) ५५६-५५७
वन्याश्रम-मण्डल - वाराणसी, नैमिषारण्य ५५७-५५८
मठ-विहार-देवालय-प्रतिष्ठान (दक्षिणापथ) ५५८
पाषण्डाश्रम (बौद्ध विहार)- नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला ५५९
(८) शिक्षा पद्धति - ५५९
गुरु-शिष्य-पंक्ति ५५९-५६०
गुरु ५६१-५६२
अध्यापक ५६२-५६३
देव-गुरु ५६३

शिष्य (सुशिष्य एवं कुशिष्य) ५६३-५६४

(६) अध्ययन के विषय - ५६४-५६५

वेद-वेदांग, शास्त्र, पुराण तथा विविध विद्यायें,

कला

विद्या और वेद शाखायें ५६६

वेदाध्ययन - सावित्री और वेद - ५६६-५७२

वेद, वेदार्थ एवं वेदाध्ययन, वेद विद्या

चार वेद, त्रयी

यज्ञ विद्या, शास्त्र, पाञ्चरात्र, स्मृतियां, पुराण

काव्य ५७१

शिल्प ५७२

उपसंहार ५७२

स्वशान्तिकं (राष्ट्र-मन्त्र) ५७३

सहायक ग्रन्थ सूची

संकेत - सूची

अ० : अध्याय

अ० इ० इ० अथवा
अ० इ० इ० : अर्ली इंडियन इकनामिक्स (आध्या)

अग्नि : अग्नि पुराण

अग्नि अ० स्ट० : अग्नि पुराण अ स्टडी (ज्ञानी)

अग्रवाल : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

अं मार्क० : मार्कण्डेय पुराण, अंग्रेजी अनुवाद, पार्जिटर

अ० चौ० डा० : अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़

अल्बेरुनी इ० अथवा
अल्ब० इ० : अल्बेरुनीज़ इंडिया (सचाऊ)

इ० आर्ट : इंडियन आर्ट (अग्रवाल)

इ० ए० : इंडियन एंटीक्विरी

इ० ए० ग्ला० : इंडियन एपीग्राफिकल ग्लासरी

इ० ग्रीक रा० : इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स

इ० कु० : इंडिया अन्डर कुषाणाज़

इ० टा० प० : इंडिया इन दि टाइम आफ़ पतंजलि

इ० पा० अ० सं० : इंट्रोडक्शन टु पांचरात्र सिस्टम एन्ड दि अहिर्बुध्न्य संहिता

इ० प्र० : इतिहास प्रवेश

इ० लि० : हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिटरेचर (विंटरनिज़)

इ० व० : इंडिया एन्ड वर्ल्ड (बुध प्रकाश)

इ० हि० क्वा० : इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली

उ० प० : उपायनपर्व

मो० पा० पर्व : डा० मोतीचन्द्र, उपायन पर्व
(ज्याग्राफिकल ऐन्ड इकनामिक स्टडीज़ इन महाभारत : उपायन पर्व)

उप० : उपनिषद्

उ० रा० च० : उत्तररामचरित (भवभूति)

ए० आ० रै० लि० : ऐन आउटलाइन आफ़ दि रैलिजस लिटरेचर आफ़ इंडिया (जे०एन० फ़र्कुहर)

ए० इ० क० : एज़ आफ़ इम्पीरियल कनौज (भारतीय विद्या भवन, बम्बई)

ए० इ० यू० : एज़ आफ़ इम्पीरियल यूनिटी (भारतीय विद्या भवन, बम्बई)

एलन कै० क्वा० ऐ० इ० : एलन, कैटलाग आफ़ क्वाइन्स आफ़ ऐंशेंट इंडिया इन बृटिश म्यूज़ियम

ए० हि० आ० : ऐन इन्साइक्लोपीडिया आफ़ हिन्दू आर्किटेक्चर (पी०के० आचार्य)

ए० हि० क० : एलिमेन्ट्स आफ़ हिन्दू कल्चर (पी०के०आचार्य)

ए० हि० ऐ० इ०
(इ०हि०ऐ०इ०) : इकनामिक हिस्ट्री आफ़ ऐंशेंट इंडिया (दास)

ए० इ० ए० थाट : ऐंशेंट इंडियन इकनामिक थाट (रंगस्वामी ऐंगर)

ए० ला० ऐ० इ०
इ० ला० ऐ० इ० : इकनामिक लाइफ़ आफ़ ऐंशेंट इंडिया (मगनलाल ए० बुच)

ए० ला० ना० इ०
इ० ला० ना० इ० : इकनामिक लाइफ़ आफ़ नार्दर्न इंडिया (लल्लनजी गोपाल)

ऐ० इ० : ऐंशेंट इंडिया (आर०सी० मजूमदार)

ऐ० इ० हि० सि० : ऐस्पेक्ट्स आफ़ इंडियन हिस्ट्री ऐन्ड सिविलाइज़ेशन (बुध प्रकाश)

ऐ० जा०
क० ऐ० जा० : कनिंघम, ऐंशेंट ज्याग्रफी आफ़ इंडिया
ऐ० हि० सौ० : ऐंशेंट हिस्ट्री आफ़ सौराष्ट्र
औ० डे० वै०
सुविराजा० वैष्णाविज़्म : ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आफ़ वैष्णाविज़्म (सुविराजायसवाल)
क० मं० रा० का० : कर्पूर मंजरी (राजशेखर)
कल्चरल हि० मत्स्य पु० : कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि मत्स्य पुराण
कल्चरल हि० वायु पु० : कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण
क० व० भ० : कलेक्टेड वर्क्स आफ़ सर आर०जी० भंडारकर
क० स० सा० : कथासरित्सागर (सोमदेव)
क० सं० : कला और संस्कृति (अग्रवाल)
का० इ० इ० : कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम
का० या कां० : कांड
का० नी०, कामन्दक : कामन्दकीय नीतिसार
का० भा० : कालिदास का भारत
का० मी० : काव्य मीमांसा
का० हि० इ० : काम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री आफ़ इंडिया
किं० ना० इ० : किंगशिप इन नार्दर्न इंडिया
कु० सं० : कुमारसंभव
कृ० क० त० : कृत्यकल्पतरु
कौ० अ० : कौटिल्य का अर्थशास्त्र
क्ला० एज : क्लासिकल एज
ख० दे० : खजुराहो की देवप्रतिमाएं
खं० : खण्ड
गरुड़ : गरुड़ पुराण

गरुड़ पु० अ० ग० पु० अ०	: गरुड़ पुराण एक अध्ययन
ज्या० इ० ऐं० मे० इ०	: ज्याग्राफ़िकल इनसाइक्लोपीडिया आफ़ ऐंशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया (भाग १)
ज्या० ए० ज्याग्र० ए० ज्याग्र० एसेज़	: ज्याग्राफ़िकल एसेज़ (ला)
ज्या० ए० मे० इ०	: ज्याग्रफ़ी आफ़ ऐंशेंट ऐन्ड मेडिवल इंडिया
ज्या० डि०	: ज्याग्रफ़िकल डिक्शनरी आफ़ ऐंशेंट ऐन्ड मेडिवल इंडिया (डे)
ज्या० पु०	: ज्याग्रफ़ी आफ़ दि पुराणाज़ (अली)
तु० की०	: तुलना कीजिये
थ्यो० ग० ऐ० इ०	: थ्योरी आफ़ गवर्नमेंट इन ऐंशेंट इंडिया
द० कु० च०	: दशकुमार चरित
दा० पा०	: दाक्षिणात्य पाठ (महाभारत)
दे० भाग देवी भाग० देवी० भा०	: देवीभागवत पुराण
ध० शा० इ०	: धर्म शास्त्र का इतिहास (काणे)
नीतिवा०	: नीतिवाक्यामृत
नीलमत	: नीलमत पुराण
प०	: पर्व
पं०	: पंक्ति
पा०	: पाठान्तर
पाटिल	: डा० डी०आर० पाटिल
पु०	: पुराण
पु० वि०	: पुराण-विमर्श
पृ०	: पृष्ठ
पौ० ता० रे०	: पौराणिक ऐंड तांत्रिक रेलिजन

पौ० ध० स० : पौराणिक धर्म एवं समाज
प्रा० भा० भू० : प्राचीन भारतीय भूगोल
प्रा० भा० भौ० स्व० : प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप
फे० : फेलिसिटेशन (वाल्यूम)
बु० इं० : बुद्धिस्ट इंडिया
बु० भा० भू० : बुद्धकालीन भारत का भूगोल
बृ० उ०, बृ० उप० : बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० वै० : ब्रह्म वैवर्त पुराण
भ० क० ए० इ० : भक्ति कल्ट इन एंशेंट इंडिया
भाग० : भागवत पुराण
भा० द० : भारतीय दर्शन (प्रो० बलदेव उपाध्याय)
भा० भू० नि० : भारत भूमि और उसके निवासी
(जयचन्द विद्यालंकार)
मत्स्य० : मत्स्य पुराण
मत्स्य पु० अस्ट० : मत्स्य पुराण अ स्टडी (अग्रवाल)
म० भा० सं० : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (ओझा)
म० रा० व्य० : महाभारत में राज्यव्यवस्था
महा० : महाभारत
मार्क० : मार्कण्डेय पुराण
अं० मार्क० पु०
मार्क० अं० : मार्कण्डेय पुराण अंग्रेजी अनुवाद - पार्जिटर
मार्क० पु० अं०
मार्क० पु० अ० : मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन
मार्क० सां० अ०
मृ० क० : मृच्छकटिक
मो० सं० इं० डि० : मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
एम० ए० एस० आई० : मेम्वायर आफ् आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ् इंडिया

रा० : रामायण (वाल्मीकि)

रा० क्रि० : रामायण क्रिटिकल एडिशन, बड़ौदा

वा० पु० स्ट०
वामन पु० स्ट० : वामन पुराण ए स्टडी

वा० गृ० सू० : वाराह गृह्य सूत्र

वा० रा० इ० अ० : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख

वाटर्स : ट्रेवेल्स आफ् युवन च्वांग, वाटर्स

वि० ध०
विष्णु ध० : विष्णु धर्मोत्तर पुराण

वि०पु०अं० (विष्णु अं०) : विष्णु पुराण, अंग्रेजी अनुवाद (विल्सन)

वि० स्मृ० : विष्णु स्मृति

बृ० ना० : बृ० नारदीय पुराण

वै० ए० : वैदिक एज

बृ० सं० : बृहत्संहिता

श० क० : शब्द कल्पद्रुम

शा० अ० शा० : शामशास्त्री, कौटिल्य का अर्थशास्त्र
(अंग्रेजी अनुवाद)

शिव : शिव पुराण

स्ट० ए० इ० सील : स्टडीज़ इन ऐंशेंट इंडियन सील

स्ट० स्क०
स्ट० स्क० पु० : स्टडीज़ इन स्कन्द पुराण (पार्ट वन)

सं० : संख्या

सं० : संस्करण

सं० बौ० भा० जी० : संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन

से० इ० : सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स (सरकार)

स्क०, स्कन्द : स्कन्द पुराण

स्ट० इ० ऐ० : स्टडीज़ इन इंडियन ऐन्टीक्विटीज़ (रायचौधरी)

स्ट० उपपु०, स्ट० उप० : स्टडीज़ इन उपपुराणाज़

स्ट० इ० हि० क० : स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री एन्ड कल्चर (घोषाल)

स्मिथ क्वा० ऐ० इ० : विन्सेंट स्मिथ, कैटलाग आफ़ क्वाइन्स आफ़ ऐंशेंट इंडिया इन इंडियन म्यूजियम कलकत्ता, भाग १

हि० आ० इ० अ० : हिन्दू आर्किटेक्चर इन इंडिया एन्ड अब्राड (आचार्य)

हि० इ० ए० : हिस्ट्री आफ़ इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन (पुरी)

हि० इ० पो० आइ० : हिस्ट्री आफ़ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज़

हि० इ० फि० : हिस्ट्री आफ़ इंडियन फ़िलासफ़ी ५ भाग (दासगुप्त)

हि० इ० लि० : हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिटरेचर (विंटरनिज़)

हि० क० : हिस्ट्री आफ़ कनौज (त्रिपाठी)

हि० गु० प्र० : हिस्ट्री आफ़ गुर्जर प्रतिहाराज़ (पुरी)

हि० जा० ऐ० इ० : हिस्टारिकल ज्याग्रफ़ी आफ़ ऐंशेंट इंडिया

हि० ध० शा० : हिस्ट्री आफ़ धर्मशास्त्र (काणे)

हि० पा० : हिस्ट्री आफ़ पोलिटिकल थ्योरी (सबाइन)

हि० रा० त० या हि० रा० तं० : हिन्दू राज्य तंत्र (जायसवाल)

हि० लि० इ० : हिस्टारिकल एंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शन्स (राजबली पांडे)

हि० सं० : हिन्दू संस्कार

हि० सा० बृ० इ० : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास

अध्याय १

वाराहशास्त्र

यथा च मथ्यमानाद्धि दध्नश्चोद्धियते घृतम् ।
एवं सर्वेषु शास्त्रेषु वाराहं घृतसम्मितम् ।।

महाज्ञानमिदं सूक्ष्मं पुरे भक्तेषु दृश्यते ।
शास्त्राणां परमं शास्त्रं सर्वसंसार मोक्षणम् ।।

- वराह, १४८।२०,२२

वराह पुराण (वाराह शास्त्र)

अस्मिन् वराहरूपं कृत्वा देवन्तु हाटकम् । —कृत्वा पूजां प्रयत्नतः ॥
वराहाय नमः पादौ क्रोडाकृति नमः कटिम् ।
नाभिं गम्भीरघोषाय उरः श्रीवत्सधारिणे ॥
बाहुं सहस्रशिरसे ग्रीवां सर्वेश्वराय च ।
विधिना पूजयित्वा तु कृत्वा जागरणं निशि ॥
श्रुत्वा पुराणं देवस्य माहात्म्य प्रतिपादकम् ।[1]
प्रातर्विप्राय दत्वा च याचकाय शुभाय तत् ॥

गरुड़ पुराण के उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि वराह देव की पूजा-वन्दना के बाद उनके माहात्म्य का प्रतिपादक पुराण का श्रवण करना पुण्य-कर्म था । यह 'वराहदेवस्य माहात्म्य-प्रतिपादकम् पुराणं' वराह पुराण[2] ही है । भारत के धार्मिक जीवन में पुराण-श्रवण भी पाप को नष्ट करने वाला विष्णु को प्रसन्न करने का महत्वपूर्ण साधन माना गया है ।[3] समाज में धर्म का प्रचार पुराणों द्वारा ही होता रहा है, क्योंकि पुराणों में धर्म का निश्चय किया गया है (पुराणे निश्चितो धर्मः) ।[4] पुराण श्रवण से सद्गति, सुख और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[5]

---

[1] गरुड़ पु०, १।१२७।१३-१८

[2] मत्स्य पु०, ५३।३८ : महावराहस्य पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च ।
विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते ॥

[3] पद्म पु०, १।६१।५८-६५

[4] वही, ३।६१।६५

[5] वायु पु०, १।४।८२

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्पूर्ण पुराण-साहित्य में वराह पुराण का विशेष महत्व है। स्वयं वराह पुराण के अनुसार यह पवित्र ग्रंथ है[1] जिसे भक्तिपूर्वक कार्तिक-द्वादशी के दिन पढ़ना और निरन्तर श्रवण करना श्रेयस्कर बताया गया है।[2] इसीलिए इसे वाराह-शास्त्र कहा गया है।[3] कार्तिक-द्वादशी विष्णु की प्रिय एवं पुण्य तिथि है[4] और इस तिथि पर पठनीय वराह पुराण वैष्णव ग्रंथ ही है। अस्तु वराह पुराण अथवा वाराह-शास्त्र वैष्णव शास्त्र है। बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार भी वराह पुराण का पाठ एवं श्रवण करना भगवद्भक्ति-वर्धक है।[5] गरुड़ पुराण के अनुसार भी द्वादशी को वराह-मूर्ति की पूजा करने के बाद[6] रात्रि में जागरण के समय वराह-देव के माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाले पुराण का श्रवण करना पुण्य-प्रद कहा गया है।[7] इस प्रकार प्राचीनकाल में ही वराह पुराण अपने 'भागवत्' स्वरूप के लिए प्रसिद्ध था और इसीलिए इसे भगवच्छास्त्र[8] कहना भी उपयुक्त है। इसे सात्विक पुराण भी कहा गया है।[9] सात्विक पुराणों या शास्त्रों को मोक्षप्रद कहा गया है (सात्विका मोक्षदा: प्रोक्ता:)।[10] सात्विक धर्म (भगवद्धर्म) और सात्विक भगवच्छास्त्र का उदय और

---

[1] वराह, ११२।६९-७२

[2] वही, ११२।७३-७५(१)

[3] वही, ११२।७५; पु०वि०विक०, पृ० ९९

[4] वराह, अ० ५०; कृ०क०त०, भाग ६, पृ० ३३६-३३८

[5] बृ० ना०, १।१०३।१४(२)-१५(१), १७

[6] गरुड़ पु०, १।१२७।१-१७

[7] वही, १।१२७।१८ : श्रुत्वा पुराणं देवस्य माहात्म्यप्रतिपादकम् ।
प्रातर्विप्राय दत्वा च याचकाय शुभाय तत् ॥

[8] द्रष्टव्य, वराह पु० में अ० १७१, १८०, १८१, १८७, १८९, १९२, १९८, २०१ आदि के अन्त में 'वराहपुराणे भगवच्छास्त्रे'।
पु०वि०विक०, पृ० १००

[9] पद्म पु०, ६।२६३।८३

[10] वही, ६।२६३।८५(१)

विस्तार स्वयं वासुदेव और उनके शिष्यों ने किया था[1] जैसा कि धर्म के अध्याय (अ० ६) में वर्णित है ।

वराह पु० के अध्यायों और उनमें वर्णित विषयों का विश्लेषण करने से भी सिद्ध होता है कि इसमें (अपराध रहित) शुद्ध भागवतों के जीवन-दर्शन, चर्या एवं उपासना से संवलित भगवद्भक्ति का निरूपण किया गया है । नीचे हम वराह पु० के अध्यायों में वर्णित विषयों की संक्षिप्त तालिका दे रहे हैं -

अ० १ में आदि वराह का महत्व और विष्णु के विभिन्न अवतारों की लीलाओं का उल्लेख है । वराह, दाशरथी राम और कृष्ण की वन्दना प्रारम्भ में (१।१,२) ही की गयी है ।

अ० २ में आदिसर्ग (सृष्टि) का वर्णन और नारायण का महत्व है । वायु और ब्रह्माण्ड के आधार पर नवसर्गों का वर्णन किया गया है ।[2] यहां पुराण पंच लक्षणों[3] का उल्लेख करते हुए नव सर्गों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है ।[4] अन्य पुराणों की भांति वराह भी सांख्य सिद्धान्त पर ही सृष्टि का वर्णन करता है ।[5]

अ० ३ में सावित्री और वेदों का महत्व तथा वेदोद्धार का वर्णन है । इससे सिद्ध होता है कि वेदों और वैदिक धर्म का ह्रास हो चुका था । अतः वेद-

---

१. वराह पु०, अ० १४८

२. कुकीपु, वायु, १।६।३४-६० तथा ब्रह्मांड, २।५।३०-५८ और वराह,२।२७-४०

३. वराह, २।४-५

४. वही, २।६-५५

५. वही, २।७-११

रक्षा[1] अभीष्ट थी । वैदिक क्रियाओं के लुप्त होने से वेदनाश होता है और यज्ञनाश से वेदों का लोप होता है ।[2] अतः यह धर्म विप्लुति[3] का युग था ।

अ० ४ में नारायण के दशावतार और अष्टमूर्तियों का वर्णन किया गया है । यह सिद्ध किया गया है कि `हरिः सर्वमयो', `सर्वसंस्थः' है ।

अ० ५ में `आयसजाल और ज्वाला' के दृष्टांत द्वारा अभेद एवं अद्वैत सिद्धांत को पुष्ट किया गया है । नैमिष में कालेश्वर मा० का वर्णन है ।

अ० ६ में अभेद-दृष्टि से परमेश्वर हरि की आराधना करना प्रतिपादित किया गया है। यही करनी चाहिए । `पुंडरीकाक्षपार' स्तोत्र से विष्णु की परमता सिद्ध होती है । इस अध्याय पर भास्कर-मत का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[4] भास्कर के बाद ही आचार्य रामानुज ने वैष्णवधर्म की प्रतिष्ठा की ।

अ० ७ में `गया' और `गदाधर' विष्णु का माहात्म्य-वर्णन है (द्रष्टव्य, वायु, उत्तरार्द्ध अ० ४३–अ० ४४) ।

अ० ८ में धर्म-व्याध के जीवन दर्शन से वैदिक कर्म (पूर्वमीमांसा) सिद्धांत पुष्ट होता है । व्याध नित्य एक मृग मार कर यज्ञ एवं श्राद्ध करता था ।

अ० ९ में नारायण से सृष्टि-विस्तार हुआ । मत्स्य द्वारा वेदोद्धार का वर्णन है ।

अ० १० - अ० १२ में भक्ति का माहात्म्य तथा चित्रकूट में राघव राम का पूजन (अ०१२) एवं स्तवन वर्णित है ।

---

१. ब्रह्मांड, २।३४।१ और इससे आगे
२. वही, २।३४।६
३. कुमारिल, तंत्रवार्तिक, १।३।७
४. हि० इ० फि०, वाल्यूम ३, अ० १५

अ० १३ - अ० १४ में पितृतन्त्र या श्राद्ध-विधि का वर्णन है।

अ० १५ में प्रभास के आराध्य देव - दैत्यान्तक विष्णु - का माहात्म्य वर्णित है।

अ० १६ में सरमाख्यान (एक वैदिक आख्यान) का वर्णन है।

अ० १७ में विष्णु, मा० तथा अन्य देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन है। सभी देवता विष्णु के प्रभाव से ही स्थित हैं।

अ० १८ - अ० ३५ में आदि सर्ग। देवोत्पत्ति का वर्णन है। अग्नि (अ० १९), अश्विनीकुमार (अ० २०), गौरी-पार्वती (अ० २१-अ० २२), गणपति (अ० २३), नाग (अ० २४), गुह-कार्त्तिकेय (अ० २५), आदित्य (अ० २६), मातृगण (अ० २७-अ० २९), धनद (अ० ३०), विष्णु (अ० ३१), धर्म (वृष) (अ० ३२), शंभु (अ० ३३), पितृगण (अ० ३४) एवं सोम (अ० ३५) की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ये सभी विष्णु के शरीर-देवता कहे गये हैं।

अ० ३६ में वृन्दावन और गोविन्द का माहात्म्य वर्णित है।

अ० ३७ में भाव-भक्ति, मानसिक, कायिक और वाचिक व्रतों का महत्व बताया गया है। देविका-तटवासी आरुणि और व्याध-चरित्र तथा 'नमो नारायणेति' मंत्र का माहात्म्य वर्णित है।

अ० ३८ में बताया गया है कि वही व्याध तप और भक्ति से ऋषि सत्यतपा हो गया।

अ० ३९ में दान, यज्ञ (कर्मकाण्ड), तीर्थ, देव-पूजा (मत्स्यादि), जागरण और धरणीव्रत का वर्णन है।

अ० ४० - अ० ५० में विभिन्न मासों की द्वादशी के दिन विष्णु-पूजा का वर्णन किया गया है - मत्स्य - द्वादशी (अ० ३९), कूर्म-द्वादशी (अ० ४०), वराह-द्वादशी (अ० ४१), नरसिंह-द्वादशी (अ० ४२), वामन-द्वादशी (अ० ४३),

जामदग्न्य-द्वादशी (अ०४४), राम-द्वादशी (अ०४५), कृष्ण-द्वादशी (अ०४६), बुद्ध-द्वादशी (अ०४७), कल्कि-द्वादशी (अ०४८), पद्मनाभ द्वादशी (अ०४९) और योगीश्वर-द्वादशी (अ०५०) ।

अ० ५१ - अ० ५४ में अगस्त्य और भद्राश्व-संवाद (अगस्त्य-गीता) में कर्मकाण्ड, मोक्षोपाय, द्वादशी-व्रत, विष्णु-पूजा का महत्त्व-वर्णन है ।

अ० ५५ - अ० ६५ में विष्णु-व्रतों और अन्य व्रतों का वर्णन है - शुभव्रत (अ०५५), धन्यव्रत (अ०५६), कान्तिव्रत (अ०५७), सौभाग्यव्रत (अ०५८), अविघ्नव्रत (अ०५९, गजानन पूजा), शान्तिव्रत (अ०६०, नागपूजा), कामव्रत (अ०६१, कार्त्तिकेय पूजा), आरोग्यव्रत (अ०६२, सूर्य पूजा), पुत्रप्राप्तिव्रत (अ०६३, कृष्णाष्टमी व्रत), शौर्यव्रत (अ०६४, देवी पूजन), सार्वभौमव्रत, धनदव्रत, धर्मव्रत, रौद्रव्रत, पितृव्रत, तिथिव्रतादिक (अ०६५) ।

अ० ६६ - अ० ६८ में सर्वगत विष्णु का माहात्म्य और युगधर्म वर्णन (अ०६८) है ।

अ० ६९ में मेरु एवं इलावृत वर्णन है ।

अ० ७० में युगधर्म और हरि-आराधना का वर्णन है ।

अ० ७१ में गोदावरी नदी की उत्पत्ति तथा पाशुपत योग (मोक्षशास्त्र) का वर्णन है ।

अ० ७२ में त्रिमूर्ति एवं लिंगार्चन का वर्णन है ।

अ० ७३ में आदित्यव्रत (द्वादशादित्य का वर्णन है) । बारहों आदित्य विष्णु हैं ।

अ० ७४ -से अ० ८९ में भुवनकोश का वर्णन किया गया है ।

अ० ९० में त्रिमूर्ति एवं त्रिकला (त्रिशक्ति) मा० मिलता है ।

अ० ९१ - अ० ९६ में देवी मा० एवं महिषासुर और रुरु दैत्य-वध का वर्णन है।

अ० ९७ में रुद्र मा०, कापालिव्रत एवं कपालमोचन तीर्थ (वाराणसी) माहात्म्य का वर्णन है।

अ० ९८ में सत्यतपा का चरित्र है। उसका तप एवं इन्द्र-वराहविष्णु द्वारा उसकी परीक्षा का वर्णन है।

अ० ९९ में अन्न-दान, गायत्री (देवी), मा० तथा नारायण मूर्ति-पूजा का वर्णन है।

अ० १०० - अ० ११२ में विविध प्रकार की गायों के दान का मा० (कपिला मा०)। ११२।६३ (इयं ते कथिता देवि संहिता - वाराहस्या) सिद्ध करता है कि यहीं अ० ११२ से इसका एक भाग समाप्त होता है। बृहन्नारदीय पुराण (१।१०३।१) के अनुसार वराह के दो भाग हैं - पूर्वभाग और उत्तरार्द्ध (बृ०ना०, १।१०३।१२-१३)।

अ० ११३ में विष्णु मा० एवं भक्तलक्षणों का वर्णन है।

अ० ११४ में विष्णु-पूजा-विधि, मधुपर्क, कृष्ण एवं कृष्ण भक्ति का वर्णन है।

अ० ११५ - अ० ११८ में भागवत धर्मों, आहार-अनाहार, ३२ अपराधों एवं प्रायश्चित्त तथा देवोपचार का वर्णन है।

अ० ११९ में प्रापणकविधि। विविध पशु-पक्षियों के मांस का भी उल्लेख है।

अ० १२० - अ० १२१ में विष्णु पूजा और धर्म का महत्व वर्णित है।

अ० ११२ - अ० १२६ में विभिन्न वैष्णव तीर्थों - कोकामुख (अ०१२२), कुब्जाम्र (अ०१२५-१२६) एवं षड्-ऋतुओं में भागवतकर्मों (अ०१२३-१२४) का वर्णन है।

अ० १२७ - अ० १२८ में चारों वर्ण के लोगों की वैष्णवी दीक्षा का वर्णन है ।

अ० १२९ में ताम्रोत्पत्ति और ताम्र मा० दिया गया है ।

अ० १३० - अ० १३६ में भक्तों के ३२ अपराधों और उनसे शुद्ध होने का वर्णन है ।

अ० १३७ में सौकर तीर्थ मा० वर्णन है ।

अ० १३८ में विष्णु-पूजा में गीत, वादन और नृत्य का महत्व प्रतिपादित किया गया है ।

अ० १३९ - अ० १४१ में सौकर तीर्थ मा० (अ०१३९), कोकामुख (अ०१४०) और बदरी मा० (अ०१४१) का वर्णन है ।

अ० १४२ में 'रजस्वला' के कर्तव्य तथा संन्यास-योग का वर्णन है ।

अ० १४३ - अ० १५१ में विभिन्न वैष्णव तीर्थों का माहात्म्य- मन्दार मा० (अ०१४३), स्तुतस्वामी मा० (अ०१४८), द्वारका मा० (अ०१४९), सानन्दूर मा० (अ०१५०) और लोहार्गल मा० (अ०१५१) - वर्णन है ।

अ० १५२ - अ० १८० में मथुरा और मथुरा मण्डल के विभिन्न तीर्थों का वर्णन है । इसमें विभिन्न देवी-देवता - कृष्ण-गोविन्द, शिव (भूतेश्वर, क्षेत्रपाल), देवियाँ, सूर्य-भक्ति (अ०१५७-।३७-४४) एवं सूर्य-मन्दिरों का उल्लेख है ।

अ० १८१ - अ० १८६ में प्रतिमा-निर्माण और पूजन का वर्णन है ।

अ० १८७ - अ० १९० में पितृ-श्राद्ध, मृत-संस्कार एवं अशौच-वर्णन है ।

अ० १९१ में मधुपर्क मा० वर्णन है ।

अ० १९२ में शान्ति-विधान का वर्णन है ।

अ० १९३ – अ० २१२ में नाचिकेत-आख्यान, यमालय एवं नरक-वर्णन के साथ साथ कर्म-विपाक का वर्णन है ।

अ० २१३ – अ० २१६ में शिव-मा० तथा नेपाल के तीर्थों का वर्णन है ।

अ० २१७ – अ० २१८ में वराह पु० का मा० (अ० २१७) और विषयानुक्रमणी (अ० २१८) वर्णन है । इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण मुख्यतया वैष्णव पुराण है जिसके लगभग १०७ अध्यायों में विष्णु, विष्णुधर्म और वैष्णव तीर्थों का वर्णन मिलता है । इसके बाद देवी-माहात्म्य से संबंधित १५ अध्याय और शिव माहात्म्य के लगभग ८ अध्याय हैं । हरिहर भी उपास्य है ।

डा० आर० सी० हजरा ने वराह के विभिन्न खंडों और अध्यायों के आधार पर इस पुराण का युग प्रायः ईसा की आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य रखा है ।[1] अतः वराह पुराण का युग पूर्वमध्यकालीन ही है जब मध्यदेश में गुर्जर-प्रतिहारों का प्रभुत्व था । गुर्जर-प्रतिहार-नरेशों के अभिलेखों, मन्दिरों, मूर्तियों तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर तत्कालीन धार्मिक दशा का विवेचन करते हुए डा० पुरी का निष्कर्ष है कि उस समय वैष्णव धर्म की प्रधानता थी ।[2]

वराह पुराण और विविध मत

प्रो० विल्सन का मत है कि वराह पुराण वह पुराण है जिसमें महावराह का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है और जिसे मानव कल्प में विष्णु ने पृथिवी को सुनाया था । इसमें २४००० श्लोक हैं । वर्तमान पुराण का इसमें कोई सम्बन्ध हो, संदिग्ध है । इसका वर्तमान विस्तार उक्त विस्तार से आधा नहीं है । इसमें १०००० से कुछ अधिक श्लोक हैं । पंच पुराण-लक्षणों के आधार पर भी इसे पुराण नहीं कहा जा सकता है । इसमें यत्र-तत्र बिखरे हुए सृष्टि

---

१. पु०रि०हि०रा०क०, पृ० ९६-१०५

२. हि०गु०प्र०, पृ० १३६-१४२

विषयक अध्याय और राजवंशों का उल्लेख मिलता है। यह एक धर्म-ग्रन्थ (रेलिजस मैनुअल) है जिसमें स्तुतियों और उपासना के नियमों का वर्णन विष्णु ने किया है। ---- इसमें अधिकांशतः वैष्णव तीर्थों का वर्णन मिलता है। मथुरा माहात्म्य विशेषतः उल्लेखनीय है, जहाँ मथुरा के विविध तीर्थों और मन्दिरों का वर्णन किया गया है। परन्तु वराह पुराण के धार्मिक स्वरूप में कृष्ण पूजा[1] का विशेष महत्व नहीं है और इसमें रथयात्रा तथा जन्माष्टमी[2] का भी समावेश नहीं है। कुछ अन्य ऐसे संकेत हैं जिनसे इसका सम्बन्ध वैष्णव - उपासना के प्रारम्भिक युग से है। सम्भवतः इसे ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ, रामानुज का युग, कह सकते हैं।[3] डॉ० विन्टरनित्ज़ का भी प्रायःयही मत है। वह भी इसे विष्णु-प्रार्थना और वैष्णव नियमों का ग्रन्थ मानते हैं।[4] डॉ० हाज़रा भी यही मानते हैं। वह भी कहते हैं कि जिस प्राचीन वराह पुराण का उल्लेख मत्स्य, अग्नि और स्कन्द में हुआ है, वह यह वर्तमान पुराण नहीं है।[5] प्रायः यही विचार अन्यत्र, अन्य विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये हैं।[6]

प्रो० बलदेव उपाध्याय के अनुसार " विष्णु ने वराह रूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया। इस कथा से मुख्यतः सम्बन्ध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराह पुराण पड़ा है। ----- इस पुराण में विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत - भिन्न-भिन्न मासों की द्वादशी व्रत - का विवेचन मिलता है तथा इन द्वादशी व्रतों का भिन्न-भिन्न अवतारों से सम्बन्ध दिखलाया गया है।"[7]

---

[1] द्रष्टव्य, आगे (अ० ६ धम) कृष्ण-भक्ति और भागवतधर्म का इतिहास।
[2] द्रष्टव्य, वराह पु० अ० ६३, विशेषतः ६३।७ जहाँ कृष्णाष्टमी का उल्लेख है।
[3] प्रो० विल्सन, विष्णु पु० अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, पृ० ४३
[4] हि० इ० लि०, वाल्यूम १, भाग २, पृ० ४९९-५००
[5] पु० रि० हि० क०, पृ० ६६
[6] कला० इ०, पृ० २६४
[7] पु० वि०, पृ० १५३-१५४

CC-0. Agamnigam Digital Presèvation Foundation, Chandigarh

वराह पुराण का काल-निर्णय

पुराणों के अध्ययन में उनका कालनिर्णय कठिन कार्य है । किन्तु पुराण विशेष के काल-ज्ञान से तत्कालीन साहित्य और संस्कृति तथा इतिहास का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । व्यक्तियों, विचारकों, सम्राटों-शासकों, स्थानों अथवा घटनाओं के नामों से भी तिथि-निर्धारण में सहायता मिलती है । पूर्ववर्ती ग्रन्थों से परिचय द्वारा भी सहायता मिलती है । विभिन्न लेखकों ने "पुराणपंचलक्षणम्" के आधार पर भी पुराणों का युग निर्धारित किया है ।[1] डॉ० आर० सी० हज़रा ने पुराणों में धर्मशास्त्रीय उल्लेखों और[1] उद्धरणों के आधार पर विभिन्न पुराणों का काल निर्धारित किया है । स्वयं पुराण का अन्तःसाक्ष्य भी उसके युग निर्धारण में कम महत्वपूर्ण नहीं है । इस प्रकार विभिन्न मानों के आधार पर वराह पुराण के युग की झलक मिलती है ।

डॉ० हज़रा के अनुसार वर्तमान[2] वराह पुराण अपेक्षतया बाद का (कम्परेटिवली लेट वर्क) ग्रन्थ है । इसके सृष्टि वर्णन से भी यही सिद्ध होता है ।[3] इसके चार[4] खंडों की विभिन्न विशिष्टताएं हैं और इसीलिए इनके लेखक भी पृथक् पृथक् थे । डॉ० हज़रा के अनुसार ही प्रथम खंड (अ० १-अ० ११२ तक) की तिथि ईसा की आठवीं शताब्दी के मध्य और नवीं शताब्दी के आरम्भ, लगभग ८०० ई० के आस पास माना जा सकता है ।[5] इसका दूसरा खंड (अ० ११३-अ० १९२), निश्चय

---

[1] पु० रि० हि० रा० क०, पृ० ८

[2] वही, पृ० ९६

[3] वही, पृ० ९७

[4] वही, पृ० १०१

[5] वही, पृ० १०३-१०४

रूप से, ८०० ई० के बाद का है । ---- इसके मूल अध्यायों की रचना १०००ई० के बाद की नहीं है ।[1] वराह पुराण में तीसरा खंड (अ०१९३-अ०२१२) ११००ई० के पहले जोड़ा गया था । -- अतः इसकी तिथि ९०० ई० और ११०० ई० के मध्य मानी जा सकती है ।[2] वराह पुराण में चौथा खंड (अ०२१३ से अन्त तक) ११०० ई० के पहले नहीं जोड़ा गया था ।[3] इस प्रकार डा० हाजरा द्वारा वर्तमान वराह पुराण का युग ८०० ई० और ११०० ई० के मध्य माना गया है । प्रो० बलदेव उपाध्याय के अनुसार " यह पुराण १२वीं शताब्दी से प्राचीन अवश्य है ।"[4]

प्रो० उपाध्याय का विचार है कि " यह सम्पूर्णतया वैष्णव पुराण है । --- वराह पुराण वैष्णवता से आमूल आप्लुत है - इसका परिचय रामानुजीय श्री वैष्णवमत के तथ्यों का विशद प्रतिपादन वैशद्य से प्रदान करता है । ------ वराह पुराण में वर्णित समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय में स्वीकृत किये गये हैं । दोनों के सिद्धान्तों में विपुल साम्य का सद्भाव निश्चयेन आश्चर्यजनक है (द्रष्टव्य, पुराणम्, चतुर्थवर्ष - १९६२, पृ० ३६०-३८२ : श्री वराहपुराणं श्री रामानुज-सम्प्रदायश्च) ।"[5] इस प्रकार प्रो० उपाध्याय के अनुसार " इस पुराण की रचना का काल नवम-दशम शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा ।"[6]

वायु पुराण को अत्यंत प्राचीन पुराण माना जाता है ।[7] बाण ने हर्ष-चरित और कादम्बरी में वायु पुराण का उल्लेख किया है । अस्तु वायु

---

१. पु०रि०हि०रा०क०, पृ० १०४-१०५
२. वही, पृ० १०५
३. वही, पृ० १०५
४. बल०, पु०वि०, पृ० १५३
५. पु०वि०, पृ० ५५८
६. वही, पृ० ५५९
७. हाजरा, पु०रि०हि०रा०क०, पृ० १३
दीक्षितार, सम ऐस्पेक्ट्स आफ् दि वायु पुराण, पृ० ४६
पुसालकर, स्ट०ए०पु०, पृ० ३९

पुराण ईसा की सातवीं शताब्दी से पहले की रचना है ।[१] वायु पु० में गुप्त युग के प्रारम्भिक स्वरूप का परिचय मिलता है । अतः ऐसा माना जाता है कि गुप्त नरेशों के काल तक वायु पुराण उपलब्ध था ।[२] वराह पुराण का भुवनकोश खंड (अ०७४-अ०७६) वायु पुराण के भुवनकोश वर्णन पर आधारित है, जैसा कि आगे (अ०२-भूगोल) में इसका विवेचन किया गया है । अतः वराह पुराण के भुवनकोश वाले अध्यायों का समय गुप्त युग के बाद का ही है ।

वराह पुराण का भुवनकोश यद्यपि वायु पर आधारित है, किन्तु इसकी नव-भेद-कल्पना अथवा भारतवर्ष के नवद्वीपों का वर्णन सर्वथा मौलिक है । वराह पुराण नवें द्वीप को भारत द्वीप की संज्ञा देता है, जबकि अन्य पुराणों में इसे 'कुमार द्वीप' (वामन) या कुमारी द्वीप अथवा कुमारिका खंड (स्कन्द) और 'नवमः' (नवां) द्वीप कहा गया है । शेष आठों द्वीप समुद्र पार स्थित थे और भारत द्वीप का इनके साथ आत्मीय सम्बन्ध हो गया था । 'सर्वद्वीपों' के साथ भारत का सम्बन्ध समुद्रगुप्त के समय में हुआ था ।[३] कालान्तर में भी द्वीपान्तर भारत का अभिन्न अंग बना रहा ।[४] भारतद्वीप और इन द्वीपों के समन्वित स्वरूप को ही 'महद्भारतं वर्ष' कहा गया है ।[५]

इस 'महाभारत' वर्ष और सीता नदी (तरीम और यारकन्द) की घाटी में स्थित भद्राश्व वर्ष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, जैसा कि सम्राट् भद्राश्व

---

[१] पौ०क०स०, पृ० ५४-५६

[२] पु०रि०हि०रा०क०, पृ० १५-१७
पु०वि०, पृ० ५४५

[३] समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ लेख, पं० २४ : सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायन
गरुत्मदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाद् — ।

[४] प्रा०भा०भू०, पृ० १०४, २०२-२०३, २०६-२१०, २३४-२३७, २३९-२४२

[५] वराह, अ० ७४, पृ० ३३१ (भावांश) : ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद्भारतं
नाम शशास ।

(जिनके नाम पर ही भद्राश्व वर्ष का नाम पड़ा) और अगस्त्य के संवादों से विदित होता है।[1] भद्राश्व वर्ष चीन का ही नाम था। भारत और चीन के घनिष्ठ सम्बन्धों के साथ-साथ भारत और मध्य एशिया भी व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों से जुड़े हुए थे। यह युग ईसा की प्रथम शताब्दी (कुषाण-युग) से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी तक बना रहा।[2] वराह पुराण से भी हमें उसी युग की स्थिति का बोध होता है।

समुद्र-मार्ग द्वारा भी भारत और रत्नद्वीप की यात्रा[3] से भी हमें फाहियान की समुद्रयात्रा तथा उसमें होने वाले कष्टों का आभास मिलता है।[4]

वराह पुराण कालीन स्वदेश और परदेश के व्यापार से भी सिद्ध होता है कि व्यापारी निर्विघ्न रूप से उत्तरापथ से पूर्व मंडल तथा समुद्रपार-द्वीपों तक व्यापार करते थे।[5] यह भारत में मुस्लिम-प्रभुत्व की स्थापना के पूर्व का युग था।

वेदोद्धार और धर्मों के प्रचार तथा प्रचलन से भी वराह पु० के धार्मिक जीवन पर कुमारिल की छाप लगी है। वराह पु० के धार्मिक जीवन में नग्न-पाषण्डों अथवा जैन और बौद्ध धर्म की निन्दा अन्य पुराणों की भांति ही मिलती है। शुद्ध वेदान्तिक शैव धर्म की प्रशंसा करते हुए कापालिकों की भी निन्दा की गई है। पांचरात्र और वासुदेव-विष्णु के माहात्म्य तथा वैष्णव परम्परा पर गीता के विचारों का प्रभाव रामानुज के युग का परिचायक है। संपूर्ण

---

१. वराह, ४८।६-४२; ५०।१-२८ ; ५१।५-२८; अ० ५२-अ० ५५

२. बागची, इंडिया ऐन्ड चाइना, पृ० १६

३. वराह, अ० १७१ (आगे, अ० ५ - आर्थिक जीवन - में इसका वर्णन किया गया है)

४. इंडिया ऐन्ड चाइना, पृ० २६

५.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धार्मिक जीवन पर तांत्रिक विचारों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । अस्तु धार्मिक जीवन के अध्ययन से वराह पुराण का युग, साधारण रीति से, कुमारिल और रामानुज के बीच का है । दशावतारों की कई (तीन) तालिकाओं में तद्रूपता है और इनमें बुद्ध का भी नाम सम्मिलित है । द्वादशी व्रतों में भी बुद्ध द्वादशी व्रत का वर्णन है । इस युग में तीर्थ यात्रा के महत्व के साथ साथ नैमिष, गया, पुष्कर, पुरुषोत्तम, चित्रकूट, मथुरा-वृन्दावन, बदरी, हरिद्वार, द्वारका, उज्जैन, शालग्राम, कोकामुख, सौकर, मन्दरगिरि आदि प्रसिद्ध तीर्थ थे, जहाँ लोग जाते रहते थे । पश्चिम भारत में स्थित सौराष्ट्र का एक नरेश भी तीर्थयात्रा पर गया था । इससे वैष्णव धर्म का महत्व सिद्ध होता है ।

सामाजिक जीवन पर धर्मशास्त्रों का विशेष प्रभाव पड़ा है । वर्णाश्रम-धर्म और संस्कारों का महत्व अक्षुण्ण था । ऊँच-नीच की भावना समाज में घर कर चुकी थी । वन्याश्रमों (तपोवनों) के गुरुकुलों में वेदघोष सुनायी पड़ता था । अतः वराह पुराण का युग ईसा की आठवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है, जैसा कि वराह पु० और कृत्यकल्पतरु की तुलना से भी स्पष्ट है ।

गहड़वाल सम्राट् गोविन्दचन्द्र के प्रधान मंत्री (मंत्रीश्वर)[१] लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु में वर्तमान वराह पुराण के विभिन्न अध्यायों से गार्हस्थ्य (काण्ड २), नियतकालकाण्ड (३), श्राद्ध (काण्ड ४), दान (काण्ड ५), व्रत (काण्ड ६), तीर्थ (काण्ड ८) आदि में श्लोकों को उद्धृत किया है, जैसा कि निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है :-

---

१. कृ०क०त०, खण्ड १, पृ० २, खण्ड ११, पृ० १

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वराह पुराण			कृत्यकल्पतरु		
अ०	**श्लोक**	**विषय**	**काण्ड**	**पृष्ठ**	**विशेषोल्लेख**
७	१२-२९	गया मा०	८ (तीर्थ)	१६३-१६६	कहीं-कहीं एक-आध शब्द को बदल दिया है।
३९	२५-७६	मत्स्य द्वादशीव्रत	६ (व्रत)	३११-३१७	,, ,,
४०	२-११	कूर्म द्वादशी	,,	३१७-३१९	वराह ४०।१० को संक्षिप्त दो पंक्तियों में कर दिया है।
४१	१-१५	वराह द्वादशी	,,	३१९-३२१	
४२	१-१६	नरसिंह द्वादशी	,,	३२२-३२३	
४३	१-१५	वामन द्वादशी	,,	३२३-३२५	
४४	१-१०, १५-२१	जामदग्न्य द्वादशी	,,	३२५-३२७	
४५	१-९	राघव द्वादशी	,,	३२७-३२९	
४६	१-७	कृष्ण द्वादशी	,,	३२९-३३१	वासुदेव-कृष्ण-उपासना
४७	१-७,२३	बुद्ध द्वादशी	,,	३३१-३३२	वराह (४७।५) में लेखक ने बुद्ध का नाम हटाकर उसके स्थान पर 'देवदेवं दामोदरं' रखा है। लक्ष्मीधर ने शुद्धोदन-पुत्र बुद्ध को जनार्दन (विष्णु) माना है (६, पृ० ३३२)
४८	१-६(१), १५(१), २०-२४	कल्कि द्वादशी	,,	३३२-३३३	लक्ष्मीधर ने कहीं कुछ छोड़ा और कहीं कुछ संक्षेप किया है।
४९	१-२९	पद्मनाभ द्वादशी	,,	३३३-३३५	
५०	४-२९	योगेश्वर द्वादशी	,,	३३५-३३९	
५१	५,८,९-१४, १६(१),१८	भर्तृ द्वादशी	,,	३३९-३४०	

वराह पुराण			कृत्यकल्पतरु		
अ०	श्लोक	विषय	काण्ड	पृष्ठ	विशेषोल्लेख
५५	१-२०,५६	शुभ द्वादशी	६ (व्रत)	३४०-३४३	
५६	१-१४	धन्यव्रत	,,	३८-४०	
५७	१,३-१५	कान्तिव्रत	,,	४७-४८	
५८	१-३,८-१३, १६-१९	सौभाग्यव्रत	,,	७५-७७	
५८	५-६	,,	काण्ड २	३५	
५९	१-१०	अविघ्नव्रत	६ (व्रत)	८२-८३	
६०	१-८	शान्तिव्रत	,,	९६-९७	
६१	१-१०	काम्यव्रत	,,	९८-९९	
६२	१-५(१)	आरोग्यव्रत	,,	२२३-२२४	
६३	२-७	पुत्राप्तिव्रत	,,	२२४-२२५	कृष्णाष्टमी पा०
६४	१-५	शौर्यव्रत	,,	२७३	
६५	१-५	सार्वभौमव्रत	,,	२७९	
९९	८५(२)-८६, ८७,८८,९१- ९३	तिलधेनुदान	५ (दान)	१४६	
१०१	३(१)	रसधेनुदान	,,	१४६	
११५	७-१३,१५- १६(२)	विष्णुप्राप्ति द्वादशीव्रत	,,	३४३-३४४	११५, १५(१) को कुछ बदल दिया है।
११६	४	तिथिविशेष	३ (नियत- काल काण्ड)	३५९	
१२२	२,६	मिथुन-निषेध	,,		
१५५	३३,३४				

वराह पुराण			कृत्यकल्पतरु		
अ०	श्लोक	विषय	काण्ड	पृष्ठ	विशेषोल्लेख
१२४	४३-४४	नारायणार्चन	३(नियत काल काण्ड)	३९२	
१२३	८-११	कार्तिक द्वादशी का अर्चन	,,	४२६	१२३।६ तथा १२३।१० के बाद गद्यांश बदलकर पद्य में लिखा (मेघागत:---)
१२९	१२,२५(२),२८,२९(३), ३०(१),३२,३३(२),३४, ३६,३७(२),३८,४०(२), ४१,४२(१),५१-५३,५५, ५७(१),५९(२),६०,६१, ६२(२),६३(२),७०,७१, २१६(१)		८ (तीर्थ) `व्युष्टि: कुब्जाम्रकस्य`	२०६-२०८	यहाँ लक्ष्मीधर ने १२९। २१६(१) में वराह १३७। २१७(२) से `व्युष्टि` लेकर जोड़ दिया है।
१३७	६-७,१२-१४,१६-१९(१), २०-२१, २३ का कुछ अंश, कुछ २६ तीर्थ छोड़कर ये, ४५(१),५१(१),५१(२) कुछ परिवर्तन, ५२,५६,२२४,२२५, २४०,२४१,२४९,२५०		८ (तीर्थ) सूकरक्षेत्र मा०	२०९-२१२	
१३६	४७(२)-५०	चाण्डालभय	काण्ड २	३४६	प्रसंग यही है किन्तु
१५५	३१-३६	,,	,,	,,	बहुत बदल दिया है।
१४०	१०-१३,४८,८५(२), ८६(२),८७,८९,९१	कोकामुख मा०	काण्ड ८	२१३-२१४	
१४१	१(१),२-३,४(१), ५-७(१),१३,४३	बदरी मा०	,,	२१५-२१६	
१४३	१-३,६(१),१०, ११(१),१३(२), १५-१६,४९-५०(१)	मन्दार मा०	,,	२१७-२१८	
१४४ } ३ अ० १४५ }		शालग्राम मा०	,,	पृ० २२६	

वराह पुराण			कृत्यकल्पतरु		
अ०	श्लोक	विषय	काण्ड	पृष्ठ	विशेषोल्लेख
१४५	२८, ३२, ३४, ७१-७३, ७५-७६(१), ७७-७८, ९८, १००, १०३-१०४	शालग्राम मा०	८	२१९-२२१	
१४७	३८-३९	स्तुतस्वामी मा०	,,	२२२-२२४	
१४८	९, १०, २९, ४०-४३(१), ४४(२), ५६, ५८, ५९(१), ६०(१), ६१-६४, ६६, ६७(१), ६८(१), ६९, ७१, ७४(२), ७९(१)	,,	,,	,,	
१४९	७(२), ८, ९, २३, २४, २६(१), २७(२), २८, २९(१), ३०-३१, ३६(१), ३७(१), ४०, ४१(१), ६६-६९, ८०-८१(१), ८६-८७	द्वारका मा०	,,	२२५-२२७	
१५१	६(२)-८, ९(१), १०(१), १७, १९(१), २२, ७८-७९	लोहार्गल मा०	,,	२२८-२२९	
१५२	११, २४, २६, २७(१), २८-२९, ३१(१), ३९	मथुरा मा०	,,	१८६-१८७	
१५३	४३-४४	,,	,,	,,	
१५६	३-५, ६-८	,,	,,	,,	
१६३	१३-१४	,,	,,	,,	
१६४	१८(१)	,,	,,	,,	
१५७	१, ११	,,	,,	१८८	

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वराह पुराण			कृत्यकल्पतरु		
अ०	श्लोक	विषय	काण्ड	पृष्ठ	विशेषोल्लेख
१६०	२०(२)	मथुरा मा०	८	१८८	
१५७	१४-१५	..	..	१८९	
१६०	२०(२)	..	..	..	
१५२	५०	..	..	..	कनखल के स्थान पर कृ०क० त० में कनक दिया है ।
१६८	१३	..	..	..	
१६४	३४(१)	..	..	१९०	
१५३	३,४	..	..	१९१	
१५७	३३-३४	..	..	..	
१५४	८	..	..	..	
१५६	१-२	..	..	..	
१६०	२०(१)	..	..	..	
१५७	१२	..	..	१९२	यहाँ मथुरा मा० में मथुरा के विभिन्न तीर्थों का वर्णन है ।
१६४	१-३	..	..	..	
१५७	२४-३१	..	..	१९३	
१५८	२०-२४,२८	..	..	..	
१६८	८,१७	..	..	..	
१८०	११४	..	..	..	

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वराह पुराण		कृत्यकल्पतरु			
अ०	श्लोक	विषय	काण्ड	पृष्ठ	विशेषोल्लेख
१८८	६-१०, १२-१३, १४(१), १६, १७, १८(१), २५-२६, ३०(२), ३१-३३, ३४(१), ३६(२), ४४, ४५(१), ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५६, ६४-६९, ७०, ७१, ७२, ९३	श्राद्ध मा०	४ (श्राद्ध काण्ड)	२४६-२४९	
१९०	१०३(१), १०४(१)	,,	३ ,,	१०४	
२१०	६४-६५(१)	प्रातःस्नान	३ नियतकाल काण्ड	३१	
२११	१०, ११, १२, १३	गो परिचर्या	,,	४५७-४५८	
२११	१४(१), १५(१), २०(२)	प्रातः स्नान ,,	,,	२४-२५	
२११	२३-२४, २६	,,	,,	५६	

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान वराह पुराण प्रायः पूर्ण रूप से गोविन्दचन्द्र और लक्ष्मीधर के पूर्व अर्थात् ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में विद्यमान था ।

सत्य ही, वराह पुराण में हरि का वाराह-वैभव (वाराहं वैभवं हरेः)[1] वर्णित है । जिस वाराह-रूप से हरि ने पृथिवी का उद्धार किया, वह 'वेदवेदांगतनु' यज्ञवराह का स्वरूप (सर्वयज्ञस्वरूपिणी) था ही विभिन्न अंगों का

---

[1] पद्म पु०, ६।२६४।२६(२)

प्रतीक है । उन्होंने न केवल धरा का उद्धार किया, प्रत्युत विस्मृत वेदों और लुप्त वैदिक-कर्म (यज्ञधर्म) का भी पुनरुद्धार किया ।[1] इस प्रकार वराह पुराण के वेद एवं कर्मकाण्ड के पुनरुद्धार पर कुमारिल के विचारों की छाप लगी हुई दिखाई पड़ती है । परन्तु इस धर्म को भागवत धर्म में रंगने का श्रेय रामानुजाचार्य को है । भागवत-धर्म पर भी तांत्रिक क्रियाओं (मांस बलि) का प्रभाव पड़ा था ।

वराह पुराण शास्त्र-नवनीत है जिसमें वासुदेव के सर्व-प्रिय तथा मात्सर्य-हीन धर्म की प्रतिष्ठा की गई है । यही शुद्ध पांचरात्र मार्ग है जिसने विष्णुधर्म को सनातन-धर्म का स्वरूप देकर 'पाखण्ड-मार्ग' (बौद्ध एवं जैन धर्म) को पीछे ढकेल दिया । यहाँ अभेद दृष्टि और अद्वैत-तत्त्व का प्रसार करते हुए व्याध, चाण्डाल आदि का भी शरीर-संस्कार और ज्ञान-संस्कार किया गया है । वे ऋषि-तुल्य हो गये (यथा सत्यतपा-वृत्त, अ० ३७ व अ० ३८) (पुराणकार को यही अभीष्ट था कि वह शुभवृत्ति और पवित्राचरण से अपने आप अपना उत्थान करे (उद्धरेत् आत्मनात्मानम्) ।

इसी समय अरबों और तुरुष्कों के आक्रमण हो रहे थे । इन आक्रमणकारियों को खदेड़ने का श्रेय प्रतिहार-सम्राटों - नागभट प्रथम एवं द्वितीय और मिहिर-भोज (आदि वराह) को है ।

आर्य-कीर्ति[2] वाले भोजदेव की सभा (उसकी ग्वालियर प्रशस्ति की रचना करने वाले)[3] कवि बालादित्य के समान विद्वद्वृन्द से सुशोभित थी । स्कन्द पुराण से ज्ञात होता है कि कान्यकुब्ज के शासक भोजराज विद्वान् और

---

[1] पद्म पु०, ६।२६४।११-२५

[2] कि०कि०ए०, पृ० १६६ ,
भोज का ग्वालियर शिला लेख, श्लोक २६

[3] कि०कि०ए०, पृ० श्लोक २७

कुशल वक्ता (विद्वान्वाग्मी) थे ।[1] उसकी सभा में पुरोहित, गुरु, विप्र, आचार्य, दैवज्ञ, मन्त्रज्ञ, भिषग् और तान्त्रिक आदि विद्यमान् रहते थे ।[2] वे शास्त्रज्ञ थे ।[3] कुरुक्षेत्र में सरस्वती तट पर सारस्वत नाम का एक विजितेन्द्रिय तपस्वी रहता था ।[4] भोज और सारस्वत मुनि का संवाद हुआ था ।[5] सारस्वत ने ही भोज को राज्य-त्याग करने से रोक कर उपदेश भी दिया था ।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि कान्यकुब्ज महावंश के शासक भोजराज की सभा वेदवेदांगविद् और शास्त्रज्ञ विप्रों से अभिमण्डित थी । इन विद्वानों द्वारा अवश्य पुराणों का अध्ययन-अध्यापन और उनकी व्याख्या की गई होगी ।

वराह पुराण के अनुसार कान्यकुब्ज अथवा महागृहोदय (महोदय)[7] जम्बू-द्वीप का प्रसिद्ध नगर था और इस दिव्य नगर में वेदज्ञ ब्राह्मण रहते थे[8] जिनका संपर्क कल्पग्राम (कलापग्राम) के सिद्ध ब्राह्मणों से भी हुआ था । कान्यकुब्ज सम्राट् भी दान-धर्म परायण था । मथुरा के विश्रान्तेश्वर-शिव के मन्दिर में सदैव उसका यज्ञ तथा संगीत और प्रेक्षणीय युक्त उत्सव होता था, मानो वह इन्द्र का भवन ही हो ।[9] किन्तु शक्र के समान, दान-धर्म-परायण कान्यकुब्जाधिप[10]

---

१. स्कन्द, ७।२।६।२१(१)
२. वही, ७।२।६।४७(२)-४८(१)
३. वही, ७।२।६।४९-५२
४. वही, ७।२।६।५
५. वही, ७।२, अ०६, अ०९ आदि
६. वही, ७।२, अ०१०, (७।२।१०।१८-१९) तथा अ०११,१२,१३ आदि
७. वराह, १६२।२-३ - महागृहोदय-निवासी ब्राह्मण (वराह १६२।२) को ही कान्यकुब्ज निवासी (वराह,१६२।६) भी कहा गया है ।
८. वही, १६२।५-८ और आगे
९. वही, १७५।२२-२३
१०. वही, १६२।४१-४२ में भी कन्यापुरनिवासी धार्मिक नरेश का उल्लेख है । उसका भी मथुरा में यज्ञ होता रहता था ।

का नाम नहीं दिया गया है। अवश्य ही वह महान् शासक था। मथुरा इसके[1] राज्य में सम्मिलित था। मथुरा से व्यापारी केवल पूर्व मंडल और उत्तरापथ को ही आते जाते न थे, प्रत्युत वे समुद्रपार द्वीपों[2] को भी आते जाते थे। पंचाल[3]-नगरी (कान्यकुब्ज) से दक्षिणापथ के नगरों को भी गमनागमन होता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण के युग में कान्यकुब्ज राजशक्ति, विद्या एवं कला और आर्थिक समृद्धि का अधिष्ठान था और इसी यहां ब्राह्मण धर्म और साहित्य की उन्नति हुई। साथ ही यदि वराह पुराण का 'रिपुसूदन-आदिवराह' और इतिहास-विश्रुत भोज[4] - आदिवराह एक ही हैं, जैसा कि ज्ञात होता है, तो वराह पुराण का सम्पादन कान्यकुब्ज की भोज-राजसभा में हुआ था।

मथुरा भी कान्यकुब्ज साम्राज्य का ही अंग था जहां भागवत धर्म और वैष्णव दर्शन का प्रस्फुटन हुआ। वराह पुराण में जिस भागवत धर्म का वर्णन है वह उदारता और सहिष्णुता के सिद्धान्तों पर आधारित था। इन्हीं सिद्धान्तों के पोषक प्रतिहार सम्राट् थे।

---

[1] वराह, १७०।३३-३६

[2] वही, १७१।४-५२

[3] वही, १७६।२५-२६

[4] स्कन्द, ७।२।६।२०-२१ :

कान्यकुब्जे महादेशे राजा भोजेति विश्रुतः ।
पुरा पुण्ययुगे धर्म्यः प्रजाधर्मेण शासति ।।
विशालाक्षो दीर्घबाहुर्विनयाग्मी प्रियंवदः ।
सर्वलक्षण संपूर्णो वक्ता सर्व-विलोककः ।।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कांची राज्य दक्षिण भारत का प्रमुख राज्य रहा है। इस युग में भी यह इतिहास और संस्कृति का प्रकाश-स्तम्भ था जो अपने चारों ओर धर्म, साहित्य और कला की प्रभा फैला रहा था। पल्लवों के राजत्व काल में ही यहां साहित्य और कला की उन्नति हुई थी। इसके बाद चोलों के राजत्व-काल में भी सांस्कृतिक उन्नति होती रही और दूर द्वीपान्तर तक इसका प्रभाव पड़ा। वराह पुराण कांचीराज्य[1] और कांची राजकुल[2] का उल्लेख करता है। किन्तु न कांची नरेश का ही नाम दिया गया है और न राजकुल का ही नाम दिया गया है। पल्लवों के राज्योदय के साथ वराह देव का महत्व जुड़ा हुआ है।[3]

इसी प्रकार कलिंग-राज[4] और कलिंगवंश[5] के भी उल्लेख हैं। कांची और कलिंग राज्यों में मैत्री थी जिसका आधार वैवाहिक सम्बन्ध था। कांचीराजपुत्री का विवाह कलिंग के राजपुत्र[6] से हुआ था। किन्तु न तो राजा का ही नाम दिया गया है और न राजवंश का ही नामोल्लेख किया गया है। वराह पुराण के युग में दोनों ही राज्य—कलिंग और कांची—प्रसिद्ध थे।

वराह पुराण की राज्य-व्यवस्था और शासन-पद्धति से भी हमें पूर्व मध्य काल के उस युग का चित्र मिलता है जिसमें प्रतिहार, चन्देल, कलचुरि और प्रारम्भिक चौहान शासकों का प्रभुत्व था। इनके प्रतिनिधित्व में कान्यकुब्ज, मथुरा एवं प्रभास (प्रतिहार वंश), कालिंजर (चन्देल), माहिष्मती (कलचुरि-नरेश) और एकलिंग (चौहान वंश) प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र थे।

---

१. वराह, १३७।९८
२. वही, १३७।१०७,२१४
३. स्ट० स्क०पु०, पृ० २०१
   स्कन्द, २।१।१०।१६-१७
४. वराह, १३७।१४७,१४६,१५६,१६७
५. वही, १३७/१०९
६. वही, १३७।९८-९०

अध्याय २

वाराही भूगोल संहिता

सर्वेष्वेव पुराणेषु भूर्लोकः परिकीर्त्यते ।

प्रस्तुत ‘वाराही भूगोल संहिता’ में वराह पुराण के भुवनकोश (अ० ७४-अ० ८६) में उपलब्ध भौगोलिक विवरण तथा पुराण के अन्य अध्यायों से भी प्राप्त द्वीपों, पर्वतों, नदियों, वनों, जनपदों, नगरों, ग्रामों आदि का संकलन कर प्राचीन विचारकों के आधार पर ब्रह्माण्ड और पृथ्वी का वर्णन किया गया है ।

भू-विद्या (क्रम, मार्ग)

सभी पुराणों (और उपपुराणों) में भूगोल का वर्णन मिलता है और पुराणों में भूगोल-वर्णन का एक निश्चित क्रम है -

> एष सर्वपुराणेषु क्रमः सामान्यतः प्रतिपाद्यते ।[1]
> एष सर्व पुराणेषु क्रमः सुपरिनिश्चितः ।[2]

इस ‘क्रम’ में द्वीपों, पर्वतों, वनों आदि से युक्त विशाल भूखंड को पद्म के रूप में माना गया है और इसीलिए पृथ्वी पद्मा कही गयी है । पुराणों में इसी लोक-पद्म के पत्रों को द्वीप मान कर पृथ्वी और उसके द्वीपों का वर्णन किया गया है ।[3] इसे ही भुवनविन्यास या भुवनकोश कहा गया है । ऊपर उल्लिखित ‘क्रम’ शब्द से एक निर्धारित योजना, पद्धति या मार्ग का ज्ञान होता है ।[4] भुवनकोश के अन्त में वराह पुराण का कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है :-

> एष वः कथितो मार्गो भुवेरायामविस्तरः ।
> स्वस्ति वो ऽस्तु गमिष्यामि कैलासनिलयं द्विजाः ।।[4]

---

१. वराह पु०, अ० ८१, पृ० ३५८
२. वायु पु०, १.४१.८६
३. वही, १.४१.८५-८६
४. वराह पु०, अ० ८६, पृ० ३७२

भूमि के आयाम विस्तार (भूमि का विस्तार, प्रमाण, द्वीप-मंडलों की संख्या, स्थिति आदि) वर्णन करने को ‘मार्ग’ कहा गया है। ऊपर इसी को ‘क्रम’ भी कहा गया है। ‘क्रम’ और ‘मार्ग’ शब्दों से एक व्यवस्था का परिचय मिलता है जो भूपद्म-व्यवस्था कहलाती है।[1] अस्तु ‘क्रम’, ‘मार्ग’ और ‘व्यवस्था’ के उल्लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भौगोलिक-ज्ञान की जिज्ञासा से ही भूगोल-विद्या की प्रतिष्ठा हुई। भूगोल-वर्णन निर्धारित सिद्धांतों पर किया गया था (भूगोलकं नामरूपमान लक्षणतो व्याख्यास्याम:)।[2] भुवनकोश के विवरणों में भूमि-प्रमाण, नाम (निरुक्ति), रूप (आकार) और लक्षणों का ध्यान रखा गया है। अत: भुवन-कोश के लेखक कुशल भूगोल-वेत्ता थे जो अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर ही भूगोल के विभिन्न अंगों का निरूपण करते थे। वराह पुराण के भुवन-कोश के वक्ता शिव हैं।[3] यह शिव न होकर कोई सिद्ध होगा (सिद्ध भाषितं)।[4]

वराह पुराण में भी प्रचलित परम्परा के अनुसार ही भूमि और उसके विभाग, प्रमाण, संस्थान और पर्वतों का वर्णन किया गया है।[5]

वायु और वराह का भुवनकोश

वायु पुराण के अध्यायों से सामग्री ली गयी है। परन्तु इसकी मौलिकता

---

१. वराह पु०, अ० ८५, पृ० ३६५ : स्वयम्भू : पद्मव्यवस्था कथिता: ---
२. भागवत पु०, ५.१६.४
   वही, ५.२१.१ - एतावानेव भूवलयस्य संनिवेश: प्रमाणलक्षणतो व्याख्यात: ।
३. भुवनकोश, अ० ७४- अ० ८६, ‘रुद्रगीतासु भुवनकोशे’, रुद्र-भाषित है।
४. वही, ७५.४६-४७ - पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सघनद्रुमा ।।
   तदस्य लोकपद्मस्य विस्तरं सिद्धभाषितम् ।।
   वर्ण्यमानं विभागेन क्रमश: शृणुत द्विजा:’ ।।
५. वही, ७४.३ से आगे

भुवनकोश के प्रारम्भिक अ० ७४ में द्रष्टव्य है, जहां भुवन-विस्तार का वर्णन किया गया है । यह संकलन-कर्ता वैष्णव होते हुए भी इस भुवनकोश के वक्ता को शिव मानता है । पृथ्वी के सात द्वीपों और भद्भारतवर्षों का परिचय इसी प्रारम्भिक अध्याय में दिया गया है । इस अध्याय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वराह पुराण का लेखक प्राय: सभी पुराणों से परिचित था ।[1] वराह पुराण के अ० ७५ में वायु पुराण (पूर्व खं०) अ० ३४ से ही प्राय: सभी सामग्री ली गयी है । अन्तिम श्लोकों में लोगों के धार्मिक जीवन का वर्णन करते हुए नये श्लोकों (अ० ७५।६८-७३) को जोड़ा गया है । इस अध्याय में जम्बूद्वीप तथा उसके वर्षों और वर्षपर्वतों का वर्णन करते हुए पद्माकारा पृथ्वी के चार द्वीपों (वर्षों) - भद्राश्व, भारत, केतुमाल, उत्तरकुरु तथा इलावृत - का वर्णन किया गया है । इस अध्याय के अन्त में मेरु और उसके निकटस्थ चक्रवाद गिरि का वर्णन किया गया है । वराह पुराण के अ० ७६ में भी मेरु और चक्रवाद का वर्णन करते हुए मेरु पर स्थित देव-पुरियों का वर्णन है । इस अध्याय पर ब्रह्माण्ड (२,अ० १५) और मत्स्य (अ० ११२) का भी प्रभाव पड़ा है । यह अध्याय भी वायु पुराण (पूर्व खं०) अ० ३४.७५ (और उससे आगे) पर आधारित है । इसी प्रकार वराह के अध्यायों ७७, ७८, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४ और ८५ (भारतवर्ष वर्णन) में वायु (पूर्व खंड) के ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ४४ और ४५वें अध्यायों से सामग्री ली गयी है । यहां भी ब्रह्माण्ड और मत्स्य के पाठों की सादृश्यता परिलक्षित होती है । वराह पुराण के लेखक ने वायु पुराण की सामग्री को संक्षिप्त रूप में वर्णन करने का प्रयास किया है । इसीलिए वायु पुराण के अध्याय ४० की सामग्री को छोड़ दिया गया है । साथ ही वायु पुराण के एक ही अध्याय ३४ को वराह के दो अध्यायों - अ० ७५-अ० ७६ - में पाते हैं । वराह के अ० ८६- अ० ८९ में क्रमश: शाक द्वीप (अ० ८६),

---

[1] वराह, अ० ७४
द्रष्टव्य विष्णु पु०, २, अ० १-अ० २
वायु पु०, १, अ० ३३- अ० १५
ब्रह्माण्ड, २, अ० १५
मत्स्य पु०, अ० ११२- अ० ११३

भुवनकोश के प्रारम्भिक अ० ७४ में द्रष्टव्य है, जहां भुवन-विस्तार का वर्णन किया गया है। यह संकलन-कर्ता वैष्णव होते हुए भी इस भुवनकोश के वक्ता को शिव मानता है। पृथ्वी के सात द्वीपों और जम्बूभारतवर्षों का परिचय इसी प्रारम्भिक अध्याय में दिया गया है। इस अध्याय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वराह पुराण का लेखक प्राय: सभी पुराणों से परिचित था।[1] वराह पुराण के अ० ७५ में वायु पुराण (पूर्व सं०) अ ३४ से ही प्राय: सभी सामग्री ली गयी है। अन्तिम श्लोकों में लोगों के धार्मिक जीवन का वर्णन करते हुए नये श्लोकों (अ ७५।६८-७३) को जोड़ा गया है। इस अध्याय में जम्बूद्वीप तथा उसके वर्षों और वर्षपर्वतों का वर्णन करते हुए पद्माकारा पृथ्वी के चार द्वीपों (वर्षों) - भद्राश्व, भारत, केतुमाल, उत्तरकुरु तथा इलावृत - का वर्णन किया गया है। इस अध्याय के अन्त में मेरु और उसके निकटस्थ चक्माद गिरि का वर्णन किया गया है। वराह पुराण के अ० ७६ में भी मेरु और चक्माद का वर्णन करते हुए मेरु पर स्थित देव-पुरियों का वर्णन है। इस अध्याय पर ब्रह्माण्ड (२,पू० १५) और मत्स्य (अ० ११२) का भी प्रभाव पड़ा है। यह अध्याय भी वायु पुराण (पूर्व सं०) अ ३४.७५ (और उससे आगे) पर आधारित है। इसी प्रकार वराह के अध्यायों ७७, ७८, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४ और ८५ (भारतवर्ष वर्णन) में वायु (पूर्व खंड) के ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ४४ और ४५वें अध्यायों से सामग्री ली गयी है। यहां भी ब्रह्माण्ड और मत्स्य के पाठों की सादृश्यता परिलक्षित होती है। वराह पुराण के लेखक ने वायु पुराण की सामग्री को संक्षिप्त रूप में वर्णन करने का प्रयास किया है। इसीलिए वायु पुराण के अध्याय ४० की सामग्री को छोड़ दिया गया है। साथ ही वायु पुराण के एक ही अध्याय ३४ को वराह के दो अध्यायों - अ० ७५-अ० ७६ - में पाते हैं। वराह के अ० ८६- अ० ८९ में क्रमश: शाक द्वीप (अ० ८६),

---

[1] वराह, अ० ७४
द्रष्टव्य विष्णु पु०, २, अ० १-अ० २
वायु पु०, १, अ० ३३- अ० १५
ब्रह्माण्ड, २, अ० १५
मत्स्य पु०, अ० ११२- अ० ११३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कुश द्वीप (अ० ८७), क्रौञ्च द्वीप (अ० ८८) तथा शाल्मल, गोमेद और पुष्कर (अ० ८६) द्वीपों का वर्णन मिलता है। इन अध्यायों में विवरणों को संक्षिप्त करने का प्रयास किया गया है। विवरणों को संक्षिप्त करने के लिए ही वराह पुराण के भुवनकोश का अधिकांश भाग गद्य में दिया गया है, जब कि वायु पुराण में गद्य का अभाव है।

वाराही भुवनकोश की मौलिकता

यद्यपि वराह पुराण का भुवनकोश वायु पुराण पर ही आधारित है, तथापि सिद्ध वराह संहिताकार ने इस पर अपनी मौलिकता की छाप लगा दी है। मौलिक अभिप्रायों के कारण ही वराह पुराण के भुवनकोश की विशिष्ट महत्ता सिद्ध होती है। इस दृष्टिकोण से इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि केवल वराह पुराण में ही भारतवर्ष के नव भेदों में नवें द्वीप का नाम भारत कहा गया है। ` प्राचीन परम्परा के अनुसार इस वर्ष का नाम भारतवर्ष था, किन्तु लगभग प्रथम शती विक्रमी से भारत के निवासियों ने पूर्व और पश्चिम के दोनों महासागरों पर अपने प्रभविष्णु अधिकार द्वारा बृहत्तर भारत का निर्माण किया। शनैः शनैः जावा, सुमात्रा (श्रीविजय), मलय, कम्बुज, चम्पा, श्याम (द्वारावती), केडा (कटाह द्वीप), बोर्नियो (वारुण द्वीप) आदि द्वीपान्तरीय प्रदेश भारत के ही अंग समझे जाने लगे। अतएव भारत की इस भौगोलिक सत्ता का अर्थ विस्तृत हो गया। उसमें न केवल भारत की भूमि बल्कि समुद्र के उस पार के द्वीप भी गिने जाने लगे।`[१] इस स्थिति का उल्लेख पुराणों में भारतवर्ष के नव-द्वीपों (या नव भेदों) के वर्णन द्वारा मिलता है। फलतः जिस अर्थ में बृहत्तर भारत का प्रयोग आधुनिक विद्वानों ने किया है, वराह पुराण के युग में उसी के लिए ` महत् भारत` वर्ष[२] का नाम प्रसिद्ध हो गया था जिसमें भारत द्वीप भी सम्मिलित था। इस प्रकार पुराण-साहित्य में केवल वराह पुराण ही इस नवें द्वीप को भारत का नाम देता है।

---

१. अग्रवाल : मार्कं० अ०, पृ० १४२
२. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१
३. वही, अ० ८५, पृ० ३४५

वराह पुराण का भौगोलिक महत्व

इससे स्पष्ट है कि प्रचलित वायु पुराण की भौगोलिक सामग्री को वराह-संहिताकार ने एक नूतन रूप दे दिया है। इसी से प्राचीन भारतीय भूगोल में वराह पुराण के भौगोलिक विवरण का विशेष महत्व है। वराह पुराण ने न केवल भारत और द्वीपान्तर को एक नवीन अभिप्राय से प्रस्तुत किया है, प्रत्युत भारत और भद्राश्व वर्ष (चीन) भी सांस्कृतिक डोरी से बंधे हुए थे।

वायु तथा अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण भी गंगावतरण का वर्णन करते हुए सीता, चक्षु और भद्रा नदियों का संक्षिप्त वर्णन करता है। इन नदियों की घाटियां मध्य एशिया में स्थित थीं। भारत का मध्य एशिया और चीन के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध था।

भुवनकोश में वायु अथवा अन्य पुराणों की भांति भारत के पर्वतों और नदियों का तो वर्णन मिलता है। परन्तु अन्य पुराणों की भांति भुवनकोश के इन अध्यायों में जनपदों का वर्णन नहीं मिलता है। जनपद-तालिका छूट गयी है या छोड़ दी गयी है। परन्तु अन्य स्थानों पर कई जनपदों के नाम भी प्राप्त होते हैं।

वराह पुराण के मथुरा-माहात्म्य में व्रज-भूमि के स्थानीय पवित्र स्थानों का वर्णन मिलता है जिससे मथुरा-मंडल के स्थानीय भूगोल का ज्ञान होता है। इसी प्रकार बदरी, नेपाल, शालग्राम, लोहार्गल, द्वारका आदि का माहात्म्य स्थानीय भूगोल का परिचय देता है।

वराह पुराणकालीन भारत

डा० आर० सी० हाजरा ने केवल धार्मिक और सामाजिक कृत्यों के आधार पर इस पुराण का युग-निर्धारण किया है। भौगोलिक नामों और देश के भौतिक विस्तार से भी इसका युग-निर्धारण करने में सहायता मिलती है। डा० हाजरा के अनुसार वराह पुराण के पहले भाग (अ० १-११२ अ०) का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का मध्यांश और नवीं शताब्दी का प्रारम्भ अर्थात् ८०० ई०

था ।[1] भौगोलिक विवरणों के आधार पर हमारा यही निष्कर्ष निकलता है कि सम्पूर्ण वराह पुराण अपने वर्तमान रूप में मिहिर भोज (आदि वराह) के युग में संपादित हुआ था । यह वही युग था जब महागृहोदय अथवा महोदय (कान्यकुब्ज) नगर जम्बूद्वीप का महा प्रसिद्ध नगर था (महागृहोदयं नाम जम्बूद्वीपस्य भूषणम्)।[2] इस युग में मूलस्थान[3] (मुल्तान, पश्चिमी पंजाब) अपने सूर्य मन्दिर के लिए भी विख्यात हो चुका था । यही वह युग था जब कलापग्राम की पवित्रता और प्रसिद्धि (कलापग्रामविभूतिं)[4] से आकृष्ट होकर चंदेल सम्राट् धंग[5] ने हिमालय के दक्षिण में भी कलापग्राम की स्थापना करायी थी । प्राग्ज्योतिष,[6] मिथिला,[7] वाराणसी,[8] अवन्तीपुर,[9] (उज्जयिनी) और माहिष्मती[10] भी इस युग के प्रसिद्ध नगर थे । वेत्रवती (बेतवा) नदी की घाटी में वेत्रासुर[11] (एक असुर) की अवतारणा मालवा में म्लेच्छों के उत्पात और आक्रमण का प्रतीक है । रेवाखण्ड[12] का उल्लेख स्कन्दपुराण के इसी नाम के एक खण्ड की स्मृति है । कालिन्जर तीर्थ[13] और वहां के अधिष्ठाता महादेव[14] की प्रसिद्धि भी चन्देल युग की परिचायिका है । इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण की भौगोलिक सामग्री के नामों, उनकी प्रसिद्धि और उनसे सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर हम इस पुराण को पूर्व मध्यकालीन उस युग से सम्बद्ध मानते हैं जब `असुरों' और म्लेच्छों के आक्रमण हो रहे थे । परन्तु अभी उनको बाहर खदेड़ने (प्रतिकरण करने) में दक्ष प्रतिहारों में अदम्य उत्साह और शक्ति थी ।

---

१. पुराणिक रिकर्ड्स, पृ० १०३-१०४
२. वराह पु०, १६२।२
३. वही, १७७।५३, अलबेरूनी, स०, १, पृ० ११६, मजूमदार, ए०इ०, पृ० ३२४, ए०इ०का०, पृ० ३३२
४. वराह पु०, १६२।६
५. धंगदेव और जयवर्मदेव का खजुराहो लेख पं० २८
६. वराह पु०, २८।१३, १२४।१०८
७. वही, ८।३
८. वही, १०।३३
९. वही, ३।३
१०. वही, ९५।३,४
११. वही, २८।१३-२८
१२. वही, १४४।३४
१३. वही, १७९।७५, आ० स० रि०, पृ० १६३
१४. वराह १७५।६

वराह पुराण का भौमिक विस्तार

हिमाद्रि के दक्षिण में स्थित भारतवर्ष पूर्वी द्वीप समूह तक फैला था । इसीलिए भारतवर्ष और इसके नवद्वीपों (भारतं नव भेदं) - इन्द्र, कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्ति, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण और भारत[1] - के वर्णन से हम दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूह में पहुंचते हैं जहां साहसिक वणिक, तूफानों का सामना करते हुए जाते थे । इस प्रकार वराह पुराण का भौमिक विस्तार दक्षिण समुद्र के उस पार द्वीपान्तर तक फैला हुआ था । उत्तर में हिमालय के उस पार सीता (यारकन्द नदी) और चक्षु (ऑक्सस नदी) की घाटी तथा हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र तक भौमिक विस्तार हुआ था । महाभारत में वर्णित अर्जुन की दिग्विजय[2] के समान ही दुर्जय नामक सम्राट् की दिग्विजय का वर्णन मिलता है[3] । इस प्रतापी सम्राट् ने भारतवर्ष और उत्तर दिशा में स्थित किंपुरुष वर्ष, हरिवर्ष, रोमावत, कुरु-भद्राश्व तथा इलावृत को जीत कर जम्बूद्वीप पर विजय प्राप्त की । इसी प्रकार मेरु (पामीर) के आसपास बसे हुए गन्धर्वों, दानवों, गुह्यकों और किन्नरों पर भी विजय प्राप्ति की[4] । यद्यपि ऊपर उल्लिखित देशों और जातियों की पहचान निश्चित नहीं है, परन्तु फिर भी निःसन्देह हमें इनमें हिमालय और इसके उस पार मध्य एशिया की विभिन्न जातियों का परिचय अवश्य मिलता है ।

डा० अली ने भद्राश्व की पहचान तरीम और ह्वांगहो नदियों की घाटी अर्थात् सिंक्यांग और उत्तरी चीन से की है[5] । डा० अग्रवाल ने भद्राश्व की पहचान करते हुए कहा है कि यह चीन का प्राचीन संस्कृत नाम था । भद्राश्व का अर्थ `शुभ-अश्व` है । चीन के धर्म और कला में `ह्वाइट विंग ड्रैगन` और पूज्य माना

---

१. वराह पु०, अ० ८५, पृ० ३६५
२. महा० सभापर्व अ० २६, प्रा० भा० भू०, पृ० ७०-७६
३. वराह पु०, अ० १०। ३५-५२
४. वही, १०। ३५-४२
५. जा० पु०, अ० ७, पृ० ६६

जाता था ।[1] वराह पुराण से ज्ञात होता है कि राजा भद्राश्व के नाम पर ही इसका नाम भद्राश्व वर्ष पड़ा ।[2] राजा भद्राश्व के यहां अगस्त्य मुनि गये थे ।[3] और वहां उन्होंने अपने मत का प्रचार भी किया था ।[4] प्राचीनकाल में भारतीय विद्वान मध्य एशिया और चीन को जाते रहे थे । सम्भवतः भद्राश्व वर्ष में अगस्त्य के जाने की कथा में इसी तथ्य का संकेत है ।

वराह पुराण से उत्तर में स्थित काश्मीर, कैलास, मानसरोवर, बदरीखंड और नेपाल से लेकर दक्षिण में कांची, समुद्र तट और मलय तक तथा पूर्व में प्राग्ज्योतिष (गौहाटी) से लेकर पश्चिम में सौराष्ट्र, प्रभास और रैवतक तथा शूर्पारिक तक विस्तृत देश का ज्ञान होता है । यही विस्तृत भूखंड कैलास, महेन्द्र (पूर्वी घाट), सह्य (पश्चिमी घाट) और मलय पर्वतों से घिरा हुआ गंगा, सिन्धु, कुहू (काबुल नदी), लौहिता तथा दक्षिण में ताम्रपर्णी की घाटी तक विशाल क्षेत्र था ।[5]

वाराह भुवनकोश के वक्ता शिव ने स्वयं इस सप्तद्वीपा पृथ्वी की यात्रा की थी । पहले (दक्षिण) समुद्र में स्नान कर महादेव गंगा, सरस्वती, यमुना - संगम, शतद्रु, देविका, वितस्ता, चन्द्रभागा, गोमती, सिन्धु, तुंगभद्रा, गोदावरी, महेन्द्र पर्वत और उत्तर में गण्डकी, नेपाल, रुद्रमहालय, दारुवन, केदार, भद्रेश्वर, गया, फल्गु, हिमवत् पर्वत, हरिहर क्षेत्र, देवांगद, सोमेश्वर, चक्रतीर्थ, अयोध्या और वाराणसी को गये थे ।[6] इस शिव-यात्रा से भी वराह पुराण के भौगोलिक विस्तार पर प्रकाश पड़ता है ।

---

१. अग्रवाल : इंडियन आर्ट, पृ० ७०-७१
२. वराह पु०, ४९.६
३. वही, ४९|६-१९, ५०.१-२
४. वही, ४९|२०
५. वही, अ० ८५ , पृ० ३६५-३६७
६. वही, ९७|११-३१

पृथ्वी

जगद्धात्री[1], लोकधात्री[2], भूतधारिणी[3], देवी, अस्तु धरा और वसुधा ही जगत तथा जीवन की दृढ़ भित्ति है जिस पर मानव-जीवन टिका हुआ है[4]। इसीलिए यह लोक-धात्री और लोक-माता मानी गयी है और इसीलिए यह पूज्य भी रही है -

नमो नमो मेदिनि लोकमातः
ऊर्ध्वं महाशैलशिलाधरायै ।
नमो नमो धारिणि लोक धात्रि[5]
जगत्प्रतिष्ठे वसुधे नमोऽस्तु ते ।।

अनन्त धातुओं को अपने उदर में रखे हुए सभी प्राणियों को धारण करने वाली धरा सभी प्राणियों की जननी भी है। नाना जनपदों, नानाधिष्ठानों और पत्तनों, नाना नदी-शैलों और नाना जाति के जीवों से भरी हुयी यह बहु विस्तृत पृथ्वी देवी अनंता के नाम से भी प्रसिद्ध थी[6]। पृथ्वी की महिमा ऋग्वेद-युग से लेकर आज तक अक्षुण्ण बनी[7] हुयी है। दान करना पुण्य कर्म माना जाता था[8]। इस पृथ्वी-मूर्ति के निर्माण या चित्रण से प्राचीनकाल में भू-चित्र (नक्शा) बनाने की परम्परा का ज्ञान होता है। वस्त्र पर बने हुए भुवन-चित्र में सप्तद्वीपवती[9] पृथ्वी, इसके पर्वतों, नदियों और झीलों को चित्रित किया जाता था।

---

१. वराह पु०, १।१६
२. वही, कृ २।१०
३. वही, ३९।२३
४. देवी भागवत, ९।९।३३-३४, ४४-५१, भूमिदेवी स्तोत्र, ५२-६३
५. वराह पु०, १८८।६५
लक्ष्मीधर, कृ० क० तरु, जिल्द ४, पृ० २४८
६. ब्रह्माण्ड पु०, २।२०।२-४
७. वराह पु०, ५५।६, १५(१), १७ (१), १८६।४८
८. स्कन्द पु०, १।२।३९।१७८, पद्म पु०, ६।२१६।५-८
डा० बनारसी मुखर्जी फ़ौ० वाल्यूम, ऐन्शेंट इंडियन आइकोनोग्राफ़ी, पृ० २७५-२७८
९. भविष्य पु०, उत्तरपर्व, १९१।७-१४

भू-पद्म

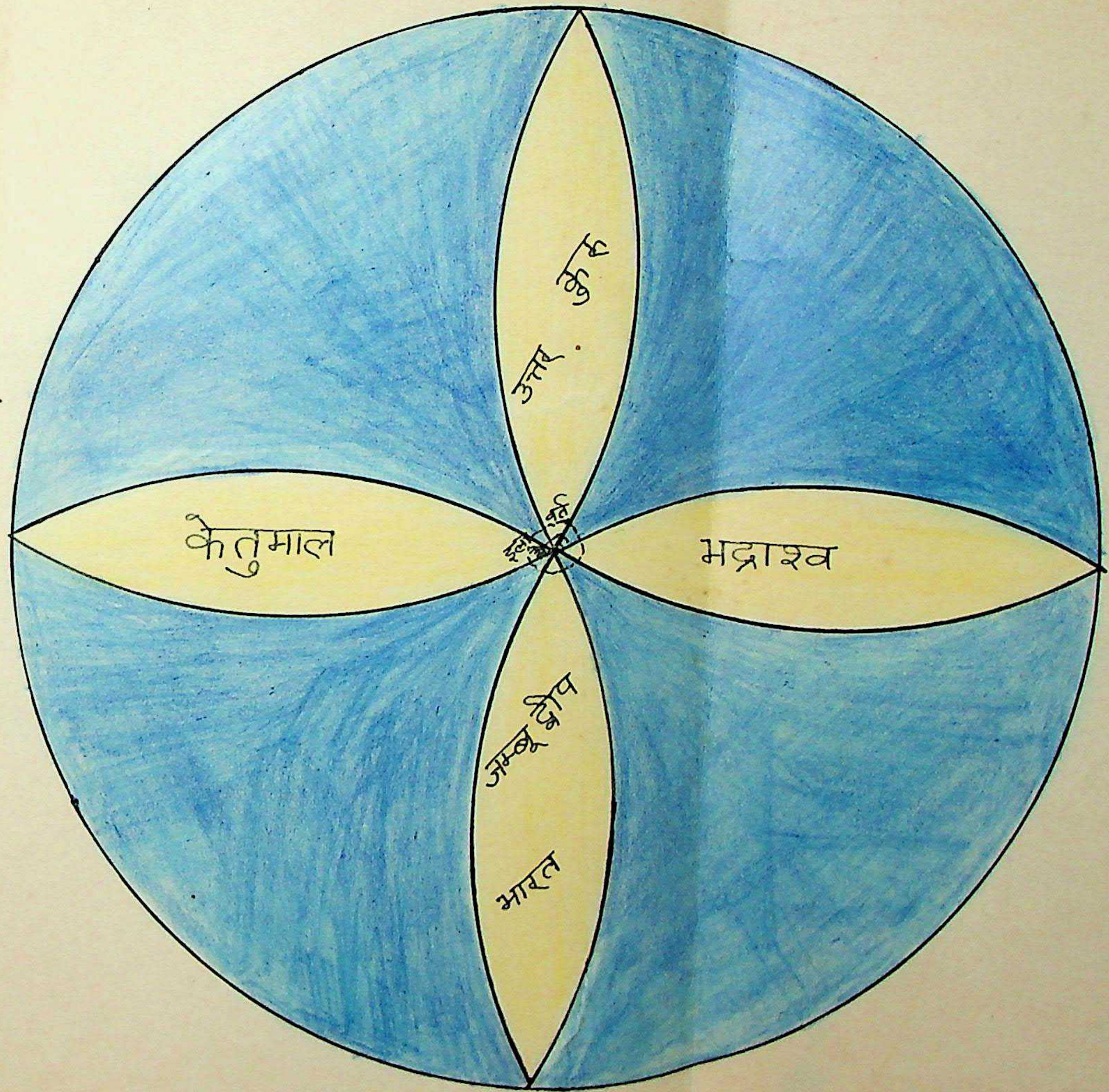
उत्तर कुरु
केतुमाल
भद्राश्व
जम्बूद्वीप
भारत

द्वीपाख्यान

वायु पुराण (पूर्वं०, अ० ३३) के अनुसार ही वराह पुराण (अ० ७४) भूलोक का वर्णन करता है। इस भुवन-विस्तार में पृथ्वी के सात द्वीपों का वर्णन किया गया है। स्वायम्भुव मन्वन्तर का वर्णन करते हुए प्रियव्रत द्वारा अपने पुत्रों को सातों द्वीपों में शासक नियुक्त करने का उल्लेख है। इसके बाद ही उन द्वीपों के अधिपतियों के पुत्रों तथा पुत्र-नामों पर ही उन द्वीपों के वर्षों के नाम होने तथा पर्वतों और नदियों का वर्णन मिलता है। द्वीपाधिपतियों तथा द्वीपों के नामों में तो गड़बड़ी ही है, यथा - प्रियव्रत-पुत्र ज्योतिष्मान् को पहले क्रौंच द्वीप का शासक बताया गया है, पुनः उसे ही शाल्मलि द्वीप तथा कुशद्वीप का भी शासक बताया गया है। इसी प्रकार द्युतिमान् को पहले शाल्मलि द्वीप का शासक बताया गया है और बाद में उसे ही क्रौंच द्वीप का शासक बताया गया है। नामों के अतिरिक्त पाठ भी दोषयुक्त हैं। पद्य से गद्य में संक्षेप करते हुए पूर्वापर सम्बन्ध भी उलझ गया है। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों के साथ पाठ मिलाने पर ही वास्तविकता का ज्ञान होता है। वायु पुराण से नकल करते हुए बीच बीच में पाठ छूट भी गये हैं। इसी कारण गोमेदाधिपति हव्य के पुत्रों और वर्षों तथा प्लक्ष द्वीप का वर्णन छूट गया है। जम्बूद्वीप के वर्णन में भी प्रियव्रतपुत्र नाभि के भाइयों का नाम नहीं बतलाया गया है। जम्बूद्वीप के वर्षों का वर्णन भी सूत्र-शैली में किया गया है। वराह पुराण के विज्ञ संपादक श्री हृषीकेश शास्त्री ने भी इनकी ओर ध्यान नहीं दिया।[1]

चतुर्द्वीपा पद्मा

पौराणिक भूगोल में भूगोलकमल[2] (भूपद्म) को चार पत्रों वाला मानकर प्रत्येक पत्र को मेरु पर्वत के चारों दिशाओं में स्थित एक एक द्वीप मान लिया गया था। " इसी को 'चतुष्पत्र पार्थिव पद्म' इस सूत्र में व्यक्त किया गया, अर्थात् पृथ्वी

---

[1] वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३०-३३१

[2] देवीभागवत पु०, ८।५।७(१)

के इस संस्थान की आकृति उस कमल के समान है जिसकी चार पंखुड़ियां चार दिशाओं में फैले हुए चार देश हैं ---- ।[1] महाभारत भी इन चार द्वीपों - भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप और उत्तर कुरु का उल्लेख करता है ।[2] महाभारत में भी दुष्यन्त-शासित सम्पूर्ण पृथ्वी के चार भागों का उल्लेख किया गया है (चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं)[3] । यह समुद्र से घिरी हुई चतुरन्ता-पृथ्वी[4] थी । वायु पुराण कमलरूपी पृथ्वी को चार द्वीपों वाली बताता है (चतुर्महाद्वीपा--पृथिवी--कृत्स्ना पद्माकारा) ।[5]

इस चतुर्द्वीपी परम्परा में भी पृथ्वी को पद्म माना गया है और मेरु ही इस लोकपद्म की कर्णिका थी[6] । इस भू-पद्म के चार पत्र मेरु की चारों दिशाओं स्थित चार प्रसिद्ध[7] महाद्वीप थे जिनके नाम थे - भद्राश्व, भरत (भारत), केतुमाल और उत्तर कुरु । बाद में जब पृथ्वी की सप्तद्वीपी परम्परा स्थिर की गयी, तो ये चारों द्वीप ही जम्बूद्वीप के चार वर्ष कहे गये ।[8] वायु पुराण[9] की भांति ही वराह भी भू-पद्म को चार पत्र रूपी द्वीपों[10] से युक्त बताता है । परन्तु जब इसी पद्म के चार पत्रों को वायु पुराण चार महाद्वीप मानता है (महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पद्मसंस्थिताः)[11], वराह पुराण इन्हें चार पत्र मानता है (महापत्राणि

---

१. मार्क० पु०, अ०, पृ० १३६
२. महाभारत, भीष्म पर्व, ६।१२-१३
३. वही, आदि पर्व, ६८-४
४. वही, आदि पर्व, ६८-३
५. वायु पु०, १।४१।८५
६. वही, १।३१।४४-४५, १।४१।८२
७. वही, १।३१।५७, १।४१।८४
८. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१, ७५।५८
९. वायु पु०, १।३४।३७ : अव्यक्तात् पृथिवी पद्मं मेरु पर्वत कर्णिकम् ।
चतुष्पत्रं समुत्पन्नं व्यक्तं पञ्चगुणं महत् ॥
१०. वराह पु०, ७५।३८(२)-३९(१) : अव्यक्तपृथिवीपद्मं मेरुस्तस्य च कर्णिका ।
चतुष्पत्रं समुत्पन्नं व्यक्तं पंचगुणं महत् ॥
११. वायु पु०, १।३४।४६

स्यातानि चत्वार्येव च संस्थिताः)[1] । पुनः आगे चलकर इन्हें देश ही कहा गया है[2] । अब वास्तव में ये जम्बूद्वीप के वर्ष ही रह गये थे । इनके द्वीपों का केवल संस्मरणमात्र शेष था ।

सप्तद्वीपा मही

कालान्तर में, पृथ्वी को सात-द्वीपों से युक्त माना गया और `सप्तद्वीपवती मही`[3] का स्वरूप पुराणों, महाकाव्यों, और राजशेखर की काव्यमीमांसा में आकर जम गया[4] । फिर भी `चतुर्द्वीपी` परम्परा भुलायी न जा सकी । सप्तद्वीपी परम्परा प्राचीन इतिहास का अंग बन गयी । वराह के अनुसार पृथ्वी के निम्नांकित सात द्वीप थे जिनमें प्रियव्रत ने अपने पुत्रों को शासक नियुक्त किया -

क्रम सं०	द्वीप	शासक
१.	जम्बूद्वीप	अग्नीध्र
२.	शाकद्वीप	मेधातिथि
३.	क्रौंच द्वीप	ज्योतिष्मान्
४.	शाल्मलि द्वीप	द्युतिमान्
५.	गोमेद द्वीप	हव्य
६.	प्लक्ष द्वीप	वपुष्मान्
७.	पुष्कर द्वीप	सवन[5]

इन सात द्वीपों के क्रम, नामों और उनके शासकों तथा वर्षों के नामों के नामों के विषय में पुराणों का ऐकमत्य नहीं है । वायु पुराण की सप्तद्वीप

---

[1] वराह पु०, ७५।४८(१)

[2] वायु पु०, १।३४।५६, वराह पु०, ७५।५७

[3] वराह पु०, ७५।४

[4] प्रा० भा० भौ० स्व०, पृ० ८

[5] वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३०

नामावली - जम्बू द्वीप, प्लक्ष द्वीप, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रौन्च द्वीप, शाक द्वीप और पुष्कर द्वीप[1] - को अधिकांश पुराण - ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, भागवत, लिंग, विष्णु, कूर्म, वामन, शिव, गरुड़, अग्नि, और देवीभागवत[2] - स्वीकार करते हैं। यद्यपि वराह पुराण (अ० ७४) वायु पुराण का ही अनुसरण करता है, परन्तु उपर्युक्त सप्त-द्वीपों के नाम वायु के अनुसार नहीं हैं। मत्स्य[3] और स्कन्द पुराण[4] में जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मल, गोमेद और पुष्कर नाम दिये गये हैं। वराह पुराण में सातों द्वीपों की तालिका में गोमेद द्वीप है, जो वायु और इसके समान अन्य पुराणों की तालिका में नहीं है। वायु आदि पुराणों में गोमेद के स्थान पर कुश द्वीप है। इसी प्रकार वराह पुराण की तालिका में प्लक्ष द्वीप है परन्तु वह मत्स्य और स्कन्द पुराणों में नहीं है। इस प्रकार इनको

---

१. वायु पु०, १।३३।११-१४, अ० ४६ (पूर्व)
२. ब्रह्म पु०, १८।११
ब्रह्माण्ड पु०, २।१४।११-१४, २, अ० १६,
मार्कण्डेय पु०, ५०।१७-१६,
भागवत पु०, ५, अ० २०,
लिंग पु०, १।४६।२,
विष्णु पु०, २।२।५,
कूर्म पु०, १।३६।१०-१३,
वामन पु०, ११।३४-४१,
शिव पु०, ५।१७।२,
गरुड़ पु०, १।५४।४,
अग्नि पु०, १०७।३-५, अ० ११६
३. मत्स्य पु०, अ० ११२- अ० ११३ में जम्बू द्वीप तथा अ० १२१- अ० १२२ में अन्य द्वीपों का वर्णन है।
४. स्कन्द पु०, १।२।३७।१६-२२

पृथ्वी के सप्तद्वीपों की तीन तालिकाएं मिलती हैं :-

तालिका सं०	१.	२.	३.
	वायु और अन्य पु०	मत्स्य व स्कन्द	वराह पु०
१.	जम्बू	जम्बू	जम्बू
२.	प्लक्ष	शाक	शाक
३.	शाल्मलि	कुश	क्रौंच
४.	कुश	क्रौंच	शाल्मलि
५.	क्रौंच	शाल्मल	गोमेद
६.	शाक	गोमेद	प्लक्ष
७.	पुष्कर	पुष्कर	पुष्कर

इन तीनों तालिकाओं में जम्बू और पुष्कर क्रमश: पहले और सातवें स्थान पर हैं । इसी भांति शाक द्वीप तालिका संख्या २ और ३ में द्वितीय स्थान पर है । शेष द्वीपों के क्रम में भी अन्तर है । तालिका सं० १ में प्लक्ष है और गोमेद नहीं है और द्वितीय तालिका में प्लक्ष के स्थान पर गोमेद द्वीप का नाम है । स्कन्द पुराण[1] के अनुसार प्लक्ष और गोमेद एक ही हैं । प्लक्ष वृक्ष का नाम ही गोमेद था । इस प्रकार गोमेद तथा प्लक्ष के तादात्म्य से प्रथम और द्वितीय तालिकाएं भी एक ही हैं और उनकी भिन्नता केवल प्लक्ष के स्थान पर गोमेद नाम देने से मानी जाती है ।

---

[1] स्कन्द पु०, १।२।३७।७६ : गोमेदनाम्ना प्लक्षोऽस्ति सुरम्यो यस्यच्छायया ।
मेदो पुष्टिमतं लोल्याद् गोमेदं द्वीपमुच्यते ।।
वायु पु०, १-४६-६ : प्लक्षद्वीपं तु वक्ष्यामि सप्त द्वीपान्महाबलान् ।
गोमेदको ह्य प्रथमः पर्वतो मेघसन्निभः ।
ख्यायते तस्य नाम्ना वै वर्षं गोमेदकन्तु तत ।।
इस प्रकार वायु पुराण से भी गोमेद और प्लक्ष द्वीप एक ही ज्ञात होते हैं ।

परन्तु वराह पुराण की तालिका (सं० ३) में गोमेद और प्लक्ष दोनों ही नाम मिलते हैं । इसमें कुश द्वीप का नाम नहीं है । यह गड़बड़ी, दोष, और भूल वराह-संहिताकार का है, जैसा कि निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है :-

> प्रियव्रतस्य दशपुत्राः बभूवुः अग्नीध्रो अग्निबाहुर्मेधो मेधातिथिर्भुवो ज्योतिष्मान्द्युतिमान्हव्यावपुष्मान् सवनान्ताः । ----- प्रियव्रतः सप्तद्वीपेषु सप्तपुत्रान् स्थापयामास ।
>
> १. आग्नीध्रं जम्बूद्वीपेश्वरं चक्रे,
> २. शाकद्वीपेश्वरं ~~क्रौंचे~~, मेधातिथिं,
> ३. ज्योतिष्मन्तं क्रौंचे,
> ४. द्युतिमन्तं शाल्मली,
> ५. गोमेदस्येश्वरं हव्यं,
> ६. वपुष्मन्तं प्लक्षद्वीपेश्वरं,
> ७. पुष्कराधिपतिं सवनम् इति ।[1]

ऊपर के द्वीपों में कुश द्वीप का नाम नहीं है । परन्तु इसके आगे ही द्वीपाधिपतियों के पुत्रों और उनके नाम पर प्रसिद्ध हुए वर्षों तथा वहां पर्वतों, नदियों आदि के वर्णन में कुश द्वीप और इसके अधिपति आदि का भी उल्लेख किया गया है :-

> कुशद्वीपेश्वरस्यापि ज्योतिष्मतः सप्त पुत्राः ।[2] -------

परन्तु ज्योतिष्मान् को ऊपर (सं० ३) क्रौंच द्वीप का अधिपति कहा गया है । साथ ही ज्योतिष्मान् को शाल्मलि द्वीप का भी शासक बताया गया है - (शाल्मलाधिपतेरपि ज्योतिष्मतस्त्रयः पुत्राः)[3] ।

---

[1] वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३०

[2] वही, अ० ७४, पृ० ३३१

[3] वही, अ० ७४, पृ० ३३०

इस प्रकार द्वीपाधिपतियों के नामों में ही नहीं अपितु क्रम और द्वीपों के नामों में भी दोष है। ऊपर सप्त द्वीप तालिका में कुश द्वीप का नाम नहीं है। परन्तु[1] कुश द्वीप के शासक, उसके पुत्रों और वर्षों आदि का भी वर्णन किया गया है। यही नहीं आगे चलकर अ० ८७ में कुश द्वीप का सविस्तार वर्णन किया गया है। इस प्रकार वराह पुराण पृथ्वी के सात द्वीपों के स्थान पर आठ द्वीपों की कल्पना करता है। द्वीपाधिपतियों और उनके पुत्रों[2] तथा वर्षों का वर्णन करते हुए प्लक्ष और गोमेद का वर्णन छोड़ दिया गया[3] है। अ० ८९ में शाल्मल, गोमेद और पुष्कर द्वीपों का वर्णन किया[4] गया है। यहां गोमेद को छठा द्वीप (षष्ठं गोमेदं कथ्यते) कहा गया है। जम्बु, शाक, कुश, क्रौंच और शाल्मल क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम कहे गये हैं तथा पुष्कर सातवां द्वीप है।[5] परन्तु प्रारम्भिक वर्णन में पांचवें और छठें स्थान पर गोमेद और प्लक्ष द्वीपों का उल्लेख किया गया है (द्रष्टव्य, पृ० ९७, तीसरी[6] तालिका)। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि वराह पुराण का प्रारम्भिक द्वीप-वर्णन दोषपूर्ण है। गोमेद और प्लक्ष एक ही हैं तथा इस प्रारम्भिक आख्यान में कुश द्वीप का नाम छोड़ दिया गया था। इस प्रकार वराह पुराण की सप्त द्वीपतालिका वायु तथा अन्य पुराणों की भांति ही है। अस्तु, वराह पुराण के अनुसार भी जम्बू द्वीप, शाक द्वीप, कुश द्वीप, क्रौंचद्वीप,

---

[1] वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१

[2] वही, अ० ७४, पृ० ३३०-३३१

[3] वही, अ० ८९, पृ० ३७१-३७२

[4] वही, अ० ८९, पृ० ३७१

[5] वही, अ० ८७, पृ० ३६८ : तृतीयं कुशद्वीपं, जम्बू और शाक द्वीपों को प्रथम और द्वितीय द्वीप माना गया है।
अ० ८८, पृ० ३७० : क्रौंचोप्यस्ति चतुर्थः
अ० ८९, पृ० ३७१ : शाल्मलं पंचमं वर्ण्य --- षष्ठं गोमेदं कथ्यते।

[6]

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जम्बू द्वीप और भारत वर्ष (नवभेद)

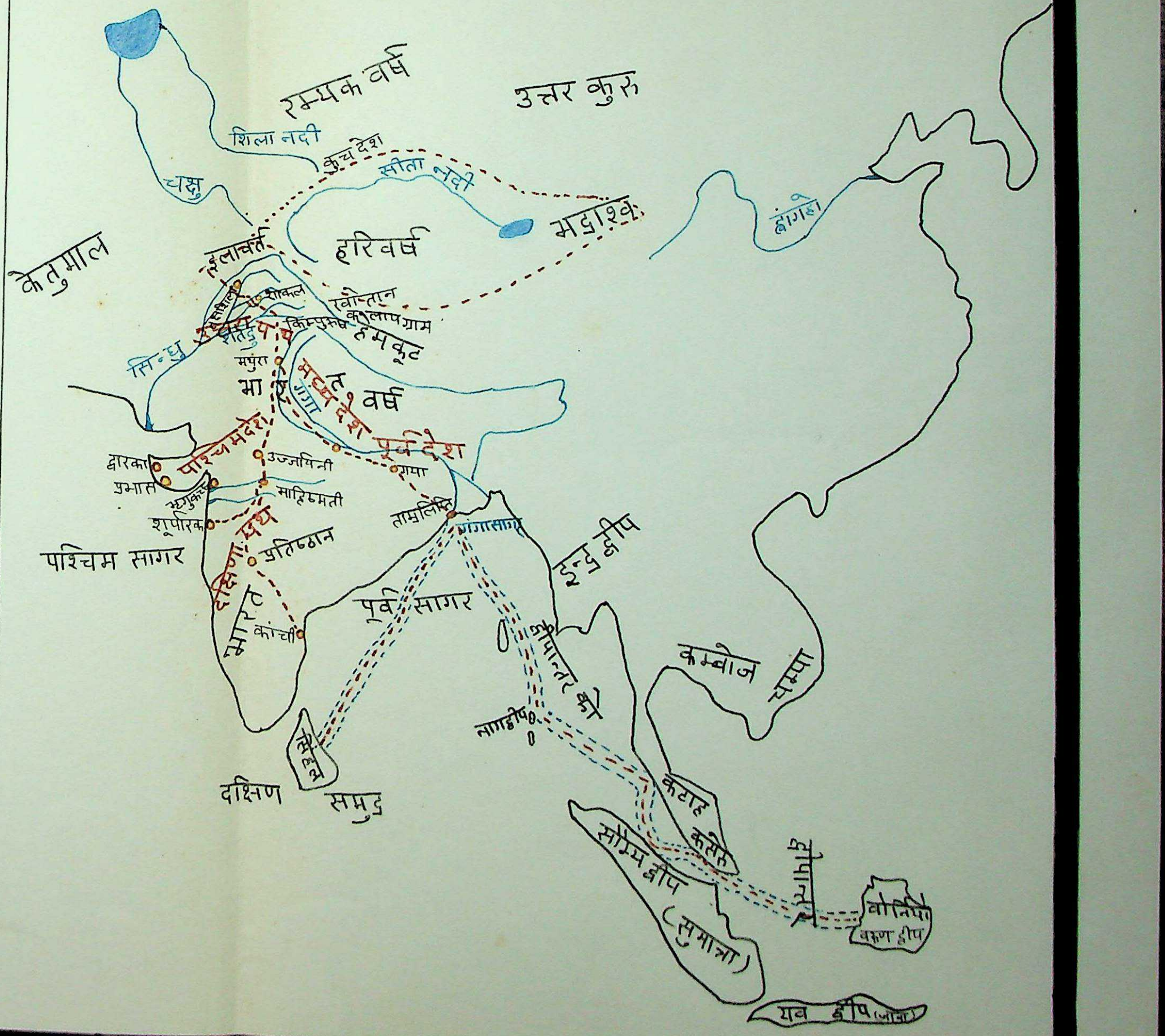
रम्यक वर्ष
उत्तर कुरु
शिला नदी
चक्षु
कुचदेश
सीता नदी
भद्राश्व
ह्वांगहो
केतुमाल
इलावर्त
हरिवर्ष
शाकल
खोतान
कलापग्राम
किम्पुरुष
हेमकूट
सिन्धु
शतद्रु
मथुरा
भारत वर्ष
गंगा
मध्य देश
पश्चिम देश
पूर्व देश
द्वारका
प्रभास
उज्जयिनी
गया
भृगुकच्छ
माहिष्मती
ताम्रलिप्ति
शूर्पारक
गंगासागर
दक्षिणापथ
प्रतिष्ठान
पश्चिम सागर
इन्द्र द्वीप
पूर्व सागर
कांची
सिंहल
दक्षिण समुद्र
द्वीपान्तर को
कम्बोज
चम्पा
नागद्वीप
कटाह
कसेरु
सौम्य द्वीप (सुमात्रा)
द्वीपान्तर
बोर्नियो
वरुण द्वीप
यव द्वीप (जावा)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शाल्मल द्वीप, गोमेद द्वीप और पुष्कर द्वीप पृथ्वी के सात द्वीप थे। स्कन्द पुराण में भी इन्हीं सात द्वीपों का वर्णन मिलता है।[1] इस प्रकार सातों द्वीपों की एक ही शुद्ध तालिका है। केवल गोमेद और प्लक्ष का भेद है। परन्तु ये दोनों भी एक ही द्वीप के परिचायक हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में शाल्मलि द्वीप के स्थान पर न्यग्रोध द्वीप का नाम मिलता है (जम्बूशाककुशप्लक्षक्रौञ्चन्यग्रोध पौष्करान्)।[2] यह ध्यान देने की बात है कि इन सात द्वीपों के नाम अधिकांशतः उन वृक्षों के नाम पर ही प्रसिद्ध हुए जो वृक्ष उन द्वीपों में विशिष्ट महत्व रखता था, यथा- जम्बू, शाक, प्लक्ष आदि। न्यग्रोध और शाल्मलि भी वृक्ष ही हैं। पद्म पुराण में सातों द्वीपों[3] का वर्णन अधूरा सा है। यहां हमें जम्बू खंड या जम्बू द्वीप, शाक द्वीप, कुश द्वीप, शाल्मल द्वीप, क्रौंच द्वीप और पुष्कर के ही नाम मिलते हैं। शरद्वीप अज्ञात है।[4]

ये सातों द्वीप सात समुद्रों - लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलार्णवान् - अर्थात् लवण सागर, इक्षुसागर, सुरा सागर, (सर्पि) घृत सागर, दधिसागर, दुग्धसागर, स्वादु (जल) सागर - से घिरे हुए थे। ये उत्तरोत्तर दूने होते गये हैं।

इन सातों द्वीपों के अधिपतियों और उनके उत्तराधिकारी-पुत्रों के खण्डों के नामों में भी विभिन्नता है।

जम्बू द्वीप

सभी द्वीपों में श्रेष्ठ जम्बूद्वीप है और सभी वर्षों में श्रेष्ठ भारतवर्ष (जम्बूद्वीपश्च द्वीपानां -- वर्षेष्वपि च भारतम्)[5] जम्बूद्वीप का ही एक भाग है।

---

१. स्कन्द पु०, १।२।३७।१९-२२
२. ब्र.वै, १।७।७
३. पद्म पु०, १।८।३
४. वही, १।८।१-२, १।६।५+३४
५. वि० ध०, १।५६।२०

पौराणिक भूगोल का मुख्य वर्ण्य-विषय जम्बू द्वीप ही है । इसीलिए प्रायः सभी पुराणों में जम्बू द्वीप और इसके वर्षों का विस्तृत वर्णन करते हुए भारत-वर्ष का वर्णन किया गया है । रामायण में केवल जम्बू द्वीप का ही उल्लेख मिलता है ।[1] इसे सुदर्शन द्वीप[2] भी कहा जाता था ।

वराह पुराण में जम्बू द्वीप सभी द्वीपों के मध्य में स्थित था ।[3] इसीलिए इसे मध्य द्वीप कहा जाता था ।[4] इसके नव-वर्षों (नववर्षं जम्बूद्वीपं), इसके विस्तार और जनपदों, पर्वतों तथा[6] नदियों का वर्णन किया गया है ।[5] यह लवण समुद्र से घिरा हुआ था ।

वर्ष पर्वत

हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत और शृंगवान् नामक इसके छः वर्ष-पर्वत (षडेते वर्षपर्वताः) थे । इनके मध्य में मेरु पर्वत स्थित था ।

हिमाच्छादित हिमालय (हिमप्रायश्च हिमवान्),
स्वर्ण-शिखरों से सुशोभित हेमकूट (हेमकूटश्च हेमवान्),
सभी जगह, सभी प्रकार से सुखद निषध (सर्वत्र सुसुखश्चापि निषधः
पर्वतो महान्),
चतुर्वर्ण और कांचनमय, मेरु,

---

[1] रा० बाल कां०, ३९।२२
[2] वही, किष्किंधा कां, ४०।५१
[3] विष्णु पु०, २।२।७
[4] पद्म पु०, १।६।४
[5] वराह पु०, ७५।६-९
[6] वही, ७५।१०

वैदूर्य रत्नों से भरा हुआ नील पर्वत (नीलश्च वैदूर्यमयः),
शुक्ल वर्णीय और स्वर्ण युक्त श्वेतपर्वत (श्वेतशुक्लो हिरण्मयः),
मयूर के समान रंगवाला और सोने से पूर्ण शृंगवान् (मयूर वर्हिवर्णास्तु शातकौम्भमय शृंगवान्) प्रमुख पर्व श्रेणियां थीं (एते पर्वत राजानः) ।

इन पर सिद्ध-चारण लोग रहते थे । ये छः वर्ष पर्वत पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों को छूते थे (षडेते वर्षपर्वताः उभयभावगाढाश्च समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ) ।[1]

जम्बूद्वीप और इसके वर्ष

नववर्षं प्रवक्ष्यामि जम्बूद्वीपं[2] - जम्बूद्वीप की वरिष्ठता (जम्बूद्वीपः पृथुः श्रीमान्) इस बात से भी सिद्ध होती है कि यहां ज्येष्ठ-श्रेष्ठ राजपुत्र ही शासन करता था । मनुस्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत पृथ्वी के सातों द्वीपों के शासक थे । प्रियव्रत के रथ के पहियों से[3] बनी हुयी लीक से ही पृथ्वी पर सात समुद्र और सात द्वीपों की[4] रचना हुयी । प्रियव्रत ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अग्नीध्र को जम्बूद्वीपेश्वर बनाया । भागवत पुराण में ऋषि कहता है :-

हम जिस द्वीप में रहते हैं (यो वा अयं द्वीपः) वह भूगोल-कमल के मध्य-भाग में स्थित गोल कमल-पत्र के समान है (समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम्) । इसमें नव-वर्ष हैं जो आठ मर्यादा पर्वतों द्वारा अलग अलग बंटे हुए हैं (नववर्षाणि ---- अष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति) ।[5] वायु और वराह पुराण भी

---

१. वराह पु०, ७५।११-१६
२. वायु पु०, १।३४।१२
३. भागवत पु०, ५।१६।२, इस प्रकार प्रियव्रत ने ही भूसंस्थान किया था (भाग० पु०, ५।१।३६-४०)
४. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३२०,
   वायु पु०, १।३३।११(१)
५. भागवत पु०, ५।१६।५-६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नव वर्षों (खण्डों) से[1] युक्त जम्बूद्वीप का वर्णन करते हैं (नववर्षं प्रवक्ष्यामि जम्बूद्वीपं यथातथम्)। इस द्वीप का परिमाण एक हजार एक सौ योजन है। यह द्वीप अनेक जनपदों और पुरों तथा पर्वतों और पर्वतों से निकलने वाली[2] नदियों से सुशोभित है। पर्वतों में नाना प्रकार की धातुएं हैं।

अग्नीध्र के निम्नलिखित पुत्र थे :-

१. ज्येष्ठ पुत्र, नाभि
२. किम्पुरुष
३. हरिवर्ष
४. इलावृत
५. रम्य
६. हिरण्मान् (हरिन्मान् अशुद्ध पाठ है)
७. कुरु
८. भद्राश्व
९. केतुमाल

इन नव पुत्रों के नाम[3] वराह पुराण में छोड़ दिये गये हैं। परन्तु वराह कहता है कि उनके नाम ही वर्ष हैं (तन्नामान्येव वर्षाणि) -

नाभेर्हिमवन्तं हेमकूटं किम्पुरुषं नैषधं हरिवर्षं मेरुमध्यमिलावृतं नीलं रम्यकं श्वेतं हिरण्मयपुरं च शृंगवतः कुरवो माल्यवन्तं भद्राश्वं गन्धमादनम् केतुमाले तु[4](पाठ में गन्धमादन के बाद पूर्ण विराम अवांछनीय है जो `तु` के बाद होना चाहिए)।

---

१. वायु पु०, १।३४।९, वराह पु०, ७५।६, लिंग पु०, १।४८।३४, ब्रह्माण्ड पु०, २।१५।८
२. वायु पु०, १।३४।९-११; वराह पु०, ७५।६-९
३. वायु पु०,१।३३।३७-४०
४. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१

यह पाठ सूत्रवत् ही है और संक्षिप्त वायु पुराण का पाठ है जिसके बिना इसका समझना सरल नहीं है । ऊपर अग्नीध्र के नव पुत्रों के देशों (तेषां देशान्) का वर्णन है :-

नाभि का देश (या वर्ष) हैमवन्त था । यह हिमवान से सम्बन्धित हिमाह्व वर्ष, दक्षिण वर्ष या भारत वर्ष ही था ।

किम्पुरुष का हेमकूट वर्ष था । यह हेमकूट पर्वत पर स्थित किम्पुरुष वर्ष ही था ।

हरिवर्ष का देश नैषध कहलाता था । यह निषध पर्वत पर स्थित हरिवर्ष ही था ।

इलावृत को मेरु पर स्थित देश मिला जो इलावृत कहलाता है ।

रम्य को प्राप्त नील पर्वत पर स्थित रम्यक वर्ष था ।

हिरण्मय को श्वेत पर्वत के उत्तर में स्थित वह देश मिला जो हिरण्मय कहलाया ।

कुरु को शृंगवान के उत्तर में स्थित देश कुरु को मिला जो उत्तर कुरु के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

भद्राश्व को माल्यवान वर्ष (माल्यवान् पर्व-प्रदेश) मिला जो भद्राश्व वर्ष भी कहलाता है ।

केतुमाल को गन्धमादन पर्वत पर स्थित प्रदेश मिला जो केतुमाल वर्ष भी कहलाता है ।

जम्बू द्वीप के ये ही नववर्ष हैं ।[1]

---

[1] वायु पु०, १।३४।४१-४५, वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१

इलावृत - इलावृत वर्ष जम्बू द्वीप के मध्य में मेरु पर्वत पर स्थित है।[1] इलावृत की पहचान चीनी तुर्किस्तान के विपुल प्रदेश से की जा सकती है। इसी के बड़े रेगिस्तान को ऐरावृत धन्व कहते थे।[2] मेरु या सुमेरु पर्वत वर्तमान पामीर पर्वत ही है। अतः इलावृत वर्ष की पहचान आधुनिक पामीर-प्लेटो से की जा सकती है।

हैमवत वर्ष[3] - हैमवत वर्ष तो प्रसिद्ध भारतवर्ष ही (एवं हैमवत वर्षं भारतं नाम विश्रुतम्) है।[4] यहां के निवासी भारती कहलाते हैं (एतद् हैमवतं वर्षं भारती यत्र सन्ततिः)। यह आधुनिक भारतवर्ष है जो हिमालय के दक्षिण स्थित है।

किम्पुरुष वर्ष - हैमवत वर्ष से उत्तर किम्पुरुष वर्ष है (हेमकूटं परं तस्मान्नाम्ना किम्पुरुषं स्मृतम्)।[5] यह किन्नर देश (किं + नर = किं + पुरुष) का पर्याय है। हेमकूट कैलास पर्वत को कहते थे।[6] यह सतलज नदी की ऊपरी घाटी, किन्नौर (शिमला के निकट रामपुर-बुशहर प्रदेश) तथा उसके उत्तर तिब्बत का भी देश था। महाभारत के अनुसार अर्जुन ने किम्पुरुष देश और हाटक देश को जीतकर मानसरोवर में स्नान किया था। फिर वे हेमकूट पर्वत पर गये थे।[7] हाटक देश

---

१. वायु पु०, १।३४।२२; वराह पु०, ७५।२०,
देवी भा०, ८।५।६ में इसे मध्यवर्ष कहा गया है।
२. मार्क० पु०प्रा०आ०, पृ० १३६
३. वायु पु०, १।३४।२८(१)
४. वराह पु०, ७५।२६(२)
५. वायु पु०, १।३४।२८(२),
वराह पु०, ७५।३०(१) पाठ अशुद्ध है।
६. प्रा०भा०भू०, पृ० ७०
७. महा० सभापर्व, २८।१-५ और इसके आगे दाक्षिणात्य पाठ (गीता प्रेस सं०)।

(हाटक = स्वर्ण) स्वर्ण का देश ही है । पश्चिमी तिब्बत की भूमि में सोना मिलने के कारण भारतीयों ने इस क्षेत्र को सुवर्णगोत्र का नाम दिया था । तिब्बत में ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं जिनकी भूमि में सोना मिलता है । इनको अब भी थोक कहते हैं, यथा- 'थोक जलुंग', 'थोक निबोमो', 'थोक सरलुंग' आदि ।[1] इस प्रकार किंपुरुष देश कैलास (हेमकूट) के पश्चिम, पश्चिमी तिब्बत से लेकर हिमालय में किन्नौर प्रान्त तक फैला था ।[2]

हरिवर्ष - निषध और हेमकूट के मध्य स्थित भूखंड को हरिवर्ष कहते थे (निषधं हेमकूटन्तु हरिवर्षं तदुच्यते) ।[3] हेमकूट तो कैलास पर्वत ही है । यदि निषध पर्वत की पहचान आधुनिक क्युनलन पर्वत से करना ठीक है तो यह देश कैलास-रेंज और क्युनलन पर्वत श्रेणी के मध्य स्थित तिब्बत का वह भाग है जो क्युनलन और कराकोरम पर्वतों के बीच स्थित था । किम्पुरुष देश को जीतकर अर्जुन निषध गिरि पर गये थे और निषधगिरि से आगे चलते हुए मेरु (पामीर) पर स्थित इलावृत वर्ष को गये थे ।[4] इस प्रकार हरिवर्ष देश पामीर और तिब्बत के बीच का वह क्षेत्र है जो घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था ।[5] 'हरिवर्ष सम्भवतः सुद (बोरवारा प्रान्त) है जो घोड़ों के लिए सर्वथा प्रसिद्ध था ।'[6] हरि (घोड़ों) का देश ही हरिवर्ष कहलाता था । गरुड़ पुराण के अनुसार हरिवर्ष मेरु के दक्षिण-पश्चिम में स्थित था ।[7]

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ० २५६-२५७
   मोतीचन्द्र, उपायन पर्व, पृ० ८०-८१
२. दृष्टव्य, जयचन्द्र विद्यालंकार, भा०भू०नि०, पृ० १२३
३. वायु पु०, १।३४।२६(१), वराह पु०, ७५।३०(२)
४. महा० सभा पर्व, अ० २८, दा० पाठ पृ० ७४६
५. वही, २८।६
६. पृ० वि०, पृ० ३३१
   इंडिया ऐन्ड वर्ल्ड, पृ० ३६, २६७
७. गरुड़ पु०, १।५५।२

तीनों वर्ष - हिमवत, किम्पुरुष और हरिवर्ष - इलावृत (मध्यवर्ष) के दक्षिण स्थित थे। इलावृत के उत्तर की ओर भी तीन वर्ष - रम्यक, हिरण्मय और कुरु (उत्तर कुरु) - स्थित थे।

रम्यक - इलावृत से परे रम्यक देश था। यह नील पर्वत से सम्बद्ध होने के कारण नील वर्ष भी कहलाता था।[1] डा० बुद्धप्रकाश के अनुसार "सम्भवत: यह उद्यान या ओड्डियान देश था।"[2] परन्तु वे दूसरे स्थान पर इसकी पहचान "रमी या रम्नी" द्वीपों से करते हैं।[3] यह अमान्य है, रम्यक वर्ष, द्वीप नहीं था और न रम्यक वर्ष तथा कालियनाग की निवासभूमि, रमणक द्वीप एक ही थे। रम्यक देश को पामीर से मिला हुआ इससे कुछ उत्तर की ओर स्थित होना चाहिए। इसे आधुनिक थ्यानशान और क्युनलुन पर्वतों की बीच स्थित माना जा सकता है। डा० अली इसकी पहचान साग्डियना से करते हैं। उनका विचार है कि बोखारा में रामीटन नाम ही रम्यक या रमणक का प्राचीन नाम है।[4] वराह पुराण में भी, अन्य स्थान पर, दुर्जय की विजय के सम्बन्ध में "रम्य रोमायत" देश का उल्लेख इसे कुतम्ब्राख्य देश के निकट स्थित बताता है।[5] गरुड पुराण के अनुसार रम्यक वर्ष मेरु पर्वत के पश्चिमोत्तर में स्थित था।[6]

हिरण्मय - रम्यक से उत्तर[7] श्वेत पर्वत का वर्ष (श्वेत वर्ष) था। यह हिरण्मय के नाम से भी प्रसिद्ध था। यह वर्ष मेरु पर्वत के पूर्व दक्षिण में स्थित

---

[1] वायु पु०, १।३४।३०(१),
वराह पु०, ७५।३१(२)

[2] इं०क०, पृ० ३६

[3] वही, पृ० २१७

[4] जा० पु०, पृ० ८३

[5] वराह पु०, १०।३६,

[6] गरुड पु०, १।५५।२

[7] वायु पु०, १।३४।३०(२),
वराह पु०, ७५।३२(१)

बताया गया है ।[1] डा० बुधप्रकाश इसकी पहचान बदख्शां के आसपास के क्षेत्र से करते हैं ।[2] परन्तु यहां तो कम्बोज जनपद स्थित था । इस प्रकार इसकी पहचान निश्चित नहीं है । परन्तु इसकी स्थिति, जैसा कि महाभारत में अर्जुन की दिग्विजय वर्णन[3] से ज्ञात होता है, चीनी तुर्किस्तान में पे-शान पर्वत के पास होना चाहिए (पे = श्वेत, शान = पर्वत, अतः पेशान = श्वेतपर्वत) । पेशान पर्वत थ्यानशान से लगा हुआ उत्तर पूर्व की ओर फैला है ।

उत्तर कुर - हिरण्मय से उत्तर शृंगवान पर्वत से सम्बद्ध शृंगवान अथवा (उत्तर) कुरु पर्वत वर्ष था ।[4] यह सबसे उत्तर का वर्ष है । यह चतुर्द्वीपी-भूगोल का एक द्वीप था जो मेरु के उत्तर में स्थित था । डा० अग्रवाल के अनुसार पामीर से उत्तर साइबेरिया तक विस्तृत भूखंड ही उत्तर कुरु था जिसके पूर्वी भाग में चन्द्रद्वीप (शकों का मूल निवास स्थान) था ।[5] डा० अली इसकी पहचान पश्चिमी साइबेरिया से करते हैं ।[6]

भद्राश्व वर्ष - इसके[7] बाद वायु पुराण[8] माल्यवान् पर्वत का वर्णन करता है जिसे वराह ने छोड़ दिया है । परन्तु वायु के समान ही वराह ने भी माल्यवान् पर्वत पर स्थित भद्राश्व वर्ष का उल्लेख किया है (माल्यवन्तं भद्राश्वं) ।[9] यह

---

१. गरुड़ पु०, १।५५।२
२. इ० क०, पृ० १७,२१७
३. महा० सभापर्व, अ० २८
४. वायु पु०, १।३४।३०(३), वराह पु०, ७५।३२(२)
५. इ० आर्ट, पृ० ७१
६. जा० पु०, पृ० ८५
७. वायु पु०, १।३४।३४, वराह ने वायु (१।३४।३४) की पहली और दूसरी पंक्तियां छोड़ दी हैं जिनमें माल्यवान का वर्णन है/ छोड़ दिया है । परन्तु इसी श्लोक की तीसरी पंक्ति (वराह, ७५।३४।१) ले ली है ।
८. वायु पु०, १।३३।४४
९. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१

चतुष्पत्र-भूपद्म का एक द्वीप अथवा देश भी था जो मेरु के पूर्व में स्थित था ।[1] इसकी पहचान चीन से की गयी है ।[2] डा० अली ने इसे तरीम और ह्वांगहो नदियों की घाटी में स्थित सम्पूर्ण सीक्यांग प्रान्त और उत्तरी चीन माना है ।[3]

केतुमाल वर्ष - यह वर्ष मेरु के पश्चिम गन्धमादन पर्वत पर स्थित था (केतुमालश्च पश्चिमे) ।[4] यह गन्धमादन वर्ष भी कहलाता था ।[5] डा० अग्रवाल के अनुसार यह "पामीर पठार से लेकर कृष्णसागर तक फैले हुए बड़े रूसी मैदान का एक भाग होना चाहिए ।"[6] यह चक्षु या वक्षु नदी की घाटी, शकों और ईरानियों का देश था ।[7]

जम्बू द्वीप के नवों वर्ष इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि दुर्जेय ऐसे दिग्विजयी सम्राटों ने इन वर्षों की विजय की । वह भारतवर्ष, किंपुरुष वर्ष, हरिवर्ष, रम्य-रोमावत, कुरुमद्राश्व वर्ष, इलावृत वर्ष आदि को जीतकर ही जम्बू द्वीप का सम्राट् बन सका ।[8] डा० अग्रवाल के अनुसार जम्बू द्वीप की इस भौगोलिक पृष्ठभूमि में उस कला, संस्कृति और सभ्यता का परिचय मिलता है जिसके प्रसार से ही सम्पूर्ण एशिया जम्बू द्वीप बन गया । इसी भौगोलिक पृष्ठभूमि से ज्ञात होता है कि भारत उस चक्र की नाभि के समान था जिसने संस्कृति और अन्तर्द्वीपीय व्यापार

---

१. वायु पु०, १।३४।५७, वराह पु०, ७५।५८
२. इ० आर्ट, पृ० ७०, मार्क० पु० अ०, पृ० १३६, पृ० चि०, पृ० ३३१
३. जा० पु०, पृ० ६६
४. वराह पु०, ७५।५८, वायु पु०, १।३४।५७
५. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१ : गन्धमादनम् केतुमाले तु ।
   वायु पु०, १।३३।४५(१)
६. मार्क० पु० अ०, पृ० १३६
७. इ० आर्ट, पृ० ७०-७१, पृ० चि०, पृ० ३३१,
   जा० पु०, अ० ६, इ० व०, पृ० ३६,२६७
८. वराह पु०, अ० १०।३७-४०

को समुन्नत किया । पामीर के उस पार से भारतीय व्यापारियों के हाथों में कौशेय (चीनांशुक) और मध्य एशिया का जाड (एक बहुमूल्य पत्थर) आता था । भारत से व्यापारी मयूरों के साथ बेबिलोनिया तथा सागीन की लकड़ी व कार्पासिक के साथ मिस्र और पश्चिमी एशिया तक जाते थे ।[1]

---o---

---

[1] ए० आर्ट, पृ० ७०-७१

भारतवर्ष

भू-पद्म-व्यवस्था के वर्णन के बाद वराहपुराण (अ० ८५, पृ० ३६५-३६७) में नवभेदों से युक्त भारत का वर्णन किया गया है । यहां केवल इसके नवभेदों, कुलपर्वतों, क्षुद्रपर्वतों और कुलनदियों (कुलपर्वतों से निकलने वाली) का वर्णन मिलता है । ऊपर कहा जा चुका है कि यह विवरण वायु पुराण (पूर्व० अ० ४५।६७-१०६।१) पर आधारित है । वायु (पूर्व, ४५।१०६।२-१३६) में देश-भागों और उनमें स्थित जनपदों का वर्णन किया गया है । वराह ने जनपद-वर्णन छोड़ दिया है । यह भी ऊपर बताया जा चुका है कि वराह पुराण इसका संक्षिप्त रूप से वर्णन करता है और इसीलिए इस अध्याय में एक श्लोक को छोड़कर शेष गद्य में है ।

वायु पुराण ने `निसर्ग` (लोकरचना) का वर्णन करने के बाद भारतवर्ष, इसकी स्थिति, नाम-निरुक्ति और इस कर्मभूमि की प्रशंसा के बाद इसके नवभेदों का वर्णन किया है ।[1] वराह पुराण में भारत-वर्णन नवभेदों के वर्णन से ही प्रारम्भ होता है -

इयम्भुः पद्मव्यवस्था कथिता इदानीं भारतं नवभेदं शृणुत ।[2]

संभवतः वराह पुराण ने यह समझ कर ये विवरण छोड़ दिए कि भारतवर्ष की स्थिति और महिमा आदि तो सभी पुराणों[3] में ही वर्णित और लोकप्रसिद्ध है । परन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है कि वराह पुराण द्वारा सर्ग भेद को

---

१. वायु पु०, १।४५।६७-७७
२. वराह पु०, अ० ८५, पृ० ३६५
३. वही, अ० ७४।४ : सर्वेषु पुराणेषु मुनिभिः परिकीर्त्यते ।

भारत नाम देना प्राचीन भारतीय भूगोल में इसकी महत्त्वपूर्ण देन है । अभी तक नवें द्वीप का नाम स्कन्द और वामन पुराण में ही उल्लिखित पाया गया है ।

भारत-माहात्म्य (माहात्म्यं भारतस्य)

वराह पुराण अपने को भागवच्छास्त्र[1] कहता है । इसके प्रारम्भ में ही विष्णु पुराण की भांति विष्णु का भी माहात्म्य दिया गया है ।[2] इस प्रकार विष्णु पुराण[3] और भागवत पुराण[4] की भांति ही वराह पुराण भी भारत - महिमा का पुरातन गीत गाता है -

> देवा अपि तत: कृत्वा ध्यायन्ते च वदन्ति च ।[5]
> कदा नो भारतेवर्षे जन्म स्याद्भूतधारिणि ॥

इस प्रकार विष्णु और भागवत पुराणों की भांति वराह भी देवताओं की पुण्य-स्पृहा का उल्लेख करता है कि वे भारत-भूमि में जन्म लेने के लिए लालायित थे । यह पुनीत भक्ति-देश है । इसीलिए वे यहां जन्म लेकर वाराही-दीक्षा से वैष्णव होकर शुभकर्मों द्वारा परमस्थान[6] प्राप्त करना चाहते थे । अत: देवता भी भारत-माहात्म्य का गान करते थे ।

---

१. द्रष्टव्य- वराह पु०, अ० १२४-अ० १५३ के अन्त में " वराहपुराणे भागवच्छास्त्रे-"
२. विष्णु पु०, १।१५।५५-५७ में ब्रह्मपारस्तवं को वराह पु० ३।११-२१ के `ब्रह्मपारं` स्तोत्र से मिलाइए ।
३. विष्णु पु०, २।३।२४-२६ : गायन्ति देवा: किल गीतकानि ।---- आदि ।
४. भागवत पु०, ५।१९।२१-२२ : एतदेव हि देवा गायन्ति - अहो अमीषां किमकारि शोभनं ----
देवीभागवत, ८।११।२२
द्रष्टव्य, मार्क० पु०, ५७।६०-६३
५. वराह पु०, ६६।७
६. देवी भागवत, ८।११।२६ : एवं स्वर्गगता: देवा: सिद्धाश्च परमर्षय: ।
प्रवदंति च माहात्म्यं भारतस्य शुभावहम् ॥

कर्मभूमि

यह भक्ति देश ही कर्मभूमि[1] कहलाता था । वायु और ब्रह्माण्ड पुराण कर्मभूमि की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि यहीं मनुष्य कर्म करने में समर्थ है ।[2] भागवत पुराण इसे कर्म-क्षेत्र[3] कहता है । रामायण में भारत के स्थान पर कर्मभूमि का ही नाम मिलता है ।[4] यह माहात्म्य सिद्ध करता है कि यह देश कितना पवित्र था ।

स्थिति

वायु और अन्य पुराणों में भारत को (दक्षिण) समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण स्थित बताया गया है । यहां की प्रजा भारती कहलाती थी । प्रजा का भरण-पोषण करने वाले मनु-भरत के नाम पर इसे भारतवर्ष कहा गया ।[5] अन्य पुराणों से ज्ञात होता है कि ऋषभ-पुत्र भरत[6] तथा शकुन्तला-पुत्र (दौष्यन्ति) भरत[7] के नामों पर भी इसका नाम भारत पड़ा ।

इसे हैमवत वर्ष भी कहा जाता था । यहां नाना प्रकार के जीव रहते थे ।[8]

---

१. विष्णु पु०, २।३।२२, ब्रह्म पु०, २७।२, पु० वि०, पृ० ३३६-३३७
२. वायु पु०, १।४५।७७, ब्रह्मांड पु०, २।१६।७ : न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्म विधीयते । यहां `कर्म-भूमौ` को `भूमा-कर्म` में बदल कर कर्म-भूमि की व्याख्या की गयी है । मत्स्य (११३।७) में कर्म के स्थान पर कर्म-विधि: है ।
३. भागवत पु०, ५।१७।११ : तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम् --- ।
४. अयोध्या कांड, १०६।२८, प्रा० भा० भू०, पृ० २०४
५. वायु पु०, १।४५।७५-७६
६. वही, १।३३।५०-५२, मार्क० पु० ५०, पृ० १३८
७. ब्रह्म पु०, १३।५७ : चक्रवर्ती सुतो जज्ञे दुष्यन्तस्य महात्मनः ।
शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारताः ॥
मत्स्य पु०, ४६।११
८. वराह पु०, ७५।२६

नवभेद

भुवनकोश में भारतवर्ष का नव-भेद स्वरूप विशेष महत्वपूर्ण है ।[1] इसीलिए वराह पुराण भारतवर्णन यहीं से प्रारम्भ करता है (इदानीं भारतं नवभेदं शृणुत) -

> इन्द्रः कसेरुः ताम्रवर्णो गभस्तित (पा०, गभस्तिमान्)
> नागद्वीपः तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणो भारतं च ।[2]

इन नवभेदों में प्रारम्भिक आठ द्वीपों के नाम वायु,[3] ब्रह्मांड, मत्स्य, विष्णु, मार्कण्डेय, लिंग, शिव, ब्रह्म और कूर्म पुराणों में प्राप्त होते हैं । गरुड़ पुराण में सौम्य द्वीप और गान्धर्व द्वीप के स्थान पर क्रमशः कटाह और सिंहल के नाम मिलते हैं ।[4] परन्तु उपर्युक्त पुराणों में `नवें द्वीप` का नाम नहीं दिया गया है । उसे केवल `नवमः द्वीपः` कहा गया है । स्कन्द पुराण के कुमारिका खंड में उसे कुमारिका खण्ड या कौमारिक खण्ड कहा गया है ।[5] वामन पुराण में इस नवें द्वीप का नाम कुमार द्वीप दिया गया है । यहां पहले आठ द्वीपों के नामों में भी सौम्य द्वीप तथा गान्धर्व द्वीप के स्थान पर कटाह और सिंहल नाम मिलते हैं ।[6]

---

१. का०मी०, ९२।७-९, नीलमत पुराण, ५८।७११-७१२, कनिंघम, ए०ज्या०, पृ० ६, रायचौधरी, स्ट०इ०ऍ०, पृ० ८१-८२, ला, ज०इ० १, पृ० १२०-१२८, जि०ज्या०ऍ०इ०, पृ० १०, अग्रवाल, मार्क० पु० अ०, पृ० १४२-१४३, वा०पु०स्ट०, पृ० २७-२९, गरुड़ पु० अ०, पृ० ९-१०, एस०बी० चौधरी, इ०हि०क्वा० जिल्द ९, पृ० ४७०-४७८, इ०ऍ० जिल्द ५९, पृ० २०४-२०८, २२४, प्रा०भा०भौ०स्व०, पृ० १२-१७
२. वराह पु०, अ० ८५, पृ० ३४५
३. वायु पु०, १।४५।७९, ब्रह्मांड, २।१६।९, मत्स्य, ११३।८, विष्णु, २।३।६-७, मार्कण्डेय, ५४।६, लिंग १।५२।२५-२८, शिव, ५।१८।४, ब्रह्म, २७।१५, कूर्म,१।४६।२४-२५
४. गरुड़ पु०, १।५४।४
५. स्कन्द पु०, १।२।३९।११०-१११, ११३, स्ट०ज्या०पु०, पृ० २४, काव्य मीमांसा (९२।७-९) भी कुमारी द्वीप का नाम देता है ।
६. वामन पु०, १३।८-११

इस प्रकार अभी तक पौराणिक-भूगोल के अध्ययन में केवल वराह पुराण में ही नवें द्वीप का नाम भारत मिलता है। नीलमत पुराण में नवें द्वीप का नाम मानव द्वीप[1] है। मत्स्य पुराण न केवल इस नवम् द्वीप का उल्लेख करता है, प्रत्युत इसको ही मानव द्वीप का नाम देकर इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करता है :-

भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निबोधत ।।
इन्द्रद्वीपः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ।।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।
योजनानां सहस्रन्तु द्वीपो यं दक्षिणोत्तरः ।।
आयतस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः ।
तिर्यगूर्ध्वन्तु विस्तीर्णः सहस्राणि दशैव तु ।।
द्वीपो ह्युपनिविष्टो यं म्लेच्छैरन्तेषु सर्वशः ।
यवनाश्च किराताश्च तस्यान्ते पूर्वपश्चिमे ।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः ।
इज्यायुधवणिज्याभि वर्तयन्तो व्यवस्थिताः ।।
तेषां संव्यवहारो यं वर्तनन्तु परस्परम् ।
धर्मार्थकाम संयुक्तो वर्णानान्तु यथाविधि ।
इहस्वर्गापवर्गार्थं प्रवृत्तिरिह मानुषे ।।
यस्त्वयं मानवो द्वीपस्तिर्यग्यामः प्रकीर्तितः ।[2]
य एनं जयते कृत्स्नं स सम्राडिति कीर्तितः ।।

---

[1] नीलमत पु०, पृ० ५८, श्लोक ७११(२)-७१३(१) :
भारतस्य तथा भेदाः पूर्व यास्य वै नव ।। ७११
इन्द्रद्युम्नः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ।।
नागद्वीपस्तथा सौम्य गान्धर्वो वारुणस्तथा ।। ७१२
अयं च मानवो द्वीपस्तथा सागरसंवृतः ।। ७१३(१)

[2] मत्स्य पु०, ११३।७-१५

“इस भारतवर्ष के नवभेद हैं, उन्हें सुनिये । इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वरुण तथा यह नवां द्वीप जो समुद्र से आच्छादित (संवृत अर्थात् ढंका हुआ या सुरक्षित) है । यह द्वीप --- गंगा के उद्गम-स्थान से लेकर कुमारी (अन्तरीप = केप कमोरिन) तक लम्बा स्थित है । ------ इस द्वीप की सीमा के सभी ओर के देशों में म्लेच्छ जातियों का निवास-स्थान है । पूर्व तथा पश्चिम के भागों में क्रमश: किरात तथा यवनों की जातियां निवास करती हैं । मध्य भाग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति के लोग विभागपूर्वक स्वधर्म पालन करते हुए निवास करते हैं । वे यज्ञ, तप, युद्ध एवं व्यवसाय आदि स्व-स्व वर्णाश्रम धर्म में व्यवस्थित जीवन बिताते हैं । ------ इस द्वीप के मनुष्यों की कर्म-प्रवृत्ति स्वर्ग एवं अपवर्ग की प्राप्ति के लिए होती है । यह मानव द्वीप ----- कहा जाता है । जो इस सम्पूर्ण द्वीप को जीत लेता है, वह सम्राट् कहा जाता है ।”[१]

मानव द्वीप के इस गुण-वर्णन और अन्य पुराणों - मार्कण्डेय,[२] ब्रह्माण्ड,[३] वायु,[४] आदि - में प्राप्त नवें द्वीप के गुण-वर्णन में सादृश्य है । वामन पुराण[५] में कुमारद्वीप का भी यही वर्णन मिलता है । अतः स्पष्ट है कि नौ द्वीपों से युक्त भारतवर्ष (भारतं वर्षं नवद्वीपं)[६] में कुमार द्वीप (वामन पुराण), कुमारी द्वीप (काव्य मीमांसा), कुमारिका खंड (स्कन्द पुराण) और मानव द्वीप (नीलमत पुराण तथा मत्स्य पुराण) नवें द्वीप के नाम थे, जिसे वराह पुराण में भारत कहा गया है । वायु पुराण में, अन्य स्थान पर भारतद्वीप-देश का उल्लेख है ।[७]

---

१. मत्स्य पु० (हिन्दी), अ ११४, पृ० २६३-२६४
२. मार्कण्डेय पु०, ५४।७-९
३. ब्रह्माण्ड पु०, २।१६।१०-१६
४. वायु पु०, १।४५।८०-८६
५. वामन पु०, १३।९-१३
६. वही, १३।८
७. वायु पु०, १।४८।४१(२)

यह भारतद्वीप भी भारतवर्ष का नवां भेद या नवां द्वीप था ।

इन नव द्वीपों की स्थिति और पहचान के विषय में भी मतभेद है । पुराणों में इनके नामों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता है । कथासरित्सागर से अवश्य ज्ञात होता है कि कटाह द्वीप पूर्वी समुद्र के उस पार स्थित था ।[1] डा० एस० अली ने 'पुराणिक जाग्रफी' (अ० ६) में इन 'नव खण्डों' का विवेचन करते हुए इनको आधुनिक भारत के अन्दर ही रखा है । यह भ्रान्त मत है । ऊपर कहा गया है कि नवां द्वीप स्पष्टतः भारत था जो कुमारद्वीप, कुमारीद्वीप और कुमारिका खण्ड भी कहलाता था । यह गंगा के उद्गम-स्थान (बिन्दुसर) से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ था, फिर प्रश्न होता है कि इस नवें द्वीप के अन्दर ही शेष आठ द्वीप भी किस प्रकार स्थित थे ? 'सागर-संवृत:', 'समुद्रान्तरिता' और 'अगम्या:'⊛ कहने का क्या महत्व है ? पुराणों की बात पुराणों में ही देखना अधिक आवश्यक है । यदि पुराणों और अन्य साक्ष्यों से काम न चले तो अल्बेरूनी और अबुलफ़ज़ल की भी बात परीक्षा करने के बाद ही मानने योग्य हो तो मानी जाय । क्या राजशेखर अविश्वसनीय हैं ? दृष्टव्य है कि प्रायः सभी पुराणों में 'नवें द्वीप' के वर्णन के साथ 'अयं' शब्द जुड़ा हुआ है । यह वक्ता का नवें द्वीप के साथ सामीप्य सिद्ध करता है ।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि नवां द्वीप भारत या कुमारी द्वीप चक्रवर्ती[2] क्षेत्र भी कहा गया है जिसे जीत कर विजेता सम्राट् बनता था ।

इसी नवें द्वीप में सातों कुल पर्वत[3] भी स्थित थे । फिर भारत या कुमारी द्वीप के अन्दर किसी भी अन्य भाग के लिए स्थान न था ।

---

१. क०स०सा०, २।१६।७४,८३,९०, कटाह द्वीप और ताम्रलिप्ति के बीच आना जाना होता था ।

⊛ वामन, १३।८(२)

२. का०मी०, ६२।१२-१३ : कुमारीपुरात्प्रभृति बिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्तिक्षेत्रम् ।

३. वही, ६२।१६-१७ : अत्र च कुमारी द्वीपे-विन्ध्यश्च पारियात्रश्च शुक्तिमानृक्ष पर्वत: । महेन्द्र सह्यमलया: सप्तैते कुलपर्वता: ।। पुराणों के अनुसार भी ये कुलपर्वत नवें द्वीप के ही अन्दर स्थित थे और इस नवें द्वीप के ही भागों में कुलनदियां और अनेक जनपद स्थित थे ।

इस नवें द्वीप की स्थिति के विषय में पहले जो भी भ्रान्ति (कन्फ्यूज़न) रही थी । परन्तु इसको भारतद्वीप का नाम मिलने से इसकी स्थिति में कोई गड़बड़ी नहीं है ।

इन द्वीपों को समुद्रान्तरित (समुद्र से अलग अलग) होने के कारण ही इन समुद्र द्वीपों को द्वीपान्तर[1] कहा गया था । कुमारीद्वीप के पंचस्थलों - पूर्व देश, दक्षिणापथ, पश्चाद्देश, उत्तरापथ और मध्य देश - का वर्णन करने के बाद ही राजशेखर का ध्यान द्वीपान्तर की ओर जाता है । यदि ये द्वीप देश के अन्दर स्थित होते, जैसा प्रो० अली ने माना है,[2] तो पंच-स्थल वर्णन में राजशेखर उनका उल्लेख करते । परन्तु ये तो देश के बाहर द्वीपान्तर क्षेत्र में स्थित थे । ~~अस्तु~~ उन्होंने द्वीपान्तरों के देशों, पर्वतों और नदियों का वर्णन करना आवश्यक नहीं समझा :-

> द्वीपान्तराणां ये देशा: पर्वता: सरितस्तथा ।
> नातिप्रयोज्या: कविभिरिति गाढं न चिन्तिता: ।।[3]

नवें द्वीप को छोड़ कर भारतवर्ष के आठों द्वीप तथा पुराणों में वर्णित जम्बूद्वीप के अनुद्वीप[4] भारतद्वीप के दक्षिण समुद्र में स्थित थे । इन्हें ही द्वीपान्तर कहते थे । भारत द्वीप से यहां को जाने के लिए स्थल मार्ग और जलमार्ग थे । स्थल मार्ग पर्वतों से होकर जाता था और जलमार्ग समुद्रयानों[5] द्वारा लवणसागर होकर जाता था । दोनों ही प्रकार के मार्ग कठिन और संकटों से भरे हुए थे । समुद्र-यात्रा में तूफान आते थे और प्राण संकट में पड़ जाते थे ।

---

[1] का०मी०, १०।४-५, १२।२-३, ८-११

[2] जा० पु०, पृ० १२९-१३०

[3] का० मी०, ९४।२१-२२

[4] वायु पु०, १।४८।१४, भागवत पु०, ५।१९।२९-३०,
देवी भागवत, ८।११।३०-३२

[5] रा० किष्किन्धा का० (क्षि०), ३९।२८ :
गिरिभिर्ये च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च ।
रत्नवन्तं यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ।।

इसी कारण इन समुद्र पार द्वीपों को अगम्य कहा गया है । अगम्य का अर्थ कठिन अथवा दुर्गम है ।[1] वराह पुराण में भी समुद्री मार्ग में 'सुतरं' और 'दुस्तरं जलम्' का उल्लेख है ।[2] इस कठिनाई और कष्ट का आभास न केवल फाहियान की चीन-वापस जाने की यात्रा[3] से मिलता है, प्रत्युत समुद्रयायी वणिजों की अनेक कथाओं[4] से भी उस दुर्गति पीड़न और विषम विपत्ति का पता चलता है, जब अपार और अगाध समुद्र में विलोम-वात (प्रतिकूल वायु) से पोत उत्पीड़ित हो जाता था ।[5] यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतवर्ष का नवां द्वीप भारत द्वीप था जिसका उल्लेख वायु पुराण के उस अध्याय[6] में भी हुआ है जहां जम्बूद्वीप के अनुद्वीपों का वर्णन किया गया है । इस अध्याय में भी भारतवर्ष के दक्षिण समुद्र में स्थित छः अनुद्वीपों - अंग द्वीप, यम द्वीप, मलय द्वीप, शंख द्वीप, कुश द्वीप, और वराह द्वीप - का वर्णन करने के बाद अध्याय के अन्त में पुराण कहता है :-

' भारतद्वीप दक्षिण दिशा में अति विस्तीर्ण द्वीप है । एक ही इस वर्ष (भारतवर्ष) में बहुत से द्वीप हैं, जो समुद्र से पृथक होकर कितने ही भागों में विभक्त हो गये हैं[7] -

> एवं षडेते कथिता: अनुद्वीपा: समन्तत: ।
> भारतद्वीपदेशो वै दक्षिणो बहु विस्तर: ।।

---

१. रा० किष्किंधा का०, ४०।२४ : द्वीपस्तस्यापरे पारे --- अगम्यो मानुषैर्दीप्तकृतं ----------- ।।
२. वराह पु०, १७१।२१(१)
३. दि ट्रेवेल्स आफ फाह्यान ऐण्ड सुंग युन, अ० ४०, पृ० १६६-१७०
४. वराह पु०, १७१।१०-१३
५. आर्यशूर, जातकमाला, १४, सुपारग जातकम्, पृ० ६३-६८
सं० बौ०सा०भा०जी०, पृ० २०२, सं०सा०, ४।५४।६६-१०२
६. वायु पु०, पूर्व० अ०, ४८
७. वायु पु०(हिन्दी), अ० ४८, पृ० १५१

एवमेकमिदं वर्षं बहुद्वीप मिहोच्यते ।
समुद्रजलसम्भिन्नं खण्डं खण्डीकृतं स्मृतम् ।।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतवर्ष (एकमिदं वर्षं) अथवा भरत-खण्ड (खण्डं) समुद्र के जल से अलग-अलग होकर (समुद्रजलाभिन्नं) खण्डों (विभागों, भेदों या द्वीपों) में विभक्त होकर (खण्डीकृतं) बहुत द्वीप वाला (बहुद्वीपं) हो गया था ।

यदि हम पुराणों और प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों पर विचार करें तो हमें उस भौगोलिक स्थिति का आभास मिलेगा जिसमें दक्षिण-समुद्र में स्थित ये द्वीप भारत के अभिन्न अंग बने गये और तभी मूल-क्षेत्र भारतद्वीप तथा आठ अन्य समुद्र द्वीपों को मिलाकर भारतवर्ष की संज्ञा पड़ी । इस संयुक्त भारत (भारतवर्ष) को ही वराह पुराण महद्भारत कहता है जहां ऋषभ और उनके पुत्र भरत शासन करते थे । यह हेमाद्रि के दक्षिण में स्थित वर्ष (जम्बूद्वीप का दक्षिणी वर्ष) था ।[2] यह `महद्भारत' भारतवर्ष या भरतखण्ड चतुष्पत्र-पद्म रूपी पृथ्वी के चार द्वीपों में से एक महाद्वीप था जो कालान्तर में सप्तद्वीपी पृथ्वी के जम्बूद्वीप का एक वर्ष मान लिया गया था ।[3] भरत के बाद सुमति, इन्द्रद्युम्न, परमेष्ठी, प्रतिहर, प्रतिहर्ता, भव, उद्गीथ, अतिसमर्थ, पृथु, नक्त, गय, नर, विराट, महावीर्य, धीमान्, महान्त, मनस्यु, त्वष्टा, विरज,

---

1. वायु पु०, १।४८।४१-४२
2. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१, अत्र नाभेः सर्गं कथयामि नाभिर्मेरुदेव्यां पुत्रमजनयदृषभनामानं तस्य भरतो जज्ञे पुत्रश्च --- तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद्भारतं नाम शशास ।
   वायु पु०, १।३३।५०-५२ : नाभेर्हि सर्गं वक्ष्यामि हिमाह्वे तन्निबोधत ।
   नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मेरुदेव्यां--ऋषभं--।।५०।।
   ऋषभाद्भरतो जज्ञे--भरतः पुत्रं ------ ।।५१।।
   हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
   तस्माद्भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।
   विष्णु पु०, २।१।२७-३२
3. वराह पु०, ७५।३८-३९, ४७-४८, ५७-५८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रज और शतजित् नामक सम्राट् हुए । शतजित् के सौ पुत्र थे जिनमें विश्वज्योति प्रधान था ।[1] उन सौ पुत्रों से यहां की प्रजा बहुत बढ़ गयी । तब उन्होंने इस भारतवर्ष को नौ विभागों से विभूषित किया (अर्थात् वे सब इसको नौ भागों में बांट कर भोगने लगे) (तैरिदं भारतं वर्षं नवभेदमलंकृतम्) ।[2] इस कथन से स्पष्ट है कि प्रजा-वृद्धि (जनसंख्या की वृद्धि) से ही इन द्वीपों में भारतीय लोग जाकर बस गये थे । लिंग पुराण में यह बात अधिक स्पष्ट रूप से कही गयी है । भारतवर्ष से कुछ लोग इन्द्रद्वीप गये, कुछ कसेरु द्वीप को गये, तथा कुछ ताम्रद्वीप को गये । कुछ लोग गभस्तिमान को और कुछ नागद्वीप, सौम्य द्वीप, गान्धर्व द्वीप और वारुण द्वीप को गये ।[3] इस प्रकार इन द्वीपों में भारतीयों के जाने से उनकी बस्तियां स्थापित हो गयीं ।

समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ लेख से ज्ञात होता है कि सिंहल आदि सभी द्वीपों के निवासियों ने उसे अपना अधिपति मान लिया था[4]। इस प्रकार ये द्वीप

---

[1] विष्णु पु०, २।१।३३-४०, कुछ राजाओं के नामों में हेर-फेर के अतिरिक्त यही वर्णन अन्य पुराणों में भी मिलता है ।
वायु पु०, १।३३।५३-६०

[2] विष्णु पु०, २।१।४१ (गीता प्रेस सं०, हिन्दी अनुवाद)
विल्सन (वि० पु०, २।१, पृ० १३४) भी कहते हैं कि इन राजकुमारों के युग में भारतवर्ष नौ भागों में बंट गया ।

[3] लिंग पु०, १।५२।२७-२८(१) : इन्द्रद्वीपे तथा केचिन्ततोऽन्ये च कसेरुके ।
ताम्रद्वीपं गताः केचित्केचिद्देशं गभस्तिमत् ।
नागद्वीपं तथा सौम्यं गांधर्वं वारुणं गताः ।

[4] प्रयाग स्तंभ लेख, पंक्ति २३-२४: सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदन-कन्योपायनदान-गरुत्मदंक-स्वविषयभुक्ति-शासनयाचनाद्युपाय सेवाकृत ----- ।

चन्द्र के मेहरौली लेख पं० २ से सम्राट् चन्द्र (गुप्त द्वितीय) के पराक्रम का प्रभाव दक्षिण जलनिधि पर पड़ा था । वाकाटक नृप प्रवरसेन का प्रभाव सिंहल (सागरस्य परंपारं) में पड़ा था (हर्षचरित १।१४) । आदित्यसेन के अफसढ लेख (पं० २३-२४) से ज्ञात होता है कि उसकी कीर्ति सागर-पार फैली थी ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भारत-भूमि के अभिन्न अंग बन गये थे । कालान्तर में यहां सांस्कृतिक प्रसार और व्यापार ने सम्बन्धों की पुष्टि की । अतः भारत के इन नव द्वीपों के विषय में डा० अग्रवाल के विचार उपयुक्त ही हैं - ` प्राचीन परम्परा के अनुसार इस वर्ष का नाम भारतवर्ष था, किन्तु लगभग प्रथम शती विक्रमी से भारत के निवासियों ने पूर्व और पश्चिम के दोनों महासागरों पर अपने प्रभविष्णु अधिकार द्वारा बृहत्तर भारत का निर्माण किया । शनैः शनैः जावा, सुमात्रा (श्रीविजय), मलय, कम्बुज, चम्पा, श्याम (द्वारावती), केडा (कटाह द्वीप), बोर्नियो (वारुण द्वीप) आदि द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति, भाषा, धर्म और कला इस प्रकार छा गयी कि ये द्वीपान्तरीय प्रदेश भारत के ही अंग समझे जाने लगे । इस स्थिति का उल्लेख पुराणकारों ने किया है -

` इस भारतवर्ष के नौ भाग जानने चाहिए । उन्हें समुद्र एक दूसरे से अलग करता है । अतएव वे स्थलमार्ग से परस्पर अगम्य हैं । इन्द्रद्वीप, कसेरुमान, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्य द्वीप, गान्धर्व द्वीप और वारुण द्वीप ये आठ द्वीप हैं और नवां यही द्वीप है जो समुद्र से घिरा हुआ है । भारतीय महासागर पर इस देश की प्रभुता का इतना स्पष्ट उल्लेख अन्य साहित्य में दूसरा नहीं है । स्कन्दयुग के उत्साही सार्थवाह और नाविकों ने बृहत्तर भारत को जन्म दिया था, उसी का यहां उल्लेख है । हिन्देशिया के द्वीपों को उस समय मातृभूमि के साथ मिलाकर ` भारतवर्ष ` की भौगोलिक संज्ञा के अन्तर्गत मानने लगे थे । तब भारत के लिए एक नये नाम की आवश्यकता हुयी । पुराण लेखक यहीं भारत में बैठ कर लिख रहा था, अतएव उस नयी संज्ञा का उल्लेख न करके ` अयं तु नवमस्तेषां वाक्य के ` अयं ` पद से उसका संकेत किया है । किन्तु नवीं शती में गुर्जर प्रतिहारों के राजकवि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में --- भारत के लिए कुमारीद्वीप नाम दिया है, जो कि ` अयं ` इस पद की व्याख्या है । वामन पुराण में कुमारद्वीप और स्कन्द पुराण -- में कुमारी द्वीप कहा गया है । समुद्रपार के द्वीपों की समुदित संज्ञा उस समय द्वीपान्तर प्रसिद्ध हुयी । --- इस प्रकार गुप्त युग के भारत नाम में कुमारी द्वीप और द्वीपान्तर दोनों सम्मिलित थे । इसका सर्वोत्तम प्रमाण

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वर्तमान समय के भातृ संकल्पमन्त्र में पाया जाता है - `हरि -- ॐ कलि प्रथम चरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारतवर्षे कुमारिकाखण्डे आर्यावर्तैक देशे ---` यहां `जम्बूद्वीपे भरतखण्डे` यह प्राचीन भौगोलिक संकेत था । जब भारत में नौ द्वीपों की गणना होने लगी तब गुप्तयुग के आसपास `भारतवर्षे कुमारिकाखण्डे` यह नया अंश जोड़ दिया गया --- ।`[1] इनकी सम्भावित पहचान इस प्रकार है -

इन्द्रद्वीप

कुछ विद्वानों ने इसकी पहचान वर्मा से की है ।[2] परन्तु नीलमत, मत्स्य और शिव पुराण में इन्द्रद्वीप के स्थान पर पाठ इन्द्रद्युम्न है । अतः इसकी पहचान अंडमान से करनी चाहिए ।[3] इन्द्रद्युम्न से बिगड़कर अन्डमान नाम बना । स्कन्द पुराण के अनुसार यह महेन्द्र (पूर्वीघाट) के उस पार (महेन्द्रपरतश्चैव इन्द्रद्वीपो निगद्यते)[4] बंगाल की खाड़ी में स्थित था ।[5]

कशेरु (कशेरुमान्)

इस द्वीप का नाम[6] कशेरु फल के नाम पर पड़ा । कुछ लोगों ने इसकी पहचान मलाया से की है ।

---

१. मार्क० पु० अ०, पृ० १४२-१४३, अन्यत्र वामन पु० स्ट०, पृ० २७-२८
अपि च, पु० चि०, पृ० ३३८-३४१
२. या०धन्० मजुमदार, क०ई०जा०, पृ० ७५१-७५२, जा०से०मो०१०, पृ० ५६
३. मार्क० पु० अ०, पृ० १४२ एवं नोट, प्रा०भा०भौ०स्व०, पृ० १४,
पु० चि०, पृ० ३४०
४. स्कन्द पु०, १।२।३६।११३
५. स्ट०१०से०, पृ० ८४
६. पु० प०, पृ० ४६, या०धन्० मजुमदार, क०ई०जा०, पृ० ७४६,
आर०सी० मजूमदार, सुवर्णद्वीप, जिल्द १, पृ० ५०

ताम्रपर्णी

इसके पाठान्तर ताम्रपर्णी[1] और ताम्रद्वीप[2] मिलते हैं। ताम्रपर्णी अथवा ताम्रवर्णी की पहचान 'तम्रापेन'[3] (सीलोन) या लंका से की गयी है। परन्तु वामन और गरुड़ पुराण[4] में ताम्रपर्णी और सिंहल दोनों ही द्वीपों का अलग-अलग उल्लेख मिलता है।

ताम्रद्वीप का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है।[5] डा० मोतीचन्द्र के अनुसार यह खम्भात (केम्बे) के आस-पास कहीं स्थित था।[6]

गभस्तिमान

अज्ञात है।

नागद्वीप

यह नग्नद्वीप अथवा निकोबार (चोल अभिलेखों का नक्कावरम्) है।[7]

सौम्य

इसकी पहचान सुमात्रा से की गयी है।[8] डा० रायचौधरी इसे कटाह के स्थान पर अशुद्ध पाठ मानते हैं।[9] कटाह का उल्लेख वामन और गरुड़ में मिलता है। इसकी पहचान मलाया प्रायद्वीप में स्थित कैडा से की गयी है।[10]

---

१. वराह पु०, अ० ८५, पृ ३६५, वामन पु०, १३।६, गरुड़ पु०, १।५४।४ शिव पु०, ५।१८।४, वायु पु०, १।४५।७६, अग्नि पु०, १०८।३, नीलमत,७१२
२. लिंग पु०, ५२।२७
३. ए० ग्रीक रा०, पृ २८-२६, टा० सी ए०, पृ २४७
४. वामन पु०, १३।६-१०, गरुड़ पु०, १।५५।४
५. सभापर्व, ३१।६८
६. उपायन पर्व, पृ ६०
७. वामन पु० स्ट०, पृ २६
८. ए० ज०, पृ ५४-५५
९. स्ट० ए० ई०, पृ ८५
१०. वही, पृ ८५, गरुड़ पु० अ०, पृ १०, वामन पु० स्ट०, पृ २६

गान्धर्व द्वीप

डा० बुध प्रकाश ने इसकी पहचान कटाह द्वीप से की है । उनका विचार है कि वामन और गरुड़ पुराणों में गान्धर्व द्वीप के स्थान पर कटाह द्वीप का पाठ है ।[1] डा० रायचौधरी इसके स्थान पर सिंहल का पाठ स्वीकार करते हैं ।[2] निश्चित रूप से इसकी पहचान करना कठिन है ।

वारुण द्वीप

यह वर्तमान बोर्नियो है ।[3]

भारत द्वीप

यह नवां द्वीप है जिसे कुमारी द्वीप या कुमारिका खण्ड अथवा कुमार द्वीप कहा गया है ।

---o---

---

[1] इ० व०, पृ० ५६-५८

[2] स्ट० इ० ऐ०, पृ० ८५

[3] वामन पु०, स्ट०, पृ० २६

देशविभाग

अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण में विभिन्न देश-भागों और उनमें स्थित जनपदों का वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु वराह पुराण में भी विभिन्न देश-भागों का उल्लेख हुआ है। ये निम्नलिखित हैं -

१. उत्तरापथ,[१]
२. पूर्वदेश[२] अथवा पूर्वमंडल[३] और
३. दक्षिणापथ।[४]

इनके अतिरिक्त पूर्व, दक्षिण, प्रतीची (पश्चिम) एवं उत्तर दिशाओं का उल्लेख मिलता है।[५] इन्हीं दिशाओं के आधार पर पूर्व देश, दक्षिण देश, पश्चिमदेश और उत्तर देश (पूर्वापराद्देशाद्दक्षिणात्पश्चिमाख्या),[६] देश विभाग थे। इन चारों दिशाओं के मध्य भाग को ही मध्य देश कहते थे। वराह पुराण में मध्य देश का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु मध्यदेश के प्रशस्त प्रतीक, कृष्णाजिन[७] अर्थात् कृष्णासार मृग के चर्म (कृष्णासारस्य चर्म)[८] का उल्लेख हुआ है। प्राचीन भारत के भूगोल में ये पांचों देश विभाग प्रसिद्ध थे और रामायण,[९] महाभारत,[१०] पुराणों[११] तथा काव्यमीमांसा[१२] में इन पंचस्थल-विभागों के अनुसार ही जनपद वर्णन किया

---

१. वराह, १७०।३४, ३५-३६
२. वही, १०।४४
३. वही, १७०।३३
४. वही, ६।२०
५. वही, २६।४(१)
६. वही, १८०।१०(२)
७. वही, १२७।१३
८. वही, १२८।३(१)
९. रा० किष्किंधाकाण्ड, ४०।१६, ४१।१,६, ४२।५, ४३।४
१०. महाभारत, भीष्मपर्व, १५।१७(१)
११. विष्णु पु०, २।३।१५,१६
१२. का०मी०, ६२।१० : पंचस्थलमिति विभागेन
वही, अ० १७ में इन्हीं विभागों का वर्णन किया गया है।

गया है ।

मध्यदेश - स्कन्द पुराण के अनुसार गंगा और यमुना के मध्य भाग को मध्यदेश कहते थे[1] । इसके पूर्व में पूर्वदेश और इसके उत्तर-पश्चिम में उत्तरापथ भाग था ।

पूर्वदेश - मध्यदेश की सीमायें समय समय पर बदलती रहीं । मनु के अनुसार प्रयाग के पूर्व देश को प्राच्य कहते थे[2] । राजशेखर के अनुसार वाराणसी के पूर्व का देश पूर्वदेश कहलाता था[3] ।

उत्तरापथ - काव्यमीमांसा के अनुसार पृथूदक (पिहोवा, करनाल प्रान्त, कुरुक्षेत्र के निकटस्थ) से पश्चिम देश को उत्तरापथ कहते थे ।[4]

दक्षिणापथ - माहिष्मती से दक्षिण भाग को दक्षिणापथ कहते थे ।[5] वराह पुराण के अनुसार भी नर्मदा नदी और इसके दक्षिण[6] तट पर स्थित ‘सुवरपत्तन’ (माहिष्मती) दक्षिणापथ में सम्मिलित थे ।

पश्चिमदेश - मध्यदेश से पश्चिम की ओर का देश पश्चिम देश[7] कहलाता था । काव्यमीमांसा के अनुसार देवसभा के पश्चिम में पश्चिमदेश था ।

---

[1] स्कन्द, १।२।२।८५(२) :····गंगायमुनयोर्मध्ये मध्यदेशे····।
मनु (२।२१) के अनुसार हिमालय से दक्षिण, विन्ध्य से उत्तर, विनशन से पूर्व तथा प्रयाग से पश्चिम का देश मध्यदेश कहलाता था ।

[2] मनु, २।२१, प्रयाग के पश्चिम मध्यदेश था। अतः इसके पूर्व में पूर्व देश स्थित था।

[3] का० मी०, ६३।२० : वाराणस्या पूर्वतः पूर्वदेशः ।

[4] वही, ६४।६ : पृथूदकात्परत उत्तरापथः ।

[5] वही, ६३।२५ : माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः ।

[6] वराह, १७५।११, १७६।२६

[7] का० मी०, ६४।४

जनपद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वराह पुराण में जनपदों की नामावली नहीं प्राप्त होती है । परन्तु विभिन्न अध्यायों में विभिन्न राज्यों एवं जनपदों का उल्लेख मिलता है । इनका वर्णन क्रम से किया जा रहा है -

अन्धक - अन्धक को मध्यदेश का जनपद कहा गया है ।[1] किन्तु ब्रह्म पुराण में अन्धक के स्थान पर अन्धक जनपद का उल्लेख है ।[2] वराह पुराण के अनुसार अन्धक नामक प्रबल दैत्य था, जिसने देवताओं को पराजित कर अपदस्थ कर दिया था ।[3] इस प्रकार अन्धकों की शक्ति इतनी बढ़ी हुयी थी कि सभी देवता उनसे भयभीत थे । वे उनको अधार्मिक कृत्यों से न रोक सके ।[4] उसने स्वयं शिव पर आक्रमण किया और कैलास के निकट महान् देवासुर युद्ध हुआ ।[5] रुद्र के त्रिशूल से घायल हुए अन्धक के शरीर से गिरने वाले रक्त की बूंदों से ही असंख्य अन्धक उत्पन्न हो गये और उन अन्धकों को विष्णु ने मार डाला ।[6] वायुपुराण में अन्धकों को अधार्मिक कहा गया है ।[7]

अन्धक-वृष्णिभोज संघ (वृष्ण्यन्धकाश्चभोजाश्च)[8]

डा० सरकार के अनुसार अन्धक यादवों की एक शाखा थे जो प्रारम्भ में मथुरा के निकट बसे हुए थे । बाद में वे काठियावाड़ को चले गये ।[9] महाभारत के

---

१. मत्स्य, ११३।३६
२. ब्रह्म, २७।४२ : अन्ध्रकाश्च कलिंगाश्च शमकाश्च वृकैः सह ।
मध्यदेश जनपदाः प्रायशोऽमी प्रकीर्तिताः ।।
३. वराह, २७।१-२
४. वही, २७।४-५
५. वही, २७।११-२५
६. वही, २७।२६-२८
७. वायु, २।३६।१०८
८. वराह, १४६।११
९. आ०ह०ए०ह०, पृ० २२

अनुसार यादवों से सम्बद्ध भोज नामक जाति १८ कुलों में विभक्त थी । ये सभी लोग पहले मथुरा में बसे हुए थे । परन्तु जरासन्ध के भय से मथुरा छोड़कर वे काठियावाड़ चले गये थे ।[१] काठियावाड़ में ही वृष्ण्यन्धक[२] (वृष्णि एवं अन्धक) संघ बना हुआ था और इनकी राजधानी द्वारका थी ।[३]

वृष्णि - पश्चिमी भारत में वृष्णिसंघ[४] महत्वपूर्ण राज्य था जिनका अस्तित्व उनके सिक्कों से भी ज्ञात है ।[५] वृष्णि वंश का नाम वृष्णि नामक यदुवंशी राजा के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ ।[६] कृष्ण भी वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए (वृष्णिकुलोत्पन्नः कृष्णः) थे ।[७] संघराज्य की शक्ति उनकी एकता ही है । जब उनकी एकता विच्छिन्न हो जाती है तभी उसका नाश हो जाता है । प्रश्न है कि ब्रह्मण्य और नित्य वृद्धोपसेवी तथा कृष्ण के अन्यन्य भक्त होते हुए भी वृष्णियों का नाश कैसे हुआ ?[८]

दुर्वासा के शाप से उनकी एकता में भेद हो जाने से (एकात्मनां भेद) वृष्णियों का नाश हुआ ।[९] वराह पुराण भी साम्ब के लड़कपन के कारण दुर्वासा-शाप से वृष्णियों के नाश की कथा का वर्णन करता है ।[१०]

भोज - यह अन्धक-वृष्णि-संघ का एक राज्य था[११] जिसे विन्ध्यपृष्ठ-देशभाग में स्थित बताया गया है ।[१२]

---

१. महा०, सभापर्व, १४।२५,५७
२. हरिवंश, १।१।१७,१८,२१, १।३
३. वराह, १४६।७
४. सभापर्व, ५१।२४
५. एलन, के० का० ए०इ०, पृ० २८१
६. विष्णु पु०, ४।१२।२७-२८
७. वराह, २१५।४१(१)
८. भागवत, ११।१।८
९. वही, ११।१।९
१०. वराह, १४६।१०-११, ~~[illegible]~~ १६-२२
११. वही, १४६।११
१२. मत्स्य, ११३।५२, ब्रह्म, २७।६०

खारवेल के हाथीगुंफा लेख में इन्हें रठिकों के साथ स्थित बताया गया है।[1] अशोक के अभिलेखों में इन्हें पितिनिकों (पैठानिकों) के पास (भोजपितिनिकेसु) स्थित बताया गया है।[2] पितनिकों को रठिकों के साथ रखा गया है। ये अपरांत में स्थित थे।[3]

अवन्ति विषय[4] - यह पश्चिमदेश का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी पहचान पश्चिमी मालवा से की गयी है। इसकी राजधानी अवन्तीपुर[5] अथवा उज्जयिनी[6] थी।

आभीर[7] [8] - यह प्राचीन एवं प्रसिद्ध जनपद था। इसे गोधन से समृद्ध (गावो महाधनाः) कहा गया है। बृहत्संहिता में इसे दक्षिण[9] एवं दक्षिण-पश्चिम[10] में स्थित बताया गया है। नर्मदा नदी के मुहाने के समीप गुजरात का दक्षिणी-पश्चिमी भाग आभीर कहलाता था जहां यूनानियों द्वारा उल्लिखित अबिरिया स्थित था।[11] महाभारत आभीरों को सरस्वती नदी की घाटी में, गुजरात में, समुद्र के निकट स्थित बताता है।[12]

कलिंग - वराह पुराण में कलिंग और इस देश के राजा[13] (कालिंग नृपति) का एक आख्यान दिया गया है।[14] कलिंगवंश का भी उल्लेख किया गया है।[15]

---

१. से०इ०, अभिलेख सं० ९१, पृ० २१५, पं० ६
२. अशोक का १३वां शिलालेख, पं० १०
३. वही, ५वां शिला लेख, पं० ४, से०इ०, पृ० २२, ३८
४. वराह, १८९।२२
५. वही, ३।३
६. वही, १६७।३,२५
७. वही, १३८।५१
८. वही, १३८।५८
९. बृ०सं०, १४।१२
१०. वही, १४।१८
११. जा०डि०, पृ० १
१२. महा०सभापर्व, ५१।११-१३
१३. वराह, १३७।७४,७८,७९,८१,८७,८८,९२,१०२,१०४,१०७,१२८,१५९,१६७,
१९६,२०३,२११,२१५,२१७
१४. वही, (अ० १३७); १३७।१२८
१५. वही, १३७।१०७

भारत के दक्षिण-पूर्व देश भाग में स्थित[1] कलिंग प्राचीन भारत का अत्यन्त प्रसिद्ध राज्य था। वराहपुराण के अनुसार कलिंग राज्य का कांची राज्य के साथ मैत्री एवं वैवाहिक सम्बन्ध[2] था।

कान्ची राज्य[3] - कलिंगनृप के आख्यान में ही कांची राज्य का भी उल्लेख मिलता है। यह दक्षिण-दिग्भाग[4] का राज्य था। द्रविड़ देश में पल्लवों और चोलों के राज्य में कांची अत्यन्त प्रसिद्ध राजनीति, धर्म और विद्या-कला के केन्द्र था। समुद्रगुप्त के समय भी कांची राज्य था जिसके शासक विष्णुगोप को उसने पराजित किया था।[5] विष्णुगोप को पल्लव राजा माना गया है। कांची आधुनिक कांजीवरम् (मद्रास से ४३ मील दक्षिण पश्चिम) है।

काशी[6] - यह भी मध्यदेश का प्रसिद्ध एवं प्राचीन राज्य था। इसकी राजधानी वाराणसी[7] थी।

काश्मीरदेश - यह भी प्राचीन एवं प्रसिद्ध देश था जहां के राजा वसु[8] का उल्लेख हुआ है।

कुरु[9] (उत्तर एवं उत्तर कुरु)- उत्तर कुरु को भी कुरु राज्य कहते थे, जहां सनत्कुमार और अन्य उनसे छोटे ब्रह्मपुत्र (सनन्दनादि)[10] रहते थे। इससे उत्तर कुरु (मध्य एशिया और इसके उत्तर) खंड में भारतीय ज्ञान के प्रसार पर प्रकाश पड़ता है।

इन सात ऋषि-पुत्रों को कुरु-निवासी (सप्त-महाभागाः कुरवो नाम विश्रुताः) कहा गया है। उनके नाम पर ही वहां के वर्षों के भी नाम पड़े।[11]

---

१. कू० पं०, १४।८
२. वराह, १३७।७८-७९
३. वही, १३७।७८
४. कू० पं०, १४।१५
५. समुद्रगुप्त का प्रयागस्तंभ लेख, पं० १९
६. वराह, १५३।११
७. वही, ११।३३, १६।५
८. वही, ६।७, ३४
९. वही, २१७।५
१०. वही, ७७।२७-३१
११. वही, ७७।२७-३२; पाठ भ्रष्ट है। कुछ पंक्तियाँ छोड़ भी दी हैं (द्रष्टव्य, वायु पु०, ५३५/४२-४७)

नेपाल - शैलपति हिमालय के पाद-भाग में स्थित नेपाल[1] एक पवित्र देश है जिसमें महादेव नीलकण्ठ का शिवालय, श्वेतगंगा (शिवजटाख्या गंगा) आदि अनेक पवित्र स्थान हैं ।[2] वराह पुराण में नेपाल के तीर्थों[3] का विशेष रूप से वर्णन किया गया है (अ० २१५- अ० २१७) ।

डा० ला के अनुसार " इस देश के पूर्व में कौशिकी नदी, पश्चिम में त्रिशूलगंगा और उत्तर में शिवपुरी (कैलास) तथा दक्षिण में एक शीतजल की नदी थी[4] ("नामोल्लेख नहीं किया है) ।

नेपाल अशोक के राज्य में सम्मिलित था (उसके रुम्मिनदेई स्तंभ लेख एवं निगली सागर स्तंभ लेख नेपाल में ही हैं) । समुद्रगुप्त के समय उसका यह प्रत्यन्त राज्य था ।[5] हर्ष-संवत का नेपाल में प्रचलन उसके प्रभाव का प्रमाण है ।[6]

पांचाल विषय - यह धनधान्यपूर्ण समृद्ध देश था, जिसकी राजा ब्रह्मदत्त[7] के समय राजधानी काम्पिल्यपुर (आधुनिक कम्पिल प्रान्त फर्रुखाबाद) थी । इसकी राजधानी पंचालनगरी, गंगा के उत्तरी तट पर स्थित थी ।[8] महागृहदेयपुर[9]

---

[1] वराह, २१५।३८ : अहं पुनः शैलपतेः पादे हिमवतः शुभे ।
नेपालाख्ये समुत्पत्स्ये स्वयमेवमहीतलम् ।।

[2] वही, १४५।८२-८३ : नेपाले यच्छिवस्थानं समन्तात्सुवल्लभम् ।
तेभ्यस्तेभ्यश्च स्थानेभ्यश्च विशेषतः ।।
महादेव जटाजूटान्नीलकण्ठाच्छिवालयः ।
श्वेत गंगेति या प्रोक्ता तस्याम्प्लुत्य सादरम् ।।

[3] वही, २१५।३६-३७

[4] हि०जा०ए०इ०, पृ० ११३, डा० बी०सी० ला बताते हैं कि वराहपुराण (अ० ३) के अनुसार नेपाल पहिले नागवास कहलाता था । यह वराहपुराण (अ० ३) का उल्लेख नहीं है ।
दृष्टव्य, हे, जा०हि० (पृ० १४०), जहां से डा० ला ने उद्धरण लिया है । यहां स्वयम्भू पुराण (अ० ३) का उल्लेख है न कि वराहपुराण का ।

[5] समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ लेख, पं० २२

[6] स्मिथ, ध्या० ए० इ०, पृ० २८०

[7] वराह, १५२।४३

[8] वही, १७६।२५(१)

[9] वही, १५२।२

(महोदय) अथवा कान्यकुब्ज[1] जम्बूद्वीप का अत्यन्त प्रसिद्ध नगर था । राजशेखरकृत 'कर्पूरमंजरी' में भी[2] पांचाल-नरेश वज्रायुध की राजधानी कान्यकुब्ज (कण्णउज्ज) का उल्लेख मिलता है ।

प्राग्ज्योतिष (कामरूप-आधुनिक आसाम) - प्राग्ज्योतिष कुल अर्थात् प्राग्जोतिष राजवंश का उल्लेख हुआ[3] है । यहां यह प्राग्ज्योतिष (गौहाटी, आसाम) राज्य[4] एवं पुर, दोनों का परिचायक है ।

भोज[5] - अन्धक-वृष्णि संघ का एक जनपद था (पीछे द्रष्टव्य) ।

मरुदेश - मरुदेश जलहीन और छायाहीन वृक्षों वाला भूखण्ड था[6] जिसे मरुस्थल (मारवाड़) कहते थे ।[7] किन्तु यह व्यापार का केन्द्र था ।

मथुरामण्डल[8] - यह प्राचीन शूरसेन राज्य ही था । महावस्तु के अनुसार शूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा थी ।[9] वराह पुराण में मथुरा-माहात्म्य का वर्णन विशेष रूप से मिलता है । इसमें मथुरा मण्डल के तीर्थायतनों का वर्णन मिलता है ।

मिथिला - यह राजा जनक की राजधानी थी ।[10] यह आधुनिक जनकपुर (दरभंगा प्रान्त, बिहार प्रदेश) है । यह प्राचीन विदेह राज्य (उत्तरी बिहार प्रदेश) ही था|

---

१. वराह, १६२।६
२. क० मं०, ३ जवनिका, पृ० १०६
३. वराह, १२६।२०७
४. वही, १२६।११३
५. वही, १४९।११
६. वही, १६५।१०
७. वही, १६५।२३
८. वही, १५२।१७
९. महावस्तु, भाग १, पृ० ३४।९-१०, भाग २, पृ० ४१९।९
१०. वही, ८।३, १६३।२

वृष्णि[1] - यह वृष्ण्यन्धक-भोज का एक राज्य था जो द्वारका के आसपास काठियावाड़ में बसा हुआ था ।

सौराष्ट्रविषय[2] - यह पश्चिमी भारत का प्राचीन एवं प्रसिद्ध जनपद था जो आज भी अपने प्राचीन नाम से प्रसिद्ध है । यह वर्तमान गुजरात-काठियावाड़ है ।

नगर (पुर, पुरी, नगरी, पत्तन)

इन जनपदों के अतिरिक्त हमें वराह पुराण से प्राचीन प्रसिद्ध नगरों (पुरों)अथवा पत्तनों का उल्लेख मिलता है । अयोध्या, अवन्तीपुर, आनन्दपुर, इन्द्रपुर, उज्जयिनी, कन्यापुर, कान्यकुब्ज, कांची, गजसाह्वय, गया, देवीपुर, पुष्कर, प्रतिष्ठान, प्रभास, प्रयाग, मथुरा, प्राग्ज्योतिष, महागृहदेय, माहिष्मती, मिथिला, लंकापुरी, वाराणसी, शाम्बपुर, सूर्पारक और हस्तिनापुर प्रसिद्ध नगर थे ।

ये विभिन्न नगर विभिन्न देशभागों में स्थित थे । उत्तरापथ के व्यापार-केन्द्रों, तक्षशिला और शाकल से भी तत्कालीन व्यापारी वणिक् भलीभांति परिचित थे । सम्भवत: गोकर्ण ने इन नगरों की यात्रा की थी,[3] यद्यपि इनका नामोल्लेख नहीं हुआ है । इस प्रकार स्पष्ट है कि इन नगरों के बीच गमनागमन होता रहता था ।

अयोध्या - कोशल की राजधानी और पवित्र स्थान था ।[4] आज भी उत्तर प्रदेश में फैजाबाद प्रान्त में सरयू-तट पर स्थित पवित्र स्थान है ।

---

[1] वराह, १४६।११,१८,२२

[2] वही, १५३।६

[3] वही, १७०।३४,३६, इसका विवेचन व्यापार के साथ किया गया है ।

[4] वही, १४३।४७,४८, १७२।१२, १७८।४

अवन्तीपुर (उज्जयिनी) – अवन्ति (पश्चिमी मालवा) की राजधानी थी । यह प्राचीन भारत का समृद्ध नगर, तीर्थ तथा विद्या और विद्वानों का प्रथित केन्द्र था ।[1] इसे उज्जयिनी भी कहते थे, जो पवित्र स्थान था ।[2]

आनन्दपुर – यह आनर्त (उत्तरी गुजरात) की राजधानी, आनन्दपुर (आधुनिक वडनगर – बड़ौदा प्रान्त) थी । इसे शकों से सम्बद्ध (शक आनन्दपुरके)[3] बताया गया है ।

इन्द्रपुर (वराह, ६४।२) – इन्द्र की राजधानी थी ।

कान्यकुब्ज – यह आधुनिक कन्नौज है, जिसका महागृहोदय[4] (महोदय) भी नाम था । इसे ही कन्यापुर भी कहते थे जो राजा कुशिक की राजधानी थी[5] ।

कांची[6] – यह दक्षिण भारत का प्राचीन, प्रसिद्ध एवं पवित्र नगर था । इसे द्रविड़ देश में स्थित बताया गया है ।

काम्पिल्यपुर – यह पांचाल विषय में धनधान्यपूर्ण राजनगर था ।[7] यह दक्षिण पंचाल की राजधानी, आधुनिक कम्पिल (जिला फ़रुखाबाद, उ०प्र०), थी । काम्पिल्यपुर[8] विख्यात नगर था । यह राजा ब्रह्मदत्त एवं उसके पुत्र सोमदत्त की राजधानी थी ।

गजसाह्वय अथवा हस्तिनापुर – यह प्रसिद्ध नगर गंगातट पर स्थित था (गजसाह्वयम् – जाह्नवीतीरसंश्रयम्) । यह कुरु नरेश जनमेजय की राजधानी थी ।[10] यह हस्तिनापुर भी कहलाता था जो राजा शान्तनु की राजधानी थी ।[11]

---

१. वराह, ३।३
२. वही, १६७।३,२५
३. वही, १२२।३०
४. वही, १६२।२,६,१०
५. वही, १६२।४१
६. वही, १३७।७६,७९,८०,८१,२०३
७. वही, १५२।४३
८. वही, १३७।६४-६५
९. वही, १९३।३
१०. वही, १९३।२-५
११. वही, १५७।४४

गया[१] - पूर्वदेश का अत्यन्त पवित्र और प्रसिद्ध नगर है जो आज भी अपनी पवित्रता और प्राचीनता के साक्ष्यों को संजोये हुए है । आज भी विष्णुपद का विशाल मंदिर, नदी तट पर पितृश्राद्ध करते हुए हिन्दू और बोधिगया में बौद्ध यात्री दिखायी पड़ते हैं ।

चन्द्रपुर - यह भी एक राजधानी थी ।[२] हे के अनुसार राजा हंसध्वज की राजधानी चन्द्रपुर थी ।[३] इसकी पहचान कुन्तलपुरदेश (मैसूर प्रान्त) की राजधानी कुन्तलपुर (आधुनिक कुबहुर, प्रान्त शिमोगा, मैसूर प्रदेश) से की गयी है ।[४] इस नाम के कई स्थान थे । परन्तु निश्चित रूप से पहचान करना कठिन है ।[५]

देवीपुर[६] - यह विशाला (बदरीनाथ) के निकट मन्दर गिरि पर स्थित बताया गया है । इसकी पहचान कठिन है । किन्तु यह पौड़ी-गढ़वाल का स्थान है ।

द्वारका[७] - पश्चिमी भारत में वृष्णिसंघ की राजधानी और अति प्रसिद्ध तीर्थ था जो आज भी पवित्र है ।

पुरुषोत्तम - यह पूर्वदेश में उड़ीसा का प्रसिद्ध और पवित्र तीर्थ स्थान था । पुरुषोत्तम[८] (आधुनिक जगन्नाथपुरी) नामक विख्यात तीर्थ में धर्मव्याध ने तपस्या की थी । यह पुरुषोत्तम विष्णु[९] के नाम पर ही इस नाम से प्रसिद्ध था ।

---

१. वराह, ४९।१२,१८, २२, २७
२. वही, १२२।२७(२)
३. जा० डि०, पृ० ४७
४. वही, पृ० १०६
५. जा०इ०ए०मे०इ०, पृ० ८६
६. वराह, जा० डि०, ९२।२८
७. वराह, १४६।७,६४
८. वही, ८।४१-४२
९. वही, ८।४५

पुष्कर[1] (राजस्थान में अजमेर से ६ मील दूर) यह भी प्रसिद्ध एवं पवित्र नगर था ।

प्रभास (सोमनाथ) पश्चिमी[2] भारत में सौराष्ट्-काठियावाड़ के समुद्र तट पर स्थित प्रसिद्ध नगर एवं तीर्थ था ।

प्रयाग[3] - यह मध्यदेश का पवित्र स्थान है जो गंगा-यमुना के संगम पर स्थित है । यहीं त्रिवेणी-गंगा, यमुना और सरस्वती की संगम तथा देवताओं[4], ऋषियों और तीर्थों का भी समाज (सम्मेलन) केन्द्र है । यही तीर्थराज कहलाता है ।

प्रतिष्ठान - दक्षिणापथ मण्डल में गोदावरी के तट पर स्थित प्रसिद्ध और पवित्र नगर[6] (पट्टन) था[5] जहां से व्यापारी देश के विभिन्न भागों को आते जाते रहते थे । यह औरंगाबाद से लगभग १२ मील दूर आधुनिक पैथान है ।

प्राग्ज्योतिष[7] (गौहाटी[8], आसाम) - यह पूर्व देश का प्रसिद्ध स्थान था । यह राज्य और राजधानी थी ।

वैत्रासुर को प्राग्ज्योतिषपति कहा गया है ।[9] डा० बी०सी० ला के अनुसार यह प्रसिद्ध देश एवं सुन्दर[10] नगर था । इसमें कामरूप और उत्तरी बंगाल का कुछ भाग सम्मिलित था ।

---

१. वराह, १४२।६, ६४ ६१।६,४०
२. वही, १४६।२६
३. वही, १५२।३८
४. वही, १४४।८६-८६
५. वही, १६५।१,७,३३
६. वही, १६५।२-४, १०-१२, १४,१८
७. वही, १२४।१०८,११३,१२३,१२६
८. वही, १२६।११३,१४७,२०७
९. वही, २८।१३
१०. हि०गा०ए०ए०, पृ० २४२-२४३

मथुरा - यमुना तट[2] पर स्थित यह अत्यन्त पवित्र[3] नगर है[1] जिसके व्यापारी उत्तरापथ, पूर्वमंडल और समुद्रपार रत्नद्वीप[4] तक जाते थे । इसके तीर्थों का वराह पुराण में विशेषतः वर्णन मिलता है ।

माहिष्मती - प्राचीन[6] भारत का यह अत्यन्त प्रसिद्ध, समृद्ध तथा राजनगर[7] था ।[5] यह नर्मदा के किनारे महिष नामक असुर द्वारा स्थापित नगर था । इसकी पहचान मध्य प्रदेश के माहेश्वर से[8] की गयी है । कुछ लोग इसकी पहचान मान्धाता से भी करते हैं ।

लंकापुरी - यह लंकापुरी रावण की राजधानी थी जिसे राम ने जीता था ।[9] उन्होंने रावण को मारकर विभीषण को वहां का राजा नियुक्त किया था ।

वाराणसी[10] - यह काशी राज्य की राजधानी थी जो प्रसिद्ध, प्राचीन और पवित्र पुरी है ।

शाम्बपुर - वराह पुराण[11] के अनुसार शाम्ब ने 'शाम्बपुर' नामक सूर्य[12] की स्थापना मथुरा में की थी । वराह पुराण में मूलस्थान (मुलतान) और

---

१. वराह, ~~१४३।३०-४६~~ १५३।२८(२)
२. वही, अ० १७०
३. वही, अ० १७१
४. वही, अ० १५२-अ० १८०
५. वही, ६५।३
६. वही, ६५।१५
७. वही, ६५।२-४, ७-६, ११, १४-१६
८. जा०डि०, पृ० १२०
६. वराह, १६३।३६, ४२-४३, ४५
१०. वही, १०।३३, १४।५
११. वही, १७७।५४-५६ : मथुरायां तथा चैकं स्थाप्य शाम्बो वसुन्धरे ।
स्वनाम्ना स्थापयामास पुराणविधिना स्वयम् ।।
स्ट० उपपु०, १, पृ० ६६-७०, नोट ८७
एवं शाम्बपुरं नाम मथुराणां कुलेश्वरम् ।
रथयात्रां तथा कृत्वा ऋषिणा कथिता यथा ।
माघमासस्य सप्तम्यां देवं शाम्बपुरं नराः ।
रथयात्रां प्रकुर्वन्ति सर्वेऽन्धविवर्जिताः ।
गच्छन्ति तत्पदं शान्तं सूर्यमण्डलमेवकम् ।।
१२. वराह, १७७।५३ : मूलस्थानं ततः पश्चादस्तमनाचले रविम् ।
स्थाप्य त्रिमूर्तिं शाम्बस्तु प्रातर्मध्यापराह्निकम् ।।

शाम्बपुर में भेद किया गया है। अधिकांशतः शाम्बपुर की पहचान मुल्तान से ही की गयी है।[1] भविष्य पुराण के अनुसार चन्द्रभागा (चनाब) के तट पर सूर्य की स्थापना हुयी थी।[2] परन्तु सूर्य शाम्ब से कह रहे हैं कि "तुम्हारे नाम पर जो मेरे स्थानों (ममस्थानानि) को स्थापित करेगा, वह सनातन (ब्रह्मलोक अथवा सूर्यलोक) को प्राप्त करेगा।"[3] इससे सिद्ध होता है कि सांबादित्य की मूलस्थापना चन्द्रभागा-तट पर हुयी थी[4] और बाद में मथुरा में भी हुयी थी।

सूपारक - यह पवित्र स्थान (जामदग्न्यराम का आश्रम) पश्चिमी समुद्र-तट[5] पर एक प्रसिद्ध पत्तन था। इसकी पहचान बम्बई के निकट (महाराष्ट्र) थाना जिले के सोपारा से की गयी है।

हस्तिनापुर[6] - यह कुरु राज्य की राजधानी थी जो इस समय (उ०प्र०) में मेरठ जिले में इसी नाम से प्रसिद्ध एक गांव है।

उपर्युक्त नगरों के वर्णन से हमें वराह पुराण का व्यापक स्वरूप ज्ञात होता है जो पश्चिम में प्रभास से प्राग्ज्योतिष तक पूर्व में और हिमालय में स्थित देवीपुर से दक्षिण में लंकापुरी तक सीमित था। यही नहीं महोदधि के पार द्वीपों में भी स्थित था।

रत्नपुर - सम्भवतः रत्नद्वीप की भांति ऐसा ही नगर समुद्र के मध्य में स्थित था जहां रत्नों का आधिक्य था (समुद्रमध्ये रत्नाढ्यं पुरमस्ति महावरम्)।[7] रत्नद्वीप जाने वाले मार्ग में भी समुद्र के मध्य एक विष्णुमन्दिर था।[8]

---

१. जा०डि०, पृ० १७६
स्ट०उपपु० १, पृ० ४२,६०, स०प०२०८०, पृ० २६७
२. भविष्य, ब्रह्मपर्व, १२७।३१
३. वही, १२७।३०
४. वही, अ० १२९
५. वराह, १५०।४०-४१(१)
६. वही, १५७।४४
७. वही, ९६।४
८. वही, १७१।३६-३९

पर्वत

हरे हरे वृक्षों, लताओं, पुष्पों, फलों और सरिता-सरोवरों से सुशोभित पर्वत किसे मनोरम न लगेगा । पौराणिक भुवनकोश उस प्राचीन जीवन-दर्शन का परिचायक है जिसकी दृष्टि में भूमि और पर्वत दिव्य सृष्टि के अंग थे । नारायण की नाभि से उद्भूत पद्म पृथ्वी-का रूप था और इस पृथ्वी-पद्म की कर्णिका मेरु है ।[१] मेरु पर्वत पृथ्वी की नाभि होने से वह केन्द्र है जिसे मूल मानकर भुवनकोश का विन्यास किया गया है ।[२] लोक-पद्म के विस्तार को पुराणों ने मेरु के सन्दर्भ में ही बताया है । अतः शैलराज मेरु की अत्यन्त महिमा थी । यही मानकर वराह पुराण भी भूगोल-वर्णन में पर्वतों का भी वर्णन करना अभीष्ट मानता है, क्योंकि यही जिज्ञासा भी है :-

> भूमि प्रमाणं संस्थानं पर्वतानां च विस्तरम् ।
> अस्माकं ब्रूहि कृपया देवदेव उमापते ।।[३]

पर्वतों को पवित्र माना गया था ।[४] वराह भी मेरु, मन्दर, विन्ध्य, मलय, दर्दुर, हिमवान् और निषध को विष्णु के समान पवित्र मानता है ।[५] सिद्ध, विद्याधर, ऋषि, मुनि और देवताओं के निवास पर्वत ही माने गये हैं ।

---

१. वराह पु०, ७५।३८, ५६(१)
२. पु० वि०, पृ० ३९८
३. वराह पु०, ७४।३
४. वही, ७८।११ : पुण्याश्च गिरयो ----
५. वही, ११३।३२-३३(१)

निकुंज कन्दर नदी गुहा निर्फर शोभित तथा औषधिपुष्पफल-युक्त और धातु-मण्डित पर्वतों की देन इस पुण्यभूमि भारत के इतिहास में महान् है। भारत के लौकिक और पारलौकिक तथा भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में पर्वतों की शान्ति, सुषमा और समृद्धि आज भी श्लाघ्य है। कृष्ण ने ब्रज गोपों को इन्द्र की पूजा न कर गोवर्धन की पूजा करना सिखाया था (गिरये दीयताम् बलिः)[1]। राम के सम्पर्क से चित्रकूट[2] धन्य बन गया। महादेव के प्रसाद से कालिन्जर[3] पुण्य गिरि है। हरि के सान्निध्य से हरिद्वार, हृषीकेश, बद्री-नारायण और शालग्राम देवधाम बन गये। अतः पुराणों ने इनका वर्णन भुवनकोश के अतिरिक्त, तीर्थों और स्तुतियों में भी किया। सुमेरु-कैलास पृथ्वी के वृहत्पयोधर[4] थे जिनसे अमृत-जल लेकर नदियां देश को उर्वर और पवित्र बनाती हैं। भारत की प्रमुख नदियों का वर्णन कुलपर्वतों के सम्बन्ध से ही किया गया है, जहां से वे निकलती हैं। अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण भी विभिन्न श्रेणियों के पर्वतों का वर्णन करता है, यथा- मर्यादा पर्वत,[5] विष्कम्भ पर्वत,[6] वर्षपर्वत,[7] कुल-पर्वत[8] और क्षुद्र-पर्वत[9]।

---

१. भागवत, १०।२४।२८
२. वराह, १२।२
३. वही, १७५।६
४. बन्धुवर्मन-कुमारगुप्त प्रथम का मंदसौर लेख, श्लोक २३ :
सुमेरु-कैलास वृहत्पयोधराम् --- पृथ्वीं।
५. वराह पु०, ७७।३,४
६. वही, ७७।५-६, पाठ भ्रष्ट है, (द्रष्टव्य वायु पु०, ४।३५।१०-१२)।
७. वही, ७५।११,२२
८. वही, अ० ८३, पृ० ३४०, अ० ८५, पृ० ३४५
९. वही, अ० ८५, पृ० ३४६
विष्णु पु०, २।३।१२(२) क्षुद्रशैलास्तथा नद्यस्तत्र सन्ति सहस्रशः

मर्यादा पर्वत

सीमा बनाने के कारण इनको मर्यादा पर्वत कहा जाता था। भूगोल का वर्णन करते हुए भागवत पुराण बताता है कि " यह द्वीप (जम्बूद्वीप) कमल पत्र के समान गोल है (यो वायं द्वीपः -- समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम्)। इसके नौ वर्षों को आठ मर्यादा-पर्वत अलग अलग विभक्त करते हैं (यस्मिन्नव वर्षाणि -- अष्टमर्यादा गिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति)।[1] इस प्रकार से वर्षों की सीमा बनाने वाले सीमा-पर्वतों (वर्षाणां मर्यादा गिरयः)[2] को मर्यादा पर्वत कहते थे। विष्णु पुराण पर टीका[3] करते हुए श्रीधर मर्यादा-पर्वत को सीमा बनाने वाला पर्वत मानते हैं। अग्नि पुराण के अनुसार मर्यादा पर्वत मेरु के चारों दिशाओं में स्थित बताये गये हैं (मर्यादाशैला मेरोश्चतुर्दिशम्)।[4] वायु भी यही कहता है। वायु के पाठ को संक्षिप्त करते हुए वराह भी यही कहता है। मेरु के बीचोबीच कर्णिका-मूल है जिसे मेरु-मूल भी कहते हैं। यह शैलराज को चारों ओर से घेरे हुए है। जो सभी दिशाओं में पर्वत फैले हुए हैं, उन्हें ही मर्यादा पर्वत कहते हैं (दिक्षु सर्वासु पर्यन्ते मर्यादाः पर्वताः स्मृताः)[5]। वराह के अनुसार मेरु की आठों दिशाओं में मर्यादा पर्वत स्थित हैं (दिगष्टौ च पुनस्तस्य मर्यादापर्वताः शुभाः)।[6] विष्णु पुराण के अनुसार मेरु की चारों दिशाओं में दो-दो पर्वत स्थित हैं।[7] पूर्व दिशा में देवकूट और जठर हैं।[8] इसके बाद वराह

---

१. भागवत पु०, ५।१६।५-६

२. वही, ५।१६।८

३. विष्णु पु०, २।२।३६ और श्रीधर की टीका

४. अग्नि पु०, १०८।२७

५. वायु पु०, १।३५।१-३

६. वराह पु०, ७७।३

७. विष्णु पु०, २।२।४४

८. वराह पु०, ७७।४(१)

पुराण में अन्य नाम नहीं दिये गये हैं :-

> जठरादेवकूटश्च पूर्वस्यां दिशि पर्वतौ ।
> मर्यादापर्वतानेतानष्टावाहुर्मनीषिणः ।।[1]

बीच की पंक्तियां छूटी हुयी हैं । प्राय: सभी पुराणों के पाठों में कुछ न कुछ दोष है । इस प्रकार सभी पुराणों के पाठों के आधार पर ज्ञात होता है :-

पूर्व में	जठर और देवकूट (लिं. में जठर के स्थान पर जंठर नाम है)
दक्षिण में	गन्धमादन और कैलास (वायु और मार्क॰ पु॰ में गन्धमादन के स्थान पर हिमवान् है)
पश्चिम में	निषध और पारियात्र
उत्तर में	त्रिशृंग और जारुधि (अग्नि पु॰ में जारुधि के स्थान पर रुधिर है) । लिं. पु॰ में जारुधि के स्थान पर जारुचि पाठ है ।

इनकी स्थिति के विषय में भी कहा गया है कि जठर और देवकूट दक्षिण से उत्तर स्थित हैं, हिमवान् और कैलास पूर्व-पश्चिम फैले हुए समुद्र को छूते हैं, निषध और पारियात्र, पूर्वी पर्वतों की भांति, दक्षिण-उत्तर में स्थित हैं और त्रिशृंग[2] तथा जारुधि पूर्व-पश्चिम की ओर फैले हुए समुद्र को छूते हुए स्थित हैं ।

---

[1] वराह पु०, ७७।४

[2] विष्णु, २।२।४०-४४, मार्कण्डेय, ५१।२२-२५(१), वायु, १।३५।८-९, लिं., १।४९।२१-२५
`गंधमादनकैलासौ` के स्थान पर लिं. पु० में `कैलासो गंधमादनश्च हेमकूटश्च पर्वतौ` पाठ मिलता है । संभवत: कैलास और गंधमादन एक ही शृंखला में पूर्व से पश्चिम तक फैले हैं ।

विष्कम्भ पर्वत

मर्यादा पर्वतों के वर्णन के बाद मेरु की चारों दिशाओं में चार पर्वतों को पादों (पायों) की तरह[1] स्थित बताया गया है जिन पर सप्तद्वीपवती पृथ्वी टिकी रहती है। वराह पुराण[2] के संहिताकार ने इन पाठों में हेर-फेर की है और कुछ जोड़ा भी है। ये पर्वत निम्नांकित हैं :-

पूर्व - मन्दर पर्वत
दक्षिण- गन्धमादन
पश्चिम - विपुल
उत्तर - सुपार्श्व[3]

वर्तमान स्थिति में इन पर्वतों की पहचान करना निश्चित और निर्विवाद नहीं है। इन चारों पर्वतों का चतुर्द्वीपी-भूगोल में, विशेषकर जम्बूद्वीप के भूगोल और इतिहास में, अत्यधिक महत्व है। चारों पर्वतों पर एक एक महावृक्ष अथवा केतुवृक्ष है। इन चारों पर्वतों पर एक-एक विशेष वन और झील भी हैं। इस प्रकार इन चारों विष्कम्भक पर्वतों में प्रत्येक पर्वत पर एक वर्ष या द्वीप, एक महावृक्ष, एक वन और एक झील है। प्रत्येक झील से भी सम्बन्धित पर्वत श्रेणियां हैं[4]। इन पर्वतों में दो-दो पर्वतों में के बीच रम्य घाटियां हैं। यह वर्णन निम्नांकित रूप में है :-

इस प्रकार मेरु के पूर्व दिशा में स्थित भद्राश्व वृक्ष के नाम पर ही

---

[1] लिं, १।४९।२५, वायु, १।३५।११

[2] वराह, ७७।५-६

[3] वही, ७७।९; वायु, १।३५।१६; लिं १।४९।२७-२८

[4] वराह पु०, अ० ७७।९-३१ और वायु पु०, पूर्व० अ० ३५ में पर्वत, महावृक्ष और द्वीप वर्णन है।
वराह पु० अ० ७८।१-८ और वायु पूर्व० अ० ३६।१-२६ में वनों और सरोवरों का वर्णन है।

भद्राश्व वर्ष है । इस वर्ष में चैत्ररथ वन और अरुणोद झील है । अरुणोद के पूर्व में भी पर्वत मालाएं हैं, जिनके बीच लम्बी-चौड़ी घाटियां हैं । इसी प्रकार दक्षिण में जम्बू वृक्ष के नाम पर जम्बू द्वीप कहलाया, जहां मानस-सर और गन्धमादन वन है । मानस सर के दक्षिण में भी पहाड़ियां हैं । इसी प्रकार पश्चिम में केतुमाल वर्ष, अश्वत्थवृक्ष, वैभ्राजवन तथा असितोद झील है । यहां अश्वत्थवृक्ष ही उस वर्ष का केतु था जिसमें एक दिव्यमाला लटकती रहती थी । इसी लिए इसे केतुमाल वर्ष कहने लगे । उत्तर में, उत्तर कुरु वर्ष में वट वृक्ष, सवितावन एवं महाभद्र झील है । वट वृक्ष ही इसी वृक्ष का केतु वृक्ष था ।

दिशा	पर्वत	केतुवृक्ष	वर्ष या द्वीप	वन	सर
पूर्व	मन्दर	कदम्ब-भद्राश्व वृक्ष, इसी को भद्र-कदम्ब भी कहा गया है	भद्राश्ववर्ष	चैत्ररथ	अरुणोद
दक्षिण	गन्धमादन	जम्बू वृक्ष	जम्बू द्वीप	गन्धमादन (वराह) नन्दनवन (वायु)	मानस
पश्चिम	विपुल (वराह में 'दक्षिण' पाठ अशुद्ध है)	अश्वत्थ	केतुमालवर्ष (वराह) केतुमालद्वीप (वायु)	वैभ्राज[१] (वायु)	असितोद (वराह) सितोद (वायु)
उत्तर	सुपार्श्व	वट-न्यग्रोध	उत्तरकुरु	सविता-वन[२] (वायु)	महाभद्र

---

[१] वराह ने वन को छोड़ दिया है ।

[२] वराह ने वन को छोड़ दिया है ।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि मेरु के पूर्व में भद्राश्व, दक्षिण में जम्बू द्वीप, पश्चिम में केतुमाल वर्ष (या केतुमाल द्वीप) तथा उत्तर में उत्तर कुरु स्थित थे।[1] चतुर्द्वीपी भूगोल में मेरु के चारों दिशाओं में चार द्वीप स्थित थे।[2] यहां मेरु के दक्षिण में भारत को स्थित बताया गया है। इस प्रकार जम्बू द्वीप और भारत एक ही क्षेत्र के परिचायक हैं। बौद्ध साहित्य में भी जम्बूद्वीप और भारत एक ही माने गये हैं। यह चतुर्द्वीपी भूगोल की परम्परा में ठीक ही है। बौद्ध साहित्य में भी पृथ्वी को चार द्वीपों वाली ही कहा गया है,[3] जैसा कि पुराण भी कहते हैं। परन्तु कालान्तर में चतुर्द्वीपी भूगोल के स्थान पर पुराणों ने सप्त द्वीपी परम्परा को अपना लिया और इस नयी पुनर्व्यवस्था में पृथ्वी के चारों द्वीप- भद्राश्व, जम्बूद्वीप के स्थान पर भारत, केतुमाल और उत्तर कुरु - जम्बू द्वीप के वर्ष मात्र रह गये जिसमें भारत विस्तृत जम्बू द्वीप का एक भाग (वर्ष) मात्र रह गया। भारत के सांस्कृतिक प्रसार से ही जम्बूद्वीप के स्वरूप में वृद्धि हुयी।

केसराचल

चारों वर्षों के पास, उनसे सम्बद्ध, भी पर्वत स्थित थे। इन्हें केसरपर्वत या केसराचल कहते थे।[4]

---

१. विष्णु (२।२।१८-२३), वायु (१।३५।२०-४७), कूर्म (१।४४।१६-२१), शिव (५।१७।१३-१६) एवं मत्स्य (११२।४४) में जम्बूद्वीप के स्थान पर मेरु के दक्षिण में भारत स्थित कहा गया है।

ऊपर जिन जिन पुराणों में जम्बू द्वीप का उल्लेख है, वहां उत्तर कुरु का उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु भद्राश्व और केतुमाल वर्षों के मध्य में इलावृत का उल्लेख अवश्य है। यहां जिन पुराणों में भारत का उल्लेख है, वहां इलावृत का उल्लेख नहीं मिलता है।

२. पीछे देखिए, पृ० ~~४२-४६~~ ३०, ३८-४०

३. कु० भा० भू०, पृ० ५७-५८, म० भीभा० जी, पृ० २-३

४. विष्णु पु०, २।२।२८-२९

अरुणोद-पर्वत (अरुणोदस्य ये शैला) - अरुणोद के पूर्व स्थित पूर्वी पर्वत (प्राच्या शैला) कहलाते थे । इनके नाम - शीतान्त, कुमुन्द, सुवीर (वराह ने ये नाम छोड़ दिये हैं), विकंक, मणिशृंग (मणिशैल), सुपात्र, उपल (वृषभ), महानील, कुम्भ (रुचक), सुबिन्दु, मदन (मन्दर), वेणुनद्ध (वेणुमान), सुमेद (सुमेध), निषध और देवपर्वत ।

ये मन्दर पर्वत पर स्थित सिद्धों के आवास थे । अतः ये पुण्य पर्वत थे ।

मानस-सर के दक्षिण (दक्षिणी पर्वत) - त्रिशिखर, शिशिर, कलिंग, शतपदा, पतंग, तुरग (रुचक), सानुमान्, ताम्राह (ताम्राभ), विश (विशाख), श्वेतोदन (श्वेतोदर), समूल, सरल, रत्नकेतु (रत्नधार), एकमूल (एकशृंग), महाशृंग (महामूल), गजमूल (गजशैल), शावक (पिशाचक), पंचशैल, कैलास और हिमवान् हैं ।

इनमें कैलास और हिमवान् प्रसिद्ध तथा परिचित पर्वत हैं । सम्भवतः पंचशैल वर्तमान परिपन्जाल ही है । ये पर्वत सर्वश्रेष्ठ हैं, जहां देवता लोग घूमते रहते हैं (देवचरिता) ।

सितोद के पश्चिम में सुवक्ष, शिखिशैल, काल, वैदूर्य (वराह में छोड़ दिये गये हैं), कपिल, पिंगल, भद्र (रुद्र), सरस (सुरस), कुमुद, मधुमान, गर्जन (अंजनी), मर्कट (मुकुट), कृष्ण, पाण्डव (पाण्डर), सहस्रशिरस (सहस्रशिखर), पारिपात्र (पारियात्र), शैलेन्द्र और शृंगवान (त्रिशृंग) पश्चिम के श्रेष्ठ पर्वत हैं ।

महाभद्र सर के उत्तर में शंकूट (शंखकूट), वृषा (वृषभ), हंसपर्वत, नाग (वराह में नहीं है), कपिंजल (कपिल), इन्द्रशैल, नील, कनकशृंग, शतशृंग,[१] पुष्कर (पुष्पक), मेघशैल, विराज और जारुधि (जारुधि), उत्तर के पर्वत हैं ।

---

१. वराह पु०, अ० ७८, वायु, पूर्व० अ० ३६
वराह के पाठ में बीच बीच की कई पंक्तियां छोड़ दी गयी हैं ।
कोष्ठक के अन्दर दिये नाम वायु के पाठान्तर हैं ।

इसके बाद इन पर्वतों की घाटियों का भी वर्णन किया गया है।[1]

शीतान्त और कुमुद पर्वतों के बीच की घाटी (द्रोणी) में भांति-भांति के जीव रहते हैं और पक्षिगण कलनाद करते हैं। यह ३०० योजन लम्बी और १०० योजन चौड़ी है। इसमें एक रमणीय सरोवर भी है। उसमें विशाल सर्प रहते हैं।

श्रीसर - यह पवित्र श्रीसर है। इसमें एक श्री-निवास महापद्म है। इसके पूर्व में बिल्व-वन है जिसे श्रीवन भी कहते हैं। यहां गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, महानाग और सिद्ध रहते हैं।

विकंक और मणिशैल के बीच की दून (द्रोणी) में सौ योजन लम्बा और दो योजन चौड़ा पवित्र पंकज वन है। यह वन पिंजड़े की भांति है। यहीं प्रजापति कश्यप का आश्रम है। यहां सिद्ध-साधुगण रहते हैं। नानाश्रमों (वराह के अनुसार) तथा नाना-श्रुतियों (वायु) से यह वन सुशोभित था।

महानील और कमुम (कुमुंज) के बीच की दून में सुखा नामक नदी है जिसके तट पर सुन्दर तालवन है। यहां बड़े बड़े ताड़ के वृक्ष हैं। यहां ऐरावत हाथियों का निवास है।

आगे की वेणुमन्त-सुमेध तथा निषध-देवपर्वत के बीच की घाटियों का वर्णन है। यहां पर वराह का पाठ भ्रष्ट है। वेणुमन्त और सुमेध के बीच की घाटी में एक विशाल चौड़ा मैदान है जहां केवल हरी-हरी दूब है। यहां वृक्ष आदि नहीं हैं।

इसी प्रकार निषध और देवशैल के बीच की घाटी में थोड़ा थोड़ा पानी जम जाता है। यहां भी वृक्ष-लता नहीं है।[2]

---

[1] वराह अ० ७९ एवं वायु पूर्व० अ० ३७

[2] वराह पु० अ० ७९, वायु, पूर्व० अ० ३७

ऊपर के विवरणों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि भुवनकोश विवरण कल्पना पर आधारित नहीं है । ये प्रत्यक्ष देखने वाले ऋषियों के अनुभवों पर आधारित है । इतना वैविध्य और वैचित्र्य सत्य ही साक्षात्कार पर देखने को मिलता है । आधुनिक भूगोल-वेत्ता, वनस्पति शास्त्र और जीवविज्ञान के विद्वानों के अनुसंधान का यहां महान् क्षेत्र है ।[१]

वर्ष पर्वत

वर्ष पर्वत, महाद्वीपों के वर्षों को एक दूसरे से अलग करते हुए उन वर्षों की सीमा पर स्थित है । इन्हें वर्षों की सीमा बनाने के कारण वर्षों के मर्यादा पर्वत (वर्षाणां मर्यादा गिरयः) कहा गया है । ये पूर्व-पश्चिम में समुद्रों को छूते हुए स्थित हैं । भू-कमल की कर्णिका मेरु है जहां इलावृत स्थित है । इसके उत्तर में नील, श्वेत और शृंगवान क्रमशः रम्यक, हिरण्मय और कुरु वर्षों की मर्यादा(सीमा) पर स्थित पर्वत हैं । इसी प्रकार मेरु के दक्षिण निषध, हेमकूट और हिमवान् क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत की सीमा पर स्थित हैं ।[२]

वराह पुराण के अनुसार भी ये छः पर्वत पूर्व से पश्चिम की ओर समुद्र को छूते हुए स्थित हैं । इनके गुणों पर ही इनके नाम भी हैं ।[३]

कुल पर्वत

महाद्वीपों के सभी वर्ष कुलपर्वतों से सुशोभित हैं ।[४] ये पर्वत-श्रेणियां उन वर्षों के प्रमुख पर्वत हैं । वराह पुराण के अनुसार नवें द्वीप, भारत, के

---

[१] द्रष्टव्य, स्वामी प्रणवानन्द, कैलाश-मानसरोवर
[२] भागवत पु०, ५।१६।५-८
[३] इनका वर्णन पीछे जम्बूद्वीप में हो चुका है ।
[४] अग्नि पु०, १०८।३२ : सर्वेष्वेतेषु वर्षेषु सप्त सप्त कुलाचलाः ।
मत्स्य, ११६।२१(१)

निम्नलिखित कुल पर्वत हैं - महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वत, विन्ध्य और पारियात्र ।[1] डा० रायचौधरी के अनुसार प्रत्येक कुल पर्वत किसी देश-विशेष या जाति विशेष से सम्बन्धित है । इस प्रकार महेन्द्र कलिंग का पर्वत है, मलय पांड्य देश का पर्वत है, अपरान्त का सह्य पर्वत है, मल्लार के लोगों का देश-पर्वत शुक्तिमत है, माहिष्मती के लोगों का ऋक्षपर्वत है, आटव्य लोगों (अटवी के निवासियों) का विन्ध्य है और निषाध का पारियात्र पर्वत है ।[2]

कुछ पुराणों में सह्य के स्थान पर हेमपर्वत है ।[3] शिव पुराण में शुक्तिमत के स्थान पर सुदामा पर्वत का नाम है ।[4] स्कन्द पु० में कुल पर्वतों की तीन तालिकाएं हैं । पहली तालिका में वही पर्वत हैं जिनको हम वराह में उल्लिखित पाते हैं । दूसरी कुलपर्वत-तालिका में हेमकूट और माल्यवान् के नाम शुक्तिमान और ऋक्ष के स्थान पर मिलते हैं । तीसरी कुलपर्वत-तालिका में शुक्तिमान्, ऋक्ष और पारियात्र के स्थान पर हिमवान्, गन्धमादन और शृंगी के नाम मिलते हैं ।[5] इन कुल-पर्वतों की विभिन्न तालिकाओं से विभिन्न युगों में भारत के विस्तार का भी अनुमान किया जा सकता है । वराह की इस प्रचलित तालिका में यदि शुक्तिमत

---

१. वराह, अ० ८५, पृ० ३६५ : महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च इत्येते कुलपर्वताः ॥

२. स्ट०ज्यो०ए०, पृ० ७६-७७
ब्रह्म, १६।३, २७।१९(२)-२०(१);
मत्स्य, ११३।१७-१८(१); विष्णु, २।३।३; मार्क०, ५७।१०(२)-११(१);
गरुड़,१।५५।६; कूर्म, १।४६।२३(२)-२४(१)

३. अग्नि, १०८।२(२)-३(१): मेहन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् हेमपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥

४. शिव, ५।१८।८ : महेन्द्रो मलयः सह्यः सुदामा ऋक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ॥

५. स्ट०ज्यो०पु०, पृ० १३४

भी गोंडवाना का पर्वत माना जाय तो हमें केवल वर्तमान दक्षिण भारत[1] का ही ज्ञान होता है । इस तालिका में हिमवान्, हेम (कैलास) या सुदामा पर्वत के होने से हमारा ध्यान उत्तर की ओर[2] भी जाता है जिसमें कैलास से मलय तक (आकैलासान्मलयगिरितः -- पृथ्वी) देश का ज्ञान होता है । यही कुमारी-द्वीप अथवा भारत का विस्तार-कुमारी अन्तरीप से हिन्दुकुश (या गंगा के स्रोत तक) भी था । डा० अली के अनुसार ये पर्वत भारत के प्रमुख नदी-स्रोतों से सम्बन्धित थे - गंगा, सिंधु और लौहित (ब्रह्मपुत्र) हिमवान से सम्बन्धित हैं, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी सह्य[3] से सम्बद्ध हैं तथा ताप्ती, नर्मदा और वैतरणी विन्ध्य से सम्बन्धित हैं ।

महेन्द्र[4]

यह प्रसिद्ध और पवित्र कुलपर्वत है जहां ब्रह्मघोष से गुंजायमान परशुराम का पुण्य आश्रम था[5] (महेन्द्राचलसंस्थानम् परशुरामं) । इस आश्रम में[6] फल-फूलों से लदे वृक्ष थे । यहां परशुराम ने यज्ञ और तप किया था । यह पूर्वी समुद्र तट पर कलिंग के निकट स्थित था और इस पर्वत पर[8] मणिपुर स्थित था ।[7] रघुवंश में भी इसे कलिंग के निकट स्थित कहा गया है । स्कन्द पुराण में दक्षिण

---

1. द्रष्टव्य, गौतमी बलश्री का नासिक गुहा लेख, पं० २-३ में छः कुलपर्वतों के उल्लेख- विझ (विन्ध्य), छवत (ऋक्षवत), पारियात्र, सय,--मलय, महिद(महेन्द्र) मिलते हैं ।
2. मालव-नरेशों की उदयपुर प्रशस्ति (इं० ऐं० खं० ५३), पं० १८
3. वा०पु०, पृ० ११२-११३
4. वराह पु०, २१४।५२
5. कु०ना०प०, २।७४।८-१३
   भागवत, १०।७६।१२(१) : महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वा--- ।
6. रामा० बाल कां०, ७५।२४
   गरुड़, १२८।६
   आदिपर्व, ६४।४
7. आदि पर्व, २१४।१२-१३
8. रघुवंश, ४।३९-४३

समुद्र तट पर सेतु (रामेश्वर-रामसेतु) के निकट स्थित बताता है । वहीं से राम लंका को गये थे ।[1] रामायण के अनुसार भी मलय, ताम्रपर्णी और पाण्ड्य देश को पार कर राम समुद्र तट पर स्थित महेन्द्र पर्वत पर आये थे ।[2] वह समुद्र में स्नान करता था ।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि सेतु से लेकर कलिंग तक फैली हुयी पर्वत-श्रेणी, महेन्द्र पर्वत, आधुनिक पूर्वी घाट ही है । पार्जिटर के अनुसार यह उड़ीसा और उत्तरी सरकार (नार्दर्न सरकार) से लेकर गोंडवाना तक फैला था । गंजाम के निकट पहाड़ी आज भी `महेन्द्र मले` कहलाती है ।[4] परन्तु डा० रायचौधरी के अनुसार गंजाम से टिनेवली तक सम्पूर्ण पर्वत-माला ही महेन्द्र कहलाती थी ।[5] यह गौतमीपुत्र शातकर्णी के साम्राज्य में भी सम्मिलित स्थित था ।[6]

मलय

यह दक्षिण भारत में स्थित अत्यन्त प्रसिद्ध पर्वत था ।[7] राजशेखर के अनुसार यह दक्षिणापथ[8] में ताम्रपर्णी नदी की घाटी में स्थित था जहां चन्दन और मोती[9] बाहुल्यता से मिलते थे । राजशेखर ने इस आश्चर्यमय पर्वत (आश्चर्यं-मूलं मलय:) की अत्यधिक प्रशंसा की है ।[10] यह चन्दन-गिरि भी कहलाता था ।[11]

---

१. स्कन्द, ३।१।२।२९-३४
२. किष्किन्धा का०, ४१।१५-२०
३. वही, ४१।२१
४. मार्क० अं०, पृ० २८४
५. स्ट०ए०ज्यो०, पृ० ९९
६. गौतमी बलश्री का नासिक गुहालेख पं० २
७. वराह, २१४।५२
८. का०मी० पृ० ९३।२८
९. वही, पृ० ९२।१९-२५
१०. वही, पृ० ९३।१-८
११. वही, पृ० ९४।७

शीतलमलयानिल[1] प्रसिद्ध थी । यहां मुनि अष्टावक्र ने तपस्या की थी ।[2] सुचन्द्र नामक एक वैष्णव सम्राट् ने भी यहां पर तपस्या की थी ।[3] यह पांड्य देश (टिनेवली-मदुरा प्रान्त) का प्रसिद्ध पर्वत था । यह पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग है ।

सह्य

यह भी प्राचीन भारत का प्रसिद्ध पर्वत था जिसकी पहचान पश्चिमी घाट के उत्तरी भाग से की गयी है । इसमें ताप्ती से नीचे नीलगिरि तक पहाड़ियां सम्मिलित थीं ।[4] सह्य पर्वत देवदेवेश (विष्णु)[5] और एकवीरा देवी[6] के पुण्य स्थानों के लिए भी प्रसिद्ध था ।

शुक्तिमान

भारत के कुलपर्वतों में यह सबसे कम प्रसिद्ध पर्वत है ।[7] इसकी पहचान के विषय में मतभेद है । डॉ० रायचौधरी के अनुसार यह मध्य प्रदेश में रायगढ़ प्रान्त की शक्ति पहाड़ी से लेकर सन्थाल परगना में डाल्मा की पहाड़ियों तक फैला था, जहां बावला नदी बहती है ।[8] इसे डॉ० अली दक्षिण कोशल (वर्तमान महाकोशल) का पर्वत मानते हैं ।[9] पं० गिरीशचन्द्र अवस्थी और डॉ० अग्रवाल के अनुसार इसमें

---

[1] वराह, १४६।१०, १४, १६

[2] ब्र० वै०, ४।१।३०।१०७-११०

[3] वही, ४।१।३१।४-५

[4] स्ट०ए०ज्यो०, पृ० १०२

[5] अग्नि, ३०५।१२; गरुड़, १।८१।२७

[6] पद्म, ५।१७।२०४; दे०भाग०, ७।३०।५७
गरुड़, १।८१।२७ : सह्याद्रौ देवदेवेश एकवीरा सुरेश्वरी ।

[7] स्ट०ए०ज्यो०, पृ० १०२, नोट ४

[8] वही, पृ० १०३ (पूर्ण विवेचन पृ० १०३-१०८)

[9] जा०पु०, पृ० ११३

खानदेश की पहाड़िया सम्मिलित थीं जिसमें हैदराबाद और गोलकुंडा भी सम्मिलित था ।[1]

State Museum Library Lucknow 7225

ऋक्ष पर्वत

डॉ० रायचौधरी के अनुसार वह विशाल पर्वत जो उत्तर को दक्षिण से अलग करती हुई नर्मदा के किनारे पर स्थित है, विन्ध्य कहलाता है । महाकाव्यों और पुराणों में इसके विभिन्न भाग विभिन्न नामों से प्रसिद्ध थे । इन्हें पृथक पृथक कुलपर्वत माना गया है । ये नाम थे - ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र ।[2] इन तीनों पर्वतों का उल्लेख गौतमी बलश्री के नासिक लेख में हुआ है ।

संभवतः यहां रीछों की बहुतायत से ही यह पर्वत ऋक्ष पर्वत कहलाता था । सामान्यतः गुजरात से गया तक फैली हुई सम्पूर्ण पर्वत माला को विन्ध्य कहते थे जो नर्मदा के दोनों और फैला था । माहिष्मती नगरी के आस पास नर्मदा-घाटी के मध्य भाग के पर्वतों को ऋक्ष के नाम से उल्लिखित किया जाता था ।[3]

वायु पुराण के अनुसार विन्ध्य और ऋक्ष पर्वतों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है । श्रीकृष्ण स्यमन्तक मणि को खोजते हुए ऋक्ष पर्वत पार कर विन्ध्य पर्वत पर गये ।[4] वायु पुराण के अनुसार यह पर्वत नर्मदाकुल, मेकला और शुक्तिमती से दूर न था ।[5] यह नर्मदा की घाटी में स्थित पर्वत था और नर्मदा इसको धोती

---

१. बो० ध०, पृ० ७६८; मार्क० पु० अ०, पृ० १४४
२. स्ट० इ० ऐ०, पृ० १०८
३. वही, पृ० १०८-१०६
४. वायु, २।३४।३८; हरिवंश, हरिवंशपर्व, ३८-३२
५. वायु, २।३३।३१

हुयी समुद्र में गिरती थी ।[1] डा० अग्रवाल के अनुसार यह सल के उत्तरी सिरे से पूर्व[2] की ओर महादेउ पर्वत तक फैला था । इसमें सतपुड़ा पहाड़ भी सम्मिलित था ।

विन्ध्य

यह प्राचीन और प्रसिद्ध पर्वत है । यह पवित्र भी माना जाता था ।[3]

पारिपात्र (पारियात्र)

यह भी महत्वपूर्ण (शैलराट्)[4] पर्वत था । यह विन्ध्य पर्वत का वह भाग है जो भूपाल (मध्य प्रदेश) से पश्चिम फैला हुआ था । इसमें अरावली की पहाड़ियां भी सम्मिलित थीं ।[5]

मेरुपर्वत, मर्यादापर्वतों, वर्षपर्वतों, विष्कम्भपर्वतों, केसराचलों और कुलपर्वतों के अतिरिक्त अन्य पर्वतों (अन्ये च) को क्षुद्र पर्वत कहा गया है । इन छोटे (क्षुद्र) पर्वतों का भी महत्व कम न था । साधारणतया, सामान्य जीवन में, इन क्षुद्र पर्वतों का महत्व महान् पर्वतों से कम न था । उदाहरण के लिए चित्रकूट, श्रीपर्वत, गोवर्धन (मथुरा के निकट) और शतशृंग बहुत ही छोटे पर्वत हैं परन्तु भारतीय जीवन में वे पूज्य और पुण्य-पर्वत हैं । क्षुद्र पर्वतों से भी कम महत्व वालों को क्षुद्रतर कहा गया है । इस प्रकार अन्य पर्वतों को `क्षुद्र` और `क्षुद्रतर` नामों से दो वर्गों में बांटा गया है :-

---

[1] स्कन्द, ५।३।५।५१ : ततः सा ऋक्षशैलेन्द्रात्कैममुंजस्थलासिनी ।
विवेश नर्मदा देवी समुद्रं सरितां पतिम् ॥

[2] मार्क० पु० अ०, पृ० १४४

[3] वराह, ११३।३२, २१४।५२

[4] वही, २१४।५३

[5] स्ट०ज० ऐ०, पृ० ११५

क्षुद्रपर्वत - मन्दर, शार(अर)कुक दर्दुर, कैलास, मैनाक, वैद्युत, पाण्डुर, तुंगप्रस्थ, कृष्णगिरि, जयन्तैरावत, ऋष्यमूक, गोमन्त, चित्रकूट, श्रीपर्वत, चकोर, कूटशैल, कृतस्थल, इत्येते क्षुद्रपर्वताः ।[1] एतेषामपि च क्षुद्रतराः ।[2] परन्तु क्षुद्रतर पर्वतों के नाम नहीं दिए गए हैं। उपर्युक्त पर्वतों के नामों में भी भ्रष्ट-पाठ और भेद हैं। अतः अन्य पुराणों की तालिकाओं के साथ इनका तुलनात्मक विवेचन अभीष्ट है :-

सं०	मार्कण्डेय पु०[3]	वायु पु०[4]	ब्रह्माण्ड पु०[5]	वामन पु०[6]	वराह पु०[7]	शुद्ध और प्रचलित नाम
१.	कोलाहल	वही	वही	वही	अप्राप्य (= अप्रा०)	कोलाहल
२.	वैभ्राज	वैहार	वैहार	वही	सार	वैभ्राज और वैहार
३.	मन्दर	वही	वही	वही	वही	मन्दर
४.	दर्दुराचल	वही	वही	दुर्धराचल	वही	दर्दुर पर्वत वामन (त्रि०) में अशुद्ध नाम है
५.	वातावन	पाटन्धम	वातन्धम	वातधून	वारन्धम	
६.	वैद्युत	वही	वही	वही	वही	वैद्युत
७.	मैनाक	वही	वही	वही	वही	मैनाक

---

१. वराह पु०, अ० ८५, पृ० ३६५-३६६
२. वही, पृ० ३६
३. मार्क० पु०(कलकत्ता सं०), ५७।१२-१५, (वें०सं०) ५४।१२-१५
४. वायु, १।४५।९०-९२,
५. ब्रह्माण्ड, २।१६।२०-२३
६. वामन, १३।१६-१८
७. वराह, पृ० ३६५-३६६

८.	स्वरस	सुरस	सुरस	सुरस	अज्ञा०	सुरस
९.	तुंगप्रस्थ	गन्धप्रस्थ	वही	वही	वही	तुंगप्रस्थ
१०.	नागगिरि	अज्ञा०	वही	वही	अज्ञा०	नागगिरि
११.	रोधन	गोवर्धनगिरि	गोधनगिरि	गोवर्धनाचल	अज्ञा०	गोवनर्धनगिरि
१२.	पाण्डराचल (पाण्डुराचल)	पाण्डुर पर्वत	पाण्डुर पर्वत	अज्ञा०	पाण्डुर	पाण्डुर पर्वत
१३.	पुष्पगिरि	वही	वही	वही	अज्ञा०	पुष्प गिरि
१४.	दुर्जयन्त	उज्जयन्त	उज्जयन्त	उज्जयन्त	जयन्त	ऊर्जयन्त
१५.	रैवत	रैवतक	रैवतक	वही	एरावत	रैवतक
१६.	अर्बुद	अज्ञा०	अज्ञा०	वही	अज्ञा०	अर्बुद
१७.	ऋष्यमूक	अज्ञा०	अज्ञा०	वही	वही	ऋष्यमूक
१८.	गोमन्त	अज्ञा०	अज्ञा०	वही	वही	गोमन्त
१९.	कूटशैल	वही	वही	अज्ञा०	वही	कूटशैल
२०.	कृतस्मर	अज्ञा०	अज्ञा०	वही	कृतस्थल	कृतस्मर
२१.	श्रीपर्वत	वही	वही	वही	वही	श्रीपर्वत
२२.	चकोर	चकारु	अज्ञा०	अज्ञा०	वही	चकोर
२३.	अज्ञा०	कृष्णगिरि	वही	अज्ञा०	वही	कृष्णगिरि
२४.	अज्ञा०	अज्ञा०	चित्रकूट	वही	वही	चित्रकूट
२५.	अज्ञा०	अज्ञा०	अज्ञा०	कांचन	अज्ञा०	
२६.	अज्ञा०	अज्ञा०	अज्ञा०	अज्ञा०	कैलास	

मन्दर

यह दैवत्य (विष्णु) के समान एक पवित्र पर्वत था ।[1] विष्णु-सहस्रनाम में एक नाम मन्दर भी है ।[2] समुद्रमन्थन में मन्दर का प्रथित कार्य

---

[1] वराह पु०, ११३।३२

[2] गरुड़, १।१५।३२(१)

था ।[1] यह मेरु के साथ भी उल्लिखित हुआ है ।[2] परन्तु यहां इसका उल्लेख क्षुद्रपर्वत के रूप में हुआ है । अतः यह मेरु से सम्बन्धित (विष्कम्भक) पर्वत नहीं है ।[3] यहां इसकी स्थिति का कोई संकेत नहीं दिया गया है । रामायण में इसे पूर्व में स्थित कहा गया है ।[4] वराह पुराण में इसे शिव से सम्बन्धित बताया गया है ।[5] यह शिव का प्रिय निवास-स्थान था (मन्दरं महादेवालयं)[6] और यह हिमालय पर ही स्थित था । तपस्या करती हुई पार्वती को सान्त्वना देकर महेश्वर अपने घर को मन्दर गिरि पर चले गये थे -

ततस्तु देवप्रवरो महेश्वरः ---- सगणः सवाहनः महागिरिं मन्दरमाजगाम ।[7] यह 'गिरिवर' भी पुनः शिव को पाकर प्रसन्न हो गया ।[8] यह सुन्दर गिरिकन्दराओं से सुशोभित महाशैल (महाशैलं मन्दरं चारुकन्दरं) मन्दर श्रेष्ठ पर्वत था जो देवताओं द्वारा भी पूज्य था (धन्यो यं पर्वतश्रेष्ठः श्लाघ्यः पूज्यश्च दैवतैः) । यह रम्य गिरिप्रस्थ पद्मवर्ण की शिलाओं से सुशोभित था ।[9] यहीं सप्तर्षि भी आये थे जिन्होंने तपस्या करती हुई पार्वती को समझाया था ।[10] अतः स्पष्ट है कि शिवालय कैलासपर्वत[11] की यह शिखर-श्रेणी थी जहां

---

१. अग्नि पु०, ३।१-५, २७६।१६, वामन, ७।१०, कु० सं० ८।२३
२. गरुड़, १।२२२।४१, वराह, ११३।३२, गौतमी बलश्री का नासिक लेख पं० २
३. मेरु आदि पर्वतों को महाशैल (महाशैलान् मेरु प्राग्यान, वामन पु०, २५।३१) कहा जाता था ।
४. किष्किन्धा कां०, ४०।२५ ४०।२५
५. वराह, २२।४४-४५
६. हरिवंश, विष्णुपर्व, ८७।१-२
७. वामन, २५।७४
८. वही, २५।७५
९. वही, २६।२-५
१०. कुमारसंभव, सर्ग ६
११. वामन, २७।३-४, कुसं० ८।२३-२४

शिव और पार्वती रहते थे[१] (रम्यं महेश्वरावासं मन्दरं)[२] । इसे शिव का अपना स्थान कहा जाता था (गतः शंभुः स्वकस्थानं मन्दराचलम्)[३] । इसलिए ही यह पर्वतश्रेष्ठ[४] था । अतः यह हिमालय का ही पवित्र पर्वत था । कालिदास भी कुमारसंभव में इसे हिमालय पर ही रखते हैं ।[५] डे या अन्य लोगों ने इसकी पहचान बिहार के मन्दार पर्वत से की है, यह भूल है ।[६] हरिवंश के अनुसार भी कैलास के निकट ही[७] मन्दार पुष्पों से सुशोभित मन्दार वन में ही मन्दर पर्वत स्थित था ।[८] यह वन भी शिव जी की क्रीड़ास्थली ही है ।[९] अन्धकासुर के प्रकोप से भी शिव ने मन्दर पर्वत और इसके वन की रक्षा की थी ।[१०] यहां शिव ने अपने इस वन और पर्वत की रक्षा करते हुए अन्धकासुर को मारा था ।[११] और मन्दर पर्वत पर उमा सहित भगवान शिव पुनः विहार करने लगे ।[१२] १०

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह हिमालय पर स्थित था ⑪ और इसकी पहचान गढ़वाल में सुमेरु के पूर्व में स्थित हिमालय के इस भाग से की जा सकती है ।⑫ [१४]

२७।६१,
१. वामन, १।११, २।५-६, ४।३, २८।२६, ३७,७६, ३३।१८, ३६।३, ३७।१, ४०।४२,४४,४६,४८, ४१।५८-५९, ४२।२,४
२. वही, १६।५७, मत्स्य, ६८।१
३. वामन, ३७।१२
४. वही, ४२।१,४
५. का० भा०, १, पृ० १० ; कु०सं०, ८।२२,५९
पृ०१२४; ६. आ० हि० भा० पु० आ०, पृ० १४५
७. हरिवंश, विष्णुपर्व, ८६।३६-४१
८. वही, ८६।४२-५१
९. वही, ८६।५१-५४
१०. वही, ~~[illegible]~~ ८७।२-३८
~~११. वही, ८७।२३-३४~~ हरिवंश (विष्णु पर्व अ० ८७) में शंकरालय मन्दर गिरि के पशुओं,
~~१२. वही, ८७।३८-३९~~ वृक्षों और सौन्दर्य का वर्णन किया है। यह हिमालय पर ही स्थित था।)
११ महा० द्रोण पर्व, ८०।३३; अनुशासन पर्व १६।५३-५४; वनपर्व, १३९।५,११
१२ १४. आ० हि०, पृ० १२५

मन्दार

जिस मन्दर पर्वत की पहचान भागलपुर जिले के मन्दार पर्वत से की गयी है,[1] वह मन्दर न होकर मन्दार[2] था । वराह पुराण के अनुसार गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर विन्ध्यपृष्ठ से लगा हुआ विख्यात मन्दार गिरि सभी भागवतों (वैष्णवों) का प्रिय स्थान है (सर्वभागवतप्रियम्) ।

डे महोदय ने इसका विशद विवरण दिया है जिससे यह सिद्ध होता है कि यह मन्दार ही वराह पुराण का मन्दार गिरि था । वह लिखते हैं - " भागलपुर जिले के बंका तहसील में, भागलपुर से ३० मील दक्षिण और बंसी से दो या तीन मील उत्तर एक पहाड़ है । ---- यहां विष्णु का कूर्मावतार हुआ था । --- चोटी के पश्चिम में मधुसूदन (विष्णु) का मन्दिर था जो इस समय जीर्णावस्था में है । --- यहां अन्य भी मन्दिरों के ध्वंसावशेष हैं । --- पुकारते हैं ।"[3] इस प्रकार यह निश्चित रूप से प्रसिद्ध वैष्णव स्थान था जहां महाराजाधिराज श्री आदित्यसेन की महादेवी श्री कोणदेवी ने पुष्करिणियों को बनवाया था ।[4]

दर्दुर

यह दक्षिण भारत में मलय पर्वत से सम्बद्ध[6] (शैलौमलयदर्दुरौ)[5] प्राचीन और प्रसिद्ध पर्वत था । यह चन्दन के लिए प्रसिद्ध था[7] । पार्जिटर ने इसकी पहचान नीलगिरि अथवा `पलनी पहाड़ियों` से की है ।

---

१. जा० डि०, पृ० १२४-१२५, स्ट०ज्यो०ए०, पृ० ११६, भा०पु०अ०, पृ० १४५

२. वराह, १४३।२ : जाह्नव्या दक्षिणे कूले विन्ध्यपृष्ठ समाश्रितम् ।
मन्दारेति च विख्यातं सर्वभागवतप्रियम् ।।

३. जा० डि०, पृ० १२४

४. का०इ०इ०, ३, लेख सं० ४४-४५, आदित्यसेन देव के मन्दार गिरि शिला लेख

५. रघुवंश, ४।५१

६. सभापर्व, ५२।३४-३५

७. स्ट०ए०ज्यो०, पृ० ११६

कैलास

कुछ पुराणों में इसे मर्यादा पर्वत कहा गया है ।[1] परन्तु वराह पुराण में इसे एक क्षुद्र पर्वत कहा गया है ।[2] इसके पाद-भाग से मन्दाकिनी नदी निकलती है ।[3] ⊗ कुबेर[4] तथा यक्षों और गन्धर्वों का आवास-क्षेत्र कहा गया है । वायु पुराण में इसका सुन्दर चित्रण किया गया है ।[5] यह शिव की निवास-भूमि मानी जाती है ।[6] यहां बहुत सी धातुएं भी थीं ।[7] महाभारत के अनुसार यह हेमकूट भी कहलाता था ।[8] परन्तु वराह पुराण में कैलास और हेमकूट एक ही साथ अलग अलग उल्लिखित हुए हैं ।[9]

मैनाक

यह भी एक क्षुद्र पर्वत था जो कैलास से सम्बद्ध होने के कारण, संभवतः, कैलास के उत्तर में स्थित था ।[10] इसकी पहचान शिवालिक की पहाड़ियों से की गयी है जो व्यास नदी से लेकर गंगा तक फैली हुयी है । प्राचीन काल में इसे मैनाक कहते थे ।[11]

वैद्युत

त्रिककुद पर्वत के निकट स्थित यह पर्वत भी कैलास से सम्बद्ध था । यह धातुओं से समृद्ध पर्वत था । इसी के नीचे मानस सरोवर है जहां से सरयू नदी

---

१. विष्णु, २।२।४१, कूर्म, १।४५।३७, वायु, १।३५।१६, भागवत, ५।१६।२७, लिंग, १।४६।२२
२. वराह, अ० ८५, पृ० ३८५
३. मत्स्य, १२०।३-४ ; वायु पुराण (२|४२|१२-२४) के अनुसार भी इसके निकट मन्दाकिनी नदी बहती हुई बतायी गई है।
४. वही, १२०।२ : मध्ये हिमवतः पृष्ठे कैलासो नाम पर्वतः। तस्मिन्निवसति श्रीमान् कुबेरः सह गुह्यकैः।।
५. वायु, १।४१।१-१४
६. वराह, २३।६, २७।७, ३३।१६, ७१।४७, ~~८०।३२~~
७. वही, ६०।५
पद्म, २|३|५८(२), ८. ⊗ महा० भीष्म पर्व, ६।४१ : हेमकूटस्तु सुमहान् कैलासो नाम पर्वतः ।
९. वराह, २१४।५१ : शैलोत्तमो महापीठः कैलासो गन्धमादनः ।
हिमवान्हेमकूटश्च निषधश्च महागिरिः ।।
१०. पद्म, १।३।५६(२)
११. हि०जा०१९८०, पृ० १०५

निकलती है।[1]

वारन्धक

यह अज्ञात है। इसके पाठान्तर में वातायन का उल्लेख है जिसकी पहचान दक्षिणी बिहार के बाथन पहाड़ से की गयी है।[2]

तुंगप्रस्थ

डा० रायचौधरी के अनुसार यह तुंगा नदी के निकट मैसूर में स्थित था।[3]

कृष्णागिरि

यह वासिष्ठिपुत्र पुलुमावी के १९वें राज्यवर्ष के नासिक अभिलेख में उल्लिखित कण्हगिरि ही है।[4] यह ~~रामायण~~ में इसे विन्ध्य और सह्य पर्वत (पश्चिमी घाट) के निकट स्थित था।[5] नासिक व पूना के निकटस्थ कन्हेरी ही कृष्णागिरि कहलाता था।

जयन्त

वायु, ब्रह्माण्ड और वामन पुराणों में इसके स्थान पर उज्जयन्त पाठ[6] है जो ऊर्जयत (आधुनिक गिरनार, जूनागढ़ के निकट, सौराष्ट्र) ही है।

---

१. मत्स्य, १२०।१५-१७,
   वायु, १।४७।१४-१५
२. स्ट०ज्यो०इ०, पृ० ११९
३. वही, पृ० १२०
४. वही, पृ० ११७
५. रा० युद्ध का०, २६।३१
६. हि०ज्या०ए०इ०, पृ० ३००, स्ट०ज्यो०इ०, पृ० ११८

ऐरावत

अन्य पुराणों में इसके स्थान पर रैवतक का पाठ है। रैवतक सौराष्ट्र का पवित्र गिरि था जो ऊर्जयत (या उज्जयत) के पश्चिम में स्थित था।[1] रैवतक एक पवित्र पर्वत था जहां विविध वृक्ष, बहुवर्णशिलाएं, गुहा-कन्दराएं तथा भांति-भांति के पुष्प थे।[2] यह पवित्र क्षेत्र प्राण-त्याग क्रिया करने के लिए भी प्रसिद्ध था।[3]

ऋष्यमूक

ऋष्य पर्वत से सम्बद्ध ऋष्यमूक पर्वत पम्पा के निकट स्थित था।[4] यह तुंगभद्रा के तट पर अनगन्डी से ८ मील दूर स्थित था। यहां से पम्पा नदी निकल कर तुंगभद्रा से मिलती है।[5]

गोमन्त

इसकी पहचान गोआ से की गयी है।[6]

चित्रकूट

यह आज भी अपनी पवित्रता के लिए प्रसिद्ध तीर्थयात्रियों का मुख्य गिरि उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में स्थित है। वराह पुराण[8] के अनुसार यहां आत्रेय मुनि का आश्रम था।[7] यहां राघव राम उपास्य देव थे।

---

[1] स्कन्द, ७।२।१।६८ : सोमनाथस्य सान्निध्य ऊर्जयन्तो गिरिर्महान्। तस्य पश्चिमभागे तु रैवतक इति स्मृतः॥
[2] वराह, १४६।६६-६८
[3] वही, १४६।६६
[4] रा० किष्किन्धा का०, ९।१२५-१२८
[5] जा०डि०, पृ० १४६
[6] क०डि०म०पु०, पृ० ३२६
[7] वराह, १०।२०
[8] वही, १२।२(२) : चित्रकूटे गिरौ चित्रकूट: राघवस्य पुरा स्थिते।

श्रीपर्वत

यह श्रीपर्वत (श्रीशैल) दक्षिण का प्रसिद्ध और पवित्र पर्वत था । वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के नासिक अभिलेख (वर्ष १६) में उल्लिखित सिरिटन ही श्रीपर्वत है । यह दक्षिण भारत के कर्नूल प्रान्त में कृष्णा नदी के तट पर प्रसिद्ध और पवित्र पर्वत है ।[१] अग्निपुराण के अनुसार श्रीपर्वत[२] नर्मदा-कावेरी-संगम (एक कावेरी नामक नदी नर्मदा नदी की भी सहायक नदी थी)[३] के निकट स्थित था ।

चकोर

इसका भी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के नासिक अभिलेख (वर्ष १६) में उल्लेख हुआ है । इसकी पहचान करना कठिन है ।

कृतस्थल (कृतस्मर)

अन्य पुराणों में इसके स्थान पर कृतस्मर पाठ मिलता है । कृतस्मर ही प्रसिद्ध नाम है । कृतस्मर सौराष्ट्र का पवित्र पर्वत था, जो प्रभास क्षेत्र में समुद्र तट के निकट स्थित था ।[४]

कुलपर्वत एवं पादपर्वतों के अतिरिक्त वराह पुराण में कुछ अन्य पर्वतों के भी उल्लेख हैं । नीचे अकारक्रमानुसार इनका वर्णन दे रहे हैं :-

अस्तगिरि

कूर्मकल्प से सम्बन्धित[५] यह देश की पश्चिमी सीमा पर स्थित माना

---

[१] स्ट० ज० ऐ०, पृ० ११५

[२] अग्नि, ११३।३-४

[३] स्कन्द, ५।३।२६।६

[४] वही, ७।१।२२।२-२४

[५] वराह, ११।५२

गया है ।[1] वराह पुराण के अनुसार अस्ताचल के निकट ही मूलस्थान (मुलतान, पश्चिमी पंजाब) स्थित था ।[2]

उदयाचल

सूर्यवंश[3] से सम्बन्धित उदयाचल की पहचान पूर्वाचल[4] अर्थात् पूर्वी सीमा-गिरि से की जा सकती है । शाम्ब ने उदयाचल पर सूर्य की प्रतिष्ठा की थी ।[5] यह सूर्य-उपासना के लिए प्रसिद्ध पर्वत था । इसकी पहचान उड़ीसा के उदयगिरि पर्वत से की गयी है ।[6]

कैलास[7]

प्रसिद्ध पवित्र पर्वत है ।

गन्धमादन[8]

मेरु के पश्चिम स्थित महान पर्वत था ।[9] यह केतुमाल वर्ष में स्थित था ।[10] विशाला अथवा बद्रीनाथ के पास की पहाड़ी भी गन्धमादन कहलाती थी ।[11]

गोवर्धन गिरि[12]

यह मथुरामण्डल का प्रसिद्ध गोवर्धन ही है ।

देवगिरि[13]

यह भी गोवर्धन के ही निकट मथुरा मण्डल में स्थित था ।

---

१. ह० च०, उच्छ्वास ६, पृ० २६३
२. वराह, १७७।५३(१)
३. वही, १७७।३२, ३६(१)
४. वही, १७७।३५
५. वही, १७७।५२(१)
६. स्ट० उप०, भाग १, पृ० १०७
७. वराह, २१४।५१
८. वही, १०।४५
९. वही, ७५।३६
१०. वही, अ० ८२, पृ० ३५६
११. वही, ४८।६(२)-७(१)
१२. वही, १६४।११, १२,
१३. वही, १६४।२७

देवालय गिरि[१]

यह शालग्राम क्षेत्र में शिवतीर्थ था।

द्रोणगिरि[२]

इसकी पहचान कुमायूं (उत्तर प्रदेश में नैनीताल, अल्मोड़ा एवं पिथौरागढ़ प्रान्त) के दूनागिरि से की गयी है।[३]

नर्तनाचल[४]

यह शालग्राम क्षेत्र में सोमेश, शिवलिंग के निकट स्थित था। यहां रावण ने तपस्या की थी और नृत्य द्वारा उसने शिव (नटराज) को प्रसन्न किया था। इसीलिए इसे नर्तनाचल कहा गया है। यह बाणगंगा के निकटस्थ बाणेश्वर के पास ही था। सोमेश्वर गिरि से बाणगंगा निकलती है। अतः शालग्रामक्षेत्र (बिहार प्रदेश के चम्पारन जिले में, उत्तर की ओर, नेपाल की तराई में जहां से गंडक नदी निकलकर आगे बहती है) में सोमेश्वर गिरि अथवा इसका कोई भाग ही नर्तनाचल कहलाता था।

निषध -मेरु एवं हिमालय के साथ उल्लिखित यह महागिरि (निषधश्च महागिरिः) था।

यह महागिरि ~~(निषधश्च महागिरिः)~~ प्रत्यन्त पवित्र ~~पर्वत~~ भी था जिसकी समता विष्णु से की गयी है।[६] इसकी पहचान काबुल नदी के उत्तर और गन्धमादनपर्वत के पश्चिम में फैली हुयी हिन्दूकुश की पहाड़ियों से की गयी है जिसे यूनानी

---

१. वराह, १४४।१५
२. वही, २१४।५२
३. ज्या० डि०, पृ० ५८
४. वराह, १४४।६४-६६(१)
५. वही, ११३।३३

(५) वही, २१४|५१: शैलोत्तमो महामेरुः कैलासो गन्धमादन
हिमवान्हेमकूटश्च निषधश्च महागिरि

इतिहासकार `पैरापेनिसस` कहते थे। यही, पैरापेनिसस, `पर्वत-उप-निषद` का संक्षिप्त स्वरूप है।[1] डॉ० अली इसकी पहचान हिन्दुकुश से करते हैं।[2] अत: स्पष्ट है कि महागिरि था।

नीलगिरि

यह पवित्र पर्वत था जहां रौद्री देवी ने तपस्या की थी।[3] अत: यह कामरूप का नीलाचल पर्वत ही है जो प्रसिद्ध शक्तिपीठ था।[4]

पारियात्र

प्रसिद्ध कुलपर्वत था। इसीलिए इसे शैलराज राट् कहा गया है।[5]

पूर्वांचल[6]

पूर्वी दिशा का पर्वत जिसका तादात्म्य (पीछे) उदयाचल से किया गया है।

प्रस्रवणगिरि

यह दक्षिणापथ में जनस्थान का पर्वत था।[7] [8]रामायण के अनुसार यह गोदावरी और मन्दाकिनी नदियों के पास ही स्थित था, जिसकी पहचान औरंगाबाद की पहाड़ियों से की गयी है।[9] यह पहाड़ी गुफाओं से अभिमंडित

---

१. जा०हि०, पृ० १४१
२. जा०पु०, पृ० ५३-५४
३. वराह, ९०।३३, ९६।१
४. कालिका पु०, ६४।८४
देवी भागवत, ७।३८।१०(१)
५. वराह, २१४।५३, कुल पर्वतों के साथ वर्णन किया गया है।
६. वही, १७०।३५
७. वही, ६।२० : दक्षिणापथे --- जनस्थाने,
वही, ६।२३ : ---- प्रस्रवणेगिरौ।
८. रा० आरण्य का०, ६४।१०-१४
९. जा०हि०, पृ० १५६

आज भी सुदृश्य है। यहीं से थोड़ी दूर पाचीन प्रतिष्ठान (पैथन) स्थित था, जहां आज भी तीर्थयात्री आते हैं (दृष्टव्य, चित्र सं० ९)।

मूलगिरि

यहां वराह देव की मूर्ति स्थापित थी।[1] इसकी पहचान नहीं की जा सकती है।

मणिपूरगिरि[2]

यह प्रभास क्षेत्र के निकट ही[3] रैवतक[4] पर्वत से सम्बद्ध पवित्र पर्वत था।

मन्दारगिरि[5]

सर्वभागवतप्रिय यह वैष्णव-गिरि था (पीछे दृष्टव्य)।

माल्यवान्[6]

चित्रकूट के साथ उल्लिखित यह पवित्र पर्वत प्रस्रवण गिरि का ही एक शिखर था।[7] भवभूति ने उत्तररामचरित में[8] इसका अति सुन्दर वर्णन किया है। यह गिरि राम के जीवन से सम्बद्ध है।

---

[1] वराह, १४८।३६-४०, ७१, ८०
[2] वही, १४८।४३,६३,७५
[3] वही, १४६।३२-४१,४४
[4] वही, १४६।४४,४५,६६
[5] वही, १४४।१, अ० १४३
[6] वही, २१४।५२
[7] उ०रा०च०, १।३३
[8] वही, १।३३ के बाद गद्यांश

मुंजवन्त (मौंजवन्त)

यह महागिरि (प्रसिद्ध) था । इस पवित्र पर्वत पर स्थाणु (शिव) का अधिष्ठान था ।[१] यह शिव का वास-स्थल हिमालय पर स्थित था ।[२] यह नेपाल का प्रसिद्ध एवं पवित्र गिरि था ।[३]

महामेरु[४]

यह सुमेरु ही है जिसकी पहचान पामीर की पहाड़ियों से की गयी है ।

शतशृंग[५]

यह भी पवित्र पर्वत था जहां लोग तपस्या करने जाते थे ।[६]

शिशिरगिरि (शैशिरगिरि)[७]

यह हिमालय का नामान्तर है जिसे शैलेश्वर कहा गया है ।

श्वेतपर्वत[८]

यह इलावृत का पर्वत था । यहां ब्राह्मी देवी (कुमारी) ने तप किया था ।[९] यह हिमालय पर लोहांगल (लोहार्गल) क्षेत्र के पास भी स्थित था ।[१०]

---

१. वराह, २१३।१३।८६, २१४।८४(२)
२. वही, २१३।३०-४२
३. देवधरातल, पृ० ५७०
४. वराह, २१४।५१
५. वही, ७१।१३, ६५।४८
६. वही, स्ट० स्ना०, १, पृ० १३८
७. वही, २१६।८,९
८. वही, ९९।६६
९. वही, ९०।३१
१०. वही, १५१।२३

यहां अच्छे कुलीन घोड़ों द्वारा ही जाया जा सकता था ।[1] यह अल्मोड़ा का लोहाघाट पहाड़[2] के पास ही होना चाहिए । यह पवित्र पर्वत भी हिमालय का एक अंग था ।

इसके बाद ही नेपाल की पहाड़ियां थीं । इस प्रकार श्वेतपर्वत नेपाल के निकट ही हिमालय पर स्थित था ।

सोमगिरि[3]

यह बद्रिकाश्रम क्षेत्र में उर्वशीकुंड के निकट स्थित था ।[4]

हिमालय

इस महागिरि[5] का हिम (तुषार, बर्फ) से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसे इसके नामों - हिमवत्,[6] हिमवन्त,[7] हिमशैल[8] और हिमाद्रि - से स्पष्ट है । यह शैलराज (राजा शैलानाम्)[9] अथवा शैलपति[10] कहलाता है । यहां राजा एवं अन्य लोग तप करते थे ।[11] यह अमरों की क्रीड़ा भूमि रमणीय भूमि है[12] और भारतवर्ष इस हिमालय की रचना है ।[13]

---

१. वराह, १५१।३३
२. वि० ध०, १।८।११
३. वराह, १४१।४८
४. वही, १४१।५१
५. वही, २२।४(२), ८(१), ७१।३१
६. वही, ११।३१(१), ५१।१(२)
७. वही, १९।८, २२।२७(२), ४२
८. वही, ९८।५, १७०।६७
९. वही, २२।३८(१)
१०. वही, २१५।३८
११. वही, ६३।८, १४६।१३, १४७।३,८
१२. वही, १४४।९२
१३. रैगोज़िन, वैदिक इंडिया, पृ० ३

नदियाँ

नदियों को विश्वपोषिका माताओं (विश्वस्य मातरः सर्वाः)[1] का नाम देकर उन्हें गौरवान्वित किया गया है। पुराणों के भुवनकोश खंड में भारतवर्ष की नदियों का भी वर्णन एक निश्चित ढंग पर किया गया है। भारतवर्ष के नवें द्वीप (भारतद्वीप) के कुलपर्वतों[2] का वर्णन करने के साथ ही उनसे निःसृत नदियों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में गंगावतरण के अध्याय में भी गंगा की (४[3] अथवा ७) धाराओं - गंगा, चक्षु, सीता, भद्रा आदि- का भी वर्णन किया है। इन दोनों प्रकरणों का प्राचीन भारत के भूगोल, इतिहास और संस्कृति में विशिष्ट महत्व था। कुल पर्वतों से निकलने वाली नदियां भारत के विभिन्न देश-भागों को अभिसिंचित करती हैं और गंगा की धाराएं चक्षु (ऑक्सस) और सीता (यारकन्द, तरीम) नदियों की घाटियाँ, मध्यएशिया को भारत के साथ अभिन्न रूप से सम्बन्धित करती हैं। कुलनदियां भारत[4] के विभिन्न भागों और निवासियों को एकता के सूत्र में बांधती रही है।

वराह पुराण भी नदियों का[5] अवतरण अन्य पुराणों की भांति ही करता है (अथ नदीनामवतारं शृणुत)। यहां पहले गंगावतरण का उल्लेख है।

---

१. मार्कण्डेय, ५४।३१; ब्रह्माण्ड, २।१६।३६
२. वराह, अ० ८५, पृ० ३६६-३६७
३. वही, अ० ८२, पृ० ३५९-३६०
४. विष्णु पु०, २।३।१८ : आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सहिताः सदा।
समीपतो महाभाग हृष्टपुष्टजनाकुलाः॥
प्राचीन काल में कभी कभी ग्रामों और बस्तियों में रोहिणी के जल के लिए कलह भी हुआ है। आज भी कुछ ऐसा ही वातावरण है। परन्तु यह संकीर्ण बुद्धि का ही परिणाम है। सम्पूर्ण देश, एक ही अंग, दिव्य अंग, भूमूर्ति अथवा विष्णु का स्वरूप कहा गया है (का०मी०, अ०८७, पृ०८०/ [illegible])।
५. वराह, अ० ८२, पृ० ३५९-३६०

आकाश समुद्र से आकाशगंगा मेरु पर्वत पर गिरते ही पृथ्वी पर चार धाराओं (प्रस्खलिता चतुर्धा संजाता) में[1] विभक्त हो गयी । ये चार धाराएं सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा हैं ।

सीता - पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने इसकी[2] पहचान यारकन्द (या ज़रफ़शां) से की है, जिसे चीनी में सी[3]-तो कहते हैं । डॉ० सरकार इसकी पहचान जक्सरटस (सर दरिया) से करते हैं ।

चक्षु - यह आधुनिक ऑक्सस या वंक्षु नदी है ।[4]

भद्रा - डे[5] इसकी पहचान यारकन्द नदी से करते हैं । यह ज़रफ़शां भी कहलाती है । यह उत्तरकुरु की नदी[6] थी जिसकी पहचान विल्सन द्वारा, साइबेरिया की ओबी नदी से की गयी है ।

अलकनन्दा - भारत को पवित्र करने वाली गंगा ही है जो केदार खंड में अलकनन्दा कहलाती है ।

अमरगंडिका - इनके अतिरिक्त केतुमाल वर्ष की अमरगंडिका (अथवा अपरगंडिका) नदी और इसकी घाटी के निवासी कृष्णवर्ण के पुरुष और उत्पलवर्ण की स्त्रियों तथा पनस[7] के महावृक्षों का उल्लेख है । यह गन्धमादन पर्वत के पश्चिम में बहती थी ।

---

१. वराह, अ० ८२, पृ० ३५६
२. भारत भूमि और उसके निवासी, पृ० १२३
मार्क० पु० अ०, पृ० १३६
३. जा०र०ए०सो०, पृ० ५६
४. मार्क० पु० अ०, पृ० १३६
५. जा०डि०, पृ० ३१
६. जा०ए०र०ए०सो०, भाग १, पृ० ५६
७. वराह, अ० ८२, पृ० ३५६

पूर्व गंडिका - यह माल्यवान् के पूर्व भद्राश्व जनपद में बहती थी।[1] यहां के भद्रसालवन में कालाम्रवृक्ष, श्वेत पद्मवर्ण के पुरुष तथा कुमुदवर्ण की स्त्रियां थीं। यहीं, भद्राश्व जनपद की नदियों में सीता नदी का भी उल्लेख है।[2] भद्राश्ववर्ष (या देश) की पहचान डॉ० अली तरीम नदी की घाटी और उत्तर चीन से करते हैं।[3] इसीलिए यदि सीता नदी यारकन्द है तो भद्रा की पहचान तरीम नदी से करना उचित है। सीता (या यारकन्द) भद्रा (तरीम नदी) की एक शाखा है।

कुलनदियां (कुलपर्वतों से निकलने वाली)

हिमवत्, पारियात्र, ऋक्ष, विन्ध्य, सह्य, मलय और महेन्द्र से निकलने वाली नदियां हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तक सम्पूर्ण भारत को अभिसिंचित करती हैं।

१. हिमवत्पाद-निर्गत-नदियां

हिमालय से निकलने वाली निम्नलिखित नदियां हैं - गंगा, सिंधु, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता, विपाशा, चन्द्रभागा, सरयू, यमुना, इरावती, देविका, कुहू, गोमती, (पा० गौतमी), धूतपापा, बाहुदा, दृषद्वती, कौशिकी, निस्वीरा, गण्डकी, चक्षुष्मती और लोहिता।

ये उपर्युक्त नदियां पूर्वी अफगानिस्तान से लेकर आसाम तक फैले हुए प्राचीन, उत्तरापथ, मध्यदेश एवं पूर्व देश में बहने वाली नदियां हैं। सिंधु और इसकी

---

[1] वराह, अ० ८२, पृ० ३५६ : माल्यवत: पूर्वपार्श्वे पूर्वगण्डिका एकशृंगायोजन-सहस्राणिमानतस्ते च भद्राश्वा नाम जनपदा: ।

[2] वही, अ० ८२, पृ० ३५६

[3] जा० पु०, पृ० ६५

सहायक नदियाँ, कुहू (कुभा या आधुनिक काबुल नदी), विपाशा (आधुनिक व्यास), शतद्रु (आधुनिक सतलज), इरावती (आधुनिक रावी), चन्द्रभागा (आधुनिक चनाब) और वितस्ता (आधुनिक झेलम), उत्तरापथ की सर्व-प्रसिद्ध नदियाँ थीं। देविका भी पंजाब की प्राचीन, प्रसिद्ध और पवित्र नदी है जो जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट - शेखुपुरा जिलों में होती हुई देग के नाम से रावी में मिल जाती है।[1] यह प्राचीन मद्रदेश की मुख्य नदी थी।[2]

सरस्वती और दृषद्वती, दोनों ही, वैदिक युग की पवित्र नदियाँ हैं जो उत्तरापथ और मध्यदेश के बीच स्थित पवित्र भूमि (ब्रह्मावर्त) को सींचती रही हैं।

सरस्वती नदी प्लक्षप्रस्रवण से निकलकर विनशन (आधुनिक भटनेर) के पास बालू में लुप्त हो जाती है। फिर कई स्थानों में दृश्य-अदृश्य होती हुई सौराष्ट्र में समुद्र से मिल जाती है।[3] "प्राचीन काल में सरस्वती - घग्गर - हकरा-नारा मिलकर सरस्वती कहलाती थी"।[4] दृषद्वती (आधुनिक चितंग, घग्घर की एक शाखा) भी कुरुक्षेत्र की पवित्र तथा सरस्वती की सहायक नदी है। सरस्वती और दृषद्वती के बीच का दोआब ब्रह्मावर्त कहलाता था।[5]

गंगा, यमुना, सरयू (आधुनिक सरयू-घाघरा) और गोमती मध्य देश की पवित्र, प्रसिद्ध और प्राचीन नदियाँ हैं।

धूतपापा - बनारस प्रान्त में बहने वाली गंगा की एक सहायक नदी मानी गयी है।[6] डॉ० अली ने इसकी पहचान शारदा से की है।[7]

---

१. मार्क० पु० ३०, पृ० १४६
२. वि० ध०, १।१६७।१५ : उमादेवीति मद्रेण देविका या सरिद्वरा।
३. स्ट० ज्या० पृ० १, पृ० १४३-१४४
४. जा० पु०, पृ० ११४
५. मनु, २।१७; वि० ध०, ३।२३२।६५
६. जा० ए० सो० बं०, पृ० ४१; जा० हि०, पृ० ५७
७. जा० पु०, पृ० ११५

बाहुदा - इसकी पहचान राप्ती[1] अथवा धूमेला, बूढ़ीराप्ती या रामगंगा[2] से की गयी है। पार्जिटर के अनुसार यह रामगंगा होनी चाहिए।[3]

कौशिकी - बिहार प्रदेश की प्रसिद्ध कोसी नदी है। निस्वीरा (निश्चीरा) की पहचान लीलाजन से की गयी है जो गया के निकट मोहना नदी से मिलती है और यह मिश्रित धारा ही फल्गु नदी कही जाती है। बौद्ध साहित्य में इसे निरंजर कहा जाता है।[4] डा० सरकार इसकी पहचान उत्तरी बंगाल की तीस्ता नदी से करते हैं।[5]

गण्डकी - आज भी अपने प्राचीन नाम (गंडक) से पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रसिद्ध है।[6] यह धौलागिरि से निकल कर सोनपुर के निकट गंगा से मिल जाती है। यह अत्यन्त पवित्र नदी है (सा देवी गंडकी लोकतारिणी)।[६क] इसके दर्शन, स्पर्श, स्नान एवं इसके जल पीने से ही पाप-मुक्ति होती है।[६ख] यहां भी प्राणत्याग का महत्व था।[६ग]

लौहिता - आसाम की लौहित्य अथवा ब्रह्मपुत्र नदी है। इसे लौहित भी कहते थे।

इस प्रकार कौशिकी, निश्चीरा, गंडकी और लौहिता पूर्वदेश की प्रमुख नदियां हैं।

चक्षुष्मती के स्थान पर अन्य पुराणों में इक्षु और रंक्षु[7] पाठ भी प्राप्त होता है। डॉ० अग्रवाल के अनुसार "इस सूची की रंक्षु नदी का नाम वायुपुराण में इक्षु है जिसके चक्षु, वक्षु या वंक्षु नाम भी अन्यत्र मिलते हैं। यह निश्चय रूप से एशिया में पामीर से निकलकर पश्चिम की ओर बहने वाली महानदी वंक्षु या ऑक्सस थी।"[8]

---

१. जा० पु०, पृ० ११५
२. जा० ऐ० मे० इ०, पृ० ४१
३. अं० मार्क० पु०, पृ० २६२
४. जा० डि०, पृ० १४१
५. जा० ऐ० मे० इ०, पृ० ४२
६. जा० डि०, पृ० ६०
७. मार्क०, ५४।१८
८. मार्क० मा० अ०, पृ० १४७

(६क) वराह १४४/५२ (१)
(६ख) वही, १४४/५६
(६ग) वही, १४४/५८

सम्भवतः वक्षुमती मध्यदेश की इक्षुमती (आधुनिक ईखन या काली नदी) थी जो गंगा की सहायक है।

२. पारियात्र से निकलने वाली नदियां (पारियात्रोद्भवाः)

निम्नलिखित नदियां पारियात्र (विन्ध्य का पश्चिमी भाग) से निकलती हैं -

वेदस्मृति, वेदवती, सिन्धु, पर्णा, चन्दनाभा, नागवाचारा, रोही, पारा, चर्मण्वती, विदिशा, वेदत्रयी और अवन्ती।[1]

वेदस्मृति - यह मालवा की आधुनिक बेसुला नदी है।[2]

वेदवती - सम्भवतः यह वेत्रवती या आधुनिक बेतवा नदी ही है जो यमुना की प्रसिद्ध सहायक नदी है।

सिन्धु - यह मध्य प्रदेश की सिन्ध (काली सिन्ध) है, जो यमुना की सहायक नदी है।

पर्णा- डा० अग्रवाल के अनुसार यह वर्णाशा, आधुनिक बनास, होना चाहिए।[3] डा० अली ने इसकी पहचान पश्चिमी बनास से की है।[4]

आगे चलकर `चन्दनाभा नाशवाचारा` अथवा चन्दना, मानाश और दाचार में भी मानाश या बनास नाम मिलता है। `बनास नाम की दो नदियां हैं। एक पारियात्र या अरावला के पूरब से बहती हुयी चम्बल में जा मिली है। यह इस क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण धारा है। दूसरी अरावला के पश्चिमी ढलान से निकलकर

---

[1] वराह, अ० ८५, पृ० ३६६

[2] ज्या०ए०इं०, पृ० ४५

[3] मार्क० सा० अ०, पृ० १४७

[4] ज्या०पु०, पृ० ११६

आबू के नीचे से बहती हुयी कच्छ के रन्न में जा मिली है।[1]

चन्दना (पा०, नन्दनी, बन्धना) की पहचान साबरमती[2] और **दाधारा** (पा० सतीरा, कावेरी) की पहचान सरस्वती से की गयी है।[3]

रोही के स्थान पर अन्य पुराणों में पाठ, मही है।[4]

पारा - यह आधुनिक पार्वती नदी है जो सिंधु नदी में विजयनगर के स्थान पर मिलती है।[5] पारा और सिन्धु नदियों के संगम पर ही पद्मावती नगरी स्थित थी।[6]

चर्मण्वती - यह यमुना की प्रसिद्ध सहायक नदी, चम्बल है।

विदिशा - यह विदिशा नगर (मध्य प्रदेश) के पास बहने वाली बेस नदी है जो वेत्रवती में गिरती है।

वेदत्रयी - इसकी पहचान कठिन है।

वपन्ती - इसका तादात्म्य अवन्ती नदी से हो सकता है जिसका उल्लेख अन्य पुराणों में मिलता है।[7] पार्जिटर के अनुसार अवन्ती मऊ के पास से निकल कर चम्बल में मिलने वाली नदी है।[8] यह अवन्ती (पश्चिमी मालवा) की नदी है।

---

[1] मार्क० पा० अ०, पृ० १४७

[2] जा० ए० सो० ब०, पृ० ४५, नोट ३

[3] जा० पु०, पृ० ११९

[4] जा० ए० सो० ब०, पृ० ४५, नोट ४

[5] जा० ए० सो० ब०, १८०, पृ० १४८

[6] मालतीमाधव, ९।१

[7] जा० ए० सो० ब०, पृ० ४९, नोट ५

[8] वही, पृ० ४९, नोट ६
मार्क० पा० अ०, पृ० १४७
अं० मार्क०, पृ० २६५

३. ऋक्षपर्वत से निकलने वाली (ऋक्षप्रसूता:) नदियां

ऋक्ष पर्वत से शोण, ज्योतीरथा, नर्मदा, सुरसा, मन्दाकिनी, दशार्णा, चित्रकूटा, तमसा, पिप्पला, करतोया, पिशाचिका, चित्रोत्पला, विशाला, वञ्जुका, बालुवाहिनी (बालवाहिनी), शुक्तिमती, वीरजा, पंकिनी और रात्री नामक नदियां निकलती थीं।[१]

शोण - यह प्रसिद्ध सोन नदी है जो अमरकण्टक की पहाड़ी से निकलकर गंगा से पटना के निकट (सोनपुर के पास) मिलती है।[२]

ज्योतिरथा - यह सोन की सहायक नदी है जिसकी पहचान जोहिला से की गयी है। सोन नदी की दो शाखाओं में यह दक्षिणी शाखा है।[३] शोण की तरह यह भी अमरकंटक के पश्चिमी ढलान से निकलती है। कालिदास ने रघुवंश में ज्योतिरथा का उल्लेख किया है। वहां भी वह शोण की सहायक नदी है ---।[४] महाभारत में शोण और ज्योतिरथा के संगम को तीर्थ कहा गया है।[५]

नर्मदा - यह अत्यन्त पवित्र नदी है।[६] यह 'शिवप्रिया' रेवा नदी भी कहलाती है। शिव (लिंग) और रेवा का सान्निध्य शिव-शक्ति का स्वरूप माना गया है।[७] इसी से रेवाखंड का माहात्म्य है।[८] यह शिवनदी कहलाती है जिसके दक्षिण किनारे पर एक प्रसिद्ध नगर (शिवनद्या दक्षिणे तु कूले सुवर्णपत्तने) स्थित था।

---

१. वराह, अ० ८५, पृ० ३६६
२. ज्या० डि० ए० इ०, पृ० ४७
३. अं० मार्क०, पृ० २६६, ज्या० डि०, पृ० ८२
४. मार्क०पा०अ०, पृ० १४८ ; रघुवंश, ७।३६
५. महा०, वनपर्व, ८५।८
६. वराह, ६५।१५, २१४।४५
७. वही, १४४।३०-३४, स्कन्द पु० में रेवाखंड (५-३) में नर्मदा या रेवा और
८. वही, १७५।११ रेवा-तट पर स्थित सैकड़ों शिवलिंगों का माहात्म्य बताया गया है।

इस नगर का नाम नहीं दिया गया है। सम्भवतः माहिष्मती[1] का संकेत है जो व्यापार और विचार (संस्कृति) का प्रथित केन्द्र था।

मन्दाकिनी (वर्तमान मन्दाकिन जो चित्रकूट पर्वत के पास से बहती हुयी यमुना की सहायक नदी पयस्विनी या पयसुनी में मिल जाती है), तमसा (टोंस नदी जो इलाहाबाद के नीचे गंगा में मिली है), चित्रकूटा (चित्रकूट पर्वत से दक्षिण-पूर्व में बहने वाली छोटी नदी जो करवी के पास यमुना में मिली है),[2] और शुक्तिमती (आधुनिक केन नदी) बुन्देलखण्ड की पवित्र नदियां हैं।

दशार्णा - आधुनिक धसान है जो बेत्वा की सहायक नदी है, यह दशार्ण देश (पूर्वीमालवा) की नदी है।

पिप्पला - इसकी पहचान पैसुनी से की गयी है।[3]

करतोया - इसकी पहचान कर्मनासा[4] से की गयी है।

विशाला - इसके पाठान्तर विपाशा और विमला भी हैं। डॉ० अली ने इसे मध्य प्रदेश में सागर के पास बहने वाली बेवास बताया है।[5]

चित्रोत्पला - यह महानदी की एक शाखा अथवा पीरी के संगम से नीचे बहने वाली महानदी ही है।[6]

सुरसा, वंजुका, वालुवाहिनी, वीरजा, पंक्तिनी और रात्री नदियों की पहचान कठिन है।

---

१. दृष्टव्य, जा०ए०मे०इ०, पृ० ४६, नोट ३

२. मा०कं०भा०अ०, पृ० १५८

३. जा०पु०, पृ० ११८

४. वही, पृ० ११८

५. वही, पृ० ११६

६. जा०ए०मे०इ०, पृ० ४८, नोट १

४. विन्ध्यपाद से निकलने वाली (विन्ध्यपादोद्भवा) नदियां

मणिजाला, शुभा, तापी, पयोल्ली, शीघ्रोदा, वेण्णापाशा, वैतरणी, वेदिपाला, कुमुद्वती, तोया, दुर्गा[1], अन्त्या और गिरा नदियों को विन्ध्यपाद से निकलने वाली कहा गया है । वराह का यह नदी-पाठ अत्यन्त अशुद्ध है । `मणिजाला शुभा` विशेषण-पद हैं न कि पृथक नदी नाम है । `इत्येताः सह्यप्रसूताः` के बाद पूर्ण विराम न होकर शुद्ध पाठ होना चाहिए - इत्येताः सह्यप्रसूताः[2] मणिजलाः शुभाः । इसी प्रकार का पाठ अन्य पुराणों में भी मिलता है । इस वर्ग की नदियों में भी अन्त में `दुर्गा अन्त्या गिरा` नदियों के नाम न होकर इन नदियों की विशेषताओं[3] का उल्लेख है, यथा `दुर्गा चान्तःशिला तथा` आदि अन्य पुराणों में मिलता है ।

तापी - इनमें सबसे प्रसिद्ध तापी, आधुनिक ताप्ती नदी है । यह विन्ध्यपाद से निकलकर पश्चिम समुद्र (अरब सागर) में गिरती है ।

पयोल्ली (पयोष्णी) - पयोल्ली अशुद्ध पाठ है । शुद्ध पाठ पयोष्णी ही है । पुण्य तीर्थों[4] से सजी हुयी पयोष्णी (सुतीर्थां पुण्यां सरितं पयोष्णीम्) विदर्भ की नदी है । यह ताप्ती की सहायक नदी है जिसकी पहचान पूर्णा से की गयी है । यहां स्नान करने के बाद युधिष्ठिर वैदूर्य पर्वत और नर्मदा की ओर गये

---

[1] वराह, अ० ८५, पृ० ३६६ : ~~इत्येताः सह्यप्रसूताः ।~~ मणिजाला शुभा तापी पयोल्ली शीघ्रोदा वेण्णापाशा वैतरणी वेदिपाला कुमुद्वती तोया दुर्गान्त्या गिरा एता विन्ध्यपादोद्भवाः ।

[2] जा०ए०सो०ब०, पृ० ४६ : सह्यपादात् प्रसूतास्ता नद्यो मणिनिभोदकाः ।
वही, नोट २ : नद्योऽमलजलाः शुभाः ।

[3] वही, पृ० ५१ एवं नोट २ : दुर्गाश्चान्तः शिरा तथा दुर्गा चान्तःशिला इत्यादि इनका तात्पर्य यह है कि ये नदियां दुर्गम थीं और इनके अन्दर शिलाएं भी थीं । इसीलिए इनमें नावें भी कठिनायी से चल सकती थीं ।

[4] महा० वनपर्व, १२०।३१,३२

थे ।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदूर्य पर्वत (बीदर) पयोष्णी से अधिक दूर न था ।

वैतरणी - यह उड़ीसा की प्रसिद्ध वैतरणी नदी है, जो बंगाल की खाड़ी में गिरती है ।

इस वर्ग की शेष नदियां प्रायः अप्रसिद्ध हैं । डॉ० अली के अनुसार इनकी निम्नलिखित रूप से पहचान की गयी है -

कुमुद्वती = सुवर्णरेखा
तोया या करतोया = ब्राह्मणी[2]

५. सह्यपाद से निकलेन वाली (सह्यपादोद्भवाः) नदियां

गोदावरी, भीमरथी, मरथी, कृष्णा, वेणा, तुंगभद्रा, सुप्रयोगा, बाह्य और कावेरी नाम की नदियां सह्यपाद से निकलती हैं ।[3] इन नदियों में दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदियां, गोदावरी और इसकी सहायक नदियां तथा कृष्णा और इसकी सहायक नदियां (भीमरथी, वेणा, तुंगभद्रा और सुप्रयोगा) तथा कावेरी हैं ।

गोदावरी - यह अत्यन्त प्रसिद्ध और पवित्र नदी है । वराह पुराण में इसके मूलोदय की कथा दी गयी है । यह सह्य (पश्चिमी घाट) के त्र्यम्बक शिखर के समीप से निकल कर प्रतिष्ठान देश (प्राचीन अश्मक राज्य) में बहती है ।[4]

कृष्णा आज भी दक्षिण में अपने प्राचीन नाम से प्रसिद्ध है । सह्य से निकल कर अपनी प्रसिद्ध सहायक नदियों वेणा (वेण्वा या वैनगंगा), भीमरथी (आधुनिक भीमा) और तुंगभद्रा को साथ लेकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है ।

---

[1] महा०, वनपर्व, १२९।१४(२)-१६
[2] ज्या०पु०, पृ० १२१
[3] वराह, ७०
[4] स्ट०इन्डि०, पृ० १६४

सुप्रयोगा की पहचान वेदवती (हगरी) और वंजुला की पहचान मंजीरा से तथा बाह्या (वराह में बाह्य, बाह्य कावेरी) की पहचान वरदा से की गयी है[१]।

कावेरी - यह अत्यन्त प्रसिद्ध नदी है जो आज भी दक्षिण में पवित्र मानी जाती है।

६. मलय से निकलने वाली (मलयजा:) नदियां

शतमाला, ताम्रपर्णी, पुष्पावती और उत्पलावती मलय से निकलने वाली नदियां हैं।

शतमाला - कृतमाला के स्थान पर शतमाला का अशुद्ध पाठ है। इसकी पहचान वैगाई से की गयी है। डा० अली का विचार है कि यह माला की भांति अर्द्ध-वृत्त बनाती है। यह कोट्टम-मले शिखर से निकलने के कारण कृतमाला कहलाती है[२]।

ताम्रपर्णी - यह पाण्ड्य देश की अत्यन्त प्रसिद्ध नदी है जिसकी घाटी मोतियों और चन्दन के वनों के लिए प्रसिद्ध थी[३]।

पुष्पावती - इसकी पहचान पम्बिअर से की गयी है। पुष्पगिरि मलय-गिरि का एक भाग है[४]।

उत्पलावती - इसकी पहचान पेरियर से की गयी है। इसमें पाषाण (उत्पल) होने के कारण ही यह उत्पलावती कहलाती थी[५]।

---

१. जा० पु०, पृ० १२२

२. वही, पृ० १२३

३. प्रा० भा० भौ० स्व०, पृ० ७३
का० मी०, पृ० ४५/२८-२१; ८२/२

४. जा० पु०, पृ० १२३

५. वही, पृ० १२३

७. महेन्द्र पर्वत (पूर्वीघाट) से निकलने वाली (महेन्द्रतनया:) नदियां

त्रियामा, ऋषिकुल्या, इक्षुला, त्रिविन्दा लामूलिनी (पाठ में त्रिविन्दाला मूलिनी है) और वंशवरा महेन्द्र से निकलती हैं।[१]

त्रियामा - इसके पाठान्तर हैं - पितृसोमा, त्रिसामा, त्रिभागा[२] हैं। डॉ० अली के अनुसार घोडहड, भाव और पतम नामक ऋषिकुल्या की तीन धारायें हैं, जिनकी मिली हुयी धारा को त्रिभागा कहते हैं।

ऋषिकुल्या - यह आज भी अपने प्राचीन नाम से ही प्रसिद्ध, ऋषिकुल्या नदी है जो गंजाम में साउथ ईस्टर्न रेलवे पर स्थित बरहाम्पुर के निकट बहती है।[३]

इक्षुला - इसकी पहचान बाहुदा नदी से की गयी है जिसके तट पर इच्छापुरम स्थित है।[४]

त्रिविन्दाला मूलिनी - में त्रिविन्दा और लामूलिनी क्रमानुसार त्रिदिवा और लांगूलिनी नामक नदियों के परिचायक हैं। डा० अली के अनुसार वेगवती, नागवती और सुवर्णमुखी नामक लांगूलिनी की मिश्रित धाराओं का नाम त्रिदिवा है।[५]

लांगूलिनी की पहचान लांगुलिया से की गयी है।[६] यह आन्ध्र प्रदेश में चिकाकोल (श्रीकाकुलम) के पास बहती है।[७]

वंशवरा - इसका पाठान्तर वंशधरा (वंशधारा) है। यह आज भी वंशधारा के नाम से चिकाकोल के निकट कलिंगपटम के पास बहती है।[८]

---

१. वराह, अ० ८५, पृ० ३४६-३४७
२. जा०ए०इं०, पृ० ५३, नोट ५, जा०पु०, पृ० १२४
३. जा०ए०इं०, पृ० ५३, नोट ५
४. जा०पु०, पृ० १२४
५. वही, पृ० १२४
६. वही, पृ० १२४
७. जा०ए०इं०, पृ० ५४, नोट २
८. वही, पृ० ५४, नोट २

८. शुक्तिमत् से निकलने वाली (शुक्तिमत्प्रभवाः) नदियां

ऋषिका, लूसती, मन्दगामिनी और पलाशिनी शुक्तिमत् से निकलने वाली नदियां हैं।

ऋषिका - डॉ० अली के अनुसार शुक्तिमत्प्रभवा ऋषिका और महेन्द्र-तनया ऋषिकुल्या एक ही हैं।[1] किन्तु डॉ० सरकार इनको पृथक मानते हैं। डॉ० सरकार शुक्तिमत् से निकलने वाली ऋषिकुल्या की पहचान छोटा नागपुर में बहने वाली कोयल नदी से करते हैं। दूसरी ऋषिकुल्या गंगा की सहायक क्यूल नदी है।[2]

वराह पुराण में दोनों नदियों - महेन्द्र की ऋषिकुल्या तथा शुक्तिमत् की ऋषिका - में भेद किया गया है।

लूसती और मन्दगामिनी अज्ञात हैं।

डॉ० सरकार ने पलाशिनी की पहचान[3] छोटा नागपुर में बहने वाली कोयल नदी की सहायक, परास नदी से की है।

ऊपर हिमालय, पारियात्र, ऋक्ष, विन्ध्य, सह्य, मलय, महेन्द्र और शुक्तिमत् से निकलने वाली कुलपर्वत - नदियों का वर्णन किया गया है। यहां यह ध्यान देना है कि कुलपर्वतों में हिमालय का नाम नहीं दिया गया है। किन्तु नदी-वर्णन में इसका नाम पहले ही स्थान पर दिया गया है।

इन कुलपर्वत-नदियों के अतिरिक्त अन्य नदियों को `क्षुद्रनदियां' कहा गया है। नीचे हम अकारक्रमानुसार क्षुद्रनदियों का वर्णन कर रहे हैं।

---

[1] ज्या०पु०, पृ० १२५

[2] ज्या०ए०मे०इ०, पृ० ५४, नोट ५

[3] वही, पृ० ५५, नोट १

अचिरवती, अपरादेविका, अरुणा, कालिन्दी, कोका, कौशिकी, कृष्णागंगा, गंगा, गंडकी, गिरिनदी, गोदावरी (गौतमी), गोमती, चन्द्रभागा (चारुभागा), चर्मण्वती, चीरवती (अचीरवती = अचिरवती), जाह्नवी, तापी, ताम्रा (ताम्रारुणा), तुंगभद्रा, देविका तथा (अपरा देविका), नन्दा, नर्मदा, पर्णाशा, परनन्दा, पयोल्ली (पयायेणी), पुण्यभद्रा, पुष्पभद्रा, फल्गु, बाणगंगा, बाहुदा, भद्रा (भद्रनामा), भागीरथी, मणिवती, मन्दाकिनी, यमुना, रेवा, लोहित, वाग्मती, वितस्ता, अपरा वितस्ता, विपाशा, वेत्रवती, वैतरणी (नरक वाली), वैतरणी, सरयू, सरस्वती (नेपाल की), सरस्वती ।

अचीरवती (अचिरवती)- यह मज्झिमदेस (मध्य देश) की नदी है ।[१] `करतोया च शीता च तथा चीरवती`[२] में चीरवती नाम अशुद्ध लगता है, क्योंकि चीरवती नामक नदी अज्ञात है । तथा चीरवती में अचीरवती अथवा अचिरवती ही शुद्ध नाम प्रतीत होता है । अचिरवती बौद्ध साहित्य की प्रसिद्ध नदी है जिसके तट पर श्रावस्ती स्थित था । अचिरवती आधुनिक रापती है[३] जो इस समय गोरखपुर के पास बहती है । यह मज्झिमदेस (मध्य देश) की नदी है जो बहराइच, गोंडा, बस्ती, गोरखपुर और देवरिया जिलों में बहती हुयी सरयू में बरहज (देवरिया प्रान्त) के निकट मिल जाती है ।

अरुणा - ताम्रारुणा[४] पद में ताम्रा और अरुणा दो नदियों के नाम प्रतीत होते हैं । सम्भवतः `ताम्रा` भी अरुणा का ही विशेषण है ।[५] अरुणा नदी कुरुक्षेत्र में पृथूदक (आधुनिक पिहोआ) के निकट सरस्वती और दृषद्वती के बीच बहने वाली नदी है । कनिंघम ने इसकी पहचान `मर्कण्ड` से की है जो पिहोआ से ३ मील उत्तर-पूर्व की ओर सरस्वती से मिलती है और यहां इसे

---

१. कु०भू०, पृ० १२४
२. वराह, २१४।४७(१)
३. कु०भू०, पृ० १३१
४. वराह, २१४।४५(१)
५. जा०ए०सो०ब०, पृ० ४३, नोट २२ : ताम्रा अरुणा (ताम्रपर्णी ?)

अरुणा-सरस्वती संगम कहते हैं ।[1]

करतोया - यह पवित्र नदी है[2] जो बोग्रा, दीनाजपुर, रंगपुर (पूर्वी बंगाल) के प्रान्तों में बहती है ।[3]

कालिन्दी - यमुना[4] का नाम है । यह पवित्र नदी है जो मथुरा मण्डल की अति प्रसिद्ध नदी है ।

कोका - यह कोकामुख क्षेत्र की प्रसिद्ध नदी है[5] । यह कौशिकी (कोसी) से मिलती है और दोनों का संगम[6] पवित्र स्थान है । वराह पुराण में कोका की विशेषत: महिमा कही गयी है ।[7] ब्रह्म पुराण (अ० २२०) में भी कोका एवं कोकामुख तथा वराहदेव की[8] महिमा का वर्णन किया गया है।

कौशिकी - पूर्व देश की यह अति प्रसिद्ध और पवित्र नदी (आधुनिक कोसी) है । यह नेपाल से निकलकर बिहार के पूर्णिया जिले की पश्चिमी सीमा पर बहती है । नेपाल में यह `सन-कोसी` कहलाती है । अरुन-कोसी एवं दूध-कोसी इसकी सहायक नदियां हैं । कोकामुख तीर्थ अथवा वराहक्षेत्र नेपाल में सनकोसी के तट पर स्थित था और यह आज भी `बराह क्षेत्र` कहलाता है ।[9]

कृष्णगंगा - यह यमुना का एक नाम है[10] जो मथुरा में पवित्र तीर्थ था । यहीं कृष्ण (द्वैपायन, व्यास) का आश्रम था ।

---

१. जा०ह०ए०मे०ह०, भाग १, पृ० ३३, जा०डि०, पृ० ११
२. वराह, २१४।४७
३. जा०डि०, पृ० ६३
४. वराह, १५३।६, १५५।४३, १५७।६
५. वही, १४०।६८, ब्रह्म पु०, २१६।३ ४, १७
६. वराह, १४०।७५-७६
७. वही, १२२।१२-१५, १७-१८
८. वही, २१४।४५
९. जा०ए०मे०ह०, पृ० २२१
१०. वराह, १७५।१-४

गंगा - शिव-जटान्तर्गत गंगा[१] (जटासंस्थां गंगा तपस्विनीम्) अत्यन्त पवित्र[२] एवं महानदी है।[३] गंगाजल[४] भी पवित्र माना जाता है। यह गंगाद्वार (हरिद्वार) अथवा कुब्जाम्रक तीर्थ में अत्यन्त पवित्र थी (कुब्जाम्रके गंगां)।[५] इसमें स्नान-विधान को पुण्यकर्म माना जाता है।[६] अन्य नदियों में भी स्नान को गंगा-स्नान के समान ही (गंगास्नानफलं)[७] कहा जाता है। इसका स्मरण, दर्शन और स्पर्श भी मनुष्य को निष्पाप बना देता है।[८] इसीलिए हिन्दुओं के जीवन में गंगा का विशेष महत्व है। एक पुण्यात्मा पिता ने मरणकाल के पूर्व अपने पुत्र से उसे गंगा तट पर ले जाने को कहा। उसने वहीं अपना प्राण त्याग दिया।[९] "यह आधुनिक प्रथा है"।[१०] यह पूर्व समुद्र (महोदधि) में मिलती है और गंगा-सागर-संगम[११] भी पवित्र तीर्थ है।

गंडकी - गंगा के समान ही भुक्ति-मुक्ति-प्रदा गंडकी परम-पुण्या नदी है।[१२] यह आधुनिक गंडक है जो गंगा में सोनपुर और हाजीपुर (बिहार प्रदेश) के निकट मिलती है। गंडकी ने तीव्र तपस्या की जिससे प्रसन्न होकर हरि शालग्राम शिला के रूप में अवतरित हुए।[१३] शालग्राम-भगवान के सान्निध्य से गंडकी अति पवित्र हो गयी, जहां विविध धार्मिक कृत्यों को करणीय माना जाता है। प्राण-त्याग के लिए यह प्रसिद्ध थी।[१४] स्वयं इसका उदय भी भगवान विष्णु से बताया गया है।

---

१. वराह, ७१।३३
२. वही, ११।९, १३।४६, २२।११
३. वही, २२।११
४. वही, ७१।२९, १२५।१३५, समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ लेख, पं० ३१
५. वही, १२५।१३२-१३६
६. वही, १२५।१५२
७. वही, १४४।११०
८. वही, १४४।१११
९. वही, १६२।१३-१५
१०. रैगोज़िन, वैदिक इंडिया, पृ० १६९, चित्र १५
११. वराह, २१४।४९
१२. वही, १४४।११०-११२
१३. वही, १४४।३५-५५
१४. वही, १४४।५६-५८

तपस्या करते हुए भगवान के गंड स्थल से पसीने की बूंदें टपक पड़ीं । वही गंडकी का रूप हो गया ।[1]

त्रिवेणी - गंडकी, देविका (पंजाब की देविका से पृथक नदी) और सरस्वती (नेपाल सरस्वती) का पुण्य संगम त्रिवेणी कहलाता है जहां त्रिजलेश्वर का प्रसिद्ध अधिष्ठान स्थित बताया गया है ।[2] यहीं त्रिवेणी क्षेत्र में गज-ग्राह युद्ध हुआ था ।[3] यह नेपाल के पुण्यक्षेत्र, श्लेष्मातक वन (नेपाल)[4], में बहती है ।[5]

गोदावरी (गौतमी) - दक्षिण भारत की सर्वश्रेष्ठ और पवित्र महानदी है । दंडकारण्य में गंगा की अवतार-रूपा ही गौतमी या गोदावरी नदी है । एक बार दुर्भिक्ष के समय कुछ ऋषिगण दंडकवन में गौतम ऋषि के आश्रम पर आये थे । गौतम ने उस आपत्तिकाल में उन सबको आश्रय-आहार दिया । किन्तु दुर्भिक्ष के बाद जब वे जाने लगे तो गौतम ने उन्हें जाने न दिया । उन ऋषियों ने न माना और शांडिल्य ने आश्रम में एक ऐसी गाय को रच दिया जो गौतम के पानी छिड़कने से ही मर गयी । अब वहां से ऋषिगण गौतम को गो-हत्या का पाप लगाकर चले गये । गौतम ने हिमालय पर तपस्या की और भगवान् शंकर को प्रसन्न कर उनसे उनकी जटा-संस्थिता गंगा की एक जटा लेकर वह अपने आश्रम चले आये । उन्होंने इस जटा को उसी स्थान पर छोड़ दिया, जहां पर गाय मर गयी थी । यहां एक धारा फूट पड़ी जो गोदावरी (या गौतमी) कहलायी ।[6] तब से दंडकारण्य (महाराष्ट्र) में गोदावरी गंगा की भांति पूजी जाती है ।[7] यह गोदा (गोदान के समान पुण्यदा) कहलाती है ।

---

[1] वराह, १४४।६२-६४
[2] वही, १४४।८३-८५
[3] वही, १४४।११२-१३३
[4] हि० जा० डि०, पृ० ११३, ग० डि०, पृ० १८८
[5] वराह, २१५।१२ इत्यादि
[6] वही, ७१।१०-३७
[7] वही, ६७।१७

गोमती(एवं नैमिषगोमती) - गोमती भारतवर्ष की पवित्र नदी थी । पंजाब की शतद्रु (सतलज) और देविका, सिन्धु, वितस्ता (झेलम) एवं चन्द्रभागा (चनाब) के साथ उल्लिखित गोमती भी पंजाब की वैदिक नदी गोमती (आधुनिक गोमल, जो सिन्धु नदी की सहायक नदी) है । यह भी पवित्र नदी थी ।[१]

सम्भवत: पंजाब की गोमती से भेद करने के लिए ही उत्तर प्रदेश की गोमती को नैमिष गोमती[२] कहा गया है । यह नैमिषारण्य (उ०प्र०, सीतापुर प्रान्त) में बहती है, जहाँ आज भी प्रत्येक अमावस्या को हजारों तीर्थिक स्नान करते हैं ।

चर्मण्वती - एक पवित्र नदी[३](आधुनिक चम्बल) है ।

चारुभागा का उल्लेख वितस्ता के साथ हुआ है ।[४] अत: यह चन्द्रभागा (चनाब) ही प्रतीत होती है जो पंजाब की प्राचीन, प्रसिद्ध और पवित्र नदी है ।

चीरवती[५] अज्ञात है । यह अचीरवती (या अचिरावती) मानी गयी है ।

जाह्नवी[६] गंगा का ही नाम है ।

तापी पवित्र नदी (सरिदुत्तमा)[७] थी । यह आधुनिक ताप्ती है।

तुंगभद्रा - यह पवित्र नदी[८] कृष्णा की सहायक नदी है । यह पितृतीर्थ[९] था ।

---

[१] वराह, ९७।१६(२)-१७(१) : शतद्रुञ्च ततो गत्वा देविकाञ्चमहानदीम् ।
वितस्तां चन्द्रभागाञ्च गोमतीं सिन्धुमेव च ।।

[२] वराह, १३।४६

[३] वही, २१४।४७

[४] वही, २१४।४५

[५] वही, २१४।४७(१)

[६] वही, ९९।७७,८०, १२५।१३५, १४४।६६(२)

[७] वही, २१४।४६

[८] वही, ९७।१७

[९] मत्स्य, २२।४५

देविका[१]—शतद्रु, चन्द्रभागा और वितस्ता के साथ उल्लिखित[२] देविका एक प्रसिद्ध एवं पवित्र नदी है जिसकी पहचान रावी की सहायक नदी दीग (देग) से की गयी है। आरुणि ऋषि ने इस नदी के तट पर तपस्या और भगवान् नारायण की पूजा की थी।[३]

देविका नाम की एक अन्य नदी थी जो गंडकी से मुक्तिक्षेत्र-हरिक्षेत्र[४] (बिहार में चम्पारन जिले में बाघा के पास हरिपुर) में मिलता है।

सरजू का दक्षिणी भाग देविका या देवा कहलाता है और उत्तरी भाग काली नदी कहलाता है जो कमायूं क्षेत्र में बहती है। गोमती और सरजू के बीच भी देविका नाम की नदी का उल्लेख है। गंडक, देविका (सरजू) और गंगा का संगम त्रिवेणी कहलाता है, जहां गज-ग्राह युद्ध हुआ था।[५]

नन्दा - नन्दा एक पवित्र नदी कही गयी है।[६] पद्मपुराण के अनुसार यह पुष्करारण्य की पवित्र नदी थी।[७] यह खर्जुरीवन के निकट बहने वाली सरस्वती ही नन्दा कही गयी है।[८] इसके तट पर अनेक तीर्थ थे। इस प्रकार यह सरस्वती ही थी (नन्दा नाम सरस्वती) जो पुष्कर (राजस्थान में अजमेर के निकट) में बहती थी।[९] परन्तु वराह पुराण की इस तीर्थ-तालिका में नन्दा एवं परनन्दा के अतिरिक्त सरस्वती का भी उल्लेख है।[१०]

---

१. वराह, ३७।३९, २१४।४८
२. वही, ९७।१७
३. वही, ३७।७-१२
४. वही, १४४।११२
५. जा० कि०, पृ० ५५
६. वराह, २१४।४७
७. पद्म, ५।१८।२४८-४५३
८. वही, ५।१८।४६५-४६६
९. वही, ५।१९।१, स्कन्द पुराण में भी खर्जुरीवन में सरस्वती नन्दा कहलाती थी। स्क० पु०, भाग १, पृ० १५३-१५४
१०. वराह, २१४।४४-४७

भागवत पुराण में नन्दा को अलकनन्दा के साथ सम्बन्धित किया गया है (नन्दा चालकनन्दा च सरिती)।[1] वराह पुराण की नन्दा और परनन्दा क्रमशः नन्दा और अलकनन्दा ही हैं जो नन्दप्रयाग के पास (पौड़ी-गढ़वाल में) मिलती हैं। यहां परनन्दा ही अलकनन्दा (अलकापुरी में भूतेशगिरि के पास बहने वाली) है। दोनों का एक साथ उल्लेख - नन्दा च परनन्दा च - उनके संगम का परिचायक है।

नर्मदा - यह अत्यन्त पवित्र नदी[2] और तीर्थ[3] है। यह ऋक्षपर्वत से निकलने वाली कुलपर्वत नदी है।

पयोष्णी भी पवित्र[4] कुलपर्वत नदी है।

पर्णासा[5] (आधुनिक बनास, राजस्थान) भी पवित्र नदी है जो चम्बल की सहायक नदी है। इसकी घाटी में विकसित प्रागैतिहासिक सभ्यता का विवेचन डा० वी० यन० मिश्र (पूना, डेकन कालेज) ने किया है।

पुष्यभद्रा, पुष्पभद्रा एवं पुष्पोदका की निश्चत रूप से पहचान नहीं हो सकी है।

पुष्यभद्रा[6] एवं पुष्पभद्रा[7] एक ही हैं। मूल में `प` को ही `य` मान लिया गया है जिससे पुष्पभद्रा ही पुष्यभद्रा हो गयी।

पुष्पभद्रा नदी हिमवान् के पास बहती थी जिसमें शिला- चित्रशिला प्राप्त होती थीं। यहीं एक वट-भद्रवट था जहां सुन्दर ऋषि-आश्रम था।[8]

---

1. भागवत, ४।६।२४
2. मत्स्य, अ० १८५- अ० १९३ में नर्मदा माहात्म्य, ब्रह्म वै०, ३।२८।२६, अग्नि, अ० ११३, कूर्म, ~~पूर्व०~~ उत्तरभाग, अ० ३८, स्कन्द पु०, रेवाखंड (५-३)
3. वराह, २१४।४५
4. वही, १८७।१०१-१०२
5. वही, २१४।४८
6. वही, ५१।२
7. वही, ६८।५, १३
8. वही, ५१।१-२

पुष्पभद्रा भी हिमाद्रि के उत्तरपाद में बहती थी और उसमें भी चित्रशिला नामक शिलाएं एवं न्यग्रोध (महावट) था जहां तपस्वी सत्यतप का आश्रम था । अतः पुष्पभद्रा और पुष्पभद्रा एक ही है ।[1] इसकी पहचान करना कठिन है । सम्भवतः इसकी पहचान शैलोदा नदी से हो सकती है जो सीता और चक्षु नदियों की बीच बहती थी ।[2]

फल्गु - यह गया क्षेत्र की पवित्र नदी है[3] जिसके तट पर गदाधर का तीर्थ एवं देवायतन था ।[4]

बाणगंगा - यह पवित्र नदी स्नान के लिए रावण द्वारा उत्पन्न की गयी थी । उसने बाणों से सोमेश के दक्षिण में शालग्राम गिरि को वेध दिया था जिससे जल की धारा फूट पड़ी और यह धारा ही बाणगंगा के नाम से प्रसिद्ध हुयी ।[5] अतः बाणगंगा, शालग्राम के निकट ही, सोमेश के दक्षिणसे निकलती है ।

नेपाल की तराई में तौलिहवा (कपिलवस्तु) के निकट ही बाणगंगा बहती है ।

बाहुदा - यह एक पवित्र नदी है ।[6] यह एक कुलपर्वत नदी है ।

भागीरथी[7] - यह गंगा का नाम है । यह धर्मारण्य (गया के निकट पवित्र वन में बहती थी।[8]

मणिवती - यह पवित्र नदी वाग्मती की सहायक नदी है । दोनों नदियों का संगम पवित्र तीर्थ था ।

---

१. वराह, ९८।५-६
२. मत्स्य, १२०।१६-२३,
   किष्किंधा का०, ४३।३०-३८
३. वराह, ९७।१६
४. गरुड़, १।८३।९८
५. वराह, १४४।६३
६. वही, २१४।४५
७. वही, ~~११६~~, ७१।३३ (८) वही, ५।१८०
८. वही, २१५।१०६, ११०

मन्दाकिनी - यह पवित्र नदी हिमालय पर केदारखंड में गंगा की ही एक धारा है।[1]

मथुरा में भी असिकुंड के निकट मन्दाकिनी तीर्थ था।[2]

यमुना - यह प्राचीन और प्रसिद्ध नदी मथुरा मण्डल की पवित्र नदी थी।[3] रम्य यमुना जिसे वैवस्वतसुता (सूर्य-सुता) भी कहते थे, प्रयाग में गंगा के संगम में वेणी कहलाती थी। इसके किनारे पवित्र तीर्थ स्थित थे।[4]

रेवा - यह नर्मदा है। रेवा ने तप से शिव को सन्तुष्ट कर वर प्राप्त किया था। यह शिव की जलमयी मूर्ति है। इसके निकट शिवलिंगों के महत्व से रेवा खंड प्रसिद्ध है।[5]

लोहित[6] - यह पवित्र ब्रह्मपुत्र नदी है।

वाग्मती - यह हिमाद्रिजा नदी गंगा के समान ही पवित्र थी। इसमें स्नान करने से पाप नष्ट हो जाते हैं।[7] यह नेपाल की पवित्र नदी है जो काठमांडू के पास बहती है।

वितस्ता - एक ही सूची में वितस्ता का नाम दो बार आया है।[8] उल्लेख में दूसरी बार कहा गया है - वितस्ता च तथापरा।[9] इससे सिद्ध होता है कि इस नाम की दो नदियां थीं। एक वितस्ता तो पश्चिमी पंजाब में प्रसिद्ध वितस्ता (आधुनिक झेलम) है जो झंग (पाकिस्तान) के नीचे चन्द्रभागा या चनाब से मिलती है।

---

१. वराह, १२५।२३
२. वही, १६०।५८
३. वही, १३७।२४६(२)
४. वही, १५२।२८-३०
५. वही, १४४।३०-३४
६. वही, २१४।४६
७. वही, २१५।४६-५०, ६७-७१, १०६-११०
८. वही, २१४।४५-४८
९. वही, २१४।४८

विपाशा[1] - विपाशा भी पवित्र नदी थी जो पूर्वी पंजाब में शतद्रु (सतलज) की प्रसिद्ध सहायक नदी व्यास है। इन दोनों का सान्निध्य - शतद्रुश्च विपाशा च[2] -उनके संगम का सूचक है।

वेणी - यह दक्षिण भारत की नदियों के साथ उल्लिखित हुयी है (गोदावरी च वेणी च तापी च--)।[3] यह कृष्णा की सहायक नदी है और दोनों की मिश्रित धारा कृष्णा-वेणी[4] कहलाती है। खारवेल के हाथीगुंफा लेख में इसे कण्हवेणा कहा गया है।[5]

वेत्रवती[6] - वेत्रवती (आधुनिक बेतवा) पारियात्र से निकलने वाली नदी है।[7] यह मालवा से निकलकर कालपी (उत्तर प्रदेश) के पास यमुना में मिल जाती है।

वेत्रवती के उदर से उत्पन्न वेत्रासुर का वध देवी ने किया था।[8]

वैतरणी - उड़ीसा की वैतरणी है जिसे कुलमर्वतनदी कहा गया है।

वैतरणी[9] - यह नरक की नदी है।

शतद्रु[10] - यह कुलमर्वत नदी (सतलज) है।

शरभंगा नदी - यह पवित्र नदी हिमालय में लोहागंल क्षेत्र में शरभंग कुंड से निकलने वाली कही गयी है।[11] यह कमायूं (उ०प्र०) में लोहागंल (लोहाघाट,[12] प्रान्त अल्मोड़ा, उ०प्र०) की नदी है।

---

१. वराह, २१४।४६
२. वही, २१४।४६(१)
३. वही, २१४।४६(२)
४. स्कन्द, २१४।४।२४, ~~२।७।४७।३३, स्ट०इ० पु०, १, पृ० १४४-१४५~~ २।२।३४।१०
   ज्या०कि०, पृ० २६.
५. सं०इ०, अभिलेख प० ६१, पं० ४
६. वराह, २८।८, १०
७. मार्कण्डेय, ५४।२०
८. वराह, २८।१३-२७
९. वही, २०२।८
१०. वही, १३।४६, ६७।१६, २१४।४६
११. वही, १५१।६८
१२. जा०ए०सो०ब०, पृ० २२०

शीता[1] - सम्भवतः यह सीता नामक प्रसिद्ध नदी (यारकन्द अथवा जक्सरटज़) ही है।

सरयू - महानदी सरयू[2] एक पवित्र नदी है जो हिमालय से निकलकर अयोध्या के पास बहती है, जहाँ यह अत्यन्त पवित्र मानी जाती है।

सरस्वती - यह अत्यन्त पवित्र नदी (पुण्या सरस्वती)[3] मानी गयी है। मथुरा में भी सरस्वती संगम नामक प्रसिद्ध तीर्थ था[4]।

सरस्वती-ब्रह्मणी[5] - नेपाल की पवित्र नदी है जिसका गंडकी और देविका के साथ संगम त्रिवेणी कहलाता है।

बिहार प्रदेश के चम्पारण्न जिले में भैंसालोटन नामक स्थान के पास भी त्रिवेणी प्रसिद्ध संगमस्थल और प्राचीन स्थान है।

नेपाल की पवित्र नदियाँ - श्वेतगंगा, गंडकी, कृष्णा और त्रिशूलगंगा नेपाल की पवित्र नदियाँ हैं।

महादेव की जटाओं में स्थित श्वेतगंगा की पहचान गंगा से ही हो सकती है।[6]

त्रिशूलगंगा - गंडकी और कृष्णा का संगम पवित्र था[7] और यही मिश्रित धार त्रिशूलगंगा कहलाती है। यह संगम सिद्धाश्रम कहलाता है।

इनमें गंडकी सर्व प्रसिद्ध नदी है। इसका एक भाग कालीगंगा कहलाता है जो त्रिशूल नामक नदी है से मिलने के बाद नेपाल में नोआकोट-घाटी में बहती हुयी त्रिशूलगंगा कहलाती है।[8] इस प्रकार गंडकी का ही एक भाग कालीगंगा या कृष्णा तथा कृष्णा और त्रिशूल नदियों की मिली धार त्रिशूलगंगा कहलाती थी।

---

१. वराह, २१४।४७
२. वही, १८७।१०२, २१४।४४
३. वही, १३।४६, २१४।४५
४. वही, १६०।४८(१),५६
५. वही, १४५।८२-८५
६. वही, १४५।८३
७. वही, १४५।८४-८५
८. जा० कि०, पृ० २०७

वन श्री

प्राचीन भारतीय संस्कृति और विचारों का विकास अरण्यों में हुआ था । वृक्ष ही जीवन के विविध-अंगों को, लकड़ी, पुष्प, फल, छाल एवं औषधियों से पुष्ट करते हैं (द्रष्टव्य, पंचमहायज्ञ) । अतः वराह पुराण की यह मान्यता अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वृक्ष भी पंचमहायज्ञ करते हैं ।[1] नीचे हम इन वनों का वर्णक्रमानुसार उल्लेख कर रहे हैं -

दण्डकवन - यह गौतमी-गोदावरी की घाटी में स्थित दक्षिणापथ का वन था, जहां गौतम ऋषि का आश्रम था ।[2]

दारुवन[3] - यह आनर्त देश[4] का पवित्र वन था । इसका उल्लेख केदार के साथ[5] भी होने से यह हिमालय का वन प्रतीत होता है ।

धर्मारण्य - यहां धर्म का निवास था । इसलिए इसे धर्मारण्य कहते थे ।[6] यह गंगा (भागीरथी) के तट पर स्थित था । यहां आत्रेय ब्राह्मण वेदाभ्यास और तप करता था ।[7] कई धर्मारण्य थे - (१) गया क्षेत्र में, (२) बलिया-गाजीपुर प्रान्तों में, (३) मिर्जापुर जिले में विन्ध्याचल के निकट, (४) हिमालय पर तथा (५) राजस्थान में कोटा के निकट ।[8] कूर्म पुराण में उल्लिखित धर्मसिद्धिप्रद धर्मपद वन हिमालय पर मन्दाकिनी नदी के किनारे स्थित था । यहां वेदाभ्यास और तप में जुटे हुए योगी-मुनिगण भी थे ।[9] अतः यही धर्मारण्य उपयुक्त प्रतीत होता है ।

---

१. वराह, १७२।३८-४२
२. वही, ७१।१०, ३७
३. वही, ३३।२१
४. स्कन्द, ५।१।३४।६-१०, जा० डि०, पृ० ५३
५. वराह, ६७।१८ : नेपालञ्च ततो गत्वा ततो रुद्रमहालयम् ।
ततो दारुवनं गत्वा केदारगमनम्पुनः ।।
६. वही, ३२।२६
७. वही, ५।१८-१९
८. जा० डि०, पृ० ५६-५७
९. कूर्म, १।१४।२२-२८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नैमिषवन - यह अत्यन्त पवित्र और प्रसिद्ध वन है जो गोमती के तट पर (उत्तर प्रदेश में सीतापुर[1] प्रान्त में नीमसार) स्थित है । इसके सान्निध्य से गोमती भी नैमिषगोमती कहलाती[2] है । यहां गौरमुख ऋषि का पुण्य[3], रम्य और ऋषियों से पूर्ण आश्रम था । यहां शिष्य साम-घोष कर रहे थे । एक बार, राजा दुर्जय[4] यहां आया । गौरमुख ने उनका स्वागत-सत्कार किया । भगवान् के प्रसाद से उसने सिद्ध मणि प्राप्त की, जिसकी सहायता से उसने उनकी और उनकी सम्पूर्ण सेना की भोजनादिक की व्यवस्था की । राजा ने उस मणि को बलपूर्वक छीनना चाहा । ऋषि की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने चक्र से दुर्जय का निमेष मात्र में वध कर डाला (निमेषान्तरमात्रेण समग्रं भस्मसात्कृतम्)[5] । इसीलिए वह नैमिषारण्य कहलाया । यह ब्राह्मणों[6] की बस्ती बन गयी । यहां भगवान् यज्ञपुरुष (विष्णु) ही आराध्य थे । यह भगवान् विष्णु की यज्ञमूर्ति ही स्तुत्य थी । राजा अश्वशिर राज्य[7] त्याग कर नैमिष वन में तप से यज्ञमूर्ति विष्णु को प्रसन्न करने चले गये थे । अन्त में वह `तल्लय` हो गये ।

मथुरा - यहां १२ वन प्रसिद्ध तीर्थ थे ।[8]

श्लेष्मातक वन[9] - यह नेपाल का पवित्र वन है ।

---

१. वराह, १२२।१२, १५२।१०, १५३।५

२. वही, ~~१०।६८-७२~~ १३।४६

३. वही, १०।६८-७२

४. वही, ११।१०७-१०८

५. वही, ११।१०९-११० : एवं कृत्वा ततो देवो मुनिं गौरमुखन्तथा ।
उवाच निमिषेणेदं निहतन्दानवंकुलम् ।।
अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेवं नैमिषारण्य संज्ञितम् ।
भविष्यति यथार्थं वै ब्राह्मणानां निवेशनम् ।।

६. वही, ११।१११

७. वही, ५।४६-४७

८. वही, १५३।३०-४१

९. वही, २१५।१२, १३-३४, ३५, ११५, २१५।११

उपसंहार

भूगोल (धरा) इतिहास का आधार है । पुराणों ने विश्व के रूप में विश्वतनु (विष्णु) को पुरुष रूप में मानकर उससे ही सृष्टि का वर्णन किया । उनका भूगोल-वर्णन कल्पना पर आधारित न होकर प्रत्यक्ष-अनुभवों पर आधारित था । हिमालय और इसके उस पार सीता, चक्षु, तथा भद्रा नदियों की घाटियों का वर्णन महत्वपूर्ण है । यह मध्य एशिया का वह क्षेत्र था जहां भारतीय संस्कृति के अवशिष्टों - अभिलेखों, कलाकृतियों, मठों-विहारों आदि[1] - ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि यह भू-भाग भारती का प्रभाव-क्षेत्र था । वराह पुराण भद्राश्व देश (चीन) का अगस्त्य के साथ विशेष सम्बन्ध दिखलाता है । अगस्त्य वहां अपना मत प्रचारित करते हुए दिखायी पड़ते हैं ।[2] अगस्त्य का प्रभाव दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में सुविदित है ।[3] दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में होकर ही सामुद्रिक मार्ग द्वारा लोग चीन जाते थे । गोकर्ण की रत्नद्वीप की सामुद्रिक यात्रा और उसमें दुर्वात का प्रकोप फ़ाह्यान की ऐसी ही यात्रा को आंखोंसामने प्रस्तुत करता है । क्या यह सम्भव नहीं था कि दक्षिणपूर्व एशिया से अगस्त्य का प्रभाव चीन में भी पड़ता ? अगस्त्य की समुद्र-सोखने की कथा का यही भाव है कि उन्होंने समुद्र को स्थल की भांति सुगम्य बना दिया । अगस्त्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमते थे (अटन्नहं महीं सर्वां) । वे मेरु के पास स्थित इलावृत को भी गये थे । वहां तपस्वी एवं उसकी कुटी आदि भी थी ।[4] ऐसा ही एक पुण्य क्षेत्र हिमालय के उस पार अन्य भी जो

---

१. सर आरियल स्टीन, सर-इंडिया, ५ वाल्यूम्स, प्रथम भाग, भूमिका आदि
वही, ऐन्शेन्ट खोतान

२. वराह, ४६।६-४२, ५०।१-३ इत्यादि, ५१।५-२६ इत्यादि

३. मजूमदार, १९७०, पृ० २२०
वही, पृ० ५२५; डॉ० आर०सी० मजूमदार कहते हैं कि " जावा में अगस्त्य पूज्य और श्रद्धा के पात्र थे । अभिलेखों में उनकी पूजा का उल्लेख है ।"

४. वराह, ६६।३-७ इत्यादि

कलापग्राम के नाम से प्रसिद्ध था । कल्पग्राम (कलापग्राम) को सिद्ध मार्ग से ही जाया जा सकता था (तत्र सिद्धा हि गच्छन्ति ते न तत्र गतिर्भवेत्)[१] । सिद्ध मुनिगण आत्म-योगबल से ही वहां जाते थे ।[२] यह मार्ग की दुर्गम दशा का ही परिचायक है । स्कन्द पुराण के अनुसार कलापग्राम हिमालय के उस पार बालुकार्णव[३] (गोबी के रेगिस्तान) में स्थित था । वराह पुराण ऐसी ही यात्राओं का उल्लेख करता है ।

लोकेश्वर-मुनि[४] नारद की श्वेतद्वीप-यात्रा[५] अति प्रसिद्ध है । वाराह-भुवनकोश के वक्ता शिव ने सम्पूर्ण पृथ्वी (सप्तद्वीपवतीं पुण्यां वसुन्धराम्) का भ्रमण किया था । महेन्द्र पर्वत, समुद्र, गंगा, सरस्वती, शतद्रु, देविका, वितस्ता, चन्द्रभागा, सिन्धु, तुंगभद्रा, गोदा, गंडकी,[६] नेपाल, केदार, गया आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में घूमते हुए उन्होंने तीर्थयात्रा की थी । प्राचीन काल के ऋषि-मुनि इसी प्रकार घूमते रहते थे और अपने अनुभवों को सुनाते या लिखते थे । पुराणों में तीर्थों का माहात्म्य इन्हीं अनुभवों पर आधारित है । आज पृथ्वी-प्रदक्षिणा हो रही है ।[७] वराह पुराण ने प्राचीन पृथ्वी-प्रदक्षिणा का इतिहास बतलाया है ।

राजनीतिक भूगोल के दृष्टिकोण से राजा दुर्जय की जम्बूद्वीप विजय[८] महत्वपूर्ण है । यह पाल सम्राट् धर्मपाल[९] की विजयों का स्मरण दिलाता है । काश्मीर, कोशल, कान्यकुब्ज (पांचाल), प्राग्ज्योतिष, कलिंग, कांची राज्य एवं सौराष्ट्र प्रसिद्ध राज्य थे । इन राज्यों अथवा जनपदों का उल्लेख प्रासंगिक रूप से ही हुआ है । यहां जनपदों की नामावली उपलब्ध नहीं होती है । इस प्रकार वराह पुराण से उपलब्ध भौगोलिक विवरण प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं ।

---

१. वराह, १४२।६
२. वही, १४२।१०
३. स्कन्द, १।२।५।३१-३४; स्क०का०पु०, १, पृ० ६
४. वराह, ६२।२४
५. वही, ४४।३
६. वही, ६७।११-२०
७. वही, १५८।८, ३४, १५६।२-११
८. वही, ३० १०, १०।३५-४५, दुर्जय को पूर्वदेश का सम्राट् कहा गया है
वही, १६।५ : दुर्जयेन जितो धात्रि देवराजः शतक्रतुः ।
भारते हि तदा वर्षे वाराणस्यान्तु पूर्वतः ।
आश्रित्य संस्थितो देवैः सह पद्मानलोदगैः ।।
९. धर्मपालदेव का खालिमपुर ताम्रफलक, श्लो० २५-२८

अध्याय ३

वाराही राज्यव्यवस्था एवं राजधर्म

पार्थिवैः क्रियते नृपैः पालनव्यवस्था ।

- वराह, आ०७४, पृ० ३३१

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारतीय राज्य-तन्त्र के अध्ययन में वराह पुराण का महत्व

प्राचीन भारतीय राज्य-तन्त्र और शासन पद्धति के मूल स्रोतों में पुराणों का यथेष्ट महत्त्व है । इसी लिए विद्वानों का ध्यान पुराणों की ओर भी गया है ।[1] डा० जायसवाल के अनुसार " पुराणों में मौलिकता नहीं है । पुराणों में कुछ प्रसिद्ध ग्रंथकारों के कतिपय अध्यायों का उद्धरणमात्र है । उदाहरणार्थ अग्नि पुराण में पुष्कर नामक एक ग्रंथकार के ग्रंथ से अनेक बातें लेकर रख दी गयी हैं ।"[2] डा० अल्टेकर का विचार है कि " पुराणों में कुछ अध्याय राज्यशास्त्र की चर्चा करते हैं, किन्तु वहाँ प्रायः धर्मशास्त्र के विचारों का, केवल सारांश मिलता है ।"[3]

परन्तु वराह पुराण में राजधर्म-खण्ड (राज्यशास्त्र सम्बन्धी अध्याय) नहीं हैं । अधिकांशतः उन्हीं पुराणों के राजनीति सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है जिनमें राजधर्म-खण्ड उपलब्ध होता है । इसलिए यहाँ राजसिद्धान्तों

---

1. काणे, ध०शा०इ०, द्वितीय भाग, पृ० ५८४
   पांचाल, जि०इ०पि०आर०, अ० १८, पृ० ३२६-३३६, अ० २४, पृ० ४३८-४४८
   डा० बेनीप्रसाद, थे०ग०ए०इ०, अ० ७, पृ० १८५-२०१
   अल्टेकर, प्रा०भा०शा०प०, पृ० ६२, नोट १, पृ० ६६, नोट १-३, पृ. ७१नोट २
   डा० बी०बी० मिश्र, `पालिटी इन दि अग्नि पुराण`
   डा० कुडपिक-स्टनेक, `चाणक्य-नीति शाखा सम्प्रदाय`
   डा० दशरथ शर्मा, `पोलिटिकल थाट इन दि अग्निपुराण,` पु०वाल्यूम ३, सं० १
   डा० रामनारायण प्रताप सिंह, हिं० भा० ए०, पृ० ३,४
   डा० शिवदत्त ज्ञानी, अग्नि व स्ट०
   अवस्थी, स्ट०स०पु०, अ० ३, पृ० २३२-२७२, ग०पु०अ०, अ० ४, पृ० ७६-१११
   डा० डी०आर० पाटिल, क०वि० वायु पु०, अ० ३, पृ० ४७-५४
   डा० वा०डी० कन्टपाला, क०वि० मत्स्य पु०, अ० ४, पृ० १०३-२५३
2. वि०रा०व०, पृ० ८, वि०पा०, पृ० ६
3. प्रा०भा०शा०प०, पृ० १७

का विवेचन विधि-पूर्वक एक ही स्थान पर नहीं मिलता है । इसके लिए सम्पूर्ण वराह पुराण के विविध अध्यायों और आख्यानों में बिखरी हुयी सामग्री का संकलन कर राज्य और इसके अंगों का महत्व तथा शासन-व्यवस्था का विवेचन किया गया है ।

नीति का महत्व

वराह पुराण वैष्णव पुराण है जिसमें विष्णु की महिमा का वर्णन मिलता है । एक स्तोत्र में ‘नीतियुक्त सुशासन’[1] के लिए विष्णु की वन्दना की गयी है । वे ‘चक्र-पाणि’ विष्णु व नय का पालन करने वाले (नयस्थितं)[2] भी थे । वे ‘क्षितीधर’ और ‘क्षितिभृत्’ तथा पालक महावराह भी थे ।[3] इस प्रकार वराह पुराण कुछ सिद्धान्तों - नीतियुक्त सुशासन, शत्रु-दमन (चक्र) और नय सिद्धान्त की मर्यादा - का उल्लेख करता है । इन सिद्धान्तों का मूर्त रूप विष्णु[4] ही है ।

शत्रु-विजय के बाद की गयी स्तुति में असुर-संहारिका देवी को ही नीति कहा गया है ।[5] भगवद्गीता में कृष्ण भी अपने आपको विजिगीषुओं (जीतने की इच्छा रखने वालों) के लिए नीति कहते हैं । वे अपने आपको दमन करने वाला

---

[1] वराह, ८।४३

[2] वही, ८।४५
का०इ०इ०, ३, पृ० ६१,६५, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिला लेख, पं० २६ :
चक्रं बिभर्ति रिपु ---- ।
वही, पृ० २१९,२२०, सर्ववर्मन का आसीरगढ़ मुद्रा लेख, पं० २ :
प्रभुः चक्रधर इव --- ।
वही, ४, पृ० ९९, जयभट चतुर्थ का काबी ताम्रपत्र लेख, पं० ४ :
नारायण इव सुदर्शन चक्रापितविपक्षः ।

[3] वराह, ८।४६

[4] विष्णु पु०, १।२२।१९-२२

[5] वराह, २८।३४ : ‘त्वं नीतिरस्त्वं महाभागे --- ।’

दंड[1] भी कहते हैं। राजधर्म में नीति के साथ साथ दंड का महत्त्व[2] था।

राजधर्म का महत्त्व

परन्तु दंड का समुचित प्रयोग आवश्यक था।[3] इसीलिए दंड को धर्म भी माना जाता था।[4] वराह पुराण के अनुसार राजकर्म में दण्ड का प्रयोग राजधर्म[5] पर आधारित था अर्थात् दण्ड का प्रयोग राजधर्म के सिद्धान्तों के अनुसार होता था। इसीलिए राजाओं (प्रजापालों) के लिए राजधर्म का ज्ञान होना आवश्यक था, क्योंकि उद्दत, अहितकारी और कुमार्गी लोगों को दंड देना उनका धर्म था।[6] यहाँ ऊपर, राजा के लिए प्रयुक्त शब्द `प्रजापाल` का वही अर्थ है जो प्रजापति[7] का है। भोज प्रथम का जन्म प्रजापति के रूप में हुआ था। अतः प्रजापति - प्रजा के रक्षक और उन्नायक - की आवश्यकता थी। प्रजापति का कर्तव्य भूमि की पालन व्यवस्था था। `मनुस्वायम्भुव के बाद प्रत्येक कल्प में राजाओं द्वारा भूमि की पालन-व्यवस्था की जाती रही है (एवं स्वायम्भुवे न्तरे भुवनप्रतिष्ठा कल्पे कल्पे तथैव -- पार्थिवैः क्रियते भूमेः पालन व्यवस्था च)`[8]। भूमि-~~व्यवस्था~~ पालनव्यवस्था ही प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था है जिसे `नीति`, नय, नीतिशास्त्र, दंडनीति, अर्थशास्त्र, राजधर्म, राजशास्त्र आदि द्वारा समर्थन मिला है।

---

१. गीता १०।३८ : दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

२. मनु, ७।१४-१५

३. वही, ७।१६-१७

४. वही, ७।१८

५. वराह, १२६।१३२ : ते दण्ड्याश्चैव वध्याश्च राजधर्माधिवर्तिनः ।
तथापि राजधर्मा वै कर्तव्यो राजकर्मणि ॥

६. वही, १२६।१२९-१३१

७. मेदिनी कोश, तान्तवर्ग, २१०(१) : प्रजापतिश्च दक्षादौ महीपाले विधातरि।

८. वराह पु०, अ० ७४, पृ० ३३१

अतः शासकों के पथ-प्रदर्शन के लिए ही नीति[1] अथवा नीतिशास्त्र,[2] नय[3] अथवा नयसिद्धान्त[4] और राजधर्म[5] की प्रतिष्ठा हुयी थी । इसे अर्थतत्व[6] भी कहते थे । मंत्री और राज-कुमारों आदि के लिये इनका ज्ञान होना आवश्यक था ।

यह सत्य है कि पुराण प्राचीन राजशास्त्र के मौलिक ग्रन्थ नहीं हैं, परन्तु निस्सन्देह, पुराणकार प्राचीन राजशास्त्र, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के चिन्तकों के विचारों और वाक्यों में युग की आवश्यकताओं के अनुसार सुधार करते रहे हैं ।[7] अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण पर भी धर्मशास्त्रों[8] का प्रभाव पड़ा है । वराहपुराण अर्थशास्त्र से भी अपरिचित न था । राजा के जीवन में भी विद्या रूपी चक्षु का विशेष महत्व था (नास्ति विद्यासमं चक्षुः)।[9] क्षत्रिय सम्राट् `वेदशास्त्रार्थविद्या`[10] में दीक्षित होते थे । सम्भवतः अर्थविद्या अथवा अर्थतत्व का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से था (नीतिशास्त्रार्थतत्वज्ञम्)[11] । धर्मशास्त्रकारों में मनु, विष्णु और बृहस्पति के नाम विशेष रूप से उल्लिखित हुए हैं ।[12] इन स्मृतियों में भी राजधर्म का विवेचन किया गया है ।[13]

---

[1] वराह, ८।४३
[2] वही, १३७।१७५
[3] वही, ८।४५
[4] वही, ६६।५८(१)
[5] वही, १२६।१३२
[6] वही, १३७।१७५
[7] द्रष्टव्य, डा० लुडविग स्टर्नबैक, चाणक्य नीति शाखा सम्प्रदाय, गरुड़ पुराण में बार्हस्पत्य नीति (ग० पु० अ०, पृ० ७६, स्कन्दपुराण में महाभारत की नीति (स्क० पु० पृ० २४२- २४४)
[8] वराह, १३७।११८(१)
[9] वही, १५३।२६(१)
[10] वही, १०।३०
[11] वही, १३७।१७५
[12] वही, १३७।११४-११७
[13] मनु, अ० ७, विष्णु स्मृति १ (व्यवहार कांड), अ० ३, राजधर्मः बृहस्पति स्मृति, १, अ० १

अन्य पुराणों और धर्मशास्त्र के ग्रन्थों की भांति वराह पुराण राज्य तथा उसके अंगों - (राजा, राजमहिषी, राजपुत्र, उत्तराधिकार, अभिषेक, राजलक्षण, राजवृत्त, गुण, व्यसन और राजकार्य), अमात्य और उनके गुण, बल (सैन्य), दुर्ग, मित्र, कोश, राष्ट्र - और शासन-व्यवस्था पर महत्व पूर्ण प्रकाश डालता है ।

राज्य और इसकी उत्पत्ति

भारतवर्ष की राजनीतिक परम्परा में मनुष्य के सर्वांगीण विकास तथा सुखसमृद्धि के लिए राज्य को आवश्यक माना गया है ।[1] राज्य के बिना जीवित-संरक्षण और पुरुषार्थसाधन हो ही नहीं सकता है ।[2] प्राय: सभी चिन्तकों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति अराजक और अव्यवस्थित समाज में शान्ति, सुरक्षा और सुख-समृद्धि के लिए हुयी । भारत के प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य को आवश्यक माना है, परन्तु उन्होंने राज्य की उत्पत्ति की विवेचना नहीं की है । ऐतिहासिक युग के आरम्भ से ही भारत में राज्य विद्यमान रहा है, परन्तु सर्व प्रथम इसकी सृष्टि कब और किन परिस्थितियों में हुयी, इन प्रश्नों का समाधान किसी भी साधन से नहीं होता ।[2] परन्तु प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलते हैं कि समाज और देश में मर्यादा स्थापित हुयी । प्राचीन ऋषियों ने `ऋतं च सत्यं च` (ऋत् को) ही आगे चलकर धर्म माना था । धर्म ही रक्षक था । राजा तो धर्म गोप्ता, दंडधर था । मनु के अनुसार मर्यादा अथवा सभी प्राणियों का रक्षक धर्म - वृषो हि भगवान धर्मः - था । परन्तु विधाता ने इसके साथ ही इसका संरक्षक दण्ड भी जोड़ दिया । धर्म तो राज्य या मर्यादा (शक्ति) थी और दण्ड (राजा) इसका रक्षक । इस प्रकार प्राचीन राजसिद्धान्त धर्म और दण्ड अर्थात् क्रमशः राज्य और राजा के स्वरूप, शक्ति तथा कार्य और इसके परिणाम का वर्णन करते हैं ।

---

१. रा० रा० ध्व०, पृ० १

२. प्रा० भा० प०, पृ० ३१

३. म० रा० ध्व०, पृ० ११

मानव-समाज ने किसी न किसी प्रकार के राज्य (स्टेट), शासन संस्था (गवर्नमेन्ट) और विधि (ला) की कल्पना की है, क्योंकि इसके बिना समाज का अस्तित्व ही संकट में पड़ सकता है। --- हीगेल, कार्लमार्क्स और हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थों में `स्टेट` शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ हैं। राजदर्शन के आधुनिक `बृटिश-स्कूल` में `स्टेट` शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण केन्द्रीय सत्ता और नियामिका शक्ति के लिए होता है। इस प्रकार `स्टेट` एक व्यवस्थित शक्ति (ऐन आरगनाइज़्ड फ़ोर्स) है।[१] यह मेकियावेली[२] का दिया हुआ अर्थ था जिसके अनुसार अपने क्षेत्र (राष्ट्र) में वह सर्वोच्च संस्था और नियामिका शक्ति थी।

राज्य के विषय में प्राचीन भारतीय साहित्य में भी हमें इससे मिलते-जुलते विचार प्राप्त होते हैं। नीतिवाक्यामृत[३] के प्रारम्भ में त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के फल को देने वाले जिस राज्य की वन्दना की गयी है, वह राज्य, राष्ट्र की परमोच्च संस्था थी। स्कन्द पुराण के अनुसार धर्म की रक्षा के लिए लोक में मर्यादा स्थापित की गयी थी। धर्म के नष्ट होने से अधर्म बढ़ जाता है और सम्पूर्ण `लोक` निरंकुश हो जाता है। निरंकुश होकर सम्पूर्ण प्रजा वह मर्यादा का उल्लंघन करती है। अतः लोक-कर्ता पितामह ने महर्षियों के साथ शास्त्र के अनुसार मर्यादा स्थापित की थी।[४] प्रायः सभी प्राचीन भारतीय चिन्तकों का

---

१. जार्ज यच सबाइन, हि०पो०थ्यो० पृ० ३५१

२. मैकियावेली इटली का प्रथित चिन्तक था जिसका जन्म फ्लोरे में १४६६ ई० में हुआ था। उस समय यह देश कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। अव्यवस्था और अन्याय ने उसकी आत्मा में प्रवेश कर उसे अपने देश को प्रपीड़न से बचाने के लिए प्रेरित किया। वह स्वदेश को पराधीनता से मुक्त कर सशक्त करना चाहता था। यही दशा भारतवर्ष में चाणक्य-कौटिल्य के समय भी थी।

३. नीतिवा०, १।१ : अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।

४. स्कन्द पु०, ५।३।१४६।३६-४१
ध्यान दीजिए कि यहाँ दैवी शक्ति, महर्षियों और शास्त्र-तीनों से सम्मत मर्यादा बनी थी।

यही मत है कि मर्यादा के अभाव से लोक-संकट और निरंकुशता का राज्य हो जाता है ।[1] इस प्रकार राष्ट्र और लोक की सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए मर्यादा की परमावश्यकता है । ऊपर स्कन्द पुराण ने इस मर्यादा की स्थापना का श्रेय ब्रह्मा और महर्षियों को दिया है जिन्होंने शास्त्र-सम्मत-दृष्टि (शास्त्रं वीक्ष्य) को भी ध्यान में रखा । दंडी ने इसे आगम-दीप-दृष्टि कहा है ।[2] इस प्रकार ‘स्टेट’ या राज्य ही मर्यादा (नियामिका, शासिका और संरक्षिका शक्ति) थी, जिसकी स्थापना (और संरक्षण) के लिए ही दण्डनीति का प्रवर्तन हुआ ।[3] इस मर्यादा को ही दंडी ‘अध्वन्’[4] (मार्ग) और मनु ‘धर्म’[5] कहते हैं । इसे ही हम ‘स्टेट’ अथवा ‘ऐन आर्गनाइज्ड फोर्स’ (व्यवस्थित शक्ति) कह सकते हैं ।

विष्णु पुराण में भी इस मर्यादा की स्थापना का इतिहास मिलता है । ब्रह्मा ने प्रजा की सृष्टि की और चारों वर्णों की स्थापना की । सतयुग में प्रजा शुद्धाचरण वाली थी । त्रेतायुग में उसके आचार में गिरावट आ गयी । यह अधर्म का बीज ही था जो लोभ और राग से बढ़ने लगा । अब उन्हें जो सहज सुख (सिद्धियाँ) प्राप्त था, उसमें बाधाएँ उत्पन्न हो गयीं । अब शीत-घाम से बचने के लिए घर बनाये गये । सुरक्षा के लिए दुर्ग और पुर भी बनाये गये । जीविका के लिए कृषि का आलम्बन लिया गया । इस प्रकार प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि और वार्ता की प्रतिष्ठा की तथा सबके लिए मर्यादा स्थापित की ।[6]

---

[1] नीतिवा०, १६।१६

[2] द०कु०च०, उ० ८, पृ० २५३-२५४

[3] मत्स्य, १४१।७४ : मर्यादास्थापनार्थं च दण्डनीतिः प्रवर्तते ।

[4] द०कु०च०, उ० ८, पृ० २५४ : आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा । —

[5] मनु, ७।१४

[6] विष्णु, १।६।३२, द्रष्टव्य, विष्णु, १, अ० ६
यह मर्यादा वर्णाश्रम-धर्म (सामाजिक व्यवस्था) और धर्म (ध्यान, उपासना आदि) थी जिनमें लोग स्वधर्म-पालन करते हुए सुखी थे ।

पुन: प्रजापति ने अपने से ही अपने समान स्वायम्भुव `प्रभु` को उत्पन्न कर प्रजा पालन के लिए मनु को नियुक्त किया -

ततो ब्रह्मात्मसंभूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभु: ।
आत्मानमेव कृतवान्प्रजापाल्ये मनुं द्विज ।।[१]

इस प्रकार प्रजा की सृष्टि के बाद उसकी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना स्वयं प्रजापति द्वारा हुयी । यह `व्यवस्था` अथवा मर्यादा धर्म ही के नाम से प्रसिद्ध हुयी । मनुस्मृति में भी बताया गया है -

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वर: ।।[२]

राज्य की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए भीष्म कहते हैं[३] कि प्रारम्भ में (कृतयुग में) जिस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुयी, उसे सुनो । एक ऐसा युग था जब मानव-समाज में न राज्य था न राजा, और न दण्ड था न दण्ड देने वाला ही, समस्त प्रजा धर्म के द्वारा ही परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे ।[४] इस प्रकार धर्म ही प्रजापालक था । परन्तु यह अवस्था बनी न रह सकी । प्रजा में मोह, लोभ, काम, राग आदि व्यसनों के उत्पन्न होने से धर्म का नाश हो गया (धर्मो नाशमथागमत्)[५] । पुन: त्राण पाने के लिए उस प्रजापति ब्रह्मा ने त्रिवर्ग

---

१. विष्णु, १।७।१६

२. मनु, ७।१४

३. शान्ति पर्व, ५९।१३ : नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषत: ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगे भवत् ।।

४. वही, ५९।१४ : न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिक: ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ।।

५. शान्ति पर्व, ५९।१५-२१

(धर्म, अर्थ और काम) तथा षड्वर्ग-नीति (आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहाय)[१] पर आधारित मर्यादा अथवा आर्य-वर्त्म (सन्मार्ग) की स्थापना की। इस मर्यादा, धर्म अथवा मार्ग की स्थापना इसीलिए की गयी थी कि लोग सत्पथ से विमुख न हों।[२]

पालक धर्म की उत्पत्ति

वराह पुराण भी धर्म की उत्पत्ति[३] का वर्णन करता है। प्रारम्भ में ब्रह्मा ने प्रजा की सृष्टि करने के बाद उसके पालन के विषय में चिन्तन किया (पालनं च विचिन्तयन्)।[४] इस समस्या का ध्यान करते समय उनके दक्षिण अंग से श्वेत-माल्यानुलेपन से सुशोभित और श्वेत कुण्डल पहने हुए पुरुष का जन्म हुआ। उस चतुष्पाद-वृषाकृति, भगवान (पुरुष) को देख कर ब्रह्मा ने उससे कहा कि तुम इस प्रजा का पालन करो (पालयेमाः प्रजाः)।[५] इस प्रकार चतुष्पाद धर्म को प्रजा-पालन के लिए नियुक्त किया गया। यह चतुष्पाद (चार पैरों वाला) धर्म वृष ही था और इस धर्म-वृष[६] के चार पाद जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया (गुणद्रव्यक्रियाजातिचतुष्पादः)[७] थे। इन चारों पादों से युक्त धर्म ही सभी द्वीपों और वर्णों का शासक था।

परन्तु इस व्यवस्था[८] के बाद प्रभु धर्म सोम द्वारा पीड़ित होकर घोर वन में जाकर छिप रहा। इस प्रकार धर्म के लोप हो जाने के कारण मर्यादा

---

[१] शान्ति पर्व, ५९।३०,३२
[२] वही, ५९।७४
[३] वराह पु० अ० ३२, ३२।१ : अथोत्पत्तिं प्रवक्ष्यामि धर्मस्य महतो नृप।
[४] वही, ३२।२
[५] वही, ३२।३-४
[६] वही, ३२।७
[७] वही, ३२।५-७
[८] वही, ३२।९-१०, सोम ने इस धर्म का अतिक्रमण कर आंगिरस की पत्नी के साथ दुराचार किया था।

नष्ट हो गयी और देवासुर संग्राम छिड़ गया ।[1] पुनः `सम-स्थिति` (अर्थात् मर्यादा) की रक्षा के लिए ब्रह्मा धर्म को वन से ले आये ।[2] सभी ने वृषरूपी प्रजापति[3] की स्तुति की ।[4] इस स्तुति में इस विश्व-पालक धर्म को समाज की सर्वोच्च शक्ति (प्रभु) कहा गया है जिसके न रहने से संसार का अस्तित्व ही मिट जाता है और सभी लोग उन्मार्ग (अन्मार्ग) पर चलने लगते हैं । अतः धर्मोत्पत्ति ही राज्य की उत्पत्ति है ।

इस प्रकार महाभारत, मनुस्मृति, पुराणों तथा दशकुमार चरित से ज्ञात होता है कि मानव समाज में प्रजापति ने एक `मार्ग` या मर्यादा स्थापित की थी जिससे संसार में विषमता न होकर सम-स्थिति बनी रहे । इस मर्यादा का रक्षक और लोक-पालक धर्म ही था । यह सबका शास्ता, गोप्ता और नियामक था । यह शासन-संस्था ही राज्य थी । दशकुमार चरित से ज्ञात होता है कि शुक्र, आंगिरस, विशालाक्ष, बाहुदन्तीपुत्र और पराशर आदि तन्त्र-कर्ता थे (तन्त्रकर्तारः शुक्रांगिरसविशालाक्षबाहुदन्ति पुत्रपराशर प्रभृतयः)[5] । कौटलीय अर्थशास्त्र भी मनु, बृहस्पति, उशनस्, भरद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन (नारद), कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, कात्यायन, कणिक-भारद्वाज,[6] चारायण, घोटमुख, किंजल्क और पिशुन-पुत्र, आदि आचार्यों का उल्लेख करता है । इन नीतिशास्त्र के विचारकों ने राष्ट्रचिन्ता की थी ।

---

१. वराह पु० अ० ३२, ३२।१२

२. वही, ३२।१४-१६

३. वही, ३२।२५

४. वही, ३२।२०-२५

५. द० कु० च०, उ० ८, पृ० २४६

६. शा० अ० शा०, पृ० ५, १२,१३,२८२

सप्तांगम्

सत्य ही महाभारत में राज्य को एक महान् तन्त्र कहा गया है (राज्यं हि सुमहत् तन्त्रं)[1] । प्रायः सभी प्राचीन विचारकों ने सात अंगों वाले (सावयव) राज्य (सप्तांग राज्य)[2] की कल्पना की थी । ये सात अंग हैं - स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, बल और मित्र ।[3] वराह पुराण में इन अंगों के नाम बिखरे हुए मिलते हैं । ये निम्नलिखित हैं -

स्वामी[4], राजा[5], अमात्य[6], बल[7], कोश[8] (कोष)[9], मित्र[10], दुर्ग[11] और राष्ट्र[12] । अन्य ग्रन्थों में इनके नामों के क्रम में भेद देखा गया है ।[13] परन्तु यहां एक साथ इनकी सूची न मिलने के कारण इनके तुलनात्मक महत्व पर विचार नहीं किया जा सकता । परन्तु इन सभी अंगों में राजा या स्वामी ही श्रेष्ठ था । शेष सभी अंग राजा में ही प्रतिष्ठित थे ।[14] इसीलिए राजा को स्वामी भी कहा गया है ---- यह सत्य ही ' स्वामी शब्द राज्य की सार्वभौम सत्ता 'सावरेन्टी' का बोधक है । -- राजा के अर्थ में स्वामी का ही प्रयोग किया गया है ।'[15]

---

[1] शान्तिपर्व, ५८।२१(१)
[2] वराह, १२२।५८
[3] मनु, ९।२९४, याज्ञवल्क्य १।३५३, विष्णु १।३।३३, कौ० अ० ६।१, कामन्दक, १।१८, भागवत, ६।१४।१७-१९, अग्नि २३३।१२, मत्स्य, २१९।१९
[4] वराह, १९५।१२
[5] वही, १०।७६, ११।७२, १३७।१९८
[6] वही, १३७।१७३,१७९
[7] वही, १२२।६१,६२
[8] वही, १२२।६१
[9] वही, १२२।५८,६२
[10] वही, १२२।५९
[11] वही, १२२।१४
[12] वही, १०।७६
[13] म० रा० व्या०, पृ० १२
[14] वराह, १२२।५८,५९
[15] म० रा० व्या०, पृ० १३

राज्य शब्द सम्पूर्ण सप्तांग राज्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[१] और यह राष्ट्र[२] अथवा भूखंड के लिए भी प्रयुक्त हुआ है । सात अंगों को सात प्रकृति भी कहते थे ।

राजा के अतिरिक्त राष्ट्र भी महत्वपूर्ण अंग (राज्ञः सराष्ट्रस्य)[३] था । कौटिल्य ने `राजा-राज्य व्यसन` पर विचार करते हुए (अधि० ८, अ० २) लिखा है, `राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः`[४] अर्थात् सप्तप्रकृति वर्ग को संक्षेप में दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, यथा- `राजा और राज्य`। एक बार शूरसेन के सम्राट् चित्रकेतु के यहाँ अंगिरा ऋषि आये । राजा से पूजित होकर मुनि अंगिरा ने राजा से पूछा - `क्या तुम और तुम्हारे प्रकृतिवर्ग कुशल से हैं (अपि ते नामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथात्मनः)?` जैसे जैसे पुरुष (जीव) सात प्रकृतियों से आवृत रहता है, उसी प्रकार राजा भी सात प्रकृतियों द्वारा घिरा रहता है ।[५] जैसे राजा अपनी प्रकृतियों के अनुकूल रहने पर सुखी रहता है, उसी प्रकार प्रकृतियाँ भी राजा के अनुवर्तन से सुख-समृद्धि का अनुभव करती हैं ।`[६] इस प्रकार भागवत पुराण भी सात प्रकृतियों और राजा में परस्पर सहयोग तथा सद्भावना को राष्ट्र के सुख के लिए श्रेयस्कर मानता है । यह प्रचलित चिन्तक अंगिरा का मत है । सत्य ही, राज्य-क्षेम के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है । जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य और सुखी रहने के लिए उसके अंगों में परस्पर सहयोग आवश्यक है, उसी प्रकार राज्य के अंगों में भी सहयोग की नितान्त आवश्यकता है ।[७]

---

१. वराह, १२२।५८
२. वही, ६४।६, १२२।६२, १३७।१६३, २१७
३. वही, १८२।३०
४. कौ० अ०, ८।२। प्रकरण १२८
५. भागवत, ६।१४।१७ , का०नी०, ४।७५
६. भागवत, ६।१४।१८
७. द्रष्टव्य, महा० शान्ति पर्व, ३०८।१४८-१५६, ३२०।१५७
का० नी०, ४।१-२, अग्नि, २३९।१

राजत्व

राजा का महत्व

राजा सर्वं लोकनमस्कृत: ।

राजा ही राष्ट्र का प्राण है । राष्ट्र की शक्ति ही राजा है ।[1] अत: राजा का धर्म-वत्सल (राजा धर्मवत्सल:)[2] होना आवश्यक है । धार्मिक राजा ही लोक-वन्दित होता है (राजा सर्वं लोकनमस्कृत:)[3] । राजा वेन और पृथु के इतिहास यही बताते हैं कि वेन के समान अधार्मिक और दुर्बुद्धि राजा की निन्दा होती है । उसे अपने जीवन और राज्य से भी हाथ धोना पड़ते हैं । साथ ही पृथु के समान धर्म-रक्षक राजा (गोप्ता धर्मस्य राजा सौ)[4] सर्वलोक नमस्कृत होता है (नमस्कार्य: पृथुवैन्य:) । आदिराज पृथु इतने प्रभावशाली थे कि वे सभी प्राणियों, ब्राह्मणों, राजाओं, सैनिकों और वैश्यों द्वारा भी वन्दनीय हैं ।[5] पृथु का यश राजाओं के लिए आदर्श बना रहा ।[6] इसी प्रकार मूर्ख कुराजा[7] निन्द्य था ।

अत: धर्म-कर्म में परायण, परमधार्मिक[8] राजाओं का होना अभीष्ट था ।

---

१. स्कन्द, ६।२०६।२५ : मृतं राष्ट्रं अराजकं ।
स्क०का०पु०, पृ० २४०
ग०पु०अ०, पृ० ८२
२. वराह, २१५।७५
३. वही, २१२।६
४. वायु, २।१।१०६(२)
५. वही, २।२।५-१०
६. सं०इ० नं० ८, स्कन्दगुप्त का भिटरी स्तंभ लेख श्लोक १
७. वराह, ४६।२०(१) : अहो मूर्ख: कुराजा त्वं ----
८. वही, ४।११, वि०ध०, २।२।१२-१३,१४

राजवृत्त पर ही राज्य का भाग्य निर्भर करता था ।[1] वराह पुराण से ज्ञात होता है कि राजा धर्मशास्त्र का अनुसरण करते थे और राजा धर्मवादी[2] (धर्म-वक्ता) भी होते थे । इसीलिए राजा और[3] उसके सद्-वृत्त का महत्व था - देवो राजा गुरुराजा सोमोराजेति पठ्यते ।।

राजा की उत्पत्ति

> यथा ह्यपाला: पशवो यथा सेना अनायका ।
> एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ।।[4]

राजा का महत्व राजा की उत्पत्ति से भी सिद्ध होता है । राजा के अभाव में समाज़ और देश में अराजकता फैल जाती है । इसी अराजक-स्थिति से बचने के लिए राजा की उत्पत्ति हुयी । भागवत पुराण में एक महत्वपूर्ण, पिता-पुत्र संवाद मिलता है जिससे न केवल राजा का महत्व और धार्मिक राजा के अभाव में अराजक स्थिति का ही चित्र मिलता है, प्रत्युत हम एक पिता को अपने पुत्र को ही डांटते हुए पाते हैं, क्योंकि शृंगी ने राजा परीक्षित को अपने पिता का अपमान करने के लिए शाप दे दिया था - `मर्यादा का उल्लंघन करने वाला राजा सातवें दिन मर जायगा ।` जब पिता को यह विदित हुआ तो उन्होंने पुत्र को फटकारते हुए कहा - ` अरे मूर्ख ! तूने बड़ा पाप कर डाला है । --- विष्णु के समान प्रभावशाली राजा को तुझे साधारण मनुष्य नहीं समझना चाहिए था । ऐसे राजा को मनुष्य समझना बड़ी भूल है, जिसके प्रभाव से प्रजा

---

[1] वराह, १३७।१९८
[2] वही, १३७।१९४
[3] वही, १३७।१९५(१)
[4] रामा० अयोध्या कां०, ६७।२९-३०(१)

सुखी है । जब वह राजा नहीं रहेगा तो यह प्रजा चारों से नष्ट हो जायेगी । लोग इस अनाथ प्रजा का धन लूट लेंगे, उनकी स्त्रियों का अपहरण होगा और उनके पशु भी हर लिये जायेंगे । दुःखी प्रजा आपस में लड़कर नष्ट हो जायगी । राजा के अभाव में श्रुति-पथ, वर्णाश्रमाचार और आर्यधर्म नष्ट हो जायगा । पशु-वृत्ति और वर्ण-संकरता बढ़ जायगी ।[1] यहां यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि वेन से अधार्मिक राजा को महर्षियों ने मार कर मिटा दिया था और परीक्षित ऐसे धार्मिक सम्राट् के हटाने पर महर्षि शमीक संतप्त थे । इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म-वत्सल राजा की ही आवश्यकता थी न कि अधार्मिक राजा की । वराह पुराण से भी ज्ञात होता है कि राजा के अभाव में राष्ट्र और समाज को कष्ट उठाना पड़ता है ।

वराह पुराण से ज्ञात होता है कि लोक-सृष्टि के साथ सुर और असुर आपस में लड़ने लगे । इस देवासुर संग्राम में असुरों के नायक हिरण्यकशिपु द्वारा देवताओं की पराजय हुयी । देव-गुरु बृहस्पति का मत था कि देवताओं की पराजय का मूल कारण उनका नायक-हीन होकर युद्ध करना था । अकेला इन्द्र देव-सेना की रक्षा करने में असमर्थ था । अतः एक नायक की परम आवश्यकता थी ।[2] इस सम्बन्ध का वैदिक सिद्धान्त ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है । उसमें कहा गया है कि देवों अर्थात् उनके पूजक हिन्दुओं में कोई राजा नहीं था । जब असुरों

---

१. भागवत, १।१८।४१-४५
दृष्टव्य, २।१।११।१६-१७

२. वराह, २५।११-१२ :

तेषां पराजयं दृष्ट्वा देवानाञ्च बृहस्पतिः ।
उवाच हीनं वै सैन्यं नायकेन विना सुराः ।।
एकेनेन्द्रेण विध्यन्तु सैन्यम्पातुं न शक्यते ।
अतः सेनापतिं कञ्चिदन्वेषयत माचिरम् ।।

से युद्ध करते समय देवों ने देखा कि हम लोग बार बार पराजित हो रहे हैं, तब वे इस परिणाम पर पहुंचे कि असुरों की सफलता का कारण यह है कि उनमें नेतृत्व करने वाला एक राजा है । अत: उन्होंने निश्चय किया कि हम लोगों को भी एक राजा निर्वाचित करके देखना चाहिए । और तब वे लोग एक राजा को निर्वाचित करने के लिए सम्मत हुए । कहा है -

" देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था । --- असुरों ने देवों को पराभूत कर दिया --- देवगणों ने कहा कि असुरों के द्वारा हमारे पराजित होने का कारण यही है कि हम लोगों में कोई राजा नहीं है । हम लोगों को एक राजा निर्वाचित करना चाहिए । सब लोग सम्मत हो गये । इस प्रकार राजा की उत्पत्ति युद्ध से आरम्भ होती है ।"[1] डा० बेनीप्रसाद के अनुसार राजा की उत्पत्ति का यह वास्तविक कारण है ।[2]

इस विचारधारा का विवेचन करते हुए डा० अल्टेकर मानते हैं कि " राजा की उत्पत्ति का कारण सामरिक आवश्यकता थी और वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जो रण में सफल नेतृत्व कर सके । युद्ध में विजय नेता के साहस, कौशल और पराक्रम पर ही निर्भर है । इन गुणों से युक्त व्यक्ति जब नेता बनाया जाय और उसके नेतृत्व में विजयश्री का लाभ हो तो उसकी शक्ति निरन्तर बढ़ती ही चली जाती है और अन्त में वह राजा का पद प्राप्त कर लेता है ।"[3] डा० पुरी के अनुसार सतत संघर्ष और युद्धों तथा शक्ति के प्रसार

---

१. हिं०रा०तं०, दूसरा खंड, पृ० ५-६ एवं पादटिप्पणी
ऐतरेय ब्रा०, १।१४ : देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतंत --- तांस्ततो सुरा अजयन् --- देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयंति राजानं करवामहा इति तथेति ।

२. जायसवाल, हि०पा०, पृ० १८४
घोषाल, स्ट०इ०हि०क०, पृ० ३३९-३४०,
हि०इ०पो०आइ०, पृ० २८-२९, थ्यो०ग०ऐ०इ०, पृ० १६

३. प्रा०शा०प०, पृ० ५६

के लिए ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो अपने प्रभुत्व से प्रजा का पथप्रदर्शन करते हुए राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता ।"[1]

राजोत्पत्ति के इस सामरिक सिद्धान्त का उल्लेख अभी तक रामायण,[2] महाभारत[3] या पुराणों[4] में वराह के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को नहीं मिला है ।

प्रतिहार-पाल युग (८०० ई० से १००० ई० तक) की शासन-व्यवस्था की समीक्षा करते हुए डा० पुरी कहते हैं कि " उस समय की राजनीतिक दशा को देखते हुए देश में सुदृढ़ एवं सशक्त शासक की आवश्यकता थी जो देश को अन्धकार और आपत्ति से बचा सकता ।"[5] डा० पुरी कहते हैं कि " कन्नौज वंश का संस्थापक नागभट्ट प्रथित सेनानी था (एपि०इ० २१, पृ० १६७ और आगे) म्लेच्छों को कुचल देने के कारण उसे शूर-वीर माना गया था । उसने अरबों के विरुद्ध पश्चिमी भारत की रक्षा की --- ।"[6] इसी युग की राजनीतिक-पद्धति का

---

१. हि०इ०इ०, वाल्यूम १, पृ० ३

२. रा० रा० व्य०, पृ० ५
श्रीमती डा० दीक्षित का विचार है कि " रामायण से भी इस अवधारणा की पुष्टि होती है । --- राजा की सृष्टि हुई ।" यहाँ सामरिक-पराजय का उल्लेख नहीं है । विजेता इन्द्र वृत्रासुर को मारने के कारण (ब्रह्म-हत्या) पाप से अदृश्य हो गये थे । अश्वमेध-यज्ञ के सम्पादन से पवित्र होकर पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित हो गये (रा० उत्तर कां० अ० ८६) । यह सत्य है कि इन्द्र के अभाव में अराजकता का भय था ।

३. म० रा० व्य०, पृ० ६८

४. पा० अ० पु०, पृ० ३१

५. हि०इ०पो०आइ०, अ० ६८, अ० २४

५. हि०इ०इ०, वाल्यूम १, पृ० २४४, नोट ५

६. वही, पृ० २४४, नोट १

विवेचन करते हुए डा० घोषाल कहते हैं कि `एक (ज्ञात) स्मृति ग्रन्थ के आधार पर कहा गया है कि जो प्रजा की रक्षा करता है वही नृप कहलाता है।`[1] गरुड़ पुराण का भी यही मत है कि `पालकस्य भवेद्भूमिः` अर्थात् राजा को सभी प्रयत्नों (उपायों) से पृथ्वी का अनुपालन करना चाहिए। पालक की ही भूमि होती है। इसी प्रकार उसकी कीर्ति, यश, बल और आयु निर्भर करते हैं।[2] यह पृथ्वी-पालन सैन्य शक्ति पर ही आधारित था, क्योंकि सैन्य-बल से ही शत्रु-सेनाओं को जीतकर क्षत्रिय पृथ्वी का प्रपालन करता था (क्षत्रियः परसैन्यानि जित्वा पृथ्वीं[3] प्रपालयेत्)। इस प्रकार वराह के पुराण के युग में कुशल और सशक्त नायक की आवश्यकता थी। इसीलिए वराह ने राजोत्पत्ति के वैदिक सिद्धान्त को अपनाया है जो राजा की सामरिक-क्षमता पर आधारित था। यह युग-धर्म की आवश्यकता ही थी। एक राजा अपने युवराज को उपदेश-आदेश देता हुआ स्पष्ट कहता है कि `कल्याण और न्याय से रक्षित देश की रक्षा करना परमावश्यक है, तुमको नित्य उद्योग-युक्त होकर स्थान पर डटे रहना चाहिए :-

रक्षणीयस्त्व ते देशः कुशलन्याय सज्जितः ।[4]
नित्योद्युक्तेन स्थातव्यमात्मवचनं कुरु ॥

यहाँ `नित्योद्युक्तेन स्थातव्य` से गिरते हुए गुप्तांश के राष्ट्र-भवन को स्तम्भ के समान आलंबन देते हुए युद्ध भूमि में खड़े स्कन्दगुप्त का चित्र हमारे सामने आ जाता है।[5] इस युग में भी इसी प्रकार के देशरक्षक शूरों की आवश्यकता

---

१. ह०ओ०का०, पृ० २३२
२. गरुड़, १।१११।६
३. वही, १।१०७।५
४. वराह, १३७।१८७
५. स्कन्दगुप्त का भिटरी स्तंभ लेख, पं० ७ :

विचलित कुललक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन ।
क्षितितल-शयनीये येन नीता त्रियामा ॥

थी । इस युग में इसीलिए शौर्य वृद्धि के लिए शौर्य व्रत[1] और सार्वभौम-पद के लिए सार्वभौमव्रत[2] भी प्रचलित हो गये थे । इससे राजोत्पत्ति का सामरिक सिद्धान्त ही व्यवहार और इतिहास की कसौटी पर खरा उतरता है । यह नायक एक वीर पुरुष ही अभीष्ट था, न कि स्त्री या बालक अथवा बाल-नायक (= मूर्ख या दुर्बुद्धि नायक) :-

> अनायके न वस्तव्यं न वा च बहुनायके ।
> स्त्रीनायके न वस्तव्यं तथा बालनायके ।।[3]

यद्यपि वराह पुराण में प्रजापति के रूप में अथवा लोकपालों के अंशों से उत्पन्न शासक[4] के रूप में राजा की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है, फिर भी वराह पुराण विश्व की स्थिति और सुरक्षा के लिए लोकपालों के महत्व से अवगत है । वराह कहते हैं कि लोकपालों के अभाव संसार चल ही नहीं सकता है । इसलिए जगत के सुख के लिए लोकपाल रूपी राजा के अस्तित्व का होना अत्यन्त आवश्यक था ।[5]

इस प्रकार वराह पुराण प्राचीन भारतीय परम्पराओं का अनुसरण करता है । राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार लोकपाल या राजा के रूप में वीर नायक की कल्पना करता है ।

---

[1] वराह, अ० ६४
कृ०का०त०, जिल्द ६, पृ० २७३

[2] वराह, अ० ६५
कृ०का०त०, जिल्द ६, पृ० ३०६

[3] गरुड़, १।११५।६२

[4] रा० उत्तर कां०, ७६।३०-४५

[5] वराह, ३०।४६

राज-गुण

महत् राज्य-तन्त्र का संचालन करने वाले और राज्य-धुर को ढोने वाले राजा को भी महान् होना आवश्यक था । उसकी यह महनीयता उसके चरित्र, गुण और कार्य पर आधारित थी । राजा के गुण-दोषों पर ही राष्ट्र का सुख-दुःख भी निर्भर करता था । इसीलिए नीतिशास्त्र के ग्रन्थों, रामायण, महाभारत तथा स्मृतियों और पुराणों में राजगुणों का वर्णन किया गया है ।[1] कौटिल्य ने 'स्वामि-सम्पत्' (राजा की गुण सम्पदा) का वर्णन करते हुए इसके उच्च कुल, शुभकर्म, बुद्धि, सत्त्व, वृद्ध-सेवा, धार्मिकता, सत्यता, कृतज्ञता, उत्साह, अदीर्घसूत्रता (अप्रमाद), विनय आदि आभिगामिक गुणों का वर्णन किया है । शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह (किसी विषय को समझने के लिए तर्क-बुद्धि), अपोह (दूषित पक्ष का त्याग), और तत्वाभिनिवेश (गुण पूर्ण पक्ष में मन लगाना) नामक राजा के आठ प्रज्ञा गुण थे । इसी प्रकार शौर्य, अमर्ष (दुराचार के प्रति क्रोध), शीघ्रता और दाक्ष्य (दक्षता) राजा के चार उत्साह गुण थे । राजा को वाग्मी (अर्थ संगतभाषण करने वाला), प्रगल्भ, स्मृति-शील, मतिमान्, बलवान, उदग्र (उन्नत विचार वाला), स्ववग्रह (कुकृत्य से शीघ्र ही मुंह मोड़ने वाला), कृतशिल्प (विभिन्न कलाओं का ज्ञान रखने वाला), दंडनायक, हीमान् दीर्घदूरदर्शी, सन्धि-विग्रह में चतुर, वृद्धोपदेश को मानने वाला उदार तथा व्यसनों से दूर रहने वाला होना चाहिए था ।[2] कामन्दकीय

---

१. रामा० अयोध्या कां०, १२।२६-३३, ४५।७-६
महा० शान्तिपर्व, ७१।८-११
मनु, ७।४-७
याज्ञवल्क्य, १।१३।३०६-३११
विष्णु स्मृति, १।३।७५-७८,८६,६७
२. कौ० अ०, अधिकरण ६, अ० १

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नीतिसार में भी इसी प्रकार आभिगामिक (आकर्षक) आदि गुणों का वर्णन किया गया है ।[१] इन गुणों की समीक्षा से सिद्ध होता है कि आदर्श राजा दिव्य-गुणों का समुच्चय देवता-रूप ही था । प्राचीन भारतीय चिन्तकों द्वारा राजा के दैवी स्वरूप की कल्पना के पीछे यही गुण-सम्पदा थी । रामायण के अनुसार ब्रह्मा से उत्पन्न राजा नृप में इन्द्र के समान शासकीय शक्ति, वरुण की पोषण शक्ति, कुबेर की धन-शक्ति और यम के समान दंड देने की शक्ति समायी हुयी थी ।[२]

अस्तु राजा को गुण-सम्पन्न होना आवश्यक था । वराह पुराण भी राजगुणों और राजलक्षणों का उल्लेख करता है । परन्तु कौटिल्य कामन्दक की भाँति वराह पुराण में न तो गुणों की तालिका ही मिलती है और न उनका वर्गीकरण ही किया गया है । वराह के अनुसार भी राजा को गुणों से युक्त (गुणवान) होना चाहिए था । इस पुराण में प्रशंसनीय गुण इधर-उधर विभिन्न आख्यानों में बिखरे हुए मिलते हैं । ये गुण निम्नलिखित हैं :-

राजलक्षण (राजलक्षण लक्षितः)[३]
गुणवान् (गुणवान[४], गुणविभूषितः)[५]
रूपवान्[६]
सत्त्ववान् (महासत्वा राजानो)[७]
सौम्य[८]

---

[१] का०नी०, ४।६-२३
[२] रा० उत्तर कां०, ७६।४२-४५
द्रष्टव्य- समुद्रगुप्त को 'धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य' कहा गया है (कुमार गुप्त प्रथम का बिलसड शिलास्तम्भ लेख, पं० २ आदि) ।
[३] वराह, १४८।४६
[४] वही, १२६।१०६
[५] वही, १३७।७४
[६] वही, १२६।१०६, १३७।७४
[७] वही, २।५४(१)
[८] वही, १०।३०

धीर[1]

धर्मात्मा,[2] धर्मवान्,[3] धर्मवित्,[4] धर्मवत्सल[5] (धर्मज्ञ, धर्म पर आरूढ़ एवं धर्मरक्षक)

राजा महायज्वा[6] (बड़े बड़े यज्ञों को करने वाला)

उदार, दानी[7] (भूरिदक्षिणाः राजानो)

दृढ़ विक्रमः[8] (दृढ़तापूर्वक-अटल-पराक्रम करने वाला)

अतिबली[9] (अत्यन्त बलवान्)

शूरः[10] (शौर्य गुण से युक्त)

प्रतापवान् क्रूरकर्मा[11] (प्रतापी और उग्र)

पंडितः[12] (ज्ञानी, दक्ष, विद्वान)

नीतिज्ञ विचारक[13] (नीतिपूर्वक विचार करने वाला)

प्रजानुरागवान्[14] (प्रजा से अनुरक्त)

प्रजानन्दकरः[15] (प्रजा को सुख देने वाला)

सर्वलोकहितेरतः[16] (सम्पूर्ण लोक का कल्याण करने वाला)

श्रीमान्[17] (श्री-सम्पन्न)

इन उपर्युक्त विविध राजगुणों से सिद्ध[18] होता है कि राजा या राजपुत्र में ये सभी गुण और लक्षण आवश्यक थे। इन गुणों से राज-कर्तव्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। साथ ही उसके चरित्र और व्यक्तित्व का भी परिचय देते हैं। सज्जनों के लिए वह सौम्य था, किन्तु दुष्टों के लिए वही व्यक्ति क्रूरकर्मा भी था।

---

[1] वराह, १४८।५४
[2] वराह, १०।३४
[3] वही, १०।३०
[4] वही, १०।४७
[5] वही, २१।५६,५८
[6] वही, २१।५६
[7] वही, २१।५४
[8] वही, १०।२५
[9] वही, १०।२७
[10] वही, १३७।१७८
[11] वही, १०।२८
[12] वही, १३७।७४
[13] वही, १३७।१७८
[14] वही, १३७।१७८
[15] वही, १३७।७४
[16] वही, १३७।१७८ (तुलना कीजिए स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, श्लोक ६, सर्वस्य लोकस्य हितप्रवृत्तः)
[17] वही, १०।२६, स्कन्दगुप्त को भितरी स्तम्भ लेख (श्लोक १) में पृथ्वी कहा गया है।
[18] स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, श्लोक ४ तथा श्लोक ८-१०, १५-१८, २३-२४, यहाँ राजपुत्र तथा कुशल शासक के गुणों का सुन्दर वर्णन किया गया है।

राजलक्षण

जन्म के बाद ही शरीर और उसके विविध अंग राजलक्षणों से उस पुरुष की प्रतिभा को प्रकाशित करने लगते हैं। जन्म होते ही राम दिव्य लक्षणों से युक्त थे (दिव्यलक्षणसंयुक्तम्)[1]। खारवेल को भी शुभ प्रशस्त लक्षणों से युक्त कहा गया है (पसथ सुभ लखनेन)[2]। रुद्रदामन प्रथम[3] भी परम लक्षणों से सुशोभित था (परम-लक्षण-व्यंजनैरुपेत---)। इन राज-लक्षणों अथवा महापुरुष लक्षणों[4] से सुशोभित मानवशरीर देवता की भाँति दिव्य तेज से चमकने लगता है।

गुणवान्

राज-लक्षणों से दिव्य शरीर राजगुणों का भी निवास होता है। इसीलिए राजा को गुण-विभूषित कहा गया है। खारवेल विश्वजनीन गुणों से अलंकृत (चतुरन्तलुंठनगुणोपेतेन)[5] था। रुद्रदामन प्रथम[6] को गुणों से आकृष्ट होकर चारों वर्णों की जनता ने राजा चुना था। स्कन्दगुप्त भी नृपति गुण-निकेत[7] था। अन्य राजाओं[8] के अभिलेखों में भी सम्राटों को विविध राजगुणों से अलंकृत कहा गया है। इन गुणों से ही राजा के चरित्र और व्यक्तित्व का विकास होता था। चरित्र और व्यक्तित्व का प्रभाव प्रजा और देश पर पड़ता

---

१. रा० बाल कां०, १८।२०
२. से०इ०, सं० ६१, खारवेल का हाथी गुम्फा लेख, पं० १
३. वही, सं० ६७, रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ शिलालेख पं० १५
४. वि०ध०, २।२।६ : प्रजानां रक्षणार्थाय विष्णुतेजोपबृंहितः ।
मानुष्ये जायते राजा देवात्म्यगुणैः ।।
५. से०इ०, सं० ६१, खारवेल का हाथीगुम्फा लेख, पं० १
६. से०इ०, सं० ६७, रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ शिलालेख, पं० ६
७. से०इ०, सं० २५, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, पं० ३, इसी लेख में ८-१०, १३,१४,१७-१८ श्लोकों में भी गुणों का सुन्दर वर्णन मिलता है -सत्यपेतै-- गुणा --- ।
८. हरिषेण का अजन्ता गुफा लेख, पं० १० : -- न्याय गुणाधिवासो, पं० १६ : त्यागदाक्षिण्यादिगुणोपेतः, प्रवरसेन द्वितीय का इन्दौर ताम्रपत्र लेख, पं० ३ : गुणानुचितस्य ।

था । अतः उसे गुण सम्पन्न होना आवश्यक था ।

रूपवान्

राजा को सुन्दर रूपवाला (रूपवान्) होना अत्यन्त आवश्यक था । स्वरूप-सम्पदा से ही वह प्रियदर्शन कहलाता था । रुद्रदामन प्रथम `कान्त-मूर्ति`[1] था । मत्स्य पुराण (अ० ११४ - अ० ११६) में राजा पुरुरवा के विषय में एक आख्यान है । मद्र देश का वह राजा सभी राजोचित गुणों से युक्त होते हुए भी वह प्राचीन जन्म में रूपवान् नहीं था (नृपगुणैर्युक्तः केवलं रूपवर्जितः)[2] । इस प्रकार वह गुणवान् तो था,[3] परन्तु रूपवान् नहीं था, इसलिए उसकी प्रजा उससे अनुराग नहीं करती थी । सुन्दर रूप पाने के लिए वह तपस्या करने हिमालय पर चला गया और अन्त में विष्णु की कृपा से वह कृतकृत्य हो गया । इस कथा से यह सिद्ध होता है कि राजा को गुणवान होने के साथ साथ रूपवान् होना भी आवश्यक था । इसीलिए वराह पुराण में राजा को एक ही साथ रूपवान् गुणवान्[4] कहा गया है ।

सत्त्व

वराह पुराण में राजाओं को महासत्त्व - युक्त कहा गया है । कौटिल्य और कामन्द की नीतिसार में भी राजा के आभिगामिक[5] गुणों में उसे सत्त्व-सम्पन्न (सम्पत्ति और विपत्ति में धैर्यशाली) बताया गया है । इसीलिए धैर्य भी उसका महत्त्वपूर्ण गुण था ।

---

[1] रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ शिलालेख, पं० १५
द्रष्टव्य, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, प० ८० : -- कान्तरूप: रूपानुरूपैर्ललितैर्विचित्रैः -- ।

[2] मत्स्य, ११४।८

[3] वही, ११४।१९

[4] वराह, १२५।१०६, १३७।१०४

[5] कौ०अ०, ६।१, का०नी०, ४।६

धर्मात्मा

वराह पुराण में भी अन्य ग्रन्थों की भांति राजा को धार्मिक वृत्ति वाला, परमधार्मिक तथा धर्म का ज्ञाता (धर्मवित्) कहा गया है।

पुराणों तथा अन्य वैष्णव ग्रन्थों की भांति वराह में भी राजा को यज्ञ करने वाला बताया गया है। विष्णु ही यज्ञेश्वर हैं। गुप्त सिक्कों पर भी हम सम्राटों को आहुति देते हुए पाते हैं। विष्णु पुराण के अनुसार विष्णु-निन्दक राजपद के अयोग्य था, यथा वैन।[1] यज्ञेश्वर (विष्णु) की पूजा से राजा की सभी इच्छाएं पूरी होती हैं।[2] इसी प्रकार धार्मिक राजा के लिए आवश्यक था कि वह वेद-विरुद्ध आचरण और व्यवहार न करे।[3] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसे ही देवबुद्धि और धार्मिकता[4] कामन्दकीय नीतिसार में `देवसम्पन्नता बुद्धिः` कहा गया है।

राजा उदार होते थे। ब्राह्मणों को दान और दक्षिणा भी देते रहते थे। यह उनका कर्तव्य था।

विक्रम

राजा को अति बली, दृढ़ विक्रम वाला, शूर तथा प्रतापी[5] होना परमावश्यक था। राजत्व के लिए बल-विक्रम और शौर्य के बिना सभी सद्गुण अवगुण हो जाते हैं। सद्गुणों की प्रधानता और शौर्य-विक्रम के अप्रधानत्व होने

---

१. विष्णु, १।१३।२८
२. वही, १।१३।१६
३. वही, ४।२०।२६-२८
४. कौ० अ०, ६।१
   का० नी०, ४।७
५. हरिषेण का अन्ता लेख, पं० १४ :
   हरिषेणी हरिविक्रम प्रताप: ।

के कारण कृष्ण, भीम और अर्जुन युधिष्ठिर को प्रबोध करते रहते थे ।

अभिलेखों में भी राजाओं को पार्थ के समान शूर[१] कहा गया है । वराह पुराण तो शौर्यव्रत का ही वर्णन करता है जिससे भीरु व्यक्ति भी शूर हो सकता था । परिपाल्य स्वदेश की रक्षा करने वाला वीर पुरुष शूर कहलाता था ।[२]

दुष्टों का दमन करने के लिए राजा क्रूर होता है । परन्तु साधु पुरुषों के लिए उसे सौम्य होना आवश्यक है । राजा को न तो क्रूर-कठोर ही होना चाहिए और न केवल सौम्य । उसका स्वभाव दोनों का मिश्रित रूप होना बताया गया है ।[३]

विद्या और शास्त्र में पांडित्य से राजा में शास्त्र-दृष्टि और विनय का विकास होता था । इस प्रकार शास्त्र दृष्टि, विनय और वृद्ध-सेवा से वह अपने कर्त्तव्य-कर्म (राजधर्म) को भली भांति जान लेता था ।

वह जानता था कि प्रजा के साथ प्रेम (प्रजानुरागवान्) और प्रजा-रञ्जन (प्रजानन्दकर:) तथा सम्पूर्ण लोक-कल्याण करना है (सर्वलोकहितेरत:) । इन सभी गुणों की अभिवृद्धि से ही राजा श्रीमान्[४] और रत्नभागी[५] होता था ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य-तन्त्र की सफलता-असफलता राजा के व्यक्तित्व, चरित्र और सद्गुणों पर निर्भर थी । इसीलिए गुण-समुदित राजश्री[६] अपने आप को रूपवान्-गुणवान राजा के हाथों में सौंप देती थी ।

---

[१] सी०इ०इ०, सं० ३८, भानुगुप्त का एराण स्तंभलेख, पं० ५ :
श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महान् पार्थसमो ति शूरः ।

[२] योगवासिष्ठ, ३।३१।२६
धंगदेव-जयदेव का खजुराहो लेख, श्लोक २४

[३] महा० शान्तिपर्व, ५८।२१-२२

[४] वराह, ९०।२६

[५] वही, १४८।५४

[६] सी०इ०इ०, सं० २५, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, श्लोक ५,
का०नी०, १।६६

शिक्षा

राजा के चरित्र में यह गुण तो अपेक्षित थे, परन्तु इसके लिए समुचित शिक्षा-दीक्षा भी आवश्यक थी। प्राचीन विचारकों[1] ने राजा अथवा राजकुमार की शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया है। कालिदास रघुवंशी नृपों को शैशवकाल में विद्याभ्यास करने वाला बताते हैं (शैशवे भ्यस्तविद्यानां)[2]। दिलीप शास्त्र और शस्त्र (धनुर्वेद) में कुशल थे।[3] मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि शूद्रक कवि और महान् विद्वान थे।[4] उनमें राजगुणों का निवास था।

राजा विविध विद्याओं और कलाओं में पारंगत (पंडित)[5] होते थे। राजा और राजपुत्रों को नीतिशास्त्र, अर्थतत्त्व (नीतिशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञम्)[6] का जानने वाला (नीतिज्ञस्तु)[7] और विचारक कहा गया है। वे वेद-वेदांग, शास्त्र, अर्थविद्या और धर्मशास्त्र[8] के भी ज्ञाता थे। इस प्रकार विद्या-निपुण (विद्याप्रभावतत्त्वज्ञः)[9] नृप विद्वान् होते थे। वे जानते थे कि विद्या के समान चक्षु नहीं है (नास्ति विद्यासमं चक्षुः)[10]। इस प्रकार शास्त्र-दृष्टि से ही वे राज्य-त्याग कर राजर्षि-पद[11] को भी प्राप्त करते थे।

---

१. मनु, ७।४३, का०नी०, २।५-१७
२. रघुवंश, १।८
३. वही, १।२०
४. मृच्छकटिक, १।३,४,५
५. वराङ्ग, १३७।७४
६. वही, १३७।१७५
७. वही, १३७।१७८
८. वही, १०।३०,३१
९. वही, १०।२६, समुद्रगुप्त और हर्ष प्रसिद्ध विद्वान और लेखक थे। प्रतिहार सम्राट् भोज विद्वान था (स्कन्द पु० ७।२।६।२१)। परमार सम्राट् भोज तो अपने पांडित्य के लिए प्रसिद्ध ही है (प०रा०इ०, पृ० १९९-२००)। कलचुरि नरेश मायुराज (क०रा०इ०, पृ० १०१-१०३), चौहान सम्राट्, अजयराज, विग्रहराज चतुर्थ, अर्णोराज, पृथ्वीराज तृतीय (अ०चौ०डा०, पृ० २५६)।
१०. वराङ्ग, १५३।२६, तुलनीय, रघुवंश, ४।१३ : चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिनि।
११. वराङ्ग, १९०।८१

वे विभिन्न कलाओं में भी ज्ञान रखते थे (सर्वशास्त्रकलान्वितः) ।[1]

क्षत्रियों को शस्त्रास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी (त्यक्त्वा प्रहरणान् सर्वान्यत्किंचित्पूर्वशिक्षितम्) ।[2] शस्त्र-प्रयोग ही क्षत्रियकर्म था ।[3]

इस प्रकार वराह पुराण से ज्ञात होता है कि शिक्षा द्वारा राजपुत्रों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता था ।

दैवत्व

राजा के कार्यों की गुरुता के कारण ही उसे श्रेष्ठता और परमता प्रदान की गयी है । इतना ही नहीं, उसके दैवत्व की भी कल्पना की गयी है । कुछ स्थलों पर तो राजा और देवताओं के कार्यों में साम्य दर्शाया गया है, जिसके आधार पर उसे देवताओं के समकक्ष स्थान प्रदान किया गया है ।[4] परन्तु अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण वैष्णव पुराण होते हुए भी राजा के विष्णु रूप का उल्लेख नहीं करता है । विष्णु पुराण में राजा को विष्णु का अंश कहा गया है ।[5]

---

१. वराह, १२६।१०६
२. वही, १२८।१
३. वही, १२८।६ के बाद गद्य, पृ० ६२७
४. म० रा० व्य०, पृ० ७३
५. विष्णु पु०, १।२२।१६-२१,
यहां मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, नाग, दानव आदि के राजाओं को भी विष्णु की ही विभूति माना गया है । परन्तु वेन हरि को प्रभु और पूज्य न मान कर अपने को ही पूज्य कहता है, क्योंकि उसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र, वायु, यम, रवि, अग्नि, वरुण, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्रमा तथा अन्य सभी देवता राजा के ही शरीर में निवास करते हैं ।
- सर्वदेवमयो नृपः, विष्णु पु०, १।१३।२०-२२.

वराह पुराण के अनुसार राजा (राजन्य या क्षत्रिय) ब्रह्मा की भुजाओं से उत्पन्न क्षात्र-तेज था ।`[1] कलिंग-नरेश के पांचों पुत्रों को आदित्य के समान तेज वाला (आदित्य सम तेजसः) कहा गया है ।`[2] राजा को इन्द्र के समान (इन्द्रोपमः) भी माना जाता था ।`[3] राजा को `ईश्वर`[4] भी बताया गया है । उसे देवराजा और सोमराजा भी कहा गया है -

देवोराजा गुरुराजा सोमोराजेति पठ्यते ।[5]

देवताओं - इन्द्र, आदित्य, सोम आदि - से राजा की तुलना करना भी राजा के दिव्य गुणों और कार्यों की ओर संकेत करता है । भागवत पुराण के एक उद्धरण से यह स्पष्ट है - ` विष्णु के समान राजा पृथु ने समय समय पर जगत की सृष्टि की रक्षा के लिए अकेले ही सभी लोकपालों के गुण धारण किये थे । मन तथा वाणी की मनोहर वृत्तियों और सौम्य गुणों से प्रजा-रंजन करने के कारण वह दूसरे राजा सोम (सोमराज इवापरः) ही थे । कर-रूप में प्रजा से धन लेकर उसे दुष्कालादि के समय देते हुए ग्रीष्मकाल में जल सोंकर वर्षाकाल में बरसाने वाले सूर्य के समान भी वह थे । वे अपने तेज से अग्नि के समान अगम्य और इन्द्र के समान दुर्जय थे । महाराज पृथु यमराज के समान दुष्टों का दमन करने वाले तथा कुबेर के समान धनाधिप और वरुण के समान गुप्त-धन वालों के समान थे । वे बल, ओज और गति में वायु के समान थे । असह्यता में वे शिव के समान थे । वे सौन्दर्य में काम देव के समान, वात्सल्य में मनु के समान् और मनुष्यों पर प्रभुत्व में ब्रह्मा के समान थे ।`[6]

---

१. वराह, ६।१९(१)
२. वही, १३७।१०७
३. वही, १०।२९
४. वही, १२९।१०८
५. वही, १४७।१९५(१)
६. भागवत, ४।२२।५८(२)-६१

अवगुण और व्यसन

गुणों के वर्णन के साथ ही साथ उन चारित्रिक दोषों और दुर्गुणों की ओर भी विचारकों का ध्यान गया था । अन्य ग्रन्थों की भांति वराह पुराण भी इन अवगुणों को राजा और राष्ट्र के लिए अहितकर मानता है । ये निम्नलिखित हैं :-

स्त्री-व्यसन (अभ्यागमनं) - धर्म की उत्पत्ति के बाद ही इस धर्म-व्यवस्था को नष्ट करने का अपराध भी सोम को ही है । सोम राजा भी था ।[1] उसने अपने भाई आंगिरस (बृहस्पति) की पत्नी तारा को बलपूर्वक ग्रहण कर लिया था । इससे ही धर्म पीड़ित होकर वन को भाग गया था और लोक में धर्म के लुप्त होते ही मर्यादा भी नष्ट हो गयी ।[2] इसके बाद स्त्री के ही कारण (स्त्रीहेतोश्च) देवासुर संग्राम छिड़ गया था ।[3] यही तारकामय संग्राम कहलाता है ।[4]

वराह पुराण कहता है कि गुरुपत्नी, राजपत्नी और सामन्तपत्नी को जो बलपूर्वक ग्रहण करता है वह अभ्यागमन दोष के कारण नष्ट हो जाता है ।[5] एक राजा अपने पुत्र को उपदेश देता है कि राजा को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए । वह कहता है कि " दूसरे की स्त्री पर विशेषकर ब्राह्मणी पर कुदृष्टि से लोभ नहीं करना चाहिए । परायी सुन्दर पत्नी को देख कर आंखें बन्द कर लेना चाहिए ।[6]"

---

१. वराह, १३७।१६५(१)
२. वही, ३२।९,१०
३. वही, ३२।१३
४. भागवत, ९।१४।३-७
५. वराह, ९३।१० : गुरुपत्नी राजपत्नी तथा सामन्त-योषितः ।
जिघृक्षन्नश्यते राजा ह्यागम्यागमन च ।।
६. वही, १३७।१८५ : न लोभः परभार्यासु ब्राह्मणीषु विशेषतः ।
सुरूपां परनारीन्तु दृष्ट्वा चक्षुर्निमीलयेत् ।।

सप्त व्यसन वर्ग

वराह पुराण के अनुसार राजाओं का सबसे बड़ा दोष सप्तव्यसनवर्ग[1] अर्थात् सात व्यसनों का समूह माना गया है। अरि-षड्वर्ग (काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मद और मान) के वशीभूत होकर प्राचीन प्रसिद्ध राजाओं का पतन हो गया[2]। इसलिए षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त कर इन्द्रियों को अपने वश में करना चाहिए[3]। वराह पुराण कहता है कि परायी स्त्री या परायी सम्पत्ति के प्रति लोभ नहीं करना चाहिए[4]। काम और क्रोध से अन्य व्यसन भी उत्पन्न होते हैं। क्रोध से तीन (कोपजस्त्रिवर्गः) और काम से चार व्यसन उत्पन्न होते हैं (कामजश्चतुर्वर्गः)।[5] दोनों को मिलाकर सप्त वर्ग बनता है।

त्रिवर्ग (क्रोधज-व्यसन) -

१. वाक्पारुष्यं - अर्थात् वाणी (वचन, बातचीत) की कठोरता। अप्रिय बात या दुर्वचन को वाक्पारुष्य कहते हैं।

२. अर्थदूषणं - कौटिल्य के अनुसार अर्थदूषणं अर्थात् धन-हानि दूसरा क्रोधोत्पन्न दोष है[6]। कामन्दक के अनुसार दूसरा क्रोधज व्यसन दण्डपारुष्य (दण्ड की कठोरता) है। वराह पुराण केवल `अर्थदूषणक' का उल्लेख करता है। इसके अनुसार धन की हानि कभी न करनी चाहिए। साथ ही वराह यह भी

---

[1] वराह, १३७।१६०

[2] कौ०अ०, १।६, का०नी०, १।५७-५८

[3] वही, १।७, वही, १।६०-६१

[4] वराह, १३७।१८५-१८६(१)

[5] कौ०अ०, ८।३, का०नी०, १५।७-८

[6] वही, ८।३, वही, १५।७

कहता है कि अमात्य से अप्रिय (कटु या दुर्वचन) न बोले ।[1] इस प्रकार वराङ्ग वाक्पारुष्य और अर्थदूषण पर विशेष बल देता है । अर्थशास्त्र के अनुसार वृत्तिविलोपकत्वमर्थदूषणं अर्थात् किसी की जीविका का अपहरण करना अर्थदूषण है । काम कराकर भी पैसा न देना (अदानं), दण्ड रूप में किसी का धन छीन लेना (आदानं), किसी देश को नष्ट करना (विनाशः) और रक्षणीय धन को त्याग देना (परित्यागो वा) भी अर्थदूषण है ।[2]

३. दण्ड-पारुष्यं - कठोर दंड देना भी एक व्यसन कहा गया है जो क्रोध से उत्पन्न होता है । राजा ने युवराज को बताया कि पारदारिकों (दूसरों की पत्नी से संसर्ग करने वालों), बालघातियों और स्त्रीघातकों को मार देना चाहिए ।[3] यह दण्ड पारुष्य नहीं है ।

चतुर्वर्गी-काम-व्यसन -

कामजनित व्यसन चार प्रकार के हैं (कामजस्तु- मृगया, द्यूतं स्त्रियः पानं इति चतुर्वर्गः)[4] :-

१. मृगया या शिकार करना
२. द्यूत
३. स्त्री
४. पान (मद्य पान)

इन व्यसनों से भी अनेक बुराइयां पैदा होती हैं ।

---

[1] वराङ्ग, १३७।१९० : इत्थं व्यसनवर्गोऽयं दोषो राज्ञां महान् भवेत् ।
अर्थदूषणकं चैव न कार्यं कदाचन् ।
अमात्यं नाप्रियं ब्रूया यदिच्छे राजश्रीणि ।।

[2] कौ०अ०, ८।३

[3] वराङ्ग, १३७।१८४

[4] कौ०अ०, ८।३

विद्याओं से प्राप्त विनय के अभाव में ही ये दोष उत्पन्न होते हैं। इसीलिए राजा के जीवन में विद्या, वृद्धसेवा, श्रवण और देवबुद्धि तथा शुचिता का महत्व था।

राजा द्वारा राजपुत्र को व्यसनों से बचने के लिए दिये गये उपदेशों और अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित व्यसनों तथा इनके वशीभूत होकर नष्ट होने वाले राजाओं के उदाहरणों से सिद्ध होता है कि राजा गुणवान् और विद्वान् होते हुए भी, मृगया, द्यूत, स्त्री, मद्य-पान, आदि व्यसनों में फंस जाते थे।

युवराज

रूपवान्-गुणवान्, ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, राजपुत्र युवावस्था में प्रौढ़ शरीर और प्रतिपन्न-प्रज्ञा होकर जरा-जीर्ण राजा की सहायता देने के लिए राजसभा में उतरता था। अपनी योग्यता से वह सभी सभ्यों को आकृष्ट कर राज-पद का अधिकारी बन जाता था।

उत्तराधिकार-नियम

अधिकांशतः वंशानुक्रमिक राजतन्त्र प्रचलित था और राजा राज्य छोड़ने के बाद इसे अपने पुत्रों को[1] ही सौंपना चाहते थे। प्राचीन राजसिद्धान्त-चिन्तकों ने उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी विचार कर कुछ सिद्धान्त बनाये थे।[2] इन प्रतिष्ठापित मान्यताओं और सिद्धान्तों के अनुसार राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तरा-

---

[1] पद्म, १३७।१५८ : दास्यामि राज्यं पुत्राय वचनात्तव सुन्दरि।
यथा पूर्वं मया लब्धं स्वपितुर्मीयात्मजम्॥

[2] वही, १३७।१५५, १५३।२८
भागवत, ५।४।९ : भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत् --- ।

धिकारी होता था । परन्तु छोटे भाइयों की ओर भी लोगों का ध्यान जाता था । वराह पुराण से सिद्ध होता है कि छोटे भाइयों का भी अधिकार भुलाया नहीं जा सकता था ।

सम्राट् ययाति ने अपने सबसे छोटे राजपुत्र पुरु को ही राजसिंहासन पर बिठलाया था । बड़े पुत्रों में उनके प्रति भक्ति नहीं थी ।[1] इससे सिद्ध होता है कि कनिष्ठ राजपुत्र भी नृपासन पर बैठने का अधिकारी था । कोसल नरेश अपने ज्येष्ठ पुत्र के साथ तीर्थयात्रा पर जाना चाहते थे ।[2] राजा ने ज्येष्ठ पुत्र को सावधान करते हुए कहा कि "राज्य सूना नहीं छोड़ा जा सकता है ।"[3] ज्येष्ठ पुत्र ने पिता से बड़ी विनय के साथ निवेदन किया कि उसके सहोदर छोटे भाई को न्यायपूर्वक राज्य दे दिया जाय ।[4] परन्तु राजा ने कहा कि ज्येष्ठ राजपुत्र के होते हुए छोटे को सिंहासन पर नहीं बिठाया जा सकता है ।[5] परन्तु ज्येष्ठ पुत्र ने पुनः राजा को बताया कि छोटे भाई को राजसिंहासन पर बैठाना न्याय-विरुद्ध नहीं था । वह स्वयं छोटे भाई को राज्य देने के पक्ष में है । वह तीर्थयात्रा से वापस नहीं लौटेगा और इस प्रकार वह राज्य को भी नहीं मांगेगा । इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्र की अनुमति से उसका छोटा भाई राजपद पर प्रतिष्ठित हुआ ।[6] राज्य के "मुख्यों" (प्रधानों) ने भी इसका अनुमोदन किया ।[7]

---

१. महा० आदि पर्व, ७८।३९-४१, अ० ७९, विष्णु पु०, ४।१०।३०

२. वराह, १२५।१७१-१७८

३. वही, १२५।१७९ : ततः स राजशार्दूलः पुत्रमाह वसुन्धरे ।
राज्यं शून्यं कथन्त्यक्त्वा गमिष्यामो वयं सुत ॥

४. वही, १२५।१८०-१८१ : ततः पितुर्वचः श्रुत्वा राजपुत्रो महायशाः ।
उवाच मधुरं वाक्यं गृहीत्वा चरणौ पितुः ॥
कनीयानेष मे भ्राता एकोदर समुद्भवः ।
एतस्य दीयतां राज्यं यथान्यायेन चागतम् ॥

५. वही, १२५।१८२ : पुत्रस्य वचनं श्रुत्वा कोशलानां कुलोद्वहः ।
वर्तमाने पि च ज्येष्ठे कनीयान् कथमर्हति ॥

६. वही, १२५।१८३-१८५

७. वही, १२५।१८६ : पुत्रेण चाभ्यनुज्ञातः कनीयानभिषेचितः ।
स मुख्यैश्चाभ्यनुज्ञातो भुवि भूपतिसत्तमः ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्येष्ठ भाई के इन्कार करने तथा छोटे भाई के प्रति अपनी अनुमति देने से ही छोटा भाई राज-पदासीन हो सकता था । वेद-विरोधी ज्येष्ठ पुत्र भी राजा नहीं बनाया जा सकता था ।[1]

चन्द्रगुप्त की राजसभा में सभी राजकुमार (तुल्य कुलजा) उपस्थित थे । पुत्र के राजगुणों[2] और चरित्र के आधार पर उसकी योग्यता की परीक्षा भी की जाती थी ।

पुत्रों के साथ साथ दौहित्रों (दुहिता के पुत्रों) को भी राजपद अथवा अन्य प्रशासकीय पदों पर नियुक्ति की जाती थी ।[3]

कभी कभी उत्तराधिकार की समस्या इतनी विषम हो जाती थी कि इससे राजकुल में कलह उत्पन्न हो जाताथा । राजाओं के प्रायः कई रानियां होती थीं और उनके कई पुत्र भी थे । अतः उनमें योग्य उत्तराधिकारी को चुनना कठिन समस्या थी ।[4] कभी कभी भ्रातृ-युद्ध भी हो जाते थे जिनसे राज्य को क्षति ही पहुंचती थी ।

राजपुत्र अथवा उत्तराधिकारी के गुण

उत्तराधिकारी राजपुत्र के गुण वही थे जो एक राजा के थे, यथा - रूपवान्, गुणवान्, नीति-ज्ञान, क्षात्रधर्म, शौर्य, व्यसनों से पराङ्मुख होना,

---

[1] विष्णु पु, ४।२०।२१-२६

[2] समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ लेख, पं० ७-८,
स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिला लेख, पं० ५

[3] वराह, १५३।२१ : पुत्रान् संस्थाप्य दौहित्रान् स्वेस्वेस्थाने शुभान् प्रिये ।
कोशं रत्नानि ग्रामांश्च पुत्रान्वीक्ष्य पुनःपुनः ।।
समुद्रगुप्त को लिच्छविदौहित्र कहा गया है ।

[4] वराह, १५३।६-२४

अमात्यों के वचनों[1] का पालन करना तथा प्रजा और ब्राह्मणों को सन्तुष्ट रखना प्रमुख गुण थे ।

पांचाल के प्रसिद्ध शासक ब्रह्मदत्त स्वधर्म-परायण थे ।[2] उनका पुत्र कुमार सोमदत्त शुभ लक्षणों से युक्त सर्व-धर्मों में निष्ठित था ।[3] राजपुत्र मृगया[4] के लिए व्याघ्र-सिंहों से भरे हुए वन में धनुष-बाण लेकर जाता था । मृगया राजपुत्रों का व्यायाम ही था ।

कलिंगराज[5] का पुत्र रूपवान्[6], गुणविभूषित, पण्डित और प्रजानन्द को करने वाला था । राजन्य-नन्दन, कलिंगराजपुत्र ने पौर[7]-जनपदों को भी अपने कर्मों, सुशीलता और बुद्धि से प्रसन्न कर दिया था । वह विष्णु, सत्य, ब्राह्मणों पर भक्ति और तप में आस्था रखता हुआ मानता था कि राज्य सत्य पर प्रतिष्ठित[8] है, सत्य ही विष्णु का निवास है और ब्राह्मणों का मूल (आधार) सत्य है । इस प्रकार स्पष्ट है कि राजपुत्र में भक्ति, नय और[9] विक्रम के महान् राजगुण थे जिनसे वह सम्राट् और प्रजा को प्रसन्न करता था । शील और ‘स्वगुणों’ से ही राजपुत्र रत्नों और पट्टबन्ध (परमग्यन्तु पट्टबन्धं) का अधिकारी[10] था । परंतु जब तक पिता जीवित था, वह इन्हें धारण नहीं कर सकता था । इस समय वह

---

१. इनका वर्णन आगे राजकर्तव्यों के साथ किया गया है ।
२. वराङ्ग, १३७।६४-६५(१)
३. वही, १३७।७०
४. वही, १३७।६५(२)-७२
५. वही, १३७।७४
६. वही, १३७।८५
७. वही, १३७।८७
८. वही, १३७।९४
९. समुद्रगुप्त का एरण स्तंभ लेख, श्लोक ४ :
तातेन भक्ति नय विक्रम तोषितेन यो राजशब्द विभवैरभिषेचनाद्यैः ।
सम्मानितः परम-तुष्टिपुरस्कृतेन सो यं ध्रुवो नृपतिरप्रतिवार्यवीर्यः ॥
१०. वराङ्ग, १३७।९६-९८

पिता के साथ युवराज की तरह शासन कार्य में राजा की सहायता करता था ।[1]

राज्याभिषेक

राजत्व के इतिहास में राज्याभिषेक एक प्राचीन और महत्वपूर्ण संस्कार है । "ब्राह्मण साहित्य के समय में आकर राज्याभिषेक बहुत ही विस्तृत हो गया था और उसके साथ अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य होने लग गये थे । --- बिना उन कृत्यों से कोई राजा राजत्व प्राप्त नहीं कर सकता था । -- राजाओं को अभिषिक्त करने के लिए श्रुतियों में तीन यज्ञ कहे गए हैं । उनमें से पहला यज्ञ राजसूय है जिसके अनुसार वह राज-पद का अधिकारी होता था ।"[2] साधारणतः राज्याभिषेक राजसूय के द्वारा ही होता था :-

"राज्ञ एव राजसूयम् । राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति------""राजा के लिए ही राजसूय है, क्योंकि राजसूय यज्ञ करने से वह राजा होता है ।"[3]

वराह पुराण अभिषेक[4] का तो उल्लेख करता है जिससे राजकुमार को राजपद प्राप्त होता था ।[5] आभिषेचनिक विधि[6] का भी उल्लेख हुआ है । एक दिन राजा ने अपने पुत्र का अभिषेक करने का प्रस्ताव अपने मंत्रियों से किया । मंत्रियों का यह कर्तव्य था कि वह आभिषेचनिक सामग्री को जुटाएं तथा अन्य आवश्यक प्रबन्ध करें । दूसरे दिन कुमार अभिषिक्त होकर राजा बन गया ।

---

[1] खारवेल का हाथी गुंफा लेख, पं० २ : योवरजं पसासितं
का०भा०, १३८-१४१

[2] हि०रा०तं०, पृ० २१-२२

[3] वही, पृ० २३, शतपथ ब्राह्मण, ५।१।१-१२

[4] वराह, १३७।१०४, १३७।१८४, १५३।२८

[5] वही, १३७।१६४(१) : अभिषेकं राजशब्दं मम संज्ञापितन्त्वया ।

[6] वही, १३७।१७६,
द्रष्टव्य, हि०रा०तं०, पृ० ३६-४२ इत्यादि, पृ० २६,
प्रा०भा०प०, पृ० २८८-२८९

राज्य छोड़ने के पहले सम्राट् अपने पुत्र को उपदेश भी देता था कि राज्यस्थ होकर वह किस प्रकार[1] कार्य करे ताकि उसकी कुललक्ष्मी तथा पितृ-पैतामह राज्य सुरक्षित बना रहे ।

यौवराज्य काल में भी राजपुत्र की शासकीय क्षमता, उसके चरित्र और गुणों की परीक्षा होतीथी । इस प्रकार उसके राजकर्म, चरित्र और गुणों से सन्तुष्ट होकर अमात्य और पौर-जानपद भी राजा के विचार और कार्य का अनुमोदन करते थे । उत्तराधिकारी की नियुक्ति में राजा के अतिरिक्त उसकी पत्नी (राजमहिषी), अमात्यों और जनता का भी हाथ था ।

राजमहिषी

राजा के जीवन और राज-कर्म में राजपत्नी[2] या देवी (रानी) का महत्वपूर्ण स्थान था । बहुत रानियों में राजमहिषी को प्रवरा[3] भी कहते थे । सौराष्ट्र नरेश की राजमहिषी ने राजा को राज्य त्याग कर मथुरा जाने के लिए कहा और राजा ने ऐसा ही किया भी था । इस प्रकार राजमहिषी की मन्त्रणा से ही वह सम्राट् अपना राज्य अपने उत्तराधिकारियों को सौंप कर मथुरा चला गया । अन्य स्थल पर भी हम उल्लिखित पाते हैं कि देवी (रानी) ने राजा से कहा -

> यदि त्वं न मे कार्यं भूयतां राजसत्तम ।
> अभिषिच्यस्व राज्ये त्वं ज्येष्ठं पुत्रं कुलोचितम् ।।[4]
> एहि नाथ मया सार्द्धं धर्मं लोकधर्मप्रति ।।

---

१. वराह, १३७।१७३-१८३
२. वही, ६३।१०
३. वही, १५३।२०-२१
४. वही, १३७।१९९

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राजा ने रानी की बात मानकर पुत्र को राज्य सौंप दिया -

ततो भार्यावचः श्रुत्वा कलिंगानांजनाधिपः ।
बाढमित्येव वाक्येन नन्दयामास तांप्रियां ।।
दास्यामि राज्यं पुत्राय वचनात्तव सुन्दरि ।
यथापूर्वं मयालब्धं स्वयितुंयथाक्रमम् ।।[1]

अमात्यगण

सहधर्म चारिणी रानी की राय से जब राजा ने अपने पुत्र को राज्य सौंपना चाहा, तब उसने अपने मंत्रियों से भी कहा -

अमात्यानानयामास ह्यभिषेक्तुं निजं सुतम् ।
सम्प्राप्तान् सचिवांस्तत्र राजा वचनमब्रवीत् ।
संस्क्रियतां राजधानी मंगलाचार पूर्वकम् ।
वृद्धामात्यमुपाख्याय कलिंगो धर्मसंहितम् ।
नीति शास्त्रार्थतत्त्वज्ञमुवाचाविकलं वचः ।
कल्यमिच्छाम्यहं तात पुत्रं राज्ये मिषेचितुम् ।
शीघ्रं सज्जं प्रकुर्वन्तु अभिषेचनिकं विधिम् ।
भूतमित्येव तम्प्राहुः सचिवास्तं नराधिपम् ।
अस्माकमपि तच्चैव रोचते यत्प्रभाषसे ।
पुत्रस्ते राजशार्दूल सर्वलोकहिते रतः ।
मनीषितं तव विभो सम्पद्यतामनसः प्रियम् ।
एवमुक्त्वा गतामात्याः सूर्यश्चास्तमुपागतः ।।[2]

---

[1] पराण, १३७।१६७-१६८

[2] वही, १३७।१७३-१७६

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा और राजपत्नी के मत को अमात्यों, विशेषकर वृद्धामात्य, ने राजपुत्र के गुणों की सराहना करते हुए अपनी रुचि प्रकट की और राज-मत का अनुमोदन किया ।

पौर-जन सम्मति

उत्तराधिकारी की नियुक्ति में राजमहिषी और अमात्यों के अतिरिक्त `पौर` जनों (पुर या राजधानी में रहने वाले लोगों) का भी अनुमोदन आवश्यक था । राजा ने युवराज की नियुक्ति के बाद अमात्यों का समर्थन प्राप्त किया । तत्पश्चात् राजा ने पुर-वासियों से भेंट की और उनसे भी निवेदन किया -

ततः सम्मानयामास जनं पुरनिवासिनम् ।
पितृपैतामहं राज्यं पालनीयं यथाक्रमम् ।।
राज्ये पुत्रान्नियोक्ष्यामि यदि वो रोचितो नयः ।।[1]

उनका भी समर्थन प्राप्त कर राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक किया और फिर पौर-जन से भेंट कर तथा सेना का भी निरीक्षण कर राज्य त्याग कर मथुरा चला गया -

अभिषिच्य सुतं ज्येष्ठमनुयोज्य परान्बहून् ।
ततः पौरजनं दृष्ट्वा चतुरंगबलान्वितः ।
ततः कालेन महता सम्प्राप्तो मथुरां पुरीम् ।।[2]

ऊपर राज्य छोड़ने के पहले सम्पूर्ण सेना से भेंट करना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इससे यही परिलक्षित होता है कि चलते-चलते राजा सेना का

---

१. पराठ, १५३।२२
२. वही, १५३।२८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी उद्बोधनकर गया कि अपने पैतृक-राज्य की सुरक्षा के लिए नव-नियुक्त सम्राट् को सहयोग देने तथा राज्य को बाधा-मुक्त (निष्कण्टक राज्य)[1] बनाये रखने में सेना का कर्तव्य परम आवश्यक था । इस प्रकार सभी को राष्ट्र-रक्षण का प्रबोध करते हुए राजा राज्यचिन्ता से मुक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल दिया -

कर्तव्यन्चात्मनोहितम् ।[2]

परिपालनोपदेश

सम्राट् ने राज्य-पालन करने के लिए जो उपदेश अपने अभिषिक्त-पुत्र और नव-सम्राट् को दिये वे राजा के करणीय कर्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं । इनका सम्बन्ध राजवृत्त-राजा के चरित्र और सदाचार (व्यसनों से बचना), देश-रक्षा, अमात्यों के वचनों को मानते हुए उद्योग में लगे रहना और प्रजा-रञ्जन करने से था ।[3] ये सन्दिष्ट उपदेश धर्मशास्त्र पर आधारित थे ।[4] इससे तत्कालीन राजनीतिक विचारों पर धर्मशास्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है । मेधातिथि के अनुसार राजधर्म से राज-कर्तव्य का बोध होता है ।[5] राजा के लिए इसे ही परम धर्म कहा गया है ।

---o---

---

१. वराह, १३७।१०४-१०५(१), १११(१)

२. वही, १५३।२४(१)

३. वही, १३७।१८३-१९०

४. वही, १३७।१९८ : एवं सन्दिश्य तं तत्र स राजा धर्मशास्त्रतः ।

५. ध०श०का०, पृ० २३१

राज-धर्म (राजधर्म के कर्तव्य)

राज-कर्तव्य को ही राजधर्म कहते थे । ये भिन्न भिन्न कर्तव्य कर्म राष्ट्र (देश और प्रजा) के जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित थे । सबसे महत्वपूर्ण कार्य राज्य की रक्षा करना था ।

राज्य-रक्षा

प्राचीन राजाओं ने विद्या के प्रभाव से यह जान लिया था कि मनुष्यों को राज्य, पुत्र, पत्नी आदि बहुत प्रिय हैं । वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते हैं । परन्तु यम की इच्छा कुछ और ही होती है । अतः वे `त्यागान्वित परं सुखम्`[1] यह समझ कर राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर तपस्वी हो जाते थे । इस प्रकार वृद्धावस्था में अथवा अन्य परिस्थितियों में[2] प्राचीन भारतीय शासक राज्य त्याग देने पर भी राज्य-चिन्ता को उस समय तक न त्याग सके, जब तक उन्हें यह विश्वास न होगया कि उनका पुत्र या उत्तराधिकारी सुयोग्य और सक्षम था ।[3] इससे यही सिद्ध होता है कि राज्य-रक्षा ही राजाओं का सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था -

पितृपैतामहं राज्यं पालनीयं यथाक्रमम् ।[4]

---

[1] वराह, १५३।२२-२८

[2] वही, १३७।१६५(२)

[3] वही, १०।३२-३४ : सुप्रतीकः सुतन्दृष्ट्वा पुत्रं योग्यमन्वितं ।
आत्मनो वृद्धभावं च धारणान्याधिपो बली ।
चिन्तयामास राज्यार्थं पुत्रं प्रति भामिनि ।
एवं संचिन्त्य धर्मात्मा तस्य राज्यं ददौ नृपः ।।

[4] वही, १५३।२२, द्रष्टव्य, समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख, प० ७-८

इस प्रकार राज्य को छोड़ते हुए भी राजा चिन्तित रहते थे कि उनकी वंश-सत्ता किस प्रकार सुरक्षित बनी रहेगी ।

क्षात्रधर्म

वसुन्धरा (समृद्ध देश) की रक्षा करना[1] भी क्षात्रधर्म या क्षात्रिय कर्म था ।[2] `अवनात्`[3] (रक्षण-कार्य से) से ही प्राचीन भारतीय साहित्य और कला में आदिवराह-लीला अमर बन गयी । वराह पुराण में पृथ्वी-रक्षक आदि-वराह से प्रार्थना की गयी है कि[4] वह पृथ्वी के शत्रुओं को बाहर ठेले-खदेड़े (नुदतु मम रिपूनादिदेवो वराहः) ।

राज्यवृद्धि

वराह पुराण से ज्ञात होता है[5] कि राजसिंहासन पर बैठते ही राजा को राज्य-वृद्धि की चिन्ता होती थी । इसके लिए ही वे दिग्विजय भी करते थे । सम्भवतः अशोक द्वारा कलिंग-विजय भी ऐसी ही विजय थी, जिससे वह अपने राज्य को बढ़ाना चाहता था । समुद्रगुप्त की `सर्वपृथ्वीविजय`[6] और चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा[7] `कृत्स्नपृथ्वीजय` भी राज्य-वृद्धि के लिए ही की गयी थी ।

---

[1] वराह, १५३।१०

[2] विष्णु पु०, ३।८।२७-२८ : शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका ।
तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवीपरिपालनम् ।।
धरित्रीपालनेनैव कृतकृत्या नराधिपाः ।
भवन्ति नृपतेरंशा यतो यज्ञादिकर्मणाम् ।।

[3] का०मी०, ८४।५-८

[4] वराह, १।२

[5] वही, १०।३५

[6] समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ लेख, पं० २९

[7] चन्द्रगुप्त द्वितीय का (तिथि हीन) उदयगिरि गुफा लेख, पं० ५

प्राचीन भारतीय राजाओं के सम्मुख `आसमुद्रक्षितीश` बनने का आदर्श प्रचलित था ।[1] इससे ही वह सार्वभौम सम्राट् बन सकता था । सार्वभौम सम्राट् ही सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांध सकता है ।[2] सारा लोक उसका वशवर्ती होता है ।[3] वराह पुराण के युग में भी सार्वभौम सम्राट् की आवश्यकता थी, जैसा कि सार्वभौम व्रत के माहात्म्य से सिद्ध होता है ।[4] सार्वभौम सत्ता दिग्विजय पर आधारित थी जिससे राज्य की वृद्धि होती थी और इसी से राष्ट्र की वृद्धि तथा देश में स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती थी । यही उस युग में राष्ट्र की प्रमुख आवश्यकता थी -

राष्ट्रं प्रवर्द्धतु विभो शान्तिर्भवतु नित्यश: ।[5]

काशी के सुप्रतीक नामक एक राजा ने अपने पुत्र दुर्जय को राज्य सौंप कर तपस्या करने चले गये । दुर्जय ने भी राज्य-सिंहासन पर आते ही चिन्ता की कि राज्य-वृद्धि किस प्रकार हो । उसने चतुरंगिनी सेना लेकर भारतवर्ष, किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष, रम्यक वर्ष (रम्यं रामावर्तं), कुरुभद्राश्व वर्ष और इलावृत को जीतकर वह जम्बूद्वीप का सम्राट् बन गया ।[6] यह एक महान् आदर्श था ।[7]

---

१. कुमारगुप्त प्रथम का तुमाइन लेख, पं० १ :
राजा श्री चन्द्रगुप्तस्तत्तनु जयति यो मेदिनीं सागरान्ताम् ।
२. द्रष्टव्य, समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ लेख, पं० २४ में `प्रसृतधरणिबंधस्य`
और पं० १५ में `धर्मप्राचीरबंध:`
३. स्क० का० पु०, पृ० २२३-२२४
४. वराह, ६५।१
५. वही, ६५।६
कृ० का० त०, भाग ६, पृ० ३१०
६. वराह, ८०।३५-४०
७. द्रष्टव्य, धर्मपाल का खालिमपुर ताम्रपत्र लेख, पं० २७-२८

देशरक्षा

इस प्रकार देशरक्षा क्षत्रिय का महत्वपूर्ण धर्म था । राजा अपने उत्तराधिकारी को राजधर्म की शिक्षा देता हुआ कहता है - " राज्यस्थ होकर यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे पितृगण तर जायं तो तुम्हारा यही परम धर्म है कि मैं जो कहूं वह करो ।"[1] तुमको कल्याण और न्याय के साथ अपने देश की रक्षा करना अत्यावश्यक है (रक्षणीयश्च ते देश: कुशलन्याय संज्ञित:) ।[2]

देश-रक्षा और पृथ्वी-रक्षा एक ही है । यह क्षत्रिय का स्वधर्म ही था ।[3] ब्राह्मण, गौ और राष्ट्र के लिए अपने प्राण देने वाले को स्वर्ग मिलता था ।

प्रजापालन

यह सभी जानते हैं कि राजा अपनी प्रजा का पालन करता है ।[4] प्रजापालन करने के कारण ही राजाओं को प्रजापाल कहते थे । प्रजापालों का धर्म था कि वे कुमार्ग पर चलने वाले लोगों को तीव्र दण्ड दें । उनका धर्म उन दुष्टों को भी दण्ड देना था जो निरपराध साधुओं या स्त्रियों की हिंसा करते थे । स्वेच्छाचारी और कामाचारी लोगों को भी दण्ड देना इनका धर्म था ।[5]

---

[1] वराह, १३७।१८३
[2] वही, १३७।१८६
[3] वही, २०५।१०
[4] वही, १२५।४१(१) : लोको क्षें विजानाति राजा पालयतेप्रजा ।
[5] वही, १२६।१३०-१३१ : प्रजापाला वयं भद्रे ये पि कापथेस्थिता: ।
सर्वांस्तान्दण्डयामीह तीव्र दण्डैर्यथोचितं ।।
साधून्येचापि हिंसन्ति अपराधविवर्जितान् ।
स्त्रियश्चैवापि हिंसन्ति कामाचाररता नरा: ।।

प्रजापालों को राजधर्म के अनुसार ही राजकर्म करते हुए प्रजा का अहित करने वालों का बध करना अथवा दण्ड देना (जैसा अपराध हो) भी कर्तव्य था ।[1] क्षत्रियों का यही धर्म है कि प्रजापालन करें और अपने राज्य के विरोधियों का धर्म युद्ध से बध करें ।[2]

प्रजाराग और प्रजा-प्रमोद

लोकरंजन या प्रजा-रंजन ही राजाओं का सनातन धर्म था ।[3] पुर (राजधानी) और जनपद (देश के अन्य भाग) में बसने वाली जनता को सन्तुष्ट रखना (तोषयामास पौरान्जानपदांस्तथा)[3अ] भी राजा का महत्वपूर्ण धर्म था । प्रजा के साथ ममत्व और प्रेम करता हुआ (प्रजानुरागवान्)[4] उसे आनन्द पहुंचाये (प्रजानन्दकरः)[5] । प्रजा-प्रमोद विशेषकर ब्राह्मण को प्रसन्न रखना भी महत्वपूर्ण राज-कर्तव्य था ।[6]

---

१. वराह, १२६।१३२ : ते दण्ड्याश्चैव वध्याश्च राजधर्मायथार्थतः ।
यथापि राजधर्मो वै कर्तव्यो राजकर्मणि ।।

२. विष्णु पु०, ६।७।३: क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम् ।
वधश्च धर्मयुद्धेन स्वराज्य परिपन्थिनाम् ।।

३. शान्तिपर्व, ५७।११(१) : लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः
प्रकृति रंजन से ही राजा का `राजा` नाम पड़ा (रघुवंश ४।१२) ।

३ अ. वराह, १३७।८७(२)

४. वराह, १३७।१७८(१)
महाभारत, द्रोणपर्व (६६।१) के अनुसार प्रजानुराग से ही `राजा` शब्द प्रचलित हुआ ।

५. वराह, १३७।७४(२)

६. वही, १३७।१८६ : प्रजायेन प्रमोदन्ति येन तुष्यन्ति ब्राह्मणाः ।
एवं ते पुत्र कर्तव्य मम प्रिय चिकीर्षुणा ।।

उत्थान

महाभारत में राजाओं के लिए उत्थान को बहुत महत्व दिया गया है । भीष्म उत्थान को प्रारब्ध (दैव) से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं । उनके अनुसार राजा को सदैव उद्योगशील होना चाहिए । बुद्धि और पराक्रम राजा के कार्यसाधक माने गये हैं । पराक्रम से वह पृथ्वी को प्राप्त करता है । उसे सदैव उद्यमशील रहना चाहिए । उद्यम ही पौरुष है । अकर्मक पुरुष कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता ।[1] इस उत्थान-धर्म से क्षत्रिय राजा का जीवन संग्राम-धर्म और युद्ध से सम्बन्धित था । राजा को स्वयं अपने आप और अपनी सेना को युद्ध के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए था ।[2] भीष्म युधिष्ठिर से सत्य ही कहते हैं -

> उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर ।
> न ह्युत्थानमृते दैवं राजार्थं प्रसाधयेत् ।।[3]

आगे भी कहते हैं -

> नित्योद्युक्तेन वै राजा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
> प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ।।[4]

यहाँ भीष्म का तात्पर्य है कि राजा स्त्री की भाँति घर पर न बैठा रहे । वह बाहर निकले और निकले सेना के साथ विजय तथा राज्यवृद्धि के लिए । भीष्म स्पष्ट कहते हैं कि जैसे बिल में रहने वाले चूहे को साँप निगल जाता है,

---

[1] म०रा०व्य०, पृ० ५८

[2] महा०, शान्तिपर्व, ५५।१४-१६

[3] वही, ५६।१४

[4] वही, ५७।१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसी प्रकार राजा भी दूसरों से युद्ध किये बिना नष्ट हो जाता है।[1] यही मनु का भी मत है कि राजा सेना को सदैव तैयार रखे, अपने पुरुषार्थ को प्रदर्शित करता रहे और अपने गुप्त (मंत्र) को गुप्त रख तथा शत्रु के छिद्रों पर ध्यान रखे (अर्थात् शत्रु में छिद्र दोष या दुर्बलता होते ही उस पर आक्रमण कर दे)। सर्वदा सैनिक शक्ति के तैयार रहने से संसार डरता रहता है --- ।[2] विष्णु स्मृति[3] भी कहती है कि चैत्र या मार्गशीर्ष में राजा विजय के लिए निकल पड़े।

महाभारत और मनुस्मृति की भांति वराह पुराण में भी राजा अपने युवराज पुत्र को राजधर्म के उपदेश में ही कहता है -

रक्षणीयश्च ते देशः कुशलन्यायसज्जितः ।
नित्योद्युक्तेन स्थातव्यममात्यवचः कुरु ॥[4]

अर्थात् अमात्य की सलाह मानते हुए नित्य उद्योग-शील रह कर देश की रक्षा करनी चाहिए। यहाँ ` नित्योद्युक्तेन स्थातव्यं ` में महाभारत की निम्नांकित पंक्ति का ही संक्षिप्त रूप है :-

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ॥[5]

इस प्रकार उद्यम अथवा उद्योग से ही देश रक्षा भी की जा सकती थी और इसी से राज्यवृद्धि भी होती थी। वराह पुराण के युग में देश की रक्षा के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त की विशेष आवश्यकता थी।

---

[1] महा०, शान्तिपर्व, ५७।३
[2] मनु, ७।१०२-१०३
[3] विष्णु स्मृति, १।३।४०
[4] वराह, १३७।१८७
[5] महा०, शान्तिपर्व, ५७।१(१)
शब्दकल्पद्रुम, भाग १, पृ० २४२ :
` उद्युक्तः = उद्यम युक्तः । उद्योगः सैन्य निर्माणं -- ।`

आत्मरक्षा

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश की रक्षा, राज्य-वृद्धि, प्रजापालन और प्रजारन्जन राजा के मुख्य कर्तव्य थे।[२] परन्तु ये सभी कर्म राजा की सुरक्षा पर ही निर्भर थे। अतः राजा ने पुत्र को यही शिक्षा दी कि वह अपने शरीर की भी रक्षा अवश्य करे (अवश्यमेव कर्तव्यं शरीरपरिरक्षणम्)।[१]

सस्य-संरक्षण

कृषि प्रधान भारत में कृषि की उन्नति का विशेष महत्व है। महाभारत से ऐसा ज्ञात होता है कि " कृषि की उन्नति और कृषकों को आवश्यक सहायता देना राजा के धर्म माने गये हैं। इस प्रसंग में नारद द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गये प्रश्न महत्वपूर्ण हैं - क्या तुम्हारे राज्य में कृषि कार्य भलीभांति होता है? राज्य के समस्त भागों में जल से भरे तड़ाग बनवाये गये हैं? कृषक केवल वर्षा के आश्रित तो नहीं हैं? उनका अन्न और बीज नष्ट तो नहीं होता है?"[२] वराह पुराण कहता है कि वैश्य का कर्म कृषि था। परन्तु राजन्य सस्य-गोप्ता[३] था।

राजा के धार्मिक कर्तव्य

ऊपर कहा गया है कि धार्मिकता एक महत्वपूर्ण राजगुण था। सत्य को ही बल मानने वाले (सत्य विक्रमः) धार्मिक राजाओं के भी उल्लेख मिलते हैं। यज्ञ करना और दान देना उनका प्रथित धार्मिक कर्तव्य था।[४]

---

१. वराह, १३७।१८८

२. ए०इं०८, पृ० ४२
   दृष्टव्य, रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ शिला लेख, पं० ६-९, १६-१८

३. वराह, १६३।१८७

४. वही, १८०।२

अवन्ति-नरेश मेधातिथि सदृश धार्मिक राजा प्रतिदिन ब्राह्मणों को गायें दान करते थे ।[1] वे श्राद्ध भी करते थे ।[2]

परन्तु उनका सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य था कि राष्ट्र में धर्म की वृद्धि हो और अधर्म तथा अनाचार, व्यभिचार का नाश हो । यदि उनकी तुलना यम (धर्मराज) से की गयी थी तो उसके साथ यही भावना जुड़ी हुयी थी कि वे पापाचारियों[3] को देश से भगायें और नष्ट करें तथा धर्मरत और संयमी लोगों की रक्षा करें । इस प्रकार[4] उनकी तुलना गोपाल से भी की गयी है (ताडयन्ति -- गोपाला इव दण्डेन) । सत्य ही कहा गया है -

यथा लोको यथा राजा यथा मृत्युः सनातनः ।[5]

राजा अथवा राजभृत्यों के अन्याय और अत्याचार से भी[6] राष्ट्र में आपत्तियां आती थीं । वर्णसंकरता और कर्मसंकरता पाप-कर्म थे । इस अधर्म को रोकना राजकर्म था ।

इस धर्म-स्थापन और सदाचार-शिक्षा में धर्मराज की सभा की भांति राजसभा में भी मनु, प्रजापति, पाराशर्य, अत्रि, औद्दालकि, आपस्तम्ब, बृहस्पति, शुक्र, गौतम, शंख, लिखित, अंगिरा, भृगु, पुलस्त्य, पुलह के समान धर्मज्ञ[7] धर्मपाठक और अन्य शास्त्र-चिन्तक रहते थे, जो राजा का पथ प्रदर्शन करते थे । अन्य

---

[1] वराह, १८६।२४

[2] वही, १८६।२५-२६, ४०-४३

[3] वही, १९९।२-३

[4] वही, १९९।२१

[5] वही, २०१।५८(१)

[6] वही, २०३।४६-६०

[7] वही, १९७।१४-१८

साक्ष्यों[1] से भी सिद्ध होता है कि राज-सभा विद्वान-विचारकों से अलंकृत रहती थीं। इस प्रकार धर्म की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्तव्य था। धर्म ही रक्षक माना गया है -

धर्मो रक्षति रक्षितः।[2]

यज्ञ

धार्मिक कृत्यों में यज्ञ करना अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्य था। ‘यज्ञ’ अथवा ‘यज्ञ-मूर्ति’ भगवान वासुदेव का ही स्वरूप माना गया है। अतः उन यज्ञेश्वर की उपासना करना राजाओं का मुख्य धर्म था।[3] राजसूय,[4] वाजपेय,[5] अश्वमेध[6] (हयमेध)[7] और सर्वमेध प्रसिद्ध यज्ञों को राजा लोग[8] भी अत्यन्त उत्साह और महत्वाकांक्षा के साथ करते थे। इनमें राजसूयाश्वमेध प्रसिद्ध और पवित्र यज्ञ थीं जिनका महत्फल बताया गया है। केवल इनके नाम ही प्राप्त होते हैं।

राजा लोग तीर्थ यात्रा[9] भी करते थे।

प्रशासकीय कार्य

राज्य-सुरक्षा और सुशासन के लिए भिन्न भिन्न प्रदेशों, प्रान्तों के प्रशासकों

---

१. का०मी०, पृ ५४-५५
२. वराह, १९३।४७, मनु, ८।१५
३. वही, १०।२-३, विष्णु पु
४. वही, १५२।५६, १५५।६६
५. वही, १२६।७६, १५५।६६
६. वही, ४२।१५, ९९।६२, १००।१४
७. वही, १६०।७
८. वही, १५५।४, १६४।१९,३५
९. वही, १२६।१८६-१८८, १५३।२०,२१,२८,२९

अथवा अन्य महत्वपूर्ण राज्याधिकारियों की नियुक्ति भी राजा ही करता था । राजा अपने पुत्रों अथवा दौहित्रों को गोप्ताओं (गवर्नरों) को पृथ्वी-पालन के लिए विभिन्न `स्थानों` पर नियुक्त करता था । सौराष्ट्र-नरेश के सात पुत्र और पांच कन्यायें थीं । उसने सातों पुत्रों को `स्थानों` में वसुधाधिप नियुक्त किया[१] और इसी प्रकार उसने अपने दौहित्रों को भी स्थानों पर नियुक्त किया ।[२] उसके बाद उसने राज्य त्याग दिया । यहां स्थान शब्द का ही प्रयोग किया गया है । इसीलिए स्थान के वसुधाधिप गवर्नर ही प्रतीत होते हैं ।

इनमें सबसे महत्वपूर्ण कार्य सम्पूर्ण राज्य के शासक की नियुक्ति करना था । यह अत्यन्त राज्य-चिन्ता का विषय था ।

आन्हिक-कर्म

नीति शास्त्र के ग्रन्थों और स्मृतियों में राजा का दैनिक कार्यक्रम वर्णित मिलता है । वराह पुराण से भी ज्ञात होता है कि राजाओं और ऋषियों का जीवन नियमित दैनिक-कर्मों पर आधारित था ।[३] यहां हमें राजा की दिन-चर्या का विवरण नहीं मिलता है । परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि राजा सूर्यास्त के सान्ध्य-कर्मों के बाद रात्रि में सोते थे । प्रातः, प्रभातवेला में ही सूत, मागध, बन्दिगण, वैतालिक और सभी मंगलपाठ करने वाले राजा को जगाते थे ।[४]

---

१. वराह, १५३।१५

२. वही, १५३।२१

३. वही, १६३।१, मनु, ७।१४५-१४७, २१६-२२६, कौ०अ०, १।१९

४. वही, १३७।१२३-१२४, १।१७६-१८१

उपाधियां

राजा का महत्व और वैभव उसके लिए उल्लिखित उपाधियों से परिलक्षित होता है । वराह पुराण में निम्नलिखित उपाधियों का उल्लेख मिलता है :-

राजा,[१] महाराज[२] या महाधिप,[३] राजराज,[४] जनेश्वर,[५] जनाधिप,[६] नृपति,[७] नराधिप,[८] प्रजापाल,[९] भूपाल[१०] और पृथिवीपति[११] ।

राजा की उपाधि का सम्बन्ध उसके द्वारा प्रजारंजन और प्रजा-अनुराग से है । `महाराज` या महाधिप उसके उच्चतर शक्ति का परिचायक है । राजराज उसके सार्वभौम स्वरूप अथवा उसके जम्बूद्वीप[१२] के प्रभुत्व पर आधारित थी । जनाधिप जनेश्वर और नृपति या नरपति उसकी प्रजा से सम्बन्धित उपाधियां थीं । प्रजापाल (प्रजा का रक्षक) भी प्रजा से सम्बन्धित है । भूपाल या पृथ्वीपति की उपाधि भूमि या देश के रक्षण और पालन से सम्बन्धित थी । इस प्रकार इन उपाधियों से भी राजा का उसकी भूमि (देश) और प्रजा के प्रति कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालता है ।

State Museum Library Lucknow 7225

---

१. वराह, १३०।१५(१)
२. वही, १२६।१६८, २०६, १३७।१५२
३. वही, १३७।१४६
४. वही, १३६।१०१
५. वही, १२६।१६६
६. वही, १२६।१६६, १६६(१), १३७।१६७,२१५,२१७
७. वही, १२६।२०८, १३७।१२८
८. वही, १५३।२०, १६२।४१
९. वही, १२६।१३०(१)
१०. वही, १२६।१८६(१)
११. वही, १५३।६
१२. वही, १३६।१०१ : यस्तु जागरते नित्यंगोत्सवापेन नरेन्द्रः ।
जम्बूद्वीपं संप्राप्य राजराजस्तु जायते ॥

चक्रवर्तित्व

राजा या राजकुमार को रत्नभागी[1] अथवा रत्नों का पात्र (रत्नानां भाजनं राजा)[2] कहा गया है । इससे राजा के चक्रवर्तित्व पर प्रकाश पड़ता है । चक्रवर्ती सम्राट् को सात रत्नों से युक्त कहा गया है । (सप्तरत्नवान्सम्राट् चक्रवर्ती)[3] । स्कन्द पुराण के अनुसार मणि, उच्चैःश्रवा (अश्वरत्न), गज (ऐरावत), तरु-रत्न पारिजात, स्त्रीरत्न (उर्वशी), नन्दन-वन (वन रत्न) और मंदाकिनी (जलरत्न) हैं ।[4] वायु पुराण के अनुसार सात रत्न-चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज ही सभी चक्रवर्ती सम्राटों के चिह्न हैं ।[5]

वायु और ब्रह्माण्ड पुराण इन सात रत्नों के अतिरिक्त अन्य सात रत्नों का भी उल्लेख करते हैं । इस प्रकार यहां चौदह रत्नों को दो भागों में विभाजित किया गया है :-

१. सात प्राणहीन रत्न - चक्र, रथ, मणि, खड्ग, धनुष, केतु (ध्वज) और निधि हैं ।

---

१. वराह, १४८।५४(२) : रत्नभागी भवेद्वीर राजलक्षण लक्षितः ।
२. वही, ११।७२ : रत्नानां भाजनं राजा मणिं तस्मै प्रदीयताम् ।
अनात्मनैवमुक्तस्तु क्रुद्धो गौर मुखो ब्रवीत् ।।
३. स्कन्द, ७।१।२०।१२, हर्ष चरित, उच्छ्वास ४, पृ० १८४
४. वही, ४।१।१०।६-१३, दूसरे स्थान पर पूरे नाम नहीं दिये गये हैं ।
वही, ७।२।१७।३० : गजाश्वकल्पवृक्षाद्याश्चस्त्रीगोभिमावर्तिनः ।।
५. वायु, १।५७।६८, ब्रह्मांड, २।२६।७४, का०मी०, ६२
इन्हें कला में भी मूर्त रूप में पाते हैं (ए०आ०, प्लेट ५६, फिगर २१४बी)

२. सात प्राणवन्तरत्नों में भार्या (राजमहिषी), पुरोहित, सेनानी, रथकृत्, मन्त्री, अश्व और गज सम्मिलित हैं ।[१] ये सभी राजा के लिए भद्र कहे गये हैं जिनसे राजा में बल, धर्म, सुख और धन की वृद्धि होती है । इन्हीं से अर्थ, धर्म, काम, यश और विजय की सिद्धि होती है । अतः ये चौदहों रत्न सभी चक्रवर्ती सम्राटों के अधीन बताये गये हैं । शरीर में लक्षणों से भी इनका ज्ञान होता है । ये ही राजलक्षण हैं ।

राजा और प्रजा

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि राजत्व की प्रतिष्ठा का मूलाधार प्रजानन्द और प्रजा वृद्धि[२] थी । राजत्व राजा के गुणों, कर्त्तव्यों और चरित्र-शुचिता पर आधारित था । धर्म-व्यवस्था में राजा और प्रजा, दोनों का ही कर्त्तव्य स्वधर्म पालन करना था । राजा निरंकुश स्वेच्छाचारी नहीं था । उसके ऊपर धर्म का अंकुश था । उसकी नीति तथा कार्यों को पौर-जन तथा वृद्धामात्य का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था । स्वयं उसे भी विद्या-चक्षु (शास्त्र दृष्टि) से सर्वलोकहित और राष्ट्र की वृद्धि ही करणीय थी । राष्ट्र-शान्ति स्थापित करना उसका धर्म था । उसे सत्य ही प्रजापाल कहा गया है । प्रजापाल के निम्नांकित प्रमुख कर्त्तव्य थे :-

१. कुमार्गी लोगों को दण्ड देना, तथा उद्धत और अहितकारी जीवों को नष्ट करना, तथा
२. निरपराध साधुओं और स्त्रियों को पीड़ा पहुंचाने वालों तथा कामकारों को तीव्र दण्ड देना था ।
३. राजकर्म में राजधर्म का पालन करना और तदनुसार दण्डव्यवस्था चलाना भी उसका प्रमुख कर्त्तव्य था ।

---

[१] वायु, १।५७।६९-७७
[२] वराह, ७४।१, पृ० ३३२ : तस्य पुत्रशतं ह्यो तेनेमा वर्द्धिता प्रजाः ।

राज धर्म - राजा के कर्तव्यों का यही सार है कि राजा प्रजा के योग-क्षेम[1] का वहन करे और राष्ट्र में शान्ति, सुख और समृद्धि के साथ साथ मर्यादा को बनाये रखे। प्रजा का भी कर्तव्य था कि वह केवल कर ही नहीं दे, प्रत्युत अपनी सम्पूर्ण शक्ति और भक्ति भी राजा को देव-विष्णु मान कर अर्पित कर दे। इस प्रकार `परस्परं भावयन्तः` राजा और प्रजा ऐहिक सुख भोजन कर निःश्रेयस को प्राप्त करते थे। राजा और राष्ट्र (राजः सराष्ट्रस्य) की ही कुशलता (क्षेम) सभी सज्जनों और विचारकों को अभीष्ट थी। मत्स्य, अग्नि, और विष्णुधर्मोत्तर पुराणों के अनुसार राज्य के सात अंगों - स्वामी, अमात्य, जनपद, बल, दुर्ग, कोश और मित्र - का मूल राजा है। इसीलिए उसकी रक्षा करना सभी अंगों का धर्म था। राजा का भी शेष छः अंगों की रक्षा करना धर्म था। जो एक भी अंग के साथ द्रोह करे उसको तुरन्त ही मार डालना आवश्यक था (मत्स्य के अनुसार उसे बन्दी बना लेना चाहिए)। इससे भी स्पष्ट है कि राजा जनपद आदि की रक्षा करता था और[2] प्रजा वर्ग (जनपद, बल, अमात्य आदि) का कर्तव्य राजा की रक्षा करना था।

---

[1] मत्स्य, २१४।५२-५३ इत्यादि

[2] अग्नि, २१२।१२, वि० ध०, २।६५।२१-२३, मत्स्य, २२०।१६-२२

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अमात्य

"न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम्"

"बिना अमात्य के राज्य तीन दिन भी नहीं चल सकता है ।"[1]

भारत के राजशास्त्र प्रणेता निरंकुश शासन के सर्वथा विरुद्ध थे । अतएव उन्होंने अमात्य को राज्य की सप्त प्रकृतियों में द्वितीय स्थान प्रदान किया है । सभी आचार्य मंत्रि-पद के महत्व को स्वीकार करते हैं । मनु का कथन है कि अकेला व्यक्ति साधारण कार्य भी नहीं कर सकता है,[2] फिर गुरुतर राजकार्य दूसरों की सहायता के बिना कैसे चल सकता है । कौटिल्य के अनुसार भी एक पहिये का रथ नहीं चल सकता, अर्थात् रथ-रूपी राज्य अकेले राजा से नहीं चल सकता । राजा और मंत्री रूपी दो पहिये ही उसे गति दे सकते हैं ।[3] सोमदेव के अनुसार जो राजा अपने मंत्रियों की अवहेलना करेगा, वह शत्रुओं से पराभूत हो जायगा ।[4] इसीलिए राजा अपने युवराज को आदेश देकर कह रहा था कि अमात्यों की बात ध्यान से सुनना आवश्यक था ।[5]

ऊपर राजत्व के वर्णन में यह कहा जा चुका है कि उत्तराधिकारी की नियुक्ति में अमात्यों का महत्वपूर्ण स्थान था । यही नहीं नव-नियुक्त राजा को भी उसके पिता का आदेश था कि वे अमात्यों के वचनों की अवहेलना

---

[1] महा० शान्तिपर्व, १०६।११(२)

[2] म० रा० व्य०, पृ० १००,
द्रष्टव्य, रामा० अयोध्या कां०, १००।२६, महा० शान्तिपर्व, १०६।११(२)

[3] मनु, ७।५५

[4] कौ० अ०, १।७

[5] नीतिवाक्यामृत, १०

न करें। उनके वचनों पर गम्भीरता से विचार करें।[१] उन्हें मंत्रियों के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार और शिष्ट भाषा का प्रयोग करना वांछनीय था।[२] उनके प्रति अप्रिय बात न कहना राजधर्म था। इस प्रकार वराह पुराण से भी ज्ञात होता है कि राज्य, राज-सभा और राजकर्म में अमात्यों का महत्वपूर्ण स्थान था।

मंत्रिपरिषद्

वराह पुराण में अमात्य,[३] सचिव[४] और मंत्री[५] के उल्लेख मिलते हैं। प्रायः ये पर्यायवाची रूप में ही प्रयुक्त किये गये हैं। यहां इनमें भेद का उल्लेख नहीं किया गया है। संभवतः `वृद्धामात्य` ही महामात्य था। यह नीतिशास्त्र और अर्थतत्व का ज्ञाता धर्मपंडित (धर्म स्वरूप,[६] सर्वधर्मों का ज्ञाता) था (वृद्धामात्यम् -- धर्मपंडितम्। नीतिशास्त्रार्थ तत्वज्ञम्)। सभी मंत्रियों या सचिवों की उपस्थिति में राजा ने अपने पुत्र-अभिषेक का प्रस्ताव रखा। सभी सचिवों ने इसका अनुमोदन किया।[७] इससे स्पष्ट है कि यह कार्य मंत्रि-परिषद् (मंत्रियों की सभा) में सम्पन्न हुआ होगा जिसकी अध्यक्षता वृद्धामात्य कर रहे थे।

---

[१] वराह, १३७।१८८(१) : अमात्यो यद्वचो ब्रूयात्तस्य कार्यं विमर्शनम्।

[२] वही, १३७।१९० : अमात्यं नाप्रियं ब्रूया यमिच्छे राजकर्मणि।

[३] वही, ११।७२, १२६।१७४,१७५, १३७।१७३,१७६, २०१।१९

[४] वही, १३७।१७४,१७७

[५] वही, ११।७०, ६३।२-४,१३, १९९।६,८

[६] वही, १३७।१७५
स्कन्द (३।१।३१।१०) के अनुसार दुर्योधन के शिविर में बहुत से वृद्धामात्य उपस्थित थे (वृद्धैरमात्यैश्चान्यैः:-----)।

[७] वराह, १३७।१७३-१७७

मंत्रि-मण्डल

राजा की सहायता के लिए एक बड़ा मंत्रिमंडल होता था, ---- परन्तु राजा केवल आठ मंत्रियों से ही मंत्रणा करता था । --- भीष्म के अनुसार बहुसंख्यक मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने से मंत्रभेद का भय रहता है । अतः वह राजा को आठ या उससे कम मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने का आदेश देते हैं ।[1] वराह पुराण से भी ज्ञात होता है कि आठ मंत्रियों का महत्वपूर्ण मंत्रिमंडल था जो राजा के अत्यन्त विश्वासपात्र, कुशल और मंत्रियों में श्रेष्ठ (मन्त्रिवरास्तस्य प्राधान्येन प्रकीर्तिताः) ।[2]

महाभारत की भांति ही वराह से भी ज्ञात होता है कि राज-सभा में बहुत मंत्री होते थे जिनमें केवल आठ विशिष्ट गुणों से विभूषित मंत्रि-पद कहलाते थे :-

तस्यैव चिन्तयन्नर्थं न लेभे दैत्यसत्तमः ।
मन्त्रिणान्चानयामास अलंमणिगमुत्तमम् ।।
तस्याष्टौ मन्त्रिणः शूरा नीतिमन्तो बहुश्रुताः ।
प्रघसो विघसश्चैव संहुतार्को विभावसुः ।
विद्युन्माली सुमाली च पर्जन्यः शूर एव च ।।[3]
एते मन्त्रिवरास्तस्य प्राधान्येन प्रकीर्तिताः ।

रामायण से ज्ञात होता है कि मंत्रियों की संख्या आठ थी ।[4]

---

१. म०रा०व्य०, पृ० १२२
२. वराह, ६३।४१
३. वही, ६३।२-४(१)
४. रामा० बाल कां०, ७।२

मंत्रियों की शिक्षा व योग्यता

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि मंत्री-गण सम्यक शिक्षित और विद्वान तथा वीर होते थे । वे शूर, नीतिसम्पन्न और बहुश्रुत बताये गये हैं । शूरता, नीतिज्ञान और बहुत से विषयों का ज्ञान होना उनके प्रमुख गुण थे ।[1] रामायण[2] के अनुसार उन्हें पवित्राचरण वाला और सदैव राजकार्य में अनुरक्त कहा गया है ।

मंत्रियों के कार्य

मंत्रियों का मुख्य कर्तव्य राजा को मंत्रणा देना था । देवी को प्राप्त करने के लिए नारद द्वारा प्रेरित किये जाने पर महिष-असुर इतना चिन्तित हो गया कि उसे चैन नहीं थी (तामेव चिन्तयन्शर्मं[3] न लेभे दैत्यराण्मनः) । इसीलिए उसने अपने उपर्युक्त आठ मंत्रियों को बुलाया था । इससे स्पष्ट है कि राजा और राष्ट्र की किसी गम्भीर समस्या पर विचार कर उपाय सोचना मंत्रियों का कार्य था । महिषासुर ने उन मंत्रियों से उपाय पूछा[4] कि " किस प्रकार वह उस कन्या-रत्न (देवी) को प्राप्त कर सकता है ।" सभी मंत्रियों ने बारी बारी से अपने विचारों को व्यक्त किया ।

सर्व प्रथम प्रघस ने बोलना प्रारम्भ किया । उसने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा कि " वह कन्या, वैष्णवी शक्ति है । इसी प्रकार जो राजा

---

१. वराह, ९३।३

२. रामा० बाल कां०, ७।२ : अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥

३. वराह, ९३।२-३

४. वही, ९३।५-७

गुरुपत्नी, राजपत्नी या सामन्त-स्त्री को बलपूर्वक ग्रहण करने की इच्छा करता है, वह नष्ट हो जाता है।"

इसके बाद प्रथम की मन्त्रणा का समर्थन (सम्यगुक्तं प्रथमेन) करते हुए द्वितीय ने कहा - " पवित्र बुद्धि से यही उचित है कि विजिगीषु (राजाओं) द्वारा कुमारी वरण करने के योग्य है। परन्तु स्वतन्त्र रूप से उसका प्रकर्षण (अपहरण) ठीक नहीं है।" उसने अन्य मन्त्रियों को भी सम्बोधित करते हुए कहा - " यदि आप लोगों को यह बात रुचिकर लगती है तो मन्त्री लोग जाकर उसके बन्धु से उसे मांगें (देवीं गत्वा याचन्तु मन्त्रिणः)। इसके बाद उसने उपाय-नीति (साम, प्रदान, भेद और दण्ड) का क्रमानुसार प्रयोग करना आवश्यक बताया। साम, दान और भेद के असफल होने पर ही बल (दण्ड) का प्रयोग करना चाहिए।" अन्य मन्त्रियों ने भी द्वितीय की मन्त्रणा-नीति को ही `शुभ` और `साधु` बताया।[1]

इस प्रकार निश्चित किया गया कि `पवित्राचरण[2] और शुद्ध (शुचिः), शब्दनीति का जानने वाला तथा शौर्य से युक्त दूत भेजा जाय।` उसे उस[3] देवी के स्वरूप और गुणों का भी ज्ञान प्राप्त कर ही[4] उचित कार्य किया जाय।` इस प्रकार दूत भी मंत्रिमंडल का एक सदस्य था। इस विवरण से मन्त्रियों के कार्य और दूरदर्शिता तथा उनकी राज-हित की भावना का ज्ञान होता है।

---

१. वरांग, ६३।६-१७(१)
२. वही, ६३।१७(२)-१८(१)
३. वही, ६३।१८(२)-१९
४. म०रा०व्य०, पृ० २३६-२३७
प्रस्ताव किया गया था कि किसी मंत्री को भेजा जाय (वरांग,६३।१३)। इस प्रकार भेजा हुआ दूत निस्संदेह एक मंत्री ही रहा होगा, जैसा कि उसके गुणों और योग्यता से भी सिद्ध होता है।
- द्रष्टव्य, नी०वा०, ११९

पुरोहित

राज-तन्त्र में पुरोहित का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था । उसे भी एक रत्न कहा गया है (ऊपर देखिए) । प्रसिद्ध नीति-विचारक शुक्र[1] असुरों का पुरोहित था जिसका वहाँ की राजनीति और जीवन पर अत्यधिक प्रभाव था ।[2] देव-पक्ष में बृहस्पति (देवानाञ्च बृहस्पतिः)[3] का प्रभाव था । पुरोहित वसिष्ठ[4] भी प्रसिद्ध ही थे । अवन्ति-नरेश मेधातिथि के यहाँ आत्रेय-गोत्र में उत्पन्न चन्द्रशर्मा वेद-वाद में निष्णात पुरोहित था ।

पुरोहित का प्रमुख कर्तव्य राजा को श्राद्ध आदि धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में सहायता करना था ।[5] बृहस्पति को हम देवताओं की पराजय का विश्लेषण कर कारणों पर विमर्श करते हुए पाते हैं और बृहस्पति ने ही बताया था कि देवासुर युद्ध में देवताओं की पराजय का कारण देवसेना में नायक का अभाव था । इसी प्रकार असुर-पक्ष के हित-चिन्तक शुक्र थे । वसिष्ठ भी राजा श्वेत के हित को ही ध्यान में रखकर उनके पुरोहित थे । इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरोहित का पद और कार्य प्रभावपूर्ण था । सम्भवतः पुरोहित भी एक मंत्री ही था ।

परन्तु कभी कभी मूर्ख पुरोहितों (पुरोहिता मूर्खाः)[6] का भी अभाव न था ।

---

[1] वराङ्ग, १६।१४
[2] वही, १६।१५-१८, यहाँ वरमाख्यान के सम्बन्ध में साम नीति का उल्लेख है ।
[3] वही, २५।११
[4] वही, ६६।४३-५१ इत्यादि
[5] वही, ६८।२३
[6] वही, ४६।१७

सभा-समिति एवं जनसंसद

राजकार्य पर विचार-विमर्श राजसभा में ही होता था । वहां राजा सभा[1] में विराजमान रहता था और उसकी सहायता के लिए मंत्री, पुरोहित, सेनापति, दूत आदि सभ्य भी उपस्थित रहते थे । वराह पुराण में सभा,[2] समिति[3] और जनसंसद[4] के उल्लेख मिलते हैं । सभा और समिति वैदिक-युग में ही प्रसिद्ध राजनीतिक संस्थाएं थीं ।[5] ‘सभा और समिति का वैदिक-काल में बड़ा ऊंचा स्थान था । --- वैदिक कालीन भारत के गांव गांव में ये संस्थाएं थीं ।[6]’ --- आगे चलकर शनैः शनैः उनके महत्व और अधिकार में कमी होती गयी । आगे चलकर ऐतिहासिक युग में राजतन्त्र के विकास के साथ साथ उनका स्वरूप ‘असेम्बली’, ‘पार्लियामेन्ट’ अथवा ‘राजसभा’ की भांति ही रह गया[7] ।

वराह पुराण से उनके स्वरूप और कार्य पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता है । जनसंसद में हम पौर-जानपदों को विचार-विमर्श करते हुए[8] पाते हैं । कोशल राज्य की जनसंसद में राजपुत्र और उसकी पत्नी के प्रीति-विच्छेद सम्बन्धी समस्या पर विचार किया गया था ।[9] वहां राजपुत्र और वधू के विचारों को सभा ने

---

१. वराह, १६८।१
२. वही, १६८।१
३. वही, ६३।३०
४. वही, १२६।१५०,१५१
५. हि० रा० शा०, प्रकरण २-३, पृ० ११-२५
६. प्रा० भा० शा० प०, पृ० १००-१०१
७. म० रा० भा०, पृ० २२०-२२१
८. वराह, १३७।२९९
९. वही, १२६।१५० : वधूवाक्यं श्रुत्वा कोशलानां जनेश्वरः ।
उवाच मधुरं वाक्यमनुमान्यमनसंधि ॥

सदस्यों ने सुना । वहाँ राजा के अतिरिक्त अमात्य भी उपस्थित थे । परन्तु कुछ विशेष बातें केवल पिता और पुत्र में अलग एकान्त स्थान में हुईं । परन्तु[1] राजा ने पुत्र के साथ होने वाली बातचीत को मंत्रियों को भी बताया था । इसी प्रकार युवराज की नियुक्ति और उसके अभिषेक की समस्यायें भी जन-संसद में ही तय की जाती होंगी ।[2]

इस प्रकार राजकार्य में अमात्यों का महत्व स्पष्ट है । वे निर्भीक होकर राजा के हिताहित की बात कह कर उसको धर्मानुसार शासन करने में सक्रिय योग देते थे । वराह पुराण में धूर्त, स्वार्थी तथा चाटुकार मंत्रियों का उल्लेख नहीं मिलता है । राजा और मंत्रियों के बीच सौहार्द्र पूर्ण सम्बन्ध थे । सत्य ही राजा को ‘सचिव-सखः’[3] कहा गया है जिसका भाव यह है कि राजा और उसके मंत्री सदा पूर्णरूपेण एकमत से काम करते थे ।

---

१. वराह, १२४।१६३-१७५

२. वही, १३०।१००-१०४

३. रघुवंश, ४।८७
भा०भा०, पृ० १८७

बल (सैन्य - व्यवस्था)

राज्य के सप्तांगों में बल[1] को भी एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है। यह सेना का ही पर्यायवाची शब्द है जिससे सिद्ध होता है कि सेना ही राज्य का बल[2] था जिस पर उसकी सुरक्षा निर्भर थी। इसीलिए कामन्दक सेना को महत्व देते हुए कहते हैं कि "सेना से ही मित्र, अमित्र, हिरण्य (सोना, धन, सम्पत्ति) और भूमि का प्रसाधन होता है, सेना से ही दूर का कार्य भी जल्दी ही हो जाता है, सेना से ही प्राप्त सम्पत्ति की रक्षा भी होती है और दण्ड-शक्ति से ही शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। दण्ड की सहायता से ही राजा पृथ्वी को जीत कर भोगता है। सेना के व्यसनग्रस्त होने पर ही यह सब नष्ट हो जाता है।"[3] सत्य ही बलवान् पुरुष या राष्ट्र ही सुखी रहता है। निर्बल व्यक्ति या राष्ट्र की दुर्गति ही होती है। वराह पुराण के अनुसार राजा की उत्पत्ति सैनिक आवश्यकता से हुई थी। राजा अपने युवराज को भी सदैव उद्यत रहने की शिक्षा भी देता था। अतः वराह पुराण के युग में सैनिक शक्ति और उसकी समुचित व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया गया है।

राष्ट्र-रक्षक क्षत्रिय विश्वसृत् (विराट पुरुष) की भुजाओं[4] - दैवी शक्ति - से उत्पन्न राष्ट्र की रक्षात्मक शक्ति थी। क्षत्रिय को प्रहरण-शिक्षा (आयुध-शिक्षा) मिलती थी।[5] शस्त्रों का प्रयोग करना ही क्षत्रिय कर्म था।

---

१. वराह, १२२।६१,६२
२. वही, १०।७०, ११।६०,६३, ६६।७,८, १३७।१६३
३. काम०नी०, १९।३५-३७
४. वराह, ३।१६
५. वही, १२८।१
६. वही, १२८।६ के बाद श्लोक

राजकुमार, मंत्री और दूतों को भी शूर कहा गया है। दूत को विशेष रूप से 'सर्वशस्त्रनीतिज्ञ'[१] (सभी शस्त्रों के प्रयोग आदि का ज्ञाता) कहा गया है। महाभारत से भी अस्त्रविद्या[२] और रणशिक्षा[३] का महत्व ज्ञात होता है। भिन्न-भिन्न देश के राजकुमार और अन्य लोग द्रोण के पास इसे पढ़ने के लिए आते थे।[४] शस्त्रास्त्र की शिक्षा और शस्त्रनीति से सैनिक बल के महत्त्व[५] का ज्ञान होता है।

चतुरंगबल

सामान्यतः सेना चतुरंगिनी (चतुरंगबलं[७])[६] होती थी। गज, अश्व, रथ और पत्ति (पैदल सिपाही) इसके चार अंग थे। अपने घंटों के शब्दों को गुंजायमान करते हुए हस्ति युद्धभूमि में अपने सवारों के साथ घूमते थे और वे भयंकर थे। अश्वारोही और रथ भी तेज़ी के साथ घूमते-घूमते[८] फिरते थे। पदाति भी विभिन्न शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहते थे। 'वर्म'[९] (कवच) भी धारण किये जाते थे। सभी में विजय के लिए उत्साह रहता था। विविधायुधों,[१०] अस्त्रों,[११] शस्त्रों[१२] और शस्त्र-यन्त्रों[१३] का भी प्रयोग होता था। आयुधागार अथवा आयुधागार-संस्थान[१४]

---

[१] वराह, ९३।१८(१)

[२] आदिपर्व, १३१।१३

[३] वही, १३१।२८

[४] वही, १३१।१०-११

[५] वराह, १०।७०

[६] वही, १०।७२, २०।१२, ९३।२२, ९६।१३, १५३।२८, १६३।४९, १७२।१२

[७] वही, १०।३५, २०१।२२

[८] वही, ९६।८

[९] वही, १२४।९-११

[१०] वही, ११।८५

[११] वही, १०।४२

[१२] वही, ११।७०, ९४।३,१५

[१३] वही, ९६।११ इनकी शिक्षा भी दी जाती थी।

[१४] वही, १६०।१५

भी थे। निम्नांकित शस्त्रास्त्रों के उल्लेख मिलते हैं :-

असि (तलवार) - चर्म (ढाल)[1], असि-यष्टि[2], धनु - तूणीर[3] (तूण)[4], शर[5], बाण[6], भुशुंडी[7](एक प्रकार का गुफना), शूल(बर्छा), पट्टिश[9] (एक प्रकार का बड़ी पैनी नोक वाला भाला)[10], मुद्गर (एक प्रकार का गदा), गदा[11], शक्ति[12], मुसल[13], चक्र[14], भिन्दिपाल[15], दण्ड[16], चाप(धनुष)-पाश-अंकुश[17], यष्टि और तोमर[18]।

वाहन

सेना के साथ वाहनों[19] का भी उल्लेख मिलता है, यथा - बल-वाहन।[20] इनका भी तात्पर्य हस्ति और अश्व आदि वाहनों से है। वाहनों से युक्त होने के कारण सेना को भी वाहिनी[21] कहते थे।

---

1. वराह, ११।८१
   प्राय: असि चर्म का उल्लेख एक ही साथ मिलता है। तलवारबंद सिपाही को आसिक (वराह, २०१।२६) कहते थे।
2. वराह, २०१।२६
3. वही, ११।८१, ये भी तायी हैं।
4. वही, ९६।२५
5. वही, ११।८६, ९६।१४
6. वही, ११।९७, २५।१०
7. वही, ११।८६
8. वही, ११।८६, ९४।१५, ९५।४१, ९६।१४
9. वही, ९४।१५, २०१।२६
10. वही, ९४।१५, ९६।१४
11. वही, ९५।३९,४१
12. वही, ९५।४१
13. वही, ९५।४२, ९६।१४
14. वही, ९५।४२
15. वही, ९५।४२
16. वही, ९५।४२, ९६।१४
17. वही, ९६।१४
18. वही, २०१।२६
19. वही, १२२।६१(१)
20. वही, ११।२८,४२, १०८।४
21. वही, १०।३६

सेना में सैनिक और सामान ढोने के लिए भी यानों[1] का प्रयोग होता था[2] । कुछ यान ध्वजाओं से भी सुशोभित रहते थे (विचित्रयाना विविधध्वजाग्रा) ।

सेनापति

युद्ध में विजय या पराजय सेनापति की रण-दक्षता पर[3] निर्भर करती थी । देवता असुरों से इसीलिए हार गये कि वे नायक-हीन थे । उन्हें यह नायक कार्तिकेय के रूप में मिला[4] । कार्तिकेय ही भारतीय शक्ति (शक्तिधर) के प्रतीक और युद्ध-देवता (सेनापति) माने गये हैं ।

सेना-नायकों के लिए नायक[4], प्रधान[5] और सेनानाथ[6] के नाम मिलते हैं । उसे सशक्त, शूर-वीर[7] होना आवश्यक था ।

युद्ध-माया

युद्ध में कई प्रकार के छल-बल और माया[8] का भी प्रयोग होता था । अतः सैनिकों और सेनानायकों को `माया` भी जानना आवश्यक था । अस्त्रलाघव[9] का भी उल्लेख मिलता है ।

मल्लयुद्ध[10] भी प्रचलित था । स्कन्धावार-निवेशनम्[11] प्राचीन सैनिक शिविर होते थे । वराह पुराण भी प्राचीन सैन्य-व्यवस्था पर प्रकाश डालता है । इस प्रकार सेना संगठित संस्था थी ।

---

१. वराह, ९६।१५
२. वही, ९३।३१
३. वही, २५।११-१२
४. वही, ११।८४, १११, २५।११, ९०।१०
५. वही, ९३।२६
६. वही, २५।३१
७. वही, ९३।१९
८. वही, ९३।२१
९. वही, ११।१०१
१०. वही, ९०।१०
११. वही, ९०।४५

कोश

कोश सप्तांग-राज्य का महत्वपूर्ण अंग है जिस पर राज्य की कुशलता और शासन निर्भर करता है। कोष के साथ ही कोष्ठागार[1] आदि भी महत्वपूर्ण थे। कोष-हीन राजा (हृतकोशी)[2] शत्रु से पराभूत होकर नष्ट हो जाता है, क्योंकि कोश के बिना उसका कोई सहायक नहीं होता है।[3] इसलिए राज-कर्म में और राजा के जीवन में 'द्रव्य' का महत्व था। प्रजा से कर के अतिरिक्त राजा को उपायन[4] (भेंटोपहार) और रत्न[5] भी कोश में आते थे।

---

[1] भारत, १२२।५८

[2] वही, ४२।६

[3] वही, ४२।११

[4] वही, १७२।४८

[5] वही, १७२।५७

दुर्ग

दुर्ग भी राज्य के सात अंगों में महत्वपूर्ण स्थान रखता था । दुर्ग को भी बहुत बड़ी शक्ति (दुर्गम् महाबलम्)[1] कहा गया है । दुर्ग की भांति, प्राकार-परिखा से सुरक्षित नगर ही पुर कहलाते थे । पुर को ही राजधानी भी कहते थे । ऊपर बताया जा चुका है कि राष्ट्रीय जीवन में पौर-जनों का विशेष महत्त्व था ।

* * *

---

[1] मराठ, १२२।१४(२)

मित्र[१]

मित्र भी सप्तांग राज्य का महत्त्वपूर्ण अंग था । इस राज्यांग का सम्बन्ध राजनय[२] (डिप्लोमेसी) से है । वैवाहिक सम्बन्धों से राष्ट्र के मित्र बनते थे ।

---

[१] वराह, १२२।५६

[२] वही, ७०।७४-७६

राष्ट्

राष्ट् भी राज्य का एक अंग था ।[1] अग्निपुराण में इसे राज्यांगों में श्रेष्ठ माना गया है ।[2] कामन्दक भी राष्ट् को श्रेष्ठ मान कर कहता है कि इसीलिए राजा सभी प्रयत्नों से राष्ट् की उन्नति करे ।[3] अतः भगवान से प्रार्थना की गयी है कि राष्ट् सुखी हो और सभी प्रकार से - राजा, बल, अन्न, पशु तथा ब्राह्मणों से परिपूर्ण - शान्ति को भोगता हुआ राष्ट् उन्नति करे :-

> ओं नमोनमो वासुदेव -- व्याधिभ्यो रक्ष नित्यशः ।
> प्रसीद स्वस्य राष्ट्रस्य राज्ञः सर्वबलस्य च ।
> गर्भिणीनाञ्च वृद्धानां ब्राह्मणानाञ्च गवान्तथा ।
> ब्राह्मणान्तु सततं शान्तिं कुरु शुभं कुरु ।
> अन्नं कुरु सवृष्टिञ्च सुभिक्षमभयं तथा ।
> राष्ट्रं प्रवर्द्धतु विभो शान्तिर्भवतु नित्यशः ।।[4]

---

१. वराह, १०।७६

२. अग्नि, २३९।२(१) : राज्यांगानां वरं राष्ट्रं साधनं पालयेत् सदा ।

३. का०नी०, ६।३

४. वराह, १६२।७-१०

उपाय-नीति

अर्थशास्त्र, नीतिसार और पुराणों में साम, दान, भेद और दण्ड नामक चार उपायों का वर्णन मिलता है ।[1] साम (शान्ति), दान (धन देकर), भेद (शत्रु पक्ष में भेद-फूट पैदा करना) और दण्ड (अर्थात् बल या सेना) का प्रयोग चार उपाय हैं ।[1] डा० राजबली पांडे के अनुसार - परराष्ट्र सम्बन्धी परम्परागत नीति चार प्रकार की थी :-

1. साम - (शांति या समझौता) ‘तुमसे मुझसे परस्पर अनिष्ट की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, किन्तु सहायता करनी चाहिए । यह शत्रु के लिए साम है ।’
2. दान - (आर्थिक सहायता अथवा राजनीतिक क्रय) ‘कर अथवा प्रमित ग्रामों द्वारा एक वर्ष के लिए प्रबल शत्रु को तुष्ट करे । यह यथायोग्य शत्रु के लिए दान है ।’
3. भेद - (परराष्ट्र में आंतरिक संघर्ष अथवा भेद उत्पन्न करना) ‘शत्रु को साधक से हीन करना, प्रबल का आश्रय लेना, उसकी हीनता से जीना, शत्रु के लिए भेद कहा जाता है ।’
4. दण्ड - (बल अथवा सेना का प्रयोग) ‘--- उग्र बलनीति और युद्ध दण्ड है ।’[2]

अमात्य - वर्णन में कहा गया है कि जब महिषासुर[3] ने अपने मंत्रि-मण्डल में देवी को बलपूर्वक प्राप्त करने का प्रस्ताव रखा, तब उसके प्रधान-मंत्री

---

1. म० रा० व्य०, पृ० १८५
2. हि०रा०पु०इ०, प्रथम भाग, पृ० ६०-६८
3. वराह, ६३।६-८

विदुर ने उपाय-नीति को समझाते हुए कहा[1] है कि पहले साम से ही काम लिया जाय, इसके पश्चात् प्रदान (दान) और इसके बाद भेद तथा यदि इस क्रम योग - पहले साम, फिर प्रदान, फिर भेद - से काम न चले तो अन्त में दण्ड का प्रयोग किया जाय ।" इस प्रकार बल का प्रयोग अन्य उपायों के असफल होने पर ही करना चाहिए । युद्ध में जय-पराजय अनिश्चित ही है ।

---

[1] वराह, ६३।१४ :

साम्नैवादौ ततः पश्चात्करिष्यामः प्रदानतः ।
ततो भेदं करिष्यामस्ततो दण्डं क्रमेण च ॥

शासन-व्यवस्था तथा नीति

ऊपर शान्ति-विधान का वर्णन करते हुए व्याधिनाश, शान्ति, सुख, समृद्धि और भक्ति के उन्नयन द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करने में राष्ट्र-धर्म पर प्रकाश पड़ता है । ऊपर कहा जा चुका है कि सभी प्रयत्नों से राष्ट्र को समुन्नत करना राजा का धर्म था ।[१]

अतः इस राष्ट्रोन्नति का मूल कारण वृद्धाभिसम्मत और चन्द्र के समान सुखद, (प्रजानन्दकरः), राजा ही था । यदि राष्ट्र-कर्णधार स्वस्थ नायक नहीं है तो नाव डूब जाने में संदेह ही क्या ।[२] अतः राष्ट्र को, सार्थवाह अथवा वैद्य की तरह क्रमशः कुपथ और कुपथ्य से बचाकर सुपथ और स्वास्थ्य की ओर ले जाने वाले राजा - शास्ता, गोप्ता और नियामक की आवश्यकता होती है ।[३] बहुत से राजाओं ने निष्कण्टक राज्य स्थापित कर अपने उत्तराधिकारियों को सौंपा[४] और उन उत्तराधिकारियों को भी इस प्रकार शासन करने की नीति बतायी जिससे राजा और राष्ट्र सुखी होते थे ।

---

१. का०नी०, ६।३-४

२. वही, १।१०-११

३. वराह०, १३०।६४

४. वही, १३०।१०५,१११

महत्वपूर्ण शासन-सिद्धान्त

सार्वभौम राज्य

हर्ष के समान दिग्विजयी सम्राटों ने सार्वभौम राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया । वराह पुराण भी सार्वभौम नृप[1] बनने का आदर्श प्रस्तुत करता है, जो तत्कालीन देश की बहुत बड़ी आवश्यकता थी ।

सर्वलोकहित[2] - सर्वलोकहित का भी आदर्श सिद्धान्त यहां की प्राचीन शासन पद्धति में प्रतिष्ठापित हो चुका था ।

सर्वधर्म-निष्ठा[3] का उदात्त आदर्श जीवित था और ऐसे शासक थे जो इस पर व्यवहार भी करते थे । सभी महान् गुप्त सम्राट्, हर्षवर्द्धन, प्रतिहार शासक और धर्मपाल ऐसे ही प्रबुद्ध शासक थे ।

प्रजानन्द[4] - यह प्रजा को सुखी रखने का प्राचीन प्रचलित सिद्धान्त था जिसके आधार पर `प्रजासुखे सुखं राज्ञः` अर्थात् प्रजा का सुख ही राजा का सुख है, मानकर राजा शासन करता था ।

---

[1] वराह, ६५।१-६, सार्वभौम व्रत
वही, ६२।५ : सार्वभौम: पुराराजा अरण्योमितबल:

[2] वही, १३७।१९८, अशोक ने भी यही कहा था - `नास्ति कम्मतरं सब्बलोकहितत्पा` (अशोक षष्ठ शिला लेख, पं० ९-१२)

[3] वराह, १३७।६५
अशोक सप्तम् एवं द्वादश शिला लेख,
खारवेल का हाथी गुंफा लेख, पं० १७ : सव पासंड पूजको सवदेवायतनसंकार कारको --- ।

[4] वराह, १३७।७४

पौरजानपद-तुष्टि[1] - पुर के रहने वाले (पौर) और जनपद में रहने वाले अर्थात् सम्पूर्ण प्रजा को सन्तुष्ट बनाये रखना भी राजा का मुख्य धर्म था । इस प्रकार जैसे सूर्योदय सम्पूर्ण लोक-कल्याण के लिए होता है, उसी प्रकार राजा और उसका सुशासन भी लोक कल्याण के लिए ही होता था ।[2]

धर्म और दण्ड

लोक-पालन के लिए ही प्रजापति के दक्षिणांग से धर्म की उत्पत्ति हुयी थी । परन्तु स्वयं सोम द्वारा धर्म-मर्यादा भंग की गयी थी । अतः धर्म अपने आपको शिथिल पाकर ही वन को भाग गया था ।[3] इससे धर्म को भी दण्ड की आवश्यकता हुयी । मनु के अनुसार यह सर्वभूतरक्षक धर्म दण्ड-युक्त था ।[4] इससे सिद्ध होता है कि धर्म और दण्ड ही शासन करने की दो मूल शक्तियां थीं । मनु बताते हैं कि उस दण्ड के भय से ही लोग स्वधर्म का पालन करते हैं । परन्तु धर्मानुकूल दण्ड के प्रयोग (धर्मयुक्तेन दण्डेन)[5] से ही व्यवस्था बनी रहती है ।

धार्मिकशासन

वराह पुराण से ज्ञात होता है कि अधिकांश शासक धर्मज्ञ और धार्मिक थे जो देश और प्रजा को सुखी तथा समृद्ध करने का प्रयत्न करते थे । इनके

---

१. वराह, १३७।८७

२. वही, १३७।२४

३. वही, अ० ३२
महा० शान्तिपर्व, ६०।१४, १५(१), १६(१), महर्षियों राजा रूपी
धर्म या वृष की उत्पत्ति हुयी थी । परन्तु इसे विलीन होने की आशंका
थी (शान्ति, ६०।१५(२), १६(२), १७(२)

४. मनु, ७।१४

५. वराह, १३७।१२७(२)

परिणामस्वरूप देश व्याधिमुक्त था, राष्ट्र में समय पर वर्षा होती थी और ऐसे गुणवान् राज्य में कोई दु:खी नहीं था। ऐसा ही धर्मात्मा शासक मिथिला में राज्य कर रहा था[1] और यही बात स्कन्दगुप्त के शासनकाल के विषय में भी उसके जूनागढ़ अभिलेख में कहा गयी है कि उसके शासनकाल में कोई धर्मच्युत, दु:खी, दीन, कादर और व्यसनी पुरुष नहीं था।[2]

भूमिपालन व्यवस्था

वंशानुक्रमिक राजतन्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित था। पिता से पुत्र को भूमि या राज्य मिलता रहा। प्राय: ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य मिलता था। मनु-स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत ही प्रथम सम्राट् थे जिन्होंने अपने राज्य - सप्तद्वीपवती पृथ्वी - को सातों पुत्रों में विभक्त कर दिया। इन सप्तद्वीपेश्वरों ने अपने अपने द्वीपों के खण्डों (वर्षों) को अपने अपने पुत्रों को सौंपा। इस प्रकार जम्बूद्वीपेश्वर आग्नीध्र ने हिमाह्वय वर्ष नाभि को दिया, नाभि ने इसे ऋषभ को और ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को भारतवर्ष सौंपा। इस प्रकार भरत-शासित भारतवर्ष की भी शासन व्यवस्था भरत के पुत्रों, पपौत्रों आदि

---

[1] वराह, २१८।२९-३२ : सो पि राजा महाभाग: सर्वभूतहितेरत: ।
धर्मात्मा च महात्मा च सत्य सन्धो महातमा: ।।

स इमां पृथिवीं सर्वां धर्मेण परिपालयन् ।
न व्याधिर्न जरामृत्युस्तस्मिन्नावनिशासति ।।

ववर्ष सततं देवस्तस्य राष्ट्रे महाद्युते: ।
एवं बहुगुणोपेत तस्य राज्य महात्मन: ।।

न कश्चिच्छ्रूयते मर्त्यो तत्रार्तो दु:खितो पि वा ।
आस्ते बहुकालस्य राजानं मिथिलाधिपम् ।।

[2] स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, श्लोक ६ :
तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित् धर्मादपेतो मनुज: प्रजासु ।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यो न वा यो भृशपीडित: स्यात् ।।

में चलती रही ।[1] इसे ही भूमि की पालन व्यवस्था कहा गया है जो राजाओं द्वारा होती रही थी (पार्थिवैः क्रियते भूमेः पालनव्यवस्था) ।[2]

यही भूमि की पालन-व्यवस्था रामायण, महाभारत और ऐतिहासिक युग में भी प्रचलित रही । सम्पूर्ण राज्य या भूमि प्रदेशों या प्रान्तों में विभक्त की जाती थी, जहां राजा के पुत्र और पौत्रिक भी स्थानीय शासक के रूप में नियुक्त किये जाते थे ।[3] इसी प्रकार राज्य की अन्य छोटी इकाइयों - भुक्ति, विषय, पुर और ग्राम में भी शासक नियुक्त किये जाते थे । इनकी सहायता के लिए जनता के प्रतिनिधि भी सभा में रहते थे ।[4] वराह पुराण से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र् पुर और जनपदों में विभक्त था । इसके अतिरिक्त अन्य शासकीय विभाग थे जिन्हें `स्थान` कहा गया है और जहां राजपुत्र तथा राजा के पौत्रिक शासक नियुक्त किये गये थे ।[5] प्रादेशिक या प्रान्तीय शासन पर वराह पुराण से बहुत कम प्रकाश पड़ता है ।

सामन्त

सामन्त प्रथा भी प्रचलित थी । सामन्त कई प्रकार से सम्राट् की सेवा सहायता करते थे । वे युद्धभूमि में भी जाते थे और वहां अपने स्वामी के लिए लड़ते हुए प्राण देना धर्म समझते थे ।[6] इसके प्रतिकूल युद्ध से पराङ्मुख होना अधर्म था ।[7] राजा के लिए सामन्त-स्त्रियों को बल से ग्रहण करना भी पाप ही था ।

---

१. वराह, अ० ७४, पृ० ३३०-३३२
२. वही, पृ० ३३१
३. वही, १५३।२१
   स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, श्लोक ७
४. कुमारगुप्त प्रथम के दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख, १२४ गु०सं० व १२८ गु०सं०, सी०इ०, पृ० २६१, नोट ८
५. वराह, १५३।२१
६. वही, १६५।१२(२)
७. वही, ६३।१०

शासन की सहायता के लिए बहुत से राजभृत्यों का उल्लेख मिलता है। वे भी राजा के प्रिय मनोरथों को पूरा करने वाले थे (राजभृत्यास्तु राजो वै प्रियकारिण:)।[1] राज-सेवकों की योग्यता और उनके कार्यों पर अन्य ग्रन्थों में विवेचन किया गया है।[2] इसे सहाय-सम्पत्ति कहते थे। वराह भी इससे अपरिचित न था। राजा को भी सहायकों की आवश्यकता थी। एक राजा अपने आपको कोशहीन और असहायवन्[3] स्थिति में दु:खी और असफल मानता है। वराह पुराण में निम्नलिखित राज-भृत्यों के नाम प्राप्त होते हैं :-

कन्चुकी - राज-प्रासाद और राजा-सभा में नियुक्त कन्चुकी महत्त्वपूर्ण राजभृत्य था जो द्वारपाल के समान ही था। वराह पुराण में उसको राजद्वार पर नियुक्त पाते हैं। जब राजपुत्र राजद्वार पर आया तब कन्चुकी ने राजा को उसके आने की सूचना दी और राजा की आज्ञा से उसने राजकुमार को राज-भवन में प्रवेश कराया।[4] राज-द्वार से भीड़-भाड़ को हटाना भी उसका कर्म था।[5] इसकी साम्यता कौटिल्य के अन्तर्वंशिक (अन्त:पुर के प्रधान अधिकारी, तीर्थ) से की गयी है।[6] " कंचुकी वही है जो गुप्तशासन का प्रतिहार या महाप्रतिहार है जिसको अर्थशास्त्र अंतर्वंशिक कहता है। वह अमात्य था जो व्यक्तित्व में वयस्क था जिसका राजा बड़ा सम्मान करता था और बड़े आदर के साथ उससे वार्तालाप भी। वह वह राज्यप्रासाद के अन्त:पुर की व्यवस्था का सर्वाधिकारी था[7] और उसके अधीन सारे प्रासाद-रक्षकों की सेना तथा यवनियां थीं। ----"

---

१. वराह, १२६।१३८(१)
२. मत्स्य, अ० २१४, गरुड़, १, अ० ११२, वि०ध०, भाग २, अ० २४, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, श्लोक ७-११
३. वराह, ४२।११
४. वही, १२६।१६५-१६६
५. वही, १३७।१७०
६. कौ०अ०, १।१२, का०भा०, पृ० २०६
७. का०भा०, २०७

कर्मान्तकारक[1]

यह कौटिल्य के अठारह तीर्थों (शासकीय विभागों) के प्रधानों में उल्लिखित कार्मान्तिक (खानों तथा कल-कारखानों में निर्माण का अधिकारी) ही था ।[2]

दूत[3]

ऊपर अमात्य-वर्णन में कहा जा चुका है कि वह महत्वपूर्ण राजपुरुष, मंत्री ही था । गरुड़ पुराण के अनुसार बुद्धिमान, चतुर, दूसरे के चित्त की बात को जानने वाला, क्रूर तथा यथार्थवादी व्यक्ति ही योग्य दूत था ।[4] दूत राज्य का राजदूत था जो विदेशी राज्यों में सन्धि और मेल की बातें करने और अपनी तीव्र बुद्धि तथा कुअवसर से शत्रु का हाल जानने के लिए भेजा जाता था ।[5]

दौवारिक[6]

दौवारिक भी राजप्रासाद का एक महत्वपूर्ण अधिकारी था ।[7] कौटिल्य के तीर्थों (महामात्यों) में भी दौवारिक का उल्लेख है ।[8] यह राजकुल का प्रधान प्रतिहार अथवा `राज्य प्रासाद का संरक्षक` था । इसका पद बहुत श्रेष्ठ होता था ।[9]

---

[1] वराह, २०३।४८

[2] ह०ह०न्ला०, पृ० १४८

[3] वराह, ११।७५, ६३।१७,२०,२१, ६५।१,२४

[4] गरुड़, १।११२।८

[5] का०भा०, पृ० २६०

[6] वराह, १६४।११

[7] कौ०अ०, १।१२

[8] का०भा०, पृ० २०५

[9] हि०रा०श०, भाग २, पृ० २४०,२४१

नायक

यह सेना-नायक था ।[१] सैन्य-नायक के बिना ही देव-सेना पराजित हुयी थी ।[२] यह भी एक श्रेष्ठ अधिकारी (तीर्थ) था ।[३]

मागध-वन्दी-सूत और वैतालिक

इनका कार्य प्रभात होते ही सोकर उठने के समय राजा को शंख तथा दुन्दुभी बजाकर जगाने का कार्य था ।[४] इनके साथ अन्य मंगल-पाठक भी थे ।[५]

मन्त्री[६] - सचिव[७]

ये मंत्री थे (ऊपर वर्णन हो चुका है, दृष्टव्य, अमात्य) ।

मुख्य

यह राज-सभा और राज्य का श्रेष्ठ (प्रधान) अधिकारी (मंत्री) था, राजा ने जिसकी अनुमति मांगी थी ।[८]

शूर[९]

यह सैनिकों के लिए (शूराः) प्रयोग किया गया है ।

सेनापति

सैन्य की रक्षा करने में समर्थ पुरुष सेनापति कहलाता था ।[१०] यह भी एक `तीर्थ` था ।[११]

---

१. वराह, ११।८४,१११
२. वही, २५।११
३. वही, कौ० अ०, १।१२, वि० रा० क०, भाग २, पृ० २४१
४. वराह, १२५।१४३, १२७।१२३-१२४
५. वही, १३७।१८०-१८१(१)
६. वही, ११।६०
७. वही, ११।८६
८. वही, १२५।१८५
९. वही, ११।८८, २०१।२१
१०. वही, ३५।१२
११. वही, कौ० अ०, १।१२

उपसंहार

इस प्रकार वराह पुराण के राजनीति विचारों से हमें ज्ञात होता है कि वराह-संहिताकार ने धर्म और धर्मयुक्त दण्ड को आधार मानकर राजत्व का वर्णन किया है। अन्य पुराणों की भांति राज्यांगों का विवेचन यहां नहीं मिलता है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि इसमें राजधर्म पर कोई पृथक खण्ड न होकर केवल कुछ अध्यायों - ३२ (धर्मोत्पत्ति), ६३ (महिष्मतीपुर के आठ मंत्रियों द्वारा विमर्श, उपाय-नीति), १२६, १३७ और १५३ में मुख्य रूप से विभिन्न राजाओं के आख्यानों में हमें राजत्व के सिद्धान्तों के उल्लेख मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराणकार और तत्कालीन शासक सर्वांगीण राष्ट्रोन्नति को ही चाहते थे -

शान्तिर्भवतु देवानां विप्राणां शान्तिरुत्तमा ।
शान्तिर्भवतु राज्ञाञ्च सराष्ट्राणां तथा विशाम् ॥
बालानां स्त्रीशिष्यानां गर्भिणीनाञ्च देहिनाम्[१] ।
शान्तिर्भवतु देवेश त्वत्प्रसादान्ममाखिला ॥

---o---

---

[१] वराह, १८४।१५-१६

अध्याय ४

समाज-व्यवस्था और सामाजिक जीवन

> युगे युगे क आचारो वर्णानां भविता मुने ।
>
> - वराह, ६८।२(१)

प्राचीन भारतीय समाज की विशिष्टताएं

समाज और धर्म

जिस प्रकार राजनीतिक जीवन का मूलाधार, सप्तांग राज्य, सावयव सिद्धान्त पर आधारित था और प्रत्येक अंग एक दूसरे का उपकार करता हुआ सम्पूर्ण राज्यदेह[1] का ही श्रेयस्कर था, उसी प्रकार प्राचीन भारतीय समाज को विश्वतनु (विश्वरूप) या विराट् पुरुष का मुख, भुजाएं और जंघाएं तथा पद माना गया है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में स्पष्टतः "कतमः पुरुषः - "वह पुरुष कैसा है?" पूछने पर ही कहा गया है -कि "इसका मुख ब्राह्मण है, इसकी भुजाएं राजन्य हैं और इसकी जंघाएं वैश्य हैं तथा इसके पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुयी।"[2] इस प्रकार ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को विश्व-पुरुष के एक ही अंग के तीन अंग मानकर इन्हें उस सम्पूर्ण शरीर का हितकर ही बताया गया है। चौथे वर्ण को पैरों से उत्पन्न अथवा पैर ही माना गया है। किसी भी एक अंग का स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव नहीं है - न अकेला मुख ही कुछ कर सकता है, न अन्य अंग - भुजाएं, जंघाएं और पैर ही। पैर शरीर को चलाते हैं, जंघाएं इसे ढोती हैं और भुजाएं इसको खिलाती-पिलाती तथा इसकी रक्षा करती हैं। एवम् शरीर के मुख-भाग से ही - बुद्धि, आंख और कान इसे आदेश - उपदेश देकर इसका पथ-प्रदर्शन करते हैं तथा मुख ही वाणी से मुखरित होकर इसकी अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति है।

---

[1] द्रष्टव्य, विष्णु पु०, १।१३।९६(२) : राज्यदेहोपकाराय प्रजानां च हितं परम्।

[2] ऋग्वेद, १०।७।९०।११-१२

प्राचीन भारतीय समाज में देखने की चेष्टा करें तो जब से मनुष्य समाज में रहने लगा था ; उसने अपने साथियों को अपना भोजन बांट कर खाना शुरू किया। उसका सामाजिक व्यक्तित्व सहयोग और सह-अस्तित्व पर आश्रित है। जो कुत्ता मनुष्य को उसके आखेट में सहायता करता था, मनुष्य अपने शिकार का हिस्सा उस कुत्ते को भी देने लगा। शनैः शनैः प्रकृति के सहचर्य में पुरुष ने पुरुषार्थ को अपनाया और वह एकाकी जीवन-वृत्ति को छोड़कर सामूहिक स्वभाव में बंध गया। यही अनुबंध समाज था, जो हजारों वर्षों से बढ़ता - बनता या बिगड़ता - चला आ रहा है। जब वह स्वार्थी और संकीर्ण होता है, उसकी वृद्धि का विस्तार भी संकुचित हो जाता है और जब वह उदार मानव, केवल मानव बनकर, मानव के लिए जीता है, वह ऊपर बढ़ता जाता है। यही मानव द्वीप की भारती का धर्म रहा। इसी से सैकड़ों दस्यु-दानवों-दैत्यों और असुरों की थपेड़ें सहता हुआ भी यह जीवित है। इसीलिए मानव द्वीप के समाज का धर्म भी पोष्य वर्ग (कुटुम्ब) का भरण[१] तथा अपरिचित अतिथि[२] का भी पूजन और भरण धर्म ही माना गया है। जिस देश के पशु-पक्षियों के मुख से भी धर्मोपदेश (शुकोपदेश)[३] निकलें, उसके संस्कृति-निर्माताओं ने नर-पशु को मानव बनाना चाहा। मनुष्य का उद्बोधन करते हुए कहा गया है - "केवल उदरभरण मात्र से सन्तुष्ट बुद्धि वाले पुरुष-पशु और पशु में क्या भेद है ?"[४] वास्तव में पशुबुद्धि वाला मनुष्य पशु ही है।

---

१. वराह, १७०।३२ : शेष मात्रे धने तस्य चिन्तामुन्महती तदा
माता पित्रोः कुटुम्बस्य भरणीयस्य भोजनम् ।
कथं वृत्ति करिष्यामि महाकष्टमिति सोऽब्रवीत् ॥

२. वही, १७१।४५-४६

३. वही, १७१।४८

४. गरुड़, १।११५।३१(२) :
उदरभरणमात्रतुष्टबुद्धेः पुरुषपशोः पशोश्च को विशेषः ।

अन्य स्थल पर कहा गया है कि विद्याहीन मनुष्य पशु है (मनुजो विद्याविहीनः पशुः)[१] और जो माता-पिता अपने बच्चों को न पढ़ायें वे उस बालक के शत्रु हैं (माता शत्रुः पिता वैरी बाला येन न पाठिताः)[२] । इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज उदर-भरण पर ही नहीं आश्रित था, विद्या ही उसका अमृत-भोजन (विद्ययाऽमृतमश्नुते) और था और यह माता-पिता का महत्वपूर्ण कर्तव्य था । इसीलिए समाज-व्यवस्था में शिक्षा एक संस्कार के साथ जोड़ दी गयी । प्राचीन शिक्षा से प्राप्त विद्या द्वारा अविद्या[३] का आवरण हट जाता था और मनुष्य संसार के स्वरूप (संसार चक्र) को समझकर 'सर्वसंस्थित'[४] नारायण-वासुदेव से अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ लेता था । अस्तु प्राचीन भारत की सामाजिक-व्यवस्था - वर्णाश्रम व्यवस्था और संस्कार पद्धति - धीरे धीरे मनुष्य को कर्म (ब्रह्मचर्य) से भोग (गृहस्थ धर्म) की ओर और भोग से त्याग (वानप्रस्थ और सन्यास) की ओर ले जाता था ।[५] यही मनुष्य का पुरुषार्थ था । यही धर्म प्रजा का रक्षक था ।[६] सामाजिक व्यवस्था का उद्देश्य धर्म या मर्यादा को बनाये रखना था । इसीलिए कहा गया है कि रक्षित धर्म भी हमारी रक्षा करता है (धर्मो रक्षति रक्षितः) ।[७] अतः सामाजिक व्यवस्था धर्मपथ[८] ही है ।

---

[१] गरुड़, १।११५।८१(२)

[२] वही, १।११५।८०(१)

[३] वराह, २।२८

[४] वही, १।२

[५] ईशावास्योपनिषद् १
भागवत, ८।१।१० : आत्मावास्यमिदं विश्वंयत् किंचिज्जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनं ।।
वराह, १७६।४७

[६] वही, अ० ३२

[७] वही, १६३।४७(१)

[८] ध०शा०इ०, खंड १, पृ० ४ : धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है ।

लोक कल्याण

इस धर्मपथ के अतिक्रमण से ही मनुष्य दु:खी है । धर्मसंयुक्त पूतात्मा मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है ।[1] अहंकार और मोह से प्रमत्त मनुष्य धर्म और ईश्वर को भुलाकर जो मिले और जहां मिले सो खाता है (सर्वाशी), जो चाहे सो बेचता है (सर्वविक्रेता), देव-गुरु को नमस्कार नहीं करता है, अतिथि को बिना भोजन दिये हुए खा लेता है, असन्तुष्ट रहता हुआ मन्दात्मा परदारा से सम्पर्क रखता है और बिना महान् कर्म (पुष्कल कर्म) किये हुए घर में पड़ा पड़ा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।[2] इसी प्रकार पुराण संसार की विषमता का चित्र प्रस्तुत करता है :-

" हाथी, घोड़े, रथ आदि यानों को जाता हुआ देखता है फिर भी मनुष्य उनको देखते हुए (पैदल) चला जाता है, कोई मांस और शालि खाता है, कोई सूखा ही भोजन करता है - कितना दु:खद है । कोई सुन्दर शय्या पर सोता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति घास पर ही सोता है, इत्यादि --- ।"[3] इसी प्रकार यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य - ये तीनों वर्ण पाप-रत हो जायं तो कितना दु:ख होगा ।[4]

पुराण कहता है कि इसके प्रतिकूल यदि सभी लोग अपने अपने धर्म का पालन करें तो कितना सुख होगा - " देवतातिथि, पितृ और भार्याओं को समान रूप से सन्तुष्ट रखें, अहिंसा, सदाचार तथा मणि और मिट्टी को समान समझें (लोष्टवत: पश्यते मौक्तिकानि रत्नानि कनकानि च), कुत्सित कर्म की निन्दा

---

[1] वराह, ११६।१-२,५

[2] वही, ११६।८-१४

[3] वही, ११६।१५-२०

[4] वही, ११६।२१-२४

करें, सुखी-सन्तुष्ट जीवन, दाम्पत्य-प्रेम, संयम, और भक्ति से देवपूजा करें तो कितना सुख होगा ।[1] इस प्रकार ऐसा आदर्श सामाजिक-जीवन था जिससे ही सम्पूर्ण संसार को कल्याण की प्राप्ति हो सकती है ।[2] इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था धर्म और लोक कल्याण पर आधारित थी ।

विष्णु पुराण का कथन महत्वपूर्ण है कि ` भारत में बसने वाले कुरु, अम्बष्ठ और पारसीक आदि सभी भारतीय नदियों का जल पीते हैं और सदा आपस में मिलकर रहते हैं । इस कारण ही वे हृष्ट-पुष्ट रहते हैं ।[3]

पुराणों में व्यास-शैली से विस्तार के साथ दृष्टान्तों और उदाहरणों-कथाओं - द्वारा इन उपर्युक्त लक्षणों का वर्णन किया गया है । पुराण पंच लक्षणों में देव, ऋषि, मनु (१४ मनु) और राज-चरितों द्वारा मनुष्यों को भी धर्म-बुद्धि और धर्माचरण की ओर प्रेरणा दी गयी है । ऐसे वातावरण और समाज-समुदाय में ही लोग सन्मार्ग और सदाचार पर चलकर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कर सकते हैं । इसे ही धर्म[4] और अभिलेखों में भी `आचार-विवेक-मार्ग', `आचार-मार्ग' अथवा `श्रुतिमय' कहा गया है ।[5] इस आचार-विवेक-मार्ग की व्याख्या धर्म-शास्त्रों में की गयी है । साधारण समाज में सभी

---

१. वराह, ११६।२५-४३

२. वही, ११६।४४

३. विष्णु पु०, २।३।१८ : आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सहिताः सदा ।
समीपतो महाभाग हृष्टपुष्टजनाकुलाः ।।

४. वराह, १८७।८६

५. ईशानवर्मन् का हरहा लेख, श्लोक ५ : लोक स्थितीनां स्थित्यै स्थितस्य
मनोरिवाचार विवेक मार्गे — ।
वही, श्लोक ८ : आचारमार्ग, श्लोक ६ में सत्य एवं
श्रुतिमय विधि का उल्लेख है ।
वराह (१८७।६३) भी श्रुतिमय का उल्लेख करता है ।

धर्म-शास्त्र का अध्ययन अथवा श्रवण नहीं करते थे । परन्तु पुराणों का अध्ययन और श्रवण आज भी साधारण समाज में प्रचलित है । अत: पुराणकारों ने धर्मशास्त्रों[1] से वर्णाश्रम धर्म, संस्कार, दान, प्रायश्चित, श्राद्ध, व्रत आदि को लेकर पुराण-सागर में छोड़ दिया जिससे समाज में धर्म[2] वृद्धि हो ।

वराह पुराण एवं धर्मशास्त्र

" सभी पुराणों में धर्मशास्त्र की कुछ न कुछ बातें पायी जाती हैं । -- पुराणों में धर्म शास्त्र सम्बन्धी अनगिनित विषय एवं बातें पायी जाती हैं ।"[3] वराह पुराण स्वयं स्वीकार करता है कि धर्मशास्त्र द्वारा निर्धारित बहुत से धर्मों का वर्णन किया गया है ।[4] इन धर्मों में पंचमहायज्ञ, आश्रम धर्म, पितृ-तर्पण, श्राद्ध, श्राद्ध-योग्यता और अयोग्यता आदि का वर्णन किया गया है ।[5] धर्मशास्त्र चिन्तकों को धर्मपाठक कहा गया है । वराह पुराण के अनुसार ये निम्नलिखित हैं-

(१) मनु, (२) प्रजापति, (३) पाराशर्य, (४) अत्रि, (५) औद्दालकि, (६) आपस्तम्ब, (७) बृहस्पति, (८) शुक्र, (९) गौतम, (१०) शंख,

---

[1] ध०शा०इ०, खं० १, पृ० ८ : "-- पुराणों ने भी धर्मशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है ।"

पु०वि०कि०रा०का०, पृ० ५

[2] ~~वही, पृ० १०१ :~~ ध० शा० इ०, खंड१, पृ० १०२ : " धर्मशास्त्रकारों के मतानुसार `धर्म` किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण-संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमश: विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुंचने के योग्य बनाता है ।"

कूर्म, १।३३।१४७(१) : " इत्येष मानवो धर्मो कथितोम्या ।"

[3] हि० ध० शा०, प्रथम भाग, पृ० ४६

[4] वराह, १६१।१(१) : एवं श्रुत्वा बहून्धर्मान्धर्मशास्त्रविनिश्चयात् ।

[5] वही, अ० १६७

(११) लिखित, (१२) अंगिरा, (१३) भृगु, (१४) पुलस्त्य, (१५) पुलह और (१६) यम । इन्हें धर्म-पाठक कहा गया है ।[1]

ये सभी धर्मज्ञ थे जो शास्त्र-दृष्टि से सम्पूर्ण लोक-हित के लिए निर्भीकता से विचार करने वाले चिन्तक थे ।[2]

इनके अतिरिक्त मनु, विष्णु, काश्यप, बृहस्पति (बार्हस्पत्य), अग्नि (आग्नेय), आपस्तंब और ईश्वर भी प्रसिद्ध धर्म-चिन्तक थे ।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण पर कई धर्मशास्त्रों का प्रभाव पड़ा है । परन्तु मनु, विष्णु और आपस्तंब के धर्मशास्त्र अधिक प्रसिद्ध हैं ।[4] यहाँ अगम्यागमन के विषय पर मनु के विचारों का उल्लेख किया गया है ।[5] आत्म-घात के विषय में आपस्तंब के विचारों का उल्लेख किया गया है ।[6] विष्णु-धर्मशास्त्र (धर्मं विष्णुप्रोक्तं) का उल्लेख है ।

---

[1] वराह,अ० १६७।१६(२)-१६(१) : मनुः प्रजापतिश्चैव पाराशर्यो महामुनिः ।
अग्निरौद्दालकिश्चैव आपस्तम्बश्च वीर्यवान् ।
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च गौतमश्च महात्मा: ।
शंखश्च लिखितश्चैव अंगिरा भृगुरेव च ।
पुलस्त्य: पुलहश्चैव ये चान्ये धर्मपाठका: ।
यमेन सहिता: सर्वे चिन्तयन्ति प्रतिक्रियाम् ।।

इसमें यम (सं० १६) यहाँ धर्मराज के लिए प्रयुक्त किया गया है । परन्तु यम नामक स्मृतिकार भी थे ।

[2] वराह, १६७।१३-१४, १६(२)

[3] वही, १३७।११५-११७ : न च विष्णुकृतं कर्म न वैवस्वर भाषितम् ।
मनुना ये कृता धर्म एव चैव न दृश्यते ।। ११५
न काश्यपकृता धर्मा महानपि योगिनाम् । ११६(१)
बार्हस्पत्येषु धर्मेषु याम्येषु च न विद्यते ।११७(१)

[4] वही, ६८।१०,१६

[5] वही, १२२।८६

[6] वही, १६२।२२

चातुर्वर्ण्य - विधान

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सत्पथ या धर्मपथ पर चलने वाला मनुष्य-जीवन सुखी होगा और इसके प्रतिकूल अपथ पर चलने वाला जीवन दुःखमय होगा । इस प्रकार अपने आप ही मनुष्य को अपने आत्मिक स्वरूप की रक्षा करनी चाहिए (रक्षा आत्मानमात्मना) ।[1] प्राचीन भारतीय सामाजिक विधान का यही उद्देश्य था ।

सामाजिक विधान वर्णों और आश्रमों पर आधारित था । यह दिव्य-संस्था थी जिसका उदय विष्णु के दिव्य तेज से हुआ । बृहदारण्यक उपनिषद के समान वराह पुराण भी बताता है कि आदि कृतयुग में पहले नारायण ही थे, उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी न था । वह अकेले नहीं रह सके । उनके चिन्ता करते ही मही और अन्य तत्वों की सृष्टि हुयी ।[2]

चतुर्वर्ण-उत्पत्ति

उस नारायण के नेत्रों से तेज की उत्पत्ति हुयी । दाहिनी आंख से उत्पन्न तेज अग्नि के समान सूर्य तेज था और बायें नेत्र से उत्पन्न तेज चन्द्रमा के समान शीतल था ।[3]

ब्राह्म तेज (ब्राह्मण) - भगवान् से ही अग्नि की उत्पत्ति हुयी और अग्नि (अथवा अग्नि के समान) तेज ही ब्राह्म तेज था ।

---

१. वराह, १६३।४७

२. वही, ६।८-११

३. वही, ६।१२

क्षात्र तेज (क्षत्रिय) - नारायण की भुजाओं में जो तेज था, उससे क्षात्र तेज की सृष्टि हुयी ।

वैश्य - जंघाओं (के तेज) से भी (ऊरुभ्यामपि) वैश्य की सृष्टि हुयी ।

शूद्र - परमेश्वर ने पैरों (के तेज) से शूद्रों को उत्पन्न किया ।[१]

इन चारों[२] वर्णों के बाद उस विभु ने ही यक्षों एवं राक्षसों को उत्पन्न किया ।

इस प्रकार चारों वर्ण विभु (परमेश्वर) के अंग-तेज ही हैं । ब्राह्मण अग्नि के समान भी बताया गया है ।

अन्य स्थान पर भी, चारों वर्णों की उत्पत्ति के विषय में वराह पुराण ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर चारों वर्णों को पुरुष अथवा विराट पुरुष (नारायण) से उत्पन्न मानता है -

ससर्ज यो वक्त्रत एव विप्रान्
भुजान्तरे क्षत्रमथोरु युग्मे ।
विशः पदाग्रेण तथैव शूद्रान्
नमामि तं विश्वतनुं पुराणम् ।।[३]

---

१. वराह, ६।१५-१६ : तस्माद्वह्निः समुत्पन्नो तस्माद्वह्नेर्बलं महत् ।
य एवाग्निः स वै तेजो ब्राह्मं परम कारणम् ।।
बाहुभ्यामप्यसौ तेजः क्षात्रन्तेजः ससर्ज ह ।
ऊरुभ्यामपि वैश्यांश्च पद्भ्यां शूद्रांस्तथाविभुः ।।

२. वही, ६।१७

३. वही, ३।१६, विष्णु पु०, १।१२।६३(२)-६४(१) में भी ध्रुव की स्तुति करते हुए यही कहते हैं ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

`विश्वतनु` पद उस विराट् पुरुष (विराट्) का ही परिचायक है जिसका रूप ही विश्व है। उसका यही स्वरूप-वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है।[1] यहां अन्य पुराणों और स्मृतियों की भांति चारों वर्णों - विप्र (ब्राह्मण), क्षात्र (क्षत्रिय), विश (वैश्य) और शूद्रों - को क्रम से उसके मुख, भुजाओं, जंघाओं और पैरों से उत्पन्न कहा गया है।[2]

पंचमवर्ण (हीनवर्ण) और वर्ण-संकरता

इन चार वर्णों के अतिरिक्त `इतर`[3] और `अवर` (वर्णावरों)[4] वर्ण के भी उल्लेख हैं जिससे ज्ञात होता है कि शूद्र के अतिरिक्त पंचम् वर्ण भी था। वराह `सच्छूद्र`[5] का भी उल्लेख करता है। इससे शूद्रों के भी दो वर्गों - (१) सच्छूद्र और (२) असच्छूद्र - का ज्ञान होता है। वर्ण-धर्मानुसार पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले शूद्रों को सच्छूद्र कहा गया है। अवर वर्ण अथवा हीन वर्ण असच्छूद्र वर्ग के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसके प्रतिकूल अवर वर्ण अथवा असच्छूद्र वर्ण के लोग वर्ण व्यवस्था के अनुसार स्वधर्म का पालन नहीं करते थे।[6] स्कन्द पुराण में सच्छूद्रों और असच्छूद्रों का वर्णन किया गया है। डा० काणे के अनुसार " प्रथम प्रकार में वे शूद्र आते थे जो सद् व्यवसाय करते थे, द्विजातियों

---

[1] ऋग्वेद, १०, सूक्त ९०

[2] वराह, १८७।२०-२१, यहां पाठ में ब्राह्मणों को मुख से उत्पन्न नहीं कहा गया है। यह पाठ दोष ही है।

[3] वराह, ८।३२ : इतरेषान्तु वर्णानां --- ।

[4] वही, २१५।१०८

[5] वही, १८०।५२

[6] वही, स्कन्द, ६।२४१।६-१५, ६।२४३।४४,४८

की सेवा करते थे और मांस एवं आसव का परित्याग कर चुके थे ।[१] अच्युत को अकर्ण[२] भी कहते थे ।

ऊँच-नीच भावना

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था में उच्चता और हीनता की भावना घर कर चुकी थी । वराह पुराण हीजातियों[३] एवं जाति-विजातियों[४] का भी उल्लेख करता है । `वर्ण` और `जाति` शब्दों का अन्तर समझाते हुए डा० काणे कहते हैं कि " दोनों शब्दों का प्रयोग बहुधा समान अर्थ में होता रहा है । कभी-कभी दोनों के अर्थों में अन्तर भी पाया जातारहा है । वर्ण की धारणा, वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है । इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है । स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्यों पर,--- न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना । किन्तु इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है ----- । मनु ने `वर्ण` शब्द को मिश्रित जातियों के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है और कहीं-कहीं इसका प्रयोग जाति के अर्थ में भी किया है ।"[५]

वर्ण-संकरता,[६] योनि-संकरता[७] और प्रतिलोम-अनुलोम[८] के भी उल्लेख मिलते हैं । संकरता की निन्दा भगवद्गीता के समान ही की गयी है ।[९] सूत-

---

[१] ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० १४८

[२] वराह, १५४।२०

[३] वही, ६८।५

[४] वही, २०२।२७,२८, यहां जाति शब्द जन्म तथा वंश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

[५] ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० ११६

[६] वराह, १८०।५, २०३।४०

[७] वही, १८०।२३

[८] वही, १८०।२८

[९] वही, १८०।५ : संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।। तु०की०, गीता १।४२(१), गीता, १।४१-४३

मागध-वन्दि[1] तथा गोलक[2] और कुण्ड[3] का भी उल्लेख हुआ है। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में वर्णसंकर जातियों तथा अनुलोम और प्रतिलोम जातियों के नाम गिनाये गये हैं।[4]

मागध-सूत और वन्दियों को भी इसी प्रकार की जातियां बताया गया है। वराह पुराण के अनुसार ये सभी स्तुति या वन्दना करने वाले थे। " मागध वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान हैं।"[5] " वन्दी को हारीत ने वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान कहा है।"[6] " सूत क्षत्रिय पुरुष एवं ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान है।"[7]

" मनु के अनुसार कुण्ड जीवित ब्राह्मण की पत्नी तथा किसी अन्य ब्राह्मण के गुप्त प्रेम से उत्पन्न सन्तान है।"[8] " ब्राह्मण पुरुष एवं विधवा ब्राह्मणी के चौरिका-विवाह (गुप्त प्रेम) की सन्तान गोलक है।"[9]

इस प्रकार चातुर्वर्ण्य-संकर से विविध जातियां उत्पन्न हो गयी थीं।[10] परन्तु अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण में इनके नाम नहीं दिये गये हैं।

---

१. वराह, १३७।८०
२. वही, १८९।४५
३. वही, १८९।४७
४. ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० ११६-१२३
५. वही, पृ० १३५
६. वही, पृ० १३७
७. वही, पृ० १३६
८. वही, पृ० १२६
९. वही, पृ० १३०
१०. गरुड़, १।९६।१ : वर्णा संकरजात्याद्य --- । इत्यादि
वही, १।९६।६ : --- ज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ---

गरुड़ पुराण में इन्हें अन्त्यज-जातियां कहा है और इनकी संख्या तेरह बतायी गयी हैं - रजक, चर्मकार, नट, बरुड़, कैवर्त, मेद (भेद), भिल्ल, म्लेच्छ और डुम्ब आदि ।[1] इनका सम्बन्ध व्यवसायों और शिल्प-कर्म से था ।

वर्ण-विधान में ऊँच-नीच की भावना आगे चलकर विकसित हुयी । शूद्रों और अन्त्यजों में तामस गुण प्रधानता होने से उनमें दुष्कर्म बढ़ते गये । साथ ही जैन, बौद्ध आदि धर्मों की उन्नति से भी इन अन्त्यज जातियों का उत्कर्ष हुआ । वराह[2] ‘अवर्ण-यति’ का उल्लेख करता है । इससे समाज में एक प्रतिक्रिया हुयी और यह चेतना पुराणों में भी देखने को मिलती है ।

वर्णावर्ण-विवेक

चारों वर्णों में ऊँच-नीच की भावना के विषय में सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह दिया गया है कि जब ये चारों वर्ण एक ही पुरुष के अंगों से उत्पन्न थे[3] अर्थात् एक ही पिता की संतानें थीं तो उनमें उत्तम और अधम होने का क्या प्रश्न है ?[4] मनुष्य की एक ही जाति है[5] और उसमें भेद करना असंगत है ।[6] शील-

---

[1] गरुड़, २।२।५-७

[2] वही, १५४।२०

[3] वायु, १।६।७१, स्कन्द, ६।२४२।१८

[4] स्कन्द, ४।२।५७।१२४-१२५ : मुखबाहूरुपज्जातं चातुर्वर्ण्यमिहोदितम् ।
कल्पनेयं कृता पूर्वैर्घटते विचारतः ।।१२४।।
एकस्यां च तनौ जाता एकस्मात्पदि वा क्वचित् ।
चत्वारस्तनयास्तत्किं भिन्नवर्णत्वमाप्नुयुः ।।१२५।।

[5] वही, ४।२।५७।१२० : मानुष्ये सति सामान्ये को धमः को च चोत्तमः ।।
तुलना कीजिए, दिव्यावदान, ३२३।१४

[6] स्कन्द, ४।२।५७।१२६ : वर्णावर्ण विवेको यं तस्मान्न प्रतिभासते ।
अतो भेदो न मंतव्यो मानुष्ये केनचित् क्वचित् ।।

संपन्न शूद्र भी ब्राह्मण से अधिक हो सकता है और आचार-रहित ब्राह्मण भी शूद्र से हीन हो सकता है ।[1]

वर्णधर्म (चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि)

वर्ण तथा कर्म-गुण

प्रत्येक वर्ण का स्व-स्व धर्म है । ये ही चारों वर्णों के अपने अपने कर्म (चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि)[2] हैं । चारों वर्णों की उत्पत्ति भी गुण और कर्म के आधार पर ही मानी गयी है । श्री कृष्ण का मत है कि " चारों वर्णों को मैंने गुण एवं कर्मों के आधार पर रचा है ।"[3] इस प्रकार यह वर्ण-विधान त्रिगुणापाश्रयी (सत्त्व,सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन गुणों पर आश्रित) है । विष्णु पुराण स्पष्ट कहता है - " ब्रह्मा के मुख से सत्त्वप्रधान प्रजा, वक्षःस्थल से रजःप्रधान तथा जंघाओं से रज-तम प्रधान और चरणों से तम प्रधान प्रजा की सृष्टि हुयी । ये ही चारों वर्ण हुए - क्रमानुसार मुख से ब्राह्मण,

---

[1] भविष्य, ब्राह्मपर्व, ४४।३१ : शूद्रो पि शीलसंपन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत् ।
ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत् ।।

[2] वराह, ११५।३४

[3] भगवद्गीता, ४।१३ : चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।

इस पर टीका करते हुए श्रीधर कहते हैं :-
चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं --- सत्त्वप्रधाना
ब्राह्मणास्तेषां शमदमादीनि कर्माणि सत्त्वरजःप्रधाना
क्षत्रियाः तेषां शौर्य युद्धादीनि कर्माणि रजस्तमःप्रधाना
वैश्यास्तेषां कृषिवाणिज्यादीनि कर्माणि तमःप्रधानाः
शूद्रास्तेषां च त्रैवर्णिक कर्माणीत्येवं गुणानां
कर्मणां च विभागैश्चातुर्वर्ण्यं मयैव सृष्टमिति ।।

वक्ष:स्थल से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए ।[1]
इस प्रकार -

ब्राह्मण - सतोगुण प्रधान थे,
क्षत्रिय - रजोगुण प्रधान थे,
वैश्य - रज और तम प्रधान थे और
शूद्र - तम प्रधान थे ।

इस प्रकार चारों वर्णों में अपने अपने गुणों की विशिष्टता परिलक्षित होती है ।

इसी प्रकार विष्णु पुराण बताता है कि यज्ञानुष्ठान के लिए ही ब्रह्मा ने, यज्ञ के उत्तम साधन रूप में चातुर्वर्ण्य की रचना की ।[2]

भागवत पुराण से ज्ञात होता है कि चारों वर्ण और आश्रम सत्वादि गुणों के अनुसार आदि पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और पाद से उत्पन्न हुए हैं ।[3] वर्णों के कर्मों के विषय में भागवत पुराण का मत है :-

ब्रह्म-पुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए । मुख से उत्पन्न होने के कारण उन्हें प्रधानता (वर्ण-मुख्यता) मिली और वे सब वर्णों के गुरु माने गये । उस विराट् पुरुष की बाहुओं से क्षत्रिय हुए । वे सभी वर्णों को संकटों और क्षति से रक्षा करने के काम में लग गये । वैश्यों की उत्पत्ति उस परम पुरुष की जंघाओं से हुई । उन्होंने अपने व्यवहार-कौशल से सभी मनुष्यों की जीविका का

---

१. विष्णु पु०, १।६।६
२. वही, १।६।७ : यज्ञनिष्पत्यै सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै ।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ॥
३. भागवत, ११।५।२

सम्पादन किया । सेवा-धर्म की सिद्धि के लिए पुरुष के चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए । नारायण इनकी इस वृत्ति (सेवाधर्म) से प्रसन्न होते हैं । इस प्रकार स्व-स्व-धर्म प्रधान ये चारों वर्ण अपनी अपनी वृत्ति के साथ उत्पन्न हुए हैं ।[१] इसे भागवत पुराण के आधार पर निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :-

वर्ण	गुण	कर्म	विशेषोल्लेख
ब्राह्मण	सत्व प्रधान	वर्ण-गुरु (शिक्षा)	वर्णमुख्य
क्षत्रिय	रज प्रधान	त्राण कर्म	
वैश्य	रज-तम प्रधान	वार्ता-कर्म	
शूद्र	तम प्रधान	शुश्रूषा	धर्मसिद्धये

अतः स्पष्ट है कि गुणों के आधार पर कर्म की भी कल्पना कर ली गयी थी ।

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक (शिक्षा, पुराण-मत, यज्ञ के लिए) तथा बौद्धिक जीवन पर आधारित थी ।

---

[१] भागवत, ३।६।३०-३४

ब्राह्मणों के कर्तव्य

भागवत पुराण में ब्राह्मण को वर्णों का गुरु कहा गया है । इससे सिद्ध होता है कि उनका मुख्य कर्म शिक्षा देना था । उन्हें `मुख्य` भी कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि समाज का बौद्धिक तथा धार्मिक नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था । वराह पुराण सभी ब्राह्मणों को विष्णुभक्ति-परायण भी कहता है ।[1] अत: ब्राह्मणों में उनके स्वधर्म-कर्म के अतिरिक्त भागवत लक्षणों, गुणों और कर्मों का होना - करना आवश्यक था । निम्नलिखित ब्राह्मण गुण और कर्म थे -

१. अहंकार, दुष्कर्म और लाभालाभ के विचार से रहित होकर स्वकर्म करना उसका धर्म था ।

२. विष्णु-भक्ति तथा वैष्णवकर्म-परायण, शास्त्रानुसारी, स्वच्छ-चित्त, जितेन्द्रिय तथा भिक्षाहारी रहना भी उसका सरल स्वभाव और चरित्र था ।

३. (क) षट्-कर्म निरत होकर,
   (ख) इष्टापूर्त कर्मों को करना ब्राह्मण कर्म था ।[2]

---

[1] वराह, ११५।१७ : ब्राह्मणस्य तु वक्ष्यामि गुणान् कर्म वसुन्धरे ।
यानि कर्माणि कुर्वन्ति मम भक्ति परायणाः ।।
द्रष्टव्य, विष्णु पु०, ३।८।६-१२

[2] वराह, ११५।१८-२० : षट्कर्म निरतोभूत्वा अहंकार विवर्जितः ।
लाभालाभ परित्यज्य भिक्षाहारीजितेन्द्रियः ।।
मम कर्मायुक्तः पैशुन्येन विवर्जितः ।
शास्त्रानुसारिणश्चर्या न वृद्धशिशुवेतनः ।।
एतैः ब्रह्मणः कर्म रक्षिता जितेन्द्रियः ।
इष्टापूर्तस्य कुरुते स यातीति वसुन्धरे ।।

ध्यान दीजिए कि उपर्युक्त सं० १ में निषेध (वर्जित कर्मों) द्वारा उसमें निहित रजोगुण और तमोगुण का दमन तथा सं० २ में सत्वगुण (ब्राह्मतेज) के उत्कर्ष के साथ ही (सं० ३ में) ब्राह्मण-कर्म (षटकर्म) तथा लोककल्याण धर्म (इष्टापूर्त) का विधान था। उसका चरित्र एक वृद्ध-शिशु के समान (वृद्धशिशुचेतसः) सरल होना चाहिए। स्वकर्म के अतिरिक्त शुद्ध ज्ञान, विद्या-वैभव, तप और दान-वृत्ति भी उसके महान् गुण थे[1] जिनके आधार पर ही समाज में वह सर्व-प्रधान और पूज्य था। श्राद्ध के योग्य ऐसे ही वेदाध्ययन में श्रम करने वाले, शान्त, कुलीन, सुशील, मान (दंभ) रहित साधु ब्राह्मण पूज्य थे।[2] शास्त्रानुसारी रहने के लिए ब्राह्मण को नित्य स्वाध्याय करना (नित्यस्वाध्यायिनो)[3] अत्यावश्यक था। इस प्रकार सरलता (शिशु स्वभाव), मैत्री (इष्टापूर्त,वैष्णव), संयम (इन्द्रिय दमन), शील (अहंकार और दुष्टताहीन), विद्या, तप, दान और शुद्ध ज्ञान[4] (ब्रह्म ज्ञान) ब्राह्मण के स्वभाव-गुण थे जिनका प्रभाव उसके कर्मों पर पड़ता था। वराह पुराण के अनुसार वैष्णव ब्राह्मण की दीक्षा[5] भी होती थी। इस प्रकार उसकी ब्राह्मणी वृत्ति का विकास होता था।

---

१. वराह, १६२।२७(२)-२८(१) : --- ब्राह्मणों वा स्वकर्मकृत ।।
तपो वा विपुलं तप्त्वा दत्वा दानमनुत्तमम् ।
वही, १६०।६८ : ज्ञानशुद्धेन विप्रेण -----
वही, १६०।१२३ : ज्ञानोपेतेन विप्रेण ----
वही, २०७।२४ : ज्ञानवन्तो द्विजा ये च विद्यापारंगताः ।

२. वही, १८६।४०

३. वही, २०७।२८
विष्णु पु०, ३।८।२२(१)

४. वही, ३।८।२४-२५

५. वराह, अ०, १२७

षट्कर्म

मनु के अनुसार पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, यज्ञ करना, दान देना और दान लेना ब्राह्मण के कर्म हैं ।[1] इन छः कर्मों को ब्राह्मणों के लिए करणीय कर्म कहा गया है ।[2] कुछ ग्रन्थों में इन कर्मों का विभाजन किया गया है । विष्णु पुराण के अनुसार इन छः कर्मों में यज्ञ कराना, दूसरों को पढ़ाना और दूसरों से न्यायानुकूल द्रव्य दान में लेना - ये ब्राह्मण की वृत्तियां (जीविका के साधन) थीं[3] । इनमें अध्यापन कार्य उसका प्रमुख धर्म था (ब्राह्मणस्याध्यापनम्) । अध्यापन कार्य को ब्रह्मयज्ञ कहा गया है ।[4]

ऐसे बहुत से ब्राह्मणों के उदाहरण मिलते हैं जो सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए ब्राह्मणी वृत्ति से रहते थे । कल्पग्राम में[5] विद्या और स्वधर्म-निष्ठा से युक्त धर्मात्मा ब्राह्मण रहते थे । कल्पग्राम के ब्राह्मणों की[6] ख्याति चन्देल युग में ज्ञात थी जैसा सम्राट् धंग के एक अभिलेख से ज्ञात होता है । महानाम का एक विख्यात ब्राह्मण[7] वन में रहता था । वह[8] नित्य स्वाध्याययुक्त, योग-वेत्ता और व्रती ब्राह्मण था । ब्राह्मण वेदाध्ययनशील होते थे । साथ ही पतित और दूषित ब्राह्मणों का भी[9] अभाव न था । ऐसे ब्राह्मणों को राक्षस कहा गया[10] है (द्विजरूपेण राक्षसाः) । वे अपांक्तेय ब्राह्मण (जातिबहिष्कृत) कहलाते थे ।

---

१. मनु, १।८८ : अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।
टीका (मन्वर्थमुक्तावली) "---- अध्यापनादीनि
षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान् ।"

२. वराह, ११५।९८(१),
गरुड़ पु०, १।४९।२

३. विष्णु पु०, ३।८।२३

४. विष्णु स्मृति, २।५, वही टीका - अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः ------ ।

५. वराह, १६२।६-१३ इत्यादि

६. धंगदेव और जयवर्म देव का खजुराहो लेख, श्लोक ५३-५४

७. वराह, १७४।२-४

८. वही, १६२।१५

९. वही, १९०।९३

१०. वही, १९०।८४-९४

क्षत्रिय कर्म

परमेश्वर की भुजाओं से उत्पन्न क्षत्र अथवा क्षत्रिय क्षात्र तेज[१] था जो वैष्णव-तेज का परिचायक था । क्षत्रिय को भी वैष्णव मान कर उसके कर्मों का वर्णन किया गया है । भगवत्कर्म-परायण क्षत्रिय स्वधर्म-तत्पर, दानशूर, यज्ञ-कुशल, शुचि (संयमी), मेधावी और अहंकार[२]- रहित हों ।[३]

उनका स्वधर्म क्षत्रिय कर्म था[४] अर्थात् सभी वर्णों की बाधाओं और कष्टों तथा आपत्ति और विपत्ति से रक्षा करना उनका कर्तव्य कर्म था ।[५] इस कर्म के लिए उन्हें सभी प्रकरणों[६] में शस्त्र शिक्षा[७] मिलती थी । इस प्रकार क्षत्रिय के जीवन में शक्ति, शौर्य और शस्त्र-शिक्षा की प्रधानता थी ।

---

१. वराह, ६।१६(१)

२. गुप्त सम्राट् परम भागवत कहलाते थे । तत्कालीन इतिहास में अहंकार के कारण ही बहुत से युद्ध और अनर्थ हुए हैं । सम्भवतः वैष्णव चिन्तकों का यही उद्देश्य था कि क्षत्रिय विनय-शील बने रहें तथा अहंकार से उद्धत न हो जायं ।

३. वराह, ११५।२१-२२ : क्षत्रियाणां प्रवक्ष्यामि मम कर्मसु तिष्ठताम् ।
यानि कर्माणि कुर्वीत क्षत्रियोमध्यांस्थितः ॥
दानशूरश्च कर्मज्ञो यज्ञेषु कुशलः शुचिः ।
मम कर्मसु मेधावी अहंकार विवर्जितः ॥

४. वही, १२८।७

५. भागवत, ३।६।३१ : बाहुभ्यो वर्तत क्षात्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥

६. वराह, १२८।१ : क्षत्रियस्य प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व वसुन्धरे ।
श्रुत्वा प्रकरणान्सर्वान्धार्मिकान्वित्पूर्वाभिघातम् ॥

७. वही, १२८।७ : [illegible]- --- स्थानानि शिक्षाणि शस्त्राणि
स्थानं सर्वं क्षत्रियाणां ---- ।

वराह पुराण[1] में कृषि की रक्षा करना भी क्षत्रिय का मुख्य कर्म बताया गया है। वराह पुराण के अनुसार क्षत्रिय निन्द्यकर्म और पैशुन्य से रहित होकर गुरु और विप्र का अपवाद न करे। उसके चारित्रिक गुणों में निम्नांकित गुण महत्वपूर्ण थे :-

वह (१) अल्प-भाषी,
(२) गुणज्ञ,
(३) भागवद्भक्तों से प्रेम करने वाला और
(४) अभ्युत्थान-कुशल हो,

अर्थात् गुरु, पुरोहित, वृद्ध आदि पूज्य लोगों का सम्मान करें।[2]

वैश्य कर्म

भागवत पुराण[3] के अनुसार वैश्य ने मनुष्यों की वार्ता (आजीविका) को प्रवर्तित किया। वराह[4] पुराण के अनुसार भी कृषि को वैश्य की जीविका (वैश्यों का कृषिजीवनः) बताया गया है। कृषि[5] के अतिरिक्त गोरक्षा, वाणिज्य और क्रय-विक्रय करना भी वैश्य-कर्म था।

---

१. वराह, १६३।२७
२. वही, ११५।२३-२४ : अल्पभाषी गुणज्ञश्च नित्यं भागवतप्रियः ।
गुरुविप्रो नुसूयश्च निन्द्यकर्मं विवर्जितः ।
अभ्युत्थानादि कुशलः पैशुन्येन विवर्जितः ।।
एतैर्गुणैः समायुक्तो यो मां व्रजति क्षत्रियः ।
भजते मम यो नित्यं मम लोकाय गच्छति ।।
३. भागवत, ३।६।३२ : विशो वर्तन्त तस्योर्वो लोकवृत्तिकरी विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ।।
४. वराह, १६३।२७(१)
५. वही, १२८।१६(१)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विष्णु-भक्ति परायण वैश्य को भी सद्गुणों से विभूषित होना उसका स्वभाव बताया गया है। वैष्णव वैश्य को सम्भाग-धर्म के अनुसार ऋतु-कालाभिगामी, शान्तात्मा, मोह-रहित, शुचि, दक्ष, गुरु-संपूजक और भक्तानुवत्सल होना चाहिए।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैश्य के कर्म पर वार्ता की उन्नति और राष्ट्र की वृद्धि निर्भर थी।

द्विजाति

तीनों वर्णों - ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य - को द्विजाति[2] कहा गया है। इनके सभी संस्कार मंत्र और क्रियाओं के साथ होते हैं।[3] वराह पुराण के अनुसार ये तीनों ही वर्ण यज्ञ-भागी हैं, परन्तु शूद्र यज्ञ कर्म से वंचित हैं।[4]

धर्मशास्त्र-साहित्य में ---- वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एवं दान देना ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए आवश्यक कर्तव्य माने गये हैं। वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं, युद्ध करना एवं प्रजा-जन की रक्षा करना क्षत्रियों के तथा कृषि, पशु-पालन, व्यापार आदि वैश्यों के विशेषाधिकार हैं।[5]

---

[1] वराह, ११५।२६-२८

[2] विष्णु स्मृति, २।१-२ : ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति वर्णाश्चत्वारः ।।१।।
तेषामाद्या द्विजातयस्त्रयः ।।२।।

[3] वही, २।३

[4] वराह, २११।४ : त्रयो वर्णा महाभाग यज्ञसामान्यभागिनः ।
शूद्रा वेदविधिभ्यो ब्राह्मणैस्तु बहिष्कृतः ।।

[5] ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० १४२

शूद्र कर्म

भागवत पुराण के अनुसार धर्म-सिद्धि के लिए ही शूद्र की सृष्टि भगवान् के चरणों से हुयी थी और शूद्र को शुश्रूषा धर्म सौंपा गया। शूद्र भी अपने स्वधर्म (सेवा) से ही भगवत्प्राप्ति करता है।[1] वराह पुराण के अनुसार भी शूद्र का धर्म अन्य वर्णों की शुश्रूषा करना था (शुश्रूषावान् भवेच्छूद्रो)।[2]

अभक्ष्य-भक्षण तथा शूद्रकर्म त्यागने के बाद ही उनको भी वैष्णव-दीक्षा होती थी।[3]

कर्म संकर

वर्ण-संकरता और योनि-संकरता के साथ साथ कर्म-संकरता[4] भी प्रचलित थी। वर्णों के सुख-स्वर्ग का मार्ग स्वधर्म-पालन ही कहा गया है।[5] परन्तु फिर भी हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां लोग अपना धर्म-कर्म छोड़कर अन्य वर्णों के धर्म-कर्म करते थे। एक ब्राह्मण-पुत्र धन की तृष्णा से व्यापार करता था।[6] संभवतः कुछ ब्राह्मण वैश्य और शूद्रों के कर्म भी करते होंगे। कर्मोपजीवी, शूद्रकर्म करने वाले, क्रय-विक्रय करने वाले वैश्योपजीवी, वार्धुषिक (सूद खाने वाले), लेखकार, नर्तक, गायक आदि स्वधर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म करने वाले ब्राह्मणों की निन्दा की गयी है।[7] इससे समाज में कर्म-सांकर्य का प्रचलन सिद्ध होता है।

---

[1] भागवत, ३।६।३३ : पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्म सिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या [illegible] तुष्यते हरिः ।।

[2] वराह, १६३।२७
वही, १८७।२१ : शूद्राः सर्ववर्णोपचारकाः

[3] वही, १२८।२२-२८

[4] वही, १४२।२०(१)

[5] भागवत, ३।६।३४

[6] वराह, १७६।१-३,१५

[7] वही, १६०।८४-६३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

व्यवसाय सम्बन्धी जातियां

धर्मशास्त्र-साहित्य एवं उत्कीर्ण लेखों से विदित होता है कि व्यवसाय-सम्बन्धी जातियां व्यवस्थित एवं धनी थीं ।[1]

वराह पुराण में निम्नलिखित वर्णों या जातियों का उल्लेख मिलता है । इनका सम्बन्ध विभिन्न व्यवसायों से था जिनका समाज में महत्व था । इन्हें वर्ण-क्रमानुसार दिया जा रहा है :-

अयस्कार[2] (लोहार)	
आभीर -	प्राचीन भारत की प्रसिद्ध जाति थी, जिसका इस देश के इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य रहा है । आभीरों का सम्बन्ध गोपालन से था । वे गोधन से सम्पन्न थे ।[3]
क्रय-विक्रयी[4] -(व्यापारी)	वायु पुराण के अनुसार क्रय-विक्रय करने वाला ब्राह्मण श्राद्ध के लिए अयोग्य था ।[5]
गणक[6] -	यह ज्योतिषी अथवा दैवज्ञ था । विष्णु धर्मोत्तर ने भी इसे श्राद्ध के अयोग्य कहा है (कृत्वा नक्षत्रनिर्देशं यश्च जीवति पार्थिव)[7] ।

---

१. ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० १२३
२. वराह, १३६।६३
३. वही, १३८।५१,५६
द्रष्टव्य, डा० भगवान सिंह, `हिस्ट्री आफ दि आभीराज`
४. वराह, १६०।८६
५. वायु, २।१७।७६(२),७७
६. वराह, १६०।८८
७. वि०ध०, १।१४३।४(१)

गायन[1] (गायक)	
चर्मकार[2] -	इसका प्रमुख कर्तव्य उपानह (जूता) बनाना था ।
चित्रकर[3] (चित्रकार)-	वायु पुराण के अनुसार भी कारुक आदि श्राद्ध के अयोग्य थे ।[4]
तस्कर[5] (स्तेन, चोर)[6]-	
तिल विक्रयी[7] (तैलिक)[8]	
नर्तक[9] -	" उशना के अनुसार यह एक वैश्य नारी एवं रंजक की सन्तान है । बृहस्पति ने नट एवं नर्तकों को अलग-अलग रूप से उल्लिखित किया है । ---- अग्नि (७।२) ने भी दोनों की पृथक-पृथक चर्चा की है ।"[10]
मतंग[11] -	आचार, देवपूजा, आतिथ्य और तर्पण आदि से शून्याचरण वाली यह अन्त्यज जाति थी ।[12] इसे लोकशिंक भी कहा गया है ।[13] यह चांडाल था ।[14]

---

१. वराह, १६०।८५(२), मनु ४।२१०, वायु, २।१७।५८(२)
२. वही, १३६।९८
३. वही, १६०।८४(२)
४. वायु, २।१७।५८
५. वराह, १६०।८९(२)
६. मनु, ४।२१०, वायु, २।१७।८२, वि० ध०, १।१४३।५(१)
७. वराह, १६०।९२(१)
८. ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० १३२
९. वराह, १६०।८५(२)
१०. ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० १३३
११. वराह, ८।११,१७,१८,२३,२४
१२. वही, ८।३५
१३. वही, ८।३७
१४. वही, १३९।५९,८२

रंगकारक[1] - (रंगरेज या चित्रकार) या रजक[2]।

रंगोपजीवन[3] (= रंगावतारी)[4] -- मनु (४।२१५) के अनुसार यह शैलूष एवं गायक से भिन्न जाति है। शंख (१७।३६) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५१।१४) ने भी इसकी चर्चा की है। ब्रह्म पुराण के अनुसार यह नट है जो रंगमंच पर कार्य करता है, वस्त्र एवं मुखाकृतियों के परिवर्तन आदि का व्यवसाय करता है। मैत्री नामक उपनिषद में नट एवं भट के साथ रंगावतारी का उल्लेख है।[5]

रस-विक्रेता (विक्रेतारों रखाना)[6]

लेखकार[7] या लेखक -- यदि यह जाति है तो इसे कायस्थ ही समझना चाहिए।[8] कायस्थों की एक विशिष्ट जाति भी थी।[9]

वार्धुषिक[10] (ब्याजखोर) - अन्य ग्रन्थों में कुसीद (सूद-ब्याज पर महाजनी करना) को महत्वपूर्ण व्यवसाय बताया गया है।[11] परन्तु वराह पुराण इसका उल्लेख नहीं करता है।

---

[1] वराह, १६०।८६
[2] ध० शा० इ०, प्रथम खं०, पृ० १३१
[3] वराह, १६०।८५(२)
[4] मनु, ४।२१५
[5] ध० शा० इ०, प्रथम खं०, पृ० १३४
[6] वराह, १६०।८६(१)
वही, १६०।६२(१) : रसविक्रयिणः
[7] वही, १६० ~~(२)~~।८६(२)
[8] ध० शा० इ०, प्रथम खं०, पृ० १३४
[9] वही, पृ० १२८
[10] वराह, १६०।८८(२), मनु, ४।२१०
[11] गरुड़ पु०, ज०, पृ० १६७

वेश्योपजीवी[१]- इसका सम्बन्ध वेश्यजीविका करने वालों अथवा वेश्यादिकों से था । गायनों और नर्तकों के साथ वेश्यावृत्ति ही उपयुक्त है । अतः, संभवतः, यह वेश्या-वृत्ति से सम्बन्धित वर्ग था ।

व्याध[२] (शिकारी या बहेलिया)[३]- इसकी वृत्ति वनचर मृगों का शिकार करना था । यह मृगों को मार कर अपने कुटुम्ब का पोषण करता था ।[४] इसे जीव-हर्ता,[५] जन्तुघाती[६] और जीवघाती (व्याधो जीवघाती)[७] कहते थे ।

शौलिक[८] - प्रायः अज्ञात है । डा० काणे ने शालिक[९] (= मागध) और शूलिक[१०] का उल्लेख किया है । सम्भवतः यह शूलिक (दंडित लोगों को शूली देने वाला) से ही है ।

---

[१] वराह, १६०।८९(?)

[२] वही, ६।३६, ८।१

[३] ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० १३७

[४] वराह, ८।१-२,२८

[५] वही, ८।१६

[६] वही, ८।३४

[७] वही, ८

[८] वही, १६०।६०(?)

[९] ध०शा०इ०, प्रथम खं, पृ० १३७

[१०] वही, पृ० १३८

शैलूष[1] - " विष्णु धर्मसूत्र (५१।१३), मनु (४।२१४), हारीत आदि ने इसे रंगावतारी से भिन्न एवं ब्रह्म पुराण ने इसे नटों के लिए जीविका खोजने वाला कहा है। आपस्तम्ब (६।३८) ने इसे रजक एवं व्याध की श्रेणी में रखा है। यही बात याज्ञवल्क्य (२।४८) में भी पायी जाती है।[2] " ब्रह्मांड पुराण में इसे अन्त्यज-जाति के साथ रखा गया है।[3]

शौण्डिक[4] (सुरा बेचने वाला)[5]

---

[1] वराह, १६०।६२

[2] ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० १३८

[3] ब्रह्मांड, ४।७।१६

[4] वराह, २०३।५१

[5] ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० १३८

आश्रम - धर्म

वर्ण व्यवस्था के समान ही आश्रम-व्यवस्था भी प्राचीन भारत की महत्वपूर्ण संस्था थी । डा० काणे की उक्ति है कि " वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिए था, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिए था । ------ आश्रम सिद्धान्त यह बताता था कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपने जीवन को किस प्रकार ले चलना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में उसे क्या-क्या तैयारियां करनी हैं । निस्सन्देह, आश्रम सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी । ----- इसके उद्देश्य बड़े ही महान् एवं विशिष्ट थे ।"[1] डा० काणे के अनुसार " आश्रम शब्द श्रम से बना है (आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः) अर्थात् एक ऐसा जीवन-स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता है ।"[2] परन्तु अन्य पुराणों की भांति वराह पुराण में चार आश्रमों और उनके कर्मों का विशेष उल्लेख नहीं किया गया है । आश्रम चार थे :-

1. ब्रह्मचारी
2. गृहस्थ
3. वानप्रस्थ और
4. यति (संन्यासी) जिसे भिक्षुक भी कहते थे ।[3]

वराह पुराण प्रायः इनके कार्यों पर ही कुछ प्रकाश डालता है ।

---

१. ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० २६६

२. वही, पृ० २६७

३. वराह, १६०।१५-१६ : ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, भिक्षुक और यति, यहां
गृहस्थ का उल्लेख नहीं है ।
वही, १६३।४५ : गृहस्थाः और वानप्रस्थाः

ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी पहला आश्रम था जिसका कर्तव्य गुरु के आश्रम में रहते हुए विद्याध्ययन करना तथा पवित्र जीवन व्यतीत करने की शिक्षा थी ।[1] गुरु-शुश्रूषा, भिक्षा-चर्या और स्वाध्याय तथा होम, जप, तप आदि उसके मुख्य कर्तव्य थे ।[2] इसीलिए ‘ब्रह्मचारी’ और ‘ब्रह्मचर्य’ शब्द तथा उसका जीवन पवित्र माना जाता है । विभिन्न धार्मिक कृत्यों में संलग्न व्यक्तियों को ब्रह्मचारी रहने का आदेश है ।[3] उसका जीवन शुचितापूर्ण था । इसीलिए सभी कार्यों और देवसत्रों में उसका स्वागत होता था ।[4] क्रोध को जीतने वाला, जितेन्द्रिय और सत्यवादी होता था ।[5]

गार्हस्थ्य धर्म[6]

वेदविद्या पढ़ने के बाद स्नातक (वेदविद्याव्रतस्नाती)[7] गृह लौट आता था तथा गृह पर रहते हुए गृह-धर्मों अथवा गृहस्थ-धर्मों[8] का पालन करता था । अन्य ग्रन्थों की भाँति वराह पुराण गृहस्थ-धर्म को सर्वोत्कृष्ट और महत्वपूर्ण मानता है । सभी प्राणियों का आश्रय गार्हस्थ्य धर्म ही है । जिस प्रकार माता के आश्रय में सभी पुत्र स्वस्थ और सुखी रहते हैं, उसी प्रकार सभी जीव-जन्तु भी

---

[1] गरुड़ पु० अ०, पृ० १२०-१२६
ध०शा०इ०, प्रथम खं०, अ० ८

[2] गरुड़, १।४६।५

[3] वराह, १६०।१०४

[4] वही, १६०।१५

[5] वही, १४१।६६

[6] वही, १६७।६

[7] वही, १६०।१८

[8] वही, १६३।४५

गार्हस्थ्य के आश्रम से अपना जीवन-यापन करते हैं ।[1] इसीलिए गृहाश्रम को धर्म का मूल कहा गया है । यहां प्रत्येक मास, तिथि और पर्व पर श्राद्ध होते हैं जिससे पितृ-गण तर जाते हैं ।[2] इस प्रकार गार्हस्थ्य धर्मों का पालन करना प्रशंसनीय कर्तव्य था और सभी गृहस्थ धर्मों में श्राद्ध द्वारा पितृ-तर्पण ही पुण्य कर्म था । यज्ञ (पंच महायज्ञ आदि), अनेक विधि के दान,[3] अध्ययन, उपवास, तीर्थाभिषेक, अग्निहोत्र और श्राद्ध प्रमुख गृहस्थ धर्म थे ।

पंचमहायज्ञ

" वैदिक काल से ही पंच महायज्ञों के सम्पादन की व्यवस्था पायी जाती है । शतपथ ब्राह्मण का कथन है - " केवल पांच महायज्ञ हैं, वे महान् यज्ञ हैं और वे हैं भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ एवं ब्रह्म यज्ञ ।"[4] इनकी महत्ता का विवेचन करते हुए डा० काणे का कथन है कि " पंच महायज्ञों में मुख्य उद्देश्य है विधाता, प्राचीन ऋषियों, पितरों, जीवों एवं सम्पूर्ण

---

[1] वराह, १६७।७-८ : गार्हस्थ्यं सर्वधर्माणां श्रेष्ठमुक्तं स्वयम्भुवा ।
यावन्ति जन्तवः सर्वे यथा गोः सर्वतः स्थिताः ।।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।।

[2] वही, १६०।४४-४६ : एष धर्मो गृहस्थानां पुत्र पौत्र समन्विताः ।
भ्रातारश्च भविष्यन्ति पर्यन्तो यथासुखम् ।।
पिपीलिकाविभूतानि जंगमाश्च विहंगमाः ।
उपजीवन्ति सर्वाणि गृहस्थेषु न संशयः ।।
एवं गृहाश्रमो मूलं धर्मस्यैव प्रतिष्ठितः ।
मासि मासि तु ये श्राद्धं प्रवर्तन्ति गृहाश्रमे ।
तिथौ पर्वणि ये चैव स्वपितॄंस्तारयन्ति वै ।।

[3] वही, १६०।४७ : न यज्ञानाध्ययनोपवासै-स्तीर्थाभिषेकैरपि चाग्निहोत्रैः ।
दानैरनेकैर्विविध सम्प्रदत्तै-र्न तत्फलं श्राद्ध गृहस्थधर्मे ।।

[4] श०ब्रा०११, प्रथम खं०, क्र १८, पृ० ३८३

ब्रह्माण्ड के प्रति (जिसमें आत्म्य जीव रहते हैं) अपने कर्तव्यों का पालन । अत: पंच यज्ञों में --- नैतिकता, आध्यात्मिकता, प्रगतिशीलता एवं उदाराशयता देखने में आती है । गौतम ऐसे सूत्रकारों तथा मनु -- ने पंच महायज्ञों को संस्कारों में परिगणित किया, जिससे कि पंच महायज्ञ करने वाले स्वार्थों से बहुत ऊपर उठ कर अपनी आत्मा को उच्च बनायें और अपने शरीर को पवित्र कर उसे उच्चतर पदार्थों के योग्य बनायें (मनु २।२८) । कालान्तर में प्रतिदिन के महायज्ञों के साथ अन्य उद्देश्य भी आ जुटे । --- तथा अन्य लोगों के मत से प्रत्येक गृहस्थ अग्निकुण्ड, चक्की, झाड़ू, सूप तथा इसी प्रकार अन्य घरेलू सामग्रियाँ (यथा कूँडि आदि) से प्रतिदिन प्राणियों को आहत करता एवं मारता है, अत: इन्हीं पापों से छुटकारा पाने के लिए प्राचीन ऋषियों ने पंच महायज्ञ की व्यवस्था की । ये पाँच महापूत यज्ञ हैं - ब्रह्मयज्ञ (वेद का अध्ययन एवं अध्यापन), पितृयज्ञ (पितरों का तर्पण), देवयज्ञ (अग्नि में आहुतियाँ देना), भूतयज्ञ (जीवों को अन्न दान देना) एवं मनुष्य यज्ञ (अतिथि सत्कार) । जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार पंच महायज्ञ करता है, वहउपर्युक्त वर्णित पाँचों स्थानों से उत्पन्न पापों से मुक्ति पाता है ।[१]

इस प्रकार पंच-महायज्ञों[२] का सम्पादन गृहस्थ का अत्यावश्यक कर्म और धर्म था । ये निम्नलिखित हैं :-

१. ब्रह्म यज्ञ (ब्राह्म)
२. देव यज्ञ (दिव्य)
३. भूत यज्ञ
४. मानुष्य यज्ञ
५. पितृ यज्ञ (पैत्र)[३]

---

[१] ध०शा०इ०, प्रथम खं०, पृ० ३८३-३८४

[२] वराह, १६०।७४

[३] वही, ८।३१ : दिव्यो भौमस्तथा पैत्रो मानुषो ब्राह्म एव च ।
एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मणा निर्मिता पुरा ।।

पितृक्रिया से सम्बन्धित श्राद्ध कर्म तथा पितृ यज्ञ का महत्त्व बताते हुए वराह की उक्ति है कि गृहाश्रम में कुछ द्विजाति लोग ब्रह्म यज्ञ करते हैं, कुछ अग्नि में देवयज्ञ करते हैं, कुछ भूतयज्ञ का सम्पादन करते हैं और अन्य कुछ लोग मनुष्य यज्ञ से पूजा करते हैं ।[1]

वराह पुराण में एक कथा द्वारा पंच यज्ञों का महत्त्व बताया गया है । एक धर्मात्मा व्याध (धर्म-व्याध) अपने कुटुम्ब-पोषण के लिए वन में केवल एक मृग प्रतिदिन मारता था । उसने अपनी पुत्री का विवाह एक मतंग (चांडाल) के लड़के से कर दिया । ससुराल में सासु क्रोध से अपनी पुत्र-वधू (व्याध पुत्री) को बार बार डांटती हुई कहा करती थी कि " तू जीवघातक की पुत्री है ।" पुत्री के इस शोक-निवारण के लिए धर्म-व्याध उस मतंग के यहां गया । व्याध ने वहां खाने के लिए कुछ भोजन मांगा । मतंग ने भी बताया कि उसने यहां गेहूं और चावल (रोटी और चावल) बने हैं । उन्हें वह खा ले ।" व्याध ने कहा कि " जरा देखें वह गेहूं और चावल कैसे हैं ।" मतंग ने उसे सूप में भर कर गेहूं और चावल दिखाये । उन्हें देख कर व्याध उठ कर खड़ा हो गया[2] और कहने लगा -

" तुम प्रतिदिन हजारों-करोड़ों जीवों की हिंसा करते हो । ऐसे पापी का भोजन कौन करेगा ?[3] --- मैं तो केवल कुटुम्ब के लिए अरण्य में एक ही पशु को एक दिन में मारता हूं । तुम तो बहुत से हजारों जीवों को मार कर कुटुम्ब के साथ खाते हो । इसलिए तुम्हारा भोजन अभक्ष्य है ।[4]"

---

१. वराह, १६०।१०-११

२. वही, ८।९-२५

३. वही, ८।२६ : सहस्रशः कोटिशश्च जीवान्हंसि दिने दिने ।
अवीरस्य पापस्य को ऽन्नं भुञ्जति सत्पुमान् ।।

४. वही, ८।२७

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इसके बाद ही पुराण पंचमहायज्ञों का वर्णन करते हुए कहता है - "इन पांच महायज्ञों - दिव्य, भौम, पैत्र, मानुष और ब्राह्म - को ब्रह्मा ने ब्राह्मणों के कल्याण के लिए बनाया है। ब्राह्मणों के नेतृत्व में ही अन्य वर्णों के लिए भी ब्राह्मणों द्वारा ये यज्ञ कराये गये हैं। इन यज्ञों द्वारा ही मनुष्य उस अन्न को खाकर शुद्ध होता है। अन्यथा एक एक ब्रीहि मृग-पक्षियों के समान ही मांसवत् है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि गृह-कर्मों में - सूप, चुल्हा, चक्की, झाड़ू - बुहारू और जलकुंभ (पानी के घड़े के नीचे या जल में पीने से) - से बहुत कीड़े अनजान में ही मर जाते हैं। इसीलिए आज भी गृहस्थाश्रम में 'वैश्वदेव - बलि'[2] प्रचलित है। इस प्रकार वराह पुराण भी मनु[3] और मत्स्य पुराण[4] की तरह मानता है कि इन पांचों पापों से बचने के लिए ही ये पांच यज्ञ प्रवर्तित किये गये।[5] ये नित्य कर्म थे जिनके अनुसार ब्राह्मण प्रातःकालीन स्नानादि से निवृत्त होकर होम, तर्पण, जप, देवपूजा, स्वाध्याय और अध्यापन में प्रवृत्त हो जाता था। अस्तु स्पष्ट है कि सामाजिक और शैक्षणिक जीवन में इन यज्ञों का अपरिमेय महत्व था। अध्यापन करना ही ब्रह्म-यज्ञ है (अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः)। पितृ-तर्पण ही पितृ-यज्ञ है (पितृयज्ञस्तु तर्पणम्)। होम करना ही देव-यज्ञ है (होमो दैवयज्ञः)। सभी प्राणियों को बलि देना - उन्हें भोजन देना - ही भूत यज्ञ है (बलिर्भौतो)।

---

१. वराह, ८।११-३३
२. द्रष्टव्य, वाराह गृह्य सूत्र, अ १७
३. मनु, ३।६८-७१
४. मत्स्य, ५२।१३-१६
५. वही, ५२।१५-१६ : पंचैते विहिता यज्ञाः पंचसूनानुपघ्नये ।
कुंडनी पेषणी चुल्ली जलकुंभी प्रमार्जनी ।।
पंच सूना गृहस्थस्य तेन स्वर्गं न गच्छति ।
तत्पापनाशनायामी पंचयज्ञाः प्रकीर्तिताः ।।

स्वागत-सत्कार तथा श्रद्धा के साथ अतिथि को भोजन देना मनुष्य यज्ञ है (नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्) ।[1] इस प्रकार इन पांच महायज्ञों से प्रत्येक गृहस्थ के घर में आचार (सदाचार, श्रद्धा, विनय, अहिंसा और सेवा आदि), देवपूजा, अतिथि-पूजा और पितृ-तर्पण होता था । धर्म-व्याध इन कृत्यों को मतंग (चाण्डाल) के घर में देख कर कहने लगा -

> अतो धर्मागतो हन्ते गृहं प्रतिसमीपितम् ।
> आचारं देवपूजाञ्च अतिथीनाञ्च तर्पणम् ।।
> एतेषामेकमप्यत्र कुर्वन्नपि न दृश्यते ।।[2]

धर्म-व्याध भी घर में पितृ-श्राद्ध करता था ।[3] कितना उच्चादर्श है ।

वृक्ष और पंचयज्ञ

वराह पुराण इससे भी उच्चतर आदर्श प्रस्तुत करते हुए बताता है कि वृक्ष भी पंचयज्ञ करते हैं - इन्धन के लिए समाज को लकड़ी देना अग्निहोत्र है । इसी प्रकार पथिकों को छाया और विश्राम, पक्षियों को रहने का घर तथा प्राणियों को औषधियों के लिए पत्र, मूल और छाल इत्यादि देकर वृक्ष सबका उपकार करते हैं । वृक्षों द्वारा अपने पांच अंगों - लकड़ी, पत्ता, छाल, मूल, फल-फूल - का प्राणियों के लिए त्याग ही पंचयज्ञ है ।[4] वृक्षों के पंचयज्ञों की व्याख्या

---

१. मनु, ३।७०-७१

२. वराह, ८।३४(२)-३५

३. वही, ८।३६

४. वही, १७२।३८-३९ : इन्धनार्थं यदानीतमग्निहोत्रं तदुच्यते ।
छायाविश्राम पथिकैः पक्षिणां निलयेन च ।
पत्रमूलत्वगादिभिश्च औषधार्थेषु देहिनाम् ।
उपकुर्वन्ति वृक्षास्य पंचयज्ञः स उच्यते ।।

करता हुआ वराह पुराण कहता है -

1. गृहकृत्य के लिए काष्ठ,
2. क्षुद्र जीवों - पक्षियों आदि के लिए गृह,
3. पत्रों से भिक्षा,
4. साल में दो बार फलों से पक्षियों को खिलाना और
5. फलों से ही माता-पिता पर उपकार करने के लिए सांवत्सर (वर्षों) करते हैं अर्थात् मनुष्यों, देवताओं को भी फल भेंट करते हैं।[1]

वृक्षों द्वारा पंचयज्ञ विधि से इन यज्ञों के साथ निहित एवं लोकहित भावना परिलक्षित होती है।

पितृयज्ञ के अन्तर्गत श्राद्धों का वर्णन किया गया है।[2]

आतिथ्य

आतिथ्य गृहस्थों का महत्वपूर्ण धर्म था। प्रेम के साथ स्वागत[3] करते हुए पाद्य (पैर धोने का जल), आसन, फल आदि खाद्य-पेय देकर अतिथि की पूजा की जाती थी। जिसके घर से अतिथि पूजा से विमुख चला जाता है, उसके पितृगण नरक में निवास करते हैं। जिसके गृह में अतिथि की पूजा होती है, उसके पितृगण स्वर्ग में निवास करते हैं। इसलिए अतिथि की पूजा करना गृहस्थों का धर्म कहा गया है।

---

[1] वराह, १७२।४०-४२ : गृहकृत्यानि काष्ठानि क्षुद्रजन्तुगृहास्तथा ।
यत निर्वर्धने प्रीतिं भिक्षा पत्रैः समीकृता ।।
फलन्ति वत्सरे मध्ये द्विवारं बकुलादयः ।
सांवत्सरं पितृमातृ उपकारस्फलैः कृतम् ।।

[2] वही, अ० १८७-अ० १८८

[3] वही, १७०।४१-४७

वानप्रस्थ[१]

पचास वर्ष के बाद श्वेत केश[२] के देखते ही गृहाश्रम त्याग कर वन में रहते हुए (वनमाश्रितः) स्वाध्याय, होम, और योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त करना वानप्रस्थ धर्म है।[३]

संन्यास

संसार चक्र का स्वभाव और स्वरूप अस्थिर तथा दुःखमय है। मनुष्य अविद्या-ग्रस्त रहकर उससे राग बनाये रखता है। परन्तु भारतीय मनीषियों ने 'ईशावास्य जप'[४] का महत्व इसीलिए आंका था कि इस संसार में धन किसका है? एक सम्राट् के उद्गार हैं -

> अहो कष्टं यदस्माभिः पुरा राज्यमनुष्ठितम् ।
> इदानीन्तु मया ज्ञातं त्यागान्नास्ति परं सुखम् ।।
> नास्ति विद्यासमञ्चक्षुर्नास्ति तपः समं बलम् ।।
> नास्ति राग समं दुःखं नास्ति त्यागात्परं सुखम् ।।
> यः कामान्कुरुते सर्वान्यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।।[५]
> प्रायेण सर्वं कामानां परित्यागो विशिष्यते ।।

---

१. वराह, १६३।४५, २१२।१०

२. मनु, ६।१-२

३. वराह, १७४।२-४

४. ईशावास्य उप०, १
   भागवत, ८।१।१०
   वराह, १७६।४७ : ईशावास्यं जपं

५. वही, १५३।२५-२७

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम गृहाश्रम के बचे हुए रागों और सम्बन्धों को समाप्त कर त्याग-धर्म का अभ्यास-काल ही है। सहसा सुखों और सम्बन्धों को नहीं छोड़ा जा सकता। धीरे धीरे संसार की क्षणभंगुरता और मानुष-परमार्थ, मोक्ष की प्राप्ति की लगन उसे असार संसार से सार-सिद्धि के मार्ग पर बढ़ाती जाती है। पच्चीस वर्ष के त्यागमय जीवन-वानप्रस्थ के बाद सभी कुछ छोड़कर, संन्यास (सम्यक्)न्यास (सन्यास) पथ पर वह यति-व्रत[1] को धारण किए हुए ब्रह्म-ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है। सम्भवतः संन्यासी को ही भिक्षुक[2] और यति भी कहा जाता है।

इस प्रकार जीवन के प्रथम भाग, ब्रह्मचारी विद्या-बल प्राप्त कर गृहस्थ बनता है और द्वितीय आश्रम-गृहाश्रम में तीनों ऋणों से मुक्त होकर (सन्तानोत्पत्ति = पितृ-ऋण, यज्ञ = देवऋण, स्वाध्याय = ऋषि ऋण) शरीर में शैथिल्य के प्रवेश होते ही वानप्रस्थी होकर जीवन के तृतीय भाग को तथा शेष भाग को संन्यासी बन कर बिताता है।

---

१. वराह, १८०।३
२. वही, १८०।१६

संस्कार

‘संस्कार’ हिन्दू-धर्म अथवा किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण अंग हैं। इतिहास[1] के प्रारम्भ से ही वे धार्मिक तथा सामाजिक एकता के प्रभावकारी माध्यम रहे हैं। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार "संस्कारों के अध्ययन की दृष्टि से पुराण महाकाव्यों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। ---- पुराण हिन्दुओं के धार्मिक विधि-विधानों, प्रथाओं, कृत्यों, व्रतों तथा भोजों का निरूपण करते हैं और इस प्रकार संस्कारों के अनेक अंगों पर प्रकाश पड़ता है।"[2] अन्य पुराणों[3] की भाँति वराह पुराण में संस्कार सम्बन्धी कोई अध्याय नहीं है। इसीलिए उनकी संख्या[4] तथा उनके विधि-विधान के विषय में भी कोई सूचना नहीं मिलती है। प्रसिद्ध और प्रचलित तथा प्रमुख संस्कारों का वराह पुराण में नामोल्लेख[6] हुआ है। परन्तु संस्कारों - जातकर्मादि-संस्कारम्[5] - और संस्कार-योग्यता पर आपस्तम्ब के मत का उल्लेख किया गया है। संस्कारों को क्रियायें[7] (गर्भाधानादिकाश्चैव क्रियाः) भी कहते थे। संस्कारों से ब्रह्मत्व (ब्राह्मणत्व) सिद्ध

---

१. हि०सं०, प्रस्तावना, पृ० ६

२. वही, पृ० ११

३. अग्नि, ३२।१-१२, अ० ३२, संस्कार कथनं

४. हि०सं०, पृ० ११, गौतम के अनुसार ४० संस्कार और आठ आत्म गुण - इस प्रकार कुल ४८ संस्कार हैं तथा अंगिरस और आश्वलायन के अनुसार इनकी संख्या २५ है।
ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० १७७-१७८
स्०का०पु०, पृ० २०२-२०४
सामान्यतया १६ संस्कार अधिक प्रसिद्ध थे (व्यास स्मृति, १।१३-१५)

५. वराह, १०।२६(२)

६. वही, १६२।३१-३२

७. वही, ६६।४४(१)

होता है ।[1] वराह पुराण केवल महत्वपूर्ण संस्कारों का उल्लेख करता है, ये हैं - गर्भाधान, जातकर्म, नामकर्म, अन्नप्राशन, चूड़ा, उपनयन, गोदान और विवाह (वैवाहिकम्) ।[2] मृत-संस्कार[3] तथा अशौच-कर्म[4] का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । इन संस्कारों के अवसर पर सामाजिक उत्सव और धार्मिक पूजन आदि कृत्य भी होते हैं । अतः इनका धार्मिक और सामाजिक जीवन में महत्व अधिक ही है । संस्कार सम्पन्न (कृतसंस्कारों)[5] व्यक्ति गुणवान् माना जाता था ।

१. गर्भाधान - मानव का सम्पूर्ण जीवन संस्कार का क्षेत्र है । इसलिए प्रजनन भी इसके अन्तर्गत आता है । --- जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते हैं ।[6]

वराह ने पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों को छोड़ दिया है ।

२. जातकर्म - यह संस्कार शिशु जन्म पर ही होता है ।[7] जातकर्म संस्कार का प्राकृतिक आधार प्रसव-जन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों में निहित था । --- प्राकृत तथा अतिप्राकृत शक्तियों से भय और चिन्ता का

---

१. भविष्य, १।२।१४२(१) : संस्कारा ब्राह्मणस्य तु ।
वही, १।२।१४३(२)-१४४(१) : संस्काराः सर्वेषां हेतुस्तत्वे नाम संशयः ।
स्ट०स्का०पु०, पृ० ३००-३०१
२. वराह, १९०।१६-१८
३. वही, १८७।१०४-११०
४. वही, १८८।१ इत्यादि
५. वही, १२५।६२(१)
६. हि०सं०, पृ० ६१, इत्यादि
७. व्यास स्मृति, १।१७(१) : जाते जातक्रिया भवेत् ।
विष्णु स्मृति, २७।४ : जाते च दारके जातकर्म ।

भाव कालक्रम से माता और शिशु की रक्षा तथा शुद्धि के सांस्कृतिक उपायों तथा आकांक्षाओं से संयुक्त हो गया ।[1] यह संस्कार नाभिबंधन के पूर्व सम्पन्न होता था ।[2]

३. नामकर्म - इसे नामकरण भी कहते हैं । इस संस्कार में विधिवत् शिशु का नामकरण किया जाता था ।

निष्क्रमण (शिशु का प्रसूतिका गृह से बाहर ले जाना) छोड़ दिया गया है ।

४. अन्नप्राशन[3] - छठे मास में बच्चे का अन्नप्राशन होता था (षष्ठे ऽन्नप्राशनम्) । इसके बाद माता के दूध के अतिरिक्त भोजन भी करने लगा ।

५. चूडाकरण[4] - शिशु के तीसरे वर्ष में चूडाकरण (तृतीयेऽब्दे चूडाकरणम्) अर्थात् केशच्छेदन होता था ।

उपनयन

शैशवकाल के सभी संस्कारों में उपनयन सबसे महत्वपूर्ण संस्कार है । यह यज्ञोपवीत-विधि[5] से सम्बन्धित है । इस संस्कार का विशेष सम्बन्ध शिशु के बौद्धिक उत्कर्ष और चरित्र-निर्माण से है । यहीं से वह ब्रह्मचारी बनकर गुरु के

---

१. विध०, पृ० ८६
२. वही, पृ० ६३
३. विष्णु स्मृति, २७।११
४. वही, २७।१२
५. वराह, १२६।१, १६६।७-६
यहाँ यज्ञोपवीत का सम्बन्ध दीक्षा और कृष्णपूजा से है ।

साथ आचार्य-कुल में उनकी सेवा करता हुआ अध्ययन करता था । गर्भ के आठवें वर्ष में ब्राह्मण-पुत्र का तथा ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष में वैश्य का यज्ञोपवीत करना चाहिए ।[1]

गोदान

इसे केशान्त भी कहते थे । यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था । ब्रह्मचारी के दाढ़ी-मूछों का क्षौर होता था । इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरु को एक गौ का दान करता था ।

समावर्तन और स्नान

यहां संस्कारों का वर्णन करने में गोदान के बाद विवाह का उल्लेख है । परन्तु अन्य स्थान पर `वेदविद्याव्रतस्नात विप्र`[2] के उल्लेख से सिद्ध होता है कि वेदविद्या ग्रहण करने और वैदिक व्रतों के बाद वह स्नातक घर की ओर लौटता था ।

विवाह

विवाह[3] अत्यन्त महत्वपूर्ण[4] संस्कार है जिससे[5] मनुष्य सहधर्मचारिणी के साथ गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है । यद्यपि यहां मनु[6] का उल्लेख है, परन्तु विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख नहीं है ।

---

१. विष्णु स्मृति, २७।१५-१७

२. वराह, १६०।१८

३. वही, २२।४२। ४७,५०, २०४।५(१)

४. हि० सं०, अ ८, पृ० १६५-१६६

५. वराह, ६८।१०(१)

६. मनु, ३।२१-४४

विवाह एक विधान[1] था जो विधिपूर्वक किया जाता था[2]। आज भी उसकी कुछ परम्पराएं जीवित हैं। इसे पाणिग्रहण[3] भी कहते हैं, जैसा कि उमा-विवाह से ज्ञात होता है। पार्वती गंगा के निकट तप कर रही थीं। शिव भी एक ब्राह्मण के रूप में उनके पास आये। वे अत्यन्त शिथिल-स्वरूप में गिरते-पड़ते पार्वती के पास आकर भोजन मांगने लगे। पार्वती ने कहा - "गंगा में स्नान कर लो। मैं अभी भोजन देती हूं।" शिव गंगा स्नान करने गये और वहां स्नान करते हुए शिव रूपी विप्र को एक मगर पकड़ कर खींचने लगा। शिव ने पार्वती से कहा - "मुझे मगर से बचाओ।"[4] बहुत ही भय और शंका के साथ[5] पार्वती[6] ने उस शिव को 'पाणि' से पकड़ लिया (गृहीत्वा पाणिना द्विजम्)। पार्वती से 'पाण्यवलम्बित' भगवान् शिव प्रकट हो गये। उन्होंने कहा - "जिसके लिए तुम तप कर रही हो यह शिव तुम्हारे हाथ के सहारे प्रस्तुत है।" पार्वती कुछ न[7] बोली। पुनः शिव हंस कर कहने लगे कि "मेरा पाणि ग्रहण कर मत छोड़ना।"

यद्यपि पार्वती ने भी स्वीकृति देते हुए आत्मनिवेदन कर दिया, परन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा कि "इस विषय में उसके पिता की अनुज्ञा आवश्यक

---

१. वराह, २२।१६,३१, अ० २२ में पार्वती-विवाह का वर्णन है।

२. वही, २२।४५

३. वही, २२।२२,३२

४. वही, २२।१४ : 'कन्ये त्रायस्व मामितो झषात्'।

५. वही, २२।१५-१७

६. वही, २२।१८(१)

७. वही, २२।२१(२)-२२(१) :

पाणौ गृहीत्वा मां भद्रे न त्यक्तुमिहार्हसि ।
मत्पाणिग्रहणं भद्रे कृत्वा यदि करिष्यसि ॥

है ।[1] इस प्रकार स्पष्टत: यहां परस्पर अनुराग, आकर्षण और स्वीकृति से गान्धर्व विवाह तथा स्वयं वरण करने से स्वयंवर (यह प्राय: क्षत्रियों में ही प्रचलित था) तथा पिता की अनुमति से विधानयुक्त विवाह आर्ष मर्यादा पर आधारित था ।

पार्वती ने स्वयं अपने पिता से सारा वृत्तान्त कह दिया कि किस प्रकार उसने शिव को पाणि से ग्रहण किया था और इसके बाद स्वयं शिव ने भी उनसे पाणिग्रहण (विवाह) की याचना की ।[2] इस प्रकार पार्वती ने पिता से पूछते हुए कहा - " जो उचित कार्य हो उसे किया जाय ।"[3] इससे स्पष्ट है कि पिता की अनुमति अत्यावश्यक थी । शैलराज ने प्रसन्नता के साथ अनुमोदन करते हुए पितामह से भी सम्मति ले ली । तदनन्तर वह अपने घर पर ही विवाह की तैयारियां प्रारम्भ करने लगा ।

उत्सव-समाज

यह एक उत्सव[4] था जिसमें कुल-परिवार से सम्बन्धित लोग आमन्त्रित किये जाते हैं । गायक, वादक और नर्तक आदि भी भाग लेते हैं ।[5] वेदी, कलश, दीप, जल आदि[6] विवाहसामग्री की भी आवश्यकता होती है ।

---

१. वराह, २२।२४-२६ : देवदेव त्रिलोकेश त्वदर्थो यं समुद्यम: ।
प्राग्जन्माराधितो मया भवान् देवो महेश्वर: ।।
इदानीं मे भवान्देव: पतिर्नान्यो भविष्यति ।
किन्तु स्वामी पिता मह्यं शैलेन्द्रो मे ददाति तम ।
अनुज्ञाप्य विधानेन तत: पाणिं ग्रहीष्यसि ।।

२. वही, २२।३१-३२

३. वही, २२।३४ : इदानीं यत्क्षमं कार्यं तच्छीघ्रं मे विधीयताम् ।

४. वही, २२।४६

५. वही, २२।४१-४७

६. वही, २२।४३

उसके बाद उत्सव,[1] मंगल और आनन्द के वातावरण में ही वर-वधू का पाणिग्रहण[2] होता है। इसी भांति परमेश्वर ने पार्वती का पाणिग्रहण किया।

इस प्रकार विवाह-विधान, वर-वधू सम्बन्ध, विधिपूर्वक किया जाता है। अग्नि और सभी कुल-परिवार के समक्ष, साक्षी रूप से इन लोगों के सामने पाणिग्रहण करने वाला दम्पति जीवन-पर्यन्त धर्माचरण में परस्पर एक दूसरे को अवलम्ब देते हुए गृह-धर्म का पालन करते थे। श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम का पालन सहधर्मचारिणी पत्नी के साथ ही सम्पन्न हो सकता है।

पतिव्रतापत्नी

परन्तु पत्नी को 'मनोरमा' और 'मनोवृत्तानुसारिणी'[3] होना आवश्यक है। पत्नी अपने गुणों से ही घर को स्वर्ग बना सकती है। हिन्दू समाज में पतिव्रता पत्नी का विशेष महत्त्व है। विदेह-राज निमि का पुत्र मिथि-जनक था जिसकी पत्नी के निम्नांकित गुण उल्लेखनीय हैं :-

१. प्रिय का हित करने वाली (पत्नी प्रियहिते रता) हो।
२. शुभ (मांगलिक) कार्यों को करने वाली हो।
३. पतिभक्ता-पतिव्रता हो।

---

[1] वराह, २२।४४
[2] वही, २२।४५(२) : विधिना वाम्या पाणिं जग्राह परमेश्वरः ।
[3] श०क०, खंड ३, पृ० २८ : पत्नीगुणैर्हि पुरुषा सुखिनो भवन्ति ।
यस्यपत्नी वशानुगा वा पुण्याऽपि स्वर्गस्थः ।।
------- यदुक्तं दक्ष संहितायाम् ।
पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदि छन्दानुवर्तिनी ।
गृहाश्रमं नास्ति यदि भार्या वशानुगा ।।

४. परम प्रीति के साथ भर्ता (पति-स्वामी) के वचनों को मानने और तदनुरूप कार्य करने वाली हो ।[१]

५. उसे अप्रिय और बाधा उत्पन्न करने वाली बात नहीं कहनी चाहिए ।[२]

६. हृष्ट-पुष्ट मन से पति की अनुगामिनी होना चाहिए ।[३]

इस प्रकार विवाह के सम्पूर्ण विधि-विधान और कन्या की शिक्षा-दीक्षा का उद्देश्य था कि पत्नी साध्वी और पतिव्रता हो ।[४]

इसी प्रकार योग्य पत्नी का पति भी योग्य ही होना चाहिए (पात्रं पात्रवता प्राप्तं) जिसके अनुसार पति सुरूप और सुयन्त्रित (संयमी) होना चाहिए ।[५]

कन्या के युवावस्था में आते ही धार्मिक[६] पिता को चिन्ता होती है कि किस योग्य व्यक्ति को वह कन्या-दान दे ।[७] धर्म व्याध ने भी अपनी कन्या का विवाह सर्वशास्त्रविशारद वर से किया था ।

दाम्पत्य

कलिंग नरेश का राजपुत्र रूपवान और गुणवान था ।[८] कांची नरेश की पुत्री रूपयुक्ता, गुणवती, दक्षा, सर्वांग सुन्दरी तथा चौंसठ कलाओं को जानने

---

[१] वराह, २०८।२७-२८
[२] वही, २०८।३८(१) : न शक्यमपराधेन वक्तुं भामिनि विप्रियम् ।
[३] वही, २०८।४८(२)-४९(१)
[४] वही, २०८।७३
[५] वही, २०८।७४-७५
[६] वही, ८।७-८(१)
[७] वही, ८।१०
[८] वही, १३७।७४

वाली और कोयल के समान सुस्वर में बोलने वाली (मधुर, प्रिय भाषिणी) थी।[1] कलिंगराजपुत्र और कांचीराज-सुता दोनों में परस्पर हृदय से निरवत-प्रीति और एक दूसरे के कुलनिश्चय और ईश्वर की कृपा से सम्बन्ध हो गया तथा कलिंगराजपुत्र ने कांचीराजसुता के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया।[2] कुलनिश्चय से स्पष्ट है कि विवाह-सम्बन्ध में कुल-परम्परा पर भी विचार होता था। विवाह में कलिंगराज को कांचीनरेश ने नाना प्रकार के रत्नों, भूषणों, गजों, अश्वों तथा महिषियों को भेंट में दिया और कलिंगनरेश कांची में अत्यन्त सम्मानित होकर पुत्र तथा पुत्र-वधू के साथ अपने घर लौट आये।[3]

इन दोनों में रोहिणी-चन्द्र की भांति परस्पर अत्यन्त प्रीति थी और वे अपना जीवन आनन्द-विहार तथा मनोरम यात्रा-दर्शनों में बिताने लगे।[4] दोनों में दाम्पत्य-प्रेम अत्यधिक था।[5] जरा अवस्था आने पर राज्य पुत्र को सौंप कर दोनों ही तीर्थयात्रा को चले गये। तीर्थ में भी बहुत वर्षों तक रहने के बाद पत्नी ने पति के चरणों को पकड़ कर कहा - " नाथ, आओ चलें (एह्येहि नाथ गच्छाव:) और फिर दोनों हाथ में हाथ डालकर इस प्रकार खड़े थे जैसे कि विवाह के समय पाणिग्रहण हुआ था (ततो हस्ते पतिं गृह्य उद्वाहे इव सुन्दरी)।[6] यही आदर्श दाम्पत्य था। मनु का कथन है - " मरण-पर्यन्त स्त्री-पुरुष का परस्पर पाथित्य न हो। यही संक्षेप में स्त्री-पुरुष का धर्म जानना चाहिए।[7] विवाह किए हुए स्त्री-पुरुष को इस प्रकार रहना चाहिए कि वे कभी पृथक न हों।[8]

---

[1] वराह, १३७।७६-७७

[2] वही, १३७।७८-७९

[3] वही, १३७।८०-८१

[4] वही, १३७।८२-८६

[5] वही, १३७।८५-८९

[6] वही, १३७।२१०-२११

[7] मनु, ९।१०१ : अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ।।

[8] वही, ९।१०२

प्रीतिविच्छेद

कभी कभी पति-पत्नी में विवाद से कलह और फिर आगे चलकर प्रीतिविच्छेद (पत्नी-त्याग) तक हो जाता है । जैसा कि वराह पुराण की एक कथा से सिद्ध होता है ।

कुब्जाम्रक तीर्थ में एक व्याली रहती थी जिसे नकुल ने मार डाला । परन्तु नकुल भी इतना घायल हो गया था कि वह भी मर गया । दूसरे जन्म में व्याली प्राग्ज्योतिष में राजपुत्री हुई और नकुल कोशल में राजपुत्र पैदा हुआ । राजपुत्री नकुल को देखकर मारना चाहती थी और राजपुत्र भी व्याली को देखते ही उसे मार देता था ।[1] कुछ समय बाद कोशलाधिपति ने प्राग्ज्योति की राजपुत्री के साथ विधिवत् पाणिग्रहण किया । उन दोनों में अत्यन्त दृढ़ प्रीति थी और सुख से विहार करते हुए रहते थे ।[2] एक दिन उपवन में व्याली को देखकर राजपुत्र ने उसे मार डाला । राजपुत्री उसे मना करती रही । परन्तु उसने उसकी बात न मानी ।[3] उसी समय बिल से एक नकुल भी निकल आया । राजपुत्री ने राजपुत्र के मना करने पर भी उसे मार डाला ।[4] क्रोध में राजपुत्र ने अपनी पत्नी को बताया कि `उसने भी पति का कहना न मान कर शुभदर्शन नकुल को मार डाला है ।`[5] राजपुत्री ने भी पति से क्रोध में कहा कि `बार बार मना करने पर तुमने सर्प को क्यों मार डाला । मैंने भी इसीलिए नकुल को मार डाला है ।`[6] राजपुत्र ने राजपुत्री को डाटते हुए कहा कि सर्प विषधर है और उसके मारने में कोई हानि नहीं

---

१. वराह, १२६।१०४-१११
२. वही, १२६।११२-११७
३. वही, १२६।११८-१२०
४. वही, १२६।१२१-१२४
५. वही, १२६।१२५
६. वही, १२६।१२६-१२७

है । नकुल ने तुम्हारी क्या हानि की है ?` इस प्रकार दोनों में उत्तर-प्रत्युत्तर से स्नेह नष्ट हो गया (नष्ट स्नेहौ परस्परम्) ।[1]

जब यह समाचार कोशल सम्राट् को प्राप्त हुआ तो उन्होंने उन दोनों (वधू और पुत्र) से कहा - ` तुम लोगों का स्नेह और प्रेम कहां गया,[2] तुम लोग क्यों विरोधाचरण करते हो ?` राजा ने अपने पुत्र से विशेष रूप से कहा कि - ` यह धर्मिष्ठा और सुशीला पत्नी त्यागने[3] के योग्य नहीं है । इसने परिवार में किसी से अप्रिय बात भी नहीं कही है ।` राजपुत्र ने पिता को बताया कि इसने मेरे मना करने पर भी नकुल को मार डाला था । इसीलिए मैंने क्रोध में इससे कह दिया कि ` आप मेरी पत्नी नहीं[4] हैं और मैं तुम्हारा पति नहीं हूं`(मम भार्या न भवती न चाऽहन्तव वै पतिः) । राजपुत्री ने भी बड़ी विनय के साथ[5] कहा कि ` अपराधरहित सर्प को इन्होंने मेरे मना करने पर मार डाला है ।` इस प्रकार यह प्रीति-विच्छेद का ` मुकदमा ` अनसंद में राजा, अमात्यों और सभी जनों (सभ्यों)[6] के समक्ष प्रस्तुत किया गया था । राजा दोनों के प्रीतिविच्छेद[7] का कारण पूंछ रहा था जिसके कारण उनकी प्रीति नष्ट हो गयी थी । अतः विवाह-विच्छेद की बात[8] धर्मशास्त्रों एवं हिन्दू समाज में लगभग दो सहस्र वर्षों से अनसुनी सी रही है ।

---

[1] वराह, १२६।१३५

[2] वही, १२६।१३६-१४०

[3] वही, १२६।१४१

[4] वही, १२६।१४५(१)

[5] वही, १२६।१४७-१४८

[6] वही, १२६।१५६

[7] वही, १२६।१५०

[8] ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० ३८६

अनुलोम-प्रतिलोम[1] विवाह

समाज में अनुलोम विवाह (उच्चकुल का लड़का + नीच कुल की लड़की) विहित माने जाते थे, परन्तु प्रतिलोम विवाह (उच्चकुल की कन्या + नीच कुल का लड़का) की निन्दा की गयी है। ऊपर कहा गया है कि इन्हीं विवाहों से जातियां उत्पन्न हुयी थीं। अधम कुल के व्यक्ति का उत्तम कुल की पुत्री के साथ विवाह या यौन सम्बन्ध अमान्य था।[2]

सजातीय-अन्तर्जातीय विवाह

`वर्णसंकर`[3] और `संकीर्णा`[4] के उल्लेख सिद्ध करते हैं कि अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे, किन्तु सजातीय[5] कुल में उत्पन्न कन्या के साथ विवाह करना मान्य था।

अनेकपत्नीकता

समाज में एकपत्नीकता ही प्रचलित सिद्धान्त था, परन्तु अनेकपत्नीकता भी प्रचलित थी। राजपुत्रों[6] और अन्य लोगों में बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी। गोकर्ण (वैश्य-वणिक) के एक स्त्री से संतान नहीं उत्पन्न हुयी, उसने पुनः अन्य विवाह किये और उसकी चार पत्नियां[7] (भार्याः चतुष्टयम्) थीं। इस प्रकार बहुविवाह प्रथा अथवा अनेकपत्नीकता[8] भी प्रचलित थी। परन्तु अनेक भर्तृकता[9] के उदाहरण वराहपुराण में नहीं मिलते हैं। ऐसे समाज अशास्त्रीय माना जाता था।[10]

---

१. वराह, १८०।२८
२. वही, ६८।१०(१) : अधमस्योत्तमनारी अगम्या मनुरब्रवीत् ।
३. वही, २०३।५७
४. वही, १५०।८७, २०३।६१
५. वही, १३८।२४
६. वही, १३७।१५२(२)-१५३(१) : सुतो हि यस्मै नित्यं महाराजापि सुन्दरः ।
बहुभार्यो महाभुजा भार्याभिस्तस्थान्तःपुरे तव ।।
७. वही, १३७।२०
८. ए०गा०ए०, प्रथम खंड, पृ० ३१२-३१४
९. वही, पृ० ३१४,
विष्णु पु०, १।१५।७३-७५, ४।२०।४१-४२ (द्रौपदी और उसके पांच पांडव पति)
१०. मार्कण्डेय, ६२।२७

मृत - संस्कार

" हिन्दू के जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है, जिसके साथ वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय समाप्त करता है। ---- इस संसार से उसके प्रस्थान करने पर उसके जीवित सम्बन्धी परलोक में उसकी भावी सुख या कल्याण के लिये उसका मृत्यु-संस्कार करते हैं। मरणोत्तर होने पर भी यह संस्कार कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हिन्दू के लिये इस लोक की अपेक्षा परलोक का मूल्य उच्चतर है। बौधायन पितृमेध-सूत्र में कहा गया है, "यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कार के द्वारा उस (पर) लोक को" (जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम् - ३,१.४)।"[1] वराह पुराण में मृत-संस्कार[2] और अशौच-कर्म[3] का विस्तार से वर्णन[4] किया गया है।

मृत्यु अनिवार्य है,[5] जिससे बचना असंभव है और मृत-शरीर (शव)[6] घर में रखा नहीं जा सकता। इसका छूना भी अपवित्र कर्म माना गया है। शव-संस्पर्श[7] को (३२ या ३३) अपराधों में एक अपराध भी गिनाया गया है।

" शव की समुचित व्यवस्था तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओं तथा विधि-विधानों के प्रमुख प्रयोजन हैं जीवित सम्बन्धियों की मरणाशौच से मुक्ति तथा मृतात्मा को शान्ति प्रदान करना। जब तक ये क्रियायें और विधि-विधान

---

१. हि० सं०, पृ० २९६
२. वराह, १८७।१०४-१०
३. वही, १८८।१
४. वही, अ० १८७ व अ० १८८
५. वही, १८७।५४-५५, ७४-७५
६. वही, ११७।८, १३२।२९, ३५
७. वही, १३३।४(१)

समुचित रूप में सम्पन्न नहीं किये जाते, मृतक की आत्मा परलोक में अपने स्थान को नहीं जाती, वह पितृलोक में स्थान भी नहीं प्राप्त कर पाती, पितृ-पूजा का सम्मानित स्थान भी उसे नहीं मिल पाता और वह प्रेत के रूप में अनभिमत रूप से सम्बन्धियों के ही आस-पास चक्कर काटा करती है । यह विश्वास ---- आज भी विद्यमान है ।[1]

अन्तिम प्राण-यात्रा (मृत्युकाल) - प्राणों के कंठगत होने पर ही प्राणी को भयभीत मन और विह्वल जान कर शीघ्र ही घर से बाहर ले आवे । कुशास्तरण पर लेटे हुए उसको जब कुछ दिखाई न पड़े, तब स्नेह भाव से भूमि देव आकर उसे (गीतादि) पाठ सुनायें । परलोक हित के लिये सुवर्ण, हिरण्य और गाय दान (गोदान) करे । इससे पापमुक्ति होती है । तत्पश्चात् जब तक प्राण न त्यागे उसे उत्कर्ण से श्रुतिमय सुनावे । भगवद्भक्त प्राणी को प्रयाण-काल में शीघ्र मधुपर्क देकर निम्नांकित मंत्र को पढ़े -

मंत्र - ओं गृहाण वै मे मधुपर्कमेतं
संसार नाशनकरं त्वमृतेन तुल्यम् ।
नारायणेन रचितं भगवत्प्रियाणां
दाहे च शान्तिकरणं सुरलोकमुख्यम् ।।

मृत-संस्कार - उसे संज्ञाहीन (बेहोश) जानकर, मरा हुआ समझ कर महावनस्पति तथा अनेक सुगन्धित द्रव्यों को लाकर घृत-तैलादि द्वारा देह शोधन करे । उस मृत शरीर के लिये तथा व्यय करने वाली सभी सामग्री एकत्रित कर दक्षिण दिशा की ओर सिर करके उसे तीर्थ-जल से स्नान करावे ।

प्राणरहित जानकर विधिपूर्वक चिता बनावे और उस पर रखकर दक्षिणाग्र सिर करे तथा दिव्याग्नि का ध्यान करते हुए अग्नि को हाथ में से प्रकट कर

---

[1] वि० सं०, पृ० २८८

मंत्रोच्चार करे कि " धर्माधर्मयुक्त तथा लोभमोहसमावृत इस मृत प्राणी को जलायें और वह स्वर्ग को जाय।" ऐसा कहकर शीघ्र ही प्रदक्षिणा कर उसके शिरःस्थान पर जलती हुई आग लगा दे। स्नान और वस्त्र-शौच के बाद लौट आवे तथा मृत प्राणी का नाम उच्चारण कर उसे पृथ्वी पर पिंड दे। इसके बाद ही अशौच प्रारम्भ होता है। अतः देवकर्म नहीं किया जाता है।[1] चारों वर्णों का संस्कार इसी प्रकार होता है।[2] यह आत्रेय मत पर आधारित है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि दाहसंस्कार भी यज्ञ की भांति ही एक पवित्र कर्म (संस्कार) है।

अशौच - आशौचकर्म-विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मृत्यु के दिन से तीसरे दिन तक नदी के जल में स्नान कर पिंड और तीन जलांजलि दे। चौथे, पांचवें तथा छठे दिन एक एक पिण्ड और एक एक जल की अंजलि दे। अन्य स्थानों पर स्नान कर सातवें दिन भी दे। इस प्रकार दस दिन तक कर्म करे। दसवें दिन वस्त्र धोवे, गोत्रजों के साथ स्नान करे, पिंडदान दे और क्षौर कर्म कराये। इस प्रकार सजाति-बन्धुओं के साथ विधिवत् स्नान कर अपने घर को लौट आवे।

एकोद्दिष्ट - एकोद्दिष्ट चारों वर्णों के लोगों को करना चाहिये। ग्यारहवें दिन यथाविधि एकोद्दिष्ट करे। स्नान कर के शुद्ध हो प्रेत को ब्राह्मणों में युक्त करे या समझे। यथाविधि द्रव्ययुक्त विप्र को भोजन कराये।

शुष्क द्रव्यों का एकोद्दिष्ट चारों वर्णों में होता है। ब्राह्मण के वचन के अनुसार आम द्रव्य को ग्रहण करना चाहिये और पाक भोजन तीनों वर्णों में करना चाहिये। ऐसा करने से ही शूद्रों का एकोद्दिष्ट होता है। तेरहवां दिन आने पर ब्राह्मणों को भोजन खिलाये और जिसके निमित्त कर्म किया जा रहा हो, उसका नामोच्चारण करके स्वर्गप्राप्ति की कामना से ब्राह्मण को आमन्त्रित कर 'प्रेत' को उसमें प्रवेश कराकर उसे संध्या समय शयन कराकर उसके पैर दबाये। प्रातः

अब ब्राह्मण की दाढ़ी बनवाये और प्रेत को गन्धौषधायक स्नापन-अभ्यंजन करे।

फिर भूमिभाग के ऊपर स्थण्डिल बनाये । निपात्तेश को लेकर नदी प्रदेश में या पवित्र स्थान में सावधानी से प्रेतभूमि कल्पित करे अथवा उसके चौंसठ भाग कर सुकृती होता है । फिर दक्षिणपूर्व दिग्भागों में शुद्ध स्थान पर प्रेत कार्य करे । नाम-गोत्र का उच्चारण करते हुए पिंडदान करे । चारों वर्णों के प्रेतकार्य इसी प्रकार होते हैं । तत्पश्चात् मन से तीर्थों का स्मरण कर स्नान करे और शुद्धि करके ब्राह्मणों को बुलाये और उन्हें छत्र (छाता), जूता (पादत्राण), गंध, पुष्प आदि दे । यह सब कार्य करके उन्हें पक्वान्न भोजन कराये । इसी के बाद सगोत्र-बन्धुओं को खिलाये तथा पिण्ड का जो भाग हो उसे वह दे । निवाप स्थान में भक्तिपूर्वक प्रणाम तथा स्तुति करे, 'हे मेदिनि लोकमाता ! आपको नमस्कार है ।' फिर वह नामगोत्र-उच्चार करता हुआ तिलोदक दे । ब्राह्मणों को प्रणाम करे । तब शय्या, आसन, अंजन, कंघा दे और ब्राह्मण थोड़ी देर तक शय्या में लेट कर विश्राम करे । निवाप स्थान में आकर गाय की पूंछ पकड़ कर ब्राह्मण के हाथ में दे । उदुम्बर के पात्र से कालेतिल मिश्रित-जल दान देकर मंत्र पढ़े । तदनंतर गाय की पूंछ पकड़े हुए स्नान करे और फिर प्रेत का विसर्जन कर द्विजाति को दान दे तथा कौए को अन्न दे । भूत-बलि दे । इस प्रकार कर्म करने से प्रेत-मुक्ति और शौचकर्म होता है । सम्पूर्ण संस्कार स्नेह भाव से करना चाहिये ।

प्रत्येक मास की अमावस्या को पितृतर्पण करना चाहिये ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गर्भ से लेकर मृत्यु के बाद तक प्रचलित संस्कार समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

---

[1] वराह, १८८।१-८८

नारीजीवन

"पत्नी पति की अर्द्धांगिनी कही गयी है । --- वैदिक काल में स्त्रियों ने ऋग्वेद की ऋचाएं बनायीं, वेद पढ़े तथा पतियों के साथ धार्मिक कृत्य किये । --- किन्तु वैदिक काल में भी कुछ लोगों ने स्त्रियों के विरोध में स्वर ऊंचा किया, उनकी अवमानना की तथा उनके साथ घृणा का बरताव किया । वैदिक एवं संस्कृत साहित्य के बहुत से वचन स्त्रियों की प्रशंसा में पाये जाते हैं ।"[1] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चारों पुरुषार्थों) की सिद्धि में भार्या पति की सहायिनी है । भार्या और भर्ता दोनों को एक दूसरे का अनुव्रती होना आवश्यक है । भार्या के बिना कोई भी पुरुष त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) नहीं प्राप्त कर सकता है । स्त्री के न होने से या कुभार्या के संसर्ग से मनुष्य नष्ट हो जाता है ।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज में जीवन की उन्नति के लिए गुणवती स्त्री का अत्यधिक महत्त्व है । भार्या एवं कुभार्या, पतिव्रता एवं कुलटा आदि भद्र और अभद्र रूपों में स्त्री का समाज में दर्शन होता है । वराह पुराण ने भद्र-स्वरूपा साध्वी स्त्री की प्रशंसा की है तथा अभद्रा, व्यभिचारिणी कुलटा स्त्री को कुल का नाश करने वाला कहा है । ऊपर 'आदर्श दाम्पत्य' तथा 'प्रीतिविच्छेद' के विवरणों में वराह पुराण के युग का दृष्टिकोण स्पष्ट है । एक ओर कलिंग-राजपुत्र और कांचीराजपुत्री का संयोग विवाह से लेकर अन्त तक सम-रसता के साथ

---

[1] ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० ३२४

[2] मार्कण्डेय पु०, १६।७०-७५

[3] वराह, ६।२-४ इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

प्रीति-प्रवाह में बहता रहा । यही आदर्श स्त्री-पुरुष सम्बन्ध है ।[1] इसके प्रतिकूल कोशल राजपुत्र और प्राग्ज्योतिष का सम्बन्ध भी दृढ़ प्रीति पर आश्रित होकर भी धराशायी हो गया । इसमें केवल राजपुत्री का चारित्रिक दोष दिखलाया गया है कि वह असहिष्णु थी और पति-व्रता नहीं थी । पति की आज्ञा मानना भी पत्नी का कर्त्तव्य है । इसके प्रतिकूल वह स्त्री राजसंसद तक अपनी भूल को स्वीकार न करती हुए पति को भी सर्पवध का अपराधी ठहरा रही थी । राजपुत्र उसे समझाते हुए कह रहा था, `भद्रे ! सर्प तीव्रविषधर होता है -- जिस मनुष्य को काट लेता है, वह मर जाता है । इसलिए, भद्रे, मैंने उस अहितकारी और विषाद्दत सर्प को मार डाला है । भद्रे, हम लोग प्रजापाल हैं--- अपथस्थ लोगों को दण्ड देना हमारा धर्म है । आप बताएं कि नकुल ने क्या अपराध किया था ? तुमने मेरे मना करने पर भी उसे मार डाला । मैंने तुमको इसलिए नहीं मारा कि स्त्रियां सदैव अवध्या कही गयी हैं ।[2] संक्षेप में इससे दो बातें स्पष्ट हैं :-

१. स्त्री को सहिष्णु, उदार, प्रियभाषिणी और पतिप्रिया होनी चाहिए । उसे पति की इच्छा के अनुकूल व्यवहार करना आवश्यक है ।[3]
२. समाज में स्त्री अवध्या मानी गयी थी ।

स्त्री माहात्म्य

वराह पुराण न केवल पतिव्रता-माहात्म्य[4] का वर्णन करता है, प्रत्युत वह स्त्री-माहात्म्य पर भास्कर-मत का भी उल्लेख करता है । उसका माहात्म्य

---

१. मनु, ९।१०१, पीछे देखिए
२. वराह, १२६।१२६-१३४
३. वही, २०८।२७-२८,७३
४. द्रष्टव्य वही, अ० २०८, पतिव्रतोपाख्यान, अ० २०९, पतिव्रतामाहात्म्य

उसका माहात्म्य उसके सद्गुणों पर ही निर्भर है।[१] धर्मराज को विश्वास था कि सभी लोग सपत्नीक और सानुराग ऊपर स्वर्ग को चले जाते थे।[२] इसी समय धर्मराज ने अपने सामने से पतिव्रता के साथ पति को ले जाते हुए एक विमान को जाते देखा।[३] इस प्रकार पतिव्रता के माहात्म्य से धर्मराज को भी ईर्ष्या हुयी।[४] धर्मराज ने भी उस पतिव्रता नारी की पूजा की।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि गुणवती, रूपवती और पति-अनुव्रता अर्थात् पतिव्रता स्त्री ही पति के धर्म-कर्म में सहायिनी हो सकती है। दक्षा, सुशीला और धर्मिष्ठा नारी अत्याज्य है।[६] उसे मिष्टान्न बनाने में भी दक्ष होना आवश्यक है और उसे सभी प्रिय परिजनों से अप्रिय नहीं बोलना चाहिए।[७]

धर्म ही परमधन है और वह स्त्री पर ही अवलम्बित है।[८] स्त्री से ही सुत और कुल सुशोभित होते हैं। यही सत्य है।[९] देवता भी अपनी देवियों के साथ सुशोभित होते हैं (सवदेवस्यादेव्य:)। इसी प्रकार सभी पुरुष पत्नी के साथ ही (सपत्नीका:) ऊपर उठते और स्वर्ग को जाते हैं।

गृह स्त्रीरत्न से ही समृद्ध होकर सुखी रहता है और वहां सभी पदार्थ सुलभ होते हैं।[१०] बहु पुत्र-पौत्रों की किलकारियों से गुंजायमान समुद्रगुप्त और दयादेवी का घर ही भोगवती और व्रतिनी कुलवधू की चहल-पहल से स्वर्ग-समान

---

१. वराह, २१०।१
२. वही, २०८।१-२(१), १०(२)
३. वराह, २०८।१५-१७
४. वही, २०८।२२
५. वही, २०८।७३
६. वही, १२६।१४१(१)
७. वही, १२६।१४१
८. वही, १२६।१४२ : धनाद्यस्तु ते धर्मः स स्त्रीभिरतुलः सदा ।
यही सत्यं जनानाञ्च न तु स्त्रीभ्यः सुतः कुलम् ।।
९. वही, २०८।६-१०
१०. वही, २०७।४७

था ।[१] अतः गृह, कुल और राष्ट्र के स्वस्थ जीवन के लिए व्रतिनी स्त्रियाँ और व्रती पतियों की आवश्यकता रही है । प्राचीन भारतीय जीवन में स्त्रियों का योगदान किसी से कम न था । मनुष्य की स्वच्छन्दता की नियामिका शक्ति[२] स्त्री वास्तव में समाज की ही शक्ति है ।

स्त्री के कर्तव्य

अतः स्पष्ट है कि स्त्री का कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण समाज ही था - गृह, परिवार, कुल, समाज और राष्ट्र सभी जगह उसके हाथ की आवश्यकता है ।

गृह पर पति तथा श्वसुर और श्वश्रू की सेवा करना (श्वशुरयोर्भर्तुः शुश्रूषणपरा)[३] महत्वपूर्ण धर्म था । व्याघ्रमुखी से उसकी सासु ने कहा कि - " तुम जीवघातक की पुत्री हो न तप करना जानती हो, न पति-सेवा ही (न जानासि तपश्चर्तुं भर्तुराराधनं तथा)[४] । अतः तप करना (अथवा अन्य धार्मिक कृत्य करना) भी स्त्री-धर्म था । कभी कभी सासुओं का बहू के प्रति व्यवहार अच्छा नहीं होता है । इसलिए दोनों, श्वश्रू और स्नुषा (बहू), में अविश्वास और स्नेह का अभाव भी रहता है ।[५]

विदेश को व्यापार के लिए जाते हुए गोकर्ण ने अपनी पत्नी को निम्नांकित कर्तव्यों का उपदेश दिया था -

१. देवकार्य - देव-पूजा आदि धार्मिक कृत्य करना या उसमें सहायता देना ।

---

१. समुद्रगुप्त का एरण स्तंभ लेख, श्लोक ५

२. वराह, २०२।१२(२)-१३, कामाभिपीड़ित मनुष्य की दुराचारप्रवृत्ति और उसकी गम्यागम्य बुद्धि को रोकने के लिए उपयुक्त दण्ड-विधान था ।

३. वराह, ८।१२

४. वही, ८।१३

५. वही, ८।३६-४०

२. वाटिका की देखरेख (वाटिकायाश्च पोषणम्) और

३. माता-पिता (सास-ससुर) की सेवा (पितुः शुश्रूषणं) करना ।

‘यह सब तुम करोगी’ - ऐसा उसने बहुत ही सम्मान के साथ पत्नी को यह सन्देश दिया था (सर्वं यूयं करिष्यथ), जैसा अवसर, काल और परिस्थिति हो, उसके अनुसार ही आप करें, यह मेरा ही कृत्य है (भवतीभिश्च कृत्यं मे करणीयं यथा तथा) । भार्याओं ने भी उसे विश्वास दिलाया कि इसमें कोई त्रुटि न होगी (भार्याभिः समनुज्ञातो यानपात्रं गतस्तदा) ।[1]

दुराचरण

इसके प्रतिकूल, समाज में दुराचारी स्त्रियां कुलटाधर्म का आश्रय लेकर कुलनाश करती हैं ।[2] साध्वी स्त्रियों को असाध्वी बनाने में वेश्याओं का भी हाथ था । इसलिए इनकी निन्दा की गयी है ।

विधवा

एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या का विवाह ब्राह्मण से ही कर दिया । परन्तु ब्राह्मण-कन्या बाल्यकाल में ही विधवा हो गयी (कनिष्ठा भगिनी तेषां बालरण्डा बभूव ह) । यह विधवा उस ब्राह्मण की अस्थियों को लेकर मथुरा आयी थी । वहां वह सुन्दरी (विधवा) वेश्यायों के संसर्ग से वेश्या हो गयी । वेश्या-बुद्धि से स्त्री को अपने और पराये अथवा गम्यागम्य का भी ज्ञान नहीं रहता है । इस विधवा वेश्या का सम्पर्क स्वयं उसके भाई से ही हो गया था । इस प्रकार

---

[1] वराह, १७१।७-८

[2] वही, १७६।३०

उस विधवा पापिष्टा ने दो कुलों को नरकगामी बना दिया ।[1] प्रमाद और धनान्धता से[2] अगम्यगमन भगिनी के साथ संयोग करते हुए वह भाई भी कुलनाशक ही हुआ ।

नारी-लोलुप-गण

इससे स्पष्ट है कि बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था । उन्हें अपना जीवन सतीत्व के साथ निभाना पड़ता था । परन्तु समाज में स्त्री रूप के व्यापारी बहुत रहते हैं । वराह पुराण भी ऐसे बहुत से नर-नारियों का उल्लेख करता है :-

> वेश्यालंपक कूटानां -----
> दुष्टपाषण्डनारीणां नैकमैथुनगामिनां ।।
> स्त्रीबन्धकाः स्त्रीविनाशाः स्त्रीवेषाः स्त्रीविहारिणः ।
> स्त्रीणामन्यानुप्रवृत्ता ये स्त्रीभोगपरिभोगिनः ।[3]
> तद्व्रतास्तन्नियमास्तद्वेषास्तत्प्रभाषिताः ।।

ये सभी संकीर्ण, क्षुद्र और अधम पुरुष और स्त्रियां थीं । इस दुर्व्यसन और दुराचार के कारण ही स्त्री-संग को नरक का द्वार[4] - तमोद्वारं - कहा गया है । इसी से अज्ञान और मोह का उदय होता है ।

जिस प्रकार कुटाधर्म कुलनाशक था, उसी प्रकार पारदारिक[5] कर्म भी महान् पाप था । कुंड और गोलक ऐसे दुराचरण के परिणामस्वरूप पुत्र थे ।

---

1. वराह, १७६।२४-२५
2. वही, १७५।१२-२५, १७६।६-५१
3. वही, २०३।६१-६३
4. भागवत, ५।५।२-८
5. वराह, १३७।१८४

स्त्री-पुरुष के वैध सम्पर्क को ही सम्भोगधर्म कहते थे और यह एक पत्नीव्रत ही था ।[1] परन्तु स्त्रियां ऐसी भी थीं, आज भी हैं, जो संन्यासियों की भांति अपना त्यागमय जीवन व्यतीत करती हैं (यतिव्रत परायणा) ।[2]

स्त्रियां विदुषी और कलावती भी होती थीं । प्रायः राजपुत्रियां और उच्चवर्ग की कन्यायें चौंसठ कलाओं ~~का~~ में दक्षता प्राप्त करती थीं (चतुःषष्टि कलायुक्ता) ।[3] इन कलाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्त्रियां काव्य, कला और शृंगार-सज्जा आदि कर्मों में निपुण होती थीं ।

कुटुम्ब

समाज विभिन्न अंगों - व्यक्ति, परिवार-कुटुम्ब, कुल, विश आदि - का समुच्चय है, जिसमें प्रत्येक अंग का अपना अपना पृथक धर्म है । साथ ही सभी अंगों में सहयोग भी नितान्त आवश्यक है । माता-पिता, पुत्र,[4] भाई-बहन[5] और वधू[6] (पुत्राः सकलत्राः)[7] आदि एक ही कुटुम्ब के सदस्य होते थे जिनके भरण का भार प्रायः एक ही पुरुष पर होता था । उसे अपने कुटुम्ब की चिन्ता में ही दुर्गम जंगलों में व्यापार आदि करना पड़ता था । कुटुम्ब का जीवन भी उस व्यक्ति के जीवन पर ही आश्रित था ।[8] माता-पिता आदि से युक्त कुटुम्ब को `भरणीय`

---

१. पराह, १४२।३३
२. वही, १८०।३
३. वही, १३७।५५,७७, इनका विवरण `आर्थिक जीवन` के अध्याय में
दिया गया है, पृ०
४. वही, १४२।५६
५. वही, १७४।४६
६. वही, १७६।३६
७. वही, १८०।१६
८. वही, १६५।१८-१६

(भरण करने के योग्य-पोष्य) कहा गया है । गोकर्ण नामक वणिक् को भी यही चिन्ता थी कि धन के बिना इन सबका भरण किस प्रकार होगा ।[1]

माता, पिता, भाई, भगिनी, स्त्री और पुत्र को निर्दोष होने पर भी जो त्याग देता है, वह प्रेतयोनि को प्राप्त करता है ।[2] अतः पोष्य वर्ग का त्याग पाप कहा गया है ।

समाज और घर में पुत्र का अत्यधिक महत्त्व है । प्रचलित विश्वास ही कि पुत्रहीन पुरुष की सुगति नहीं होती है (अपुत्रस्य गतिर्नास्ति इति सर्वस्य निश्चितम्) और स्वयं संतानहीन पुरुष भी अपने आपको पापी ही मानता है । गोकर्ण की ऐसी ही स्थिति थी ।[3] उसकी चार पत्नियां थीं, परन्तु फिर भी कोई सन्तान न थी । उसने संतान के लिए ही देवपूजन और अन्य धर्म कार्य किये थे ।[4] अतः पत्नी के समान ही पुत्र भी आवश्यक था ।

भृत्य - वर्ग

दास,[5] दासी,[6] भृत्य,[7] किंकर[8] और सेवक[9] के उल्लेख सिद्ध करते हैं कि समाज में इनकी भी आवश्यकता थी, जो आज भी है । शूद्र-वर्ण का उदय

---

[1] वराह, १७०।३१-३२
[2] वही, १७४।४६
[3] वही, १७१।१७
[4] वही, १७०।२०-२७
[5] वही, ११।४०, १४२।५६
[6] वही, १८०।४,८८
[7] वही, ११।३८,४५,४६,५१,६२,६५, १७०।३८,७३, २०१।१६
[8] वही, २०१।१०,२०
[9] वही, १७२।१६, १८०।६०

तीनों उच्च वर्णों की शुश्रूषा के लिए ही हुआ था । इन्हें तीनों वर्णों का उपचारक कहा गया है (शूद्रा सर्ववर्णोपचारकाः) ।[1]

दास और विलासिनी (स्त्री सेविकाएं) राजा को स्नान और भोजन (मज्जनाभ्यवहारार्थं) में सहायता देती थीं । राजा की सेवा में कुछ वरांगनाएं सौवर्ण-पात्र लिए हुए खड़ी रहती थीं । कुछ भृत्य भोजन और परिधान कार्य में भी लगे रहते थे । जब राजा मज्जन करता था तो नर-नारी गायन, वादन और नृत्य करते थे । स्नान के बाद वस्त्र धारण कर भोजन करता था । इन सभी कार्यों में राजा की सेवा में सेवक और सेविकाएं नियुक्त थीं ।[2]

राजवंशों की भांति उच्चवर्ग के अन्य परिवारों में भी भृत्य काम करते थे । गोकर्ण अपने भृत्यों के साथ ही पर्वतीय प्रदेश में घूमने गया था ।[3] एक व्याध भी अपने कुटुम्ब के समान ही अपने भृत्य को भी तृप्त और प्रसन्न रखता था ।[4] इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज में भृत्यों की दशा ठीक ही थी । ये कुटुम्ब के ही अंग बन जाते थे ।

--

---

[1] वराह, १८७।२१
[2] वही, ११।३८-४०
[3] वही, १७०।३८-३९
[4] वही, ८।३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्न - पान

सभी प्राणी आहार पर ही आश्रित हैं (ये जीवा भुवि तिष्ठन्ति सर्वे आहारजीविन:) ।[1] इसीलिए अन्न का महत्व है । प्रश्नोपनिषद् में अन्न की महिमा बताते हुए कहा गया है - अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि उसी से वीर्य उत्पन्न होता है, जिससे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं ।[2] सृष्टि के बाद ही भूख-प्यास से पीड़ित होकर देवताओं ने रहने के लिए स्थान और भक्षण करने के लिए आहार मांगा ।[3] उस परमात्मा ने स्वयं अनुभव किया कि लोकपाल आदि के निर्वाह के लिए अन्न भी होना चाहिए, क्योंकि इन्हें भी भूख-प्यास लगती है । 'अत: अन्न की रचना करूं ।'[4] यह सोचकर परमेश्वर ने आहार के लिए अन्न को भी उत्पन्न किया ।[5]

वराह पुराण से भी अन्न का माहात्म्य ज्ञात होता है । अन्नदान के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अन्न ही सभी काल में सुख देने वाला है ।[6] अन्न से ही प्राणी होते हैं और अन्न से ही बढ़ते हैं ।[7] केवल अन्न ही नहीं उसके साथ साथ जल की भी आवश्यकता होती है ।[8] अत: समाज में अन्न-पान का भी अत्यधिक महत्व है । किन्तु अन्नदान[9] पान करने का भी महत्व था ।

---

[1] वराह, १७४।२६(१)

[2] प्रश्नोपनिषद्, १।१४ : अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजा प्रजायन्त इति ।

[3] ऐतरेयोपनिषद्, १।२।१

[4] वही, १।३।१

[5] वही, १।३।११

[6] वराह, ९९।५७-५८

[7] वही, ९९।६३

[8] वही, ९९।७०

[9] वही, ९९।७२

तिलधेनु का दान करते हुए मन्त्र में अभिलाषा व्यक्त की गयी है -

अन्नं मे जायतामन्यत्पानं सर्वरसास्तथा ।।[१]

अन्नदान सभी दानों में श्रेष्ठ बताया गया है ।[२] पद्मपुराण भी क्षुधा की वेदना बताता हुआ अन्न को ही जगत का मूलाधार मानता है । क्षुधा के कारण परिवार के लोग भी त्याग दिये जाते हैं । क्षुधाविष्ट पुरुष पितृ-गुरु-ऋषि पूजन से भी पराङ्मुख हो जाता है । परन्तु तृप्त लोग इसके विपरीत कार्य (धर्म कार्य) करते हैं । इसी कारण जीवन, समाज, धर्म आदि अन्न पर ही आधारित हैं ।[३]

वराह (अ ९९) और पद्म पुराण (सृष्टि खंड, अ ३१) में श्वेत और विनीताश्व नामक दो सम्राटों के उदाहरण दिये गये हैं । उन्होंने सभी दान दिये थे । किन्तु अन्नदान न देने के कारण वे स्वर्ग में भी क्षुधा से पीड़ित थे ।

अन्न कई प्रकार (विविधान्न) के होते हैं । उत्तमान्न-भोजन में गोधूम, व्रीहि, यव[४] आदि माना जाता था । फल और मधुमांसादिक,[५] सुरा-मांस[६] तथा दधि, क्षीर, नवनीत[७] आदि भी जन-प्रिय खाद्य-पेय थे । शर्करा,[८] गुड़,[९] इक्षु[१०]-

---

१. वराह, ९९।९१
२. ब्रह्म वै०, ब्रह्म खंड, २७।२-३
३. पद्म, ५।१९।२७८-२९६
४. वराह, ८।२०-२२
५. वही, ७०।४४
६. वही, ७१।५८
७. वही, १०७।८
८. वही, १०८।३
९. वही, १०४।४, १०८।३
१०. वही, १०७।५, १०८।२

दंड (गन्ना), लवण[१], शाक[२] और सतु[३] (सत्तू) भी प्रसिद्ध खाद्य-पदार्थ हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाना प्रकार के भक्षण[४] हैं। चातुर्वर्ण्य-दीक्षा का वर्णन करते हुए[६] भक्ष्य-भोज्यान्न-पान[५] का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में भक्ष्याभक्ष्य - विवेक भी किया गया है।

चतुर्विध अन्न

वराह पुराण में भोजन चार प्रकार का (अन्नं चतुर्विधं)[७] कहा गया है। ये चार प्रकार निम्नांकित थे :-

१. भक्ष्य,
२. भोज्य,
३. लेह्य और[८]
४. चोष्य।

डा० पी०के० आचार्य का विचार है कि ६४ कलाओं के विकास होने के बहुत पूर्व भोजन-बनाने की क्रिया का विकास हो चुका था। वात्स्यायन ने

---

१. वराह, १०८।१
२. वही, ११४।२६
३. वही, ११४।४७
४. वही, ११।३२
५. वही, १२७।१५ इत्यादि
६. वही, १२७।३२ इत्यादि, १२७।३३-३४
७. वही, ११।२०
८. वही, ११।३६(१) : भक्ष्यं भोज्यन्तथा लेह्यं चोष्यं बहुविधं तथा ।
तुलना कीजिए-
स्कन्द, २।२।४४।८(१) : भक्ष्यभोज्यानि चोष्याणि लेह्यानि मधुराणि च ।।
वही, ६।४६।१२ : पेयं चोष्यं च खाद्यं च लेह्यमन्नमनेकधा ।।

बहुविध भक्ष्य पदार्थों को चार भागों में विभक्त किया है :-

(१) भक्ष्य या चर्व्य (अर्थात् चबाकर खाने वाले पदार्थ) ।
(२) भोज्य या चोष्य (अर्थात् चूस कर खाने वाली वस्तुएं) ।
(३) लेह्य (अर्थात् चाट कर खाने वाली वस्तुएं) ।
(४) पेय (अर्थात् पीने वाली चीज़ें) ।[1]

छः प्रकार के भी अन्न का उल्लेख मिलता है - आहार छः प्रकार का है :-

(१) चूष्य, जो चूसा जा सके जैसे इक्षुखण्ड या गन्ना,
(२) पेय, जो पिया जा सके यथा शर्बत,
(३) लेह्य, जो चाटा जा सके यथा चटनी इत्यादि,
(४) भोज्य जैसे भात (चावल) और सूप,
(५) चर्व्य, जो चबाया जाय (चबेना) यथा चना आदि[2] और
(६) भक्ष्य जैसे लड्डू या मंडक (मैदे का बना हुआ) ।

भोजन के विविध प्रकार[3] भोजन ग्रहण करने की[4] विधि पर[5] ही आधारित हैं । समाज में फल और मांस, औषधियां (शाक), क्षीर-घृत तथा विविध

---

१. ह०चि०का०, पृ० ५९
२. श०क०, तृतीय खंड, पृ० ५५५ : आहारं षड्विधं चूष्यं पेयं लेह्यं तथैव च ।
भोज्यं भक्ष्यं तथा चर्व्यं गुरुविद्याद्यथोत्तरम् ।।
चूष्यं इक्षुखण्डादि।पेयं पानकक्षीरोदकादि।लेह्यं
रसालाक्वथितादि।भोज्यं भक्तसूपादि।भक्ष्यं
लड्डुकमण्डकादि।चर्व्यं चिपिटकाकादि।इति
भावप्रकाशः ।

३. वराङ्ग, ९०।७७(१)
४. वही, ८।३० : ग्राम्या मुरा वृक्षा औषध्यः सवीरुधः ।
यज्ञार्थं तु भूतानां भक्ष्यमिति वै श्रुतिः ।।

५. वही, २०६।८

अनाज - गोधूम (गेहूं), यव (जौ), शालि (चावल), मुद्गक (मूंग), श्यामाक (सामां), नीवार (जंगली चावल) स्वस्तिक और कांगुक[१] ही प्रसिद्ध आहार थे ।

मिष्टान्न[२] और पक्वान्न[३] (पकवान) आज भी समाज में जनप्रिय खाद्य पदार्थ हैं ।

पान[४] अथवा पानीय[५] पदार्थों में विविध प्रकार की मद्य[६]- सुरा[७]- मदिरा[८] का प्रयोग होता था ।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने भक्ष्याभक्ष्य और आहार-अनाहार का विवेचन किया है । धर्मशास्त्र साहित्य की भांति पुराणों में भी श्राद्ध आदि का वर्णन करते हुए भक्ष्याभक्ष्य का वर्णन किया है । वराह पुराण भी आहार और अनाहार का वर्णन करता है । परन्तु अधिकांशतः ब्राह्मणों के लिए ही निषेध था ।

मत्स्य-मांस[९] (मछली का मांस) और मांस[१०] विशेषकर वराह-मांस और मछली ब्राह्मण के लिए निषिद्ध बताये गये हैं ।[११] ब्राह्मण के लिए शूद्रान्न[१२] (शूद्र का अन्न अथवा शूद्र द्वारा बनाया गया अन्न) ग्रहण करना पाप के समान था । तांबूल[१३] का भी प्रयोग होता था ।

---

१. वराह, ११५।१५
२. वही, १७४।३५
३. वही, १६०।१०८
४. वही, १७४।३५, २०६।३७
५. वही, २०७।४८
६. वही, १७४।४४ : मद्यपः ----- ।
७. वही, ११७।२७ : सुरां पीत्वा तुयोमर्त्यः --- ।
८. वही, १८०।६१ : मदिरामधां ---- ।
९. वही, ११७।२१
१०. वही, १७४।४४
११. वही, १२७।३४
१२. वही, १६२।२३-२४
१३. वही, १३७।११८

वस्त्राभूषण एवं अलंकार

मानव समाज में अन्न-पान के बाद वस्त्र[१] भी आवश्यक है । तदनन्तर स्त्री-पुरुष अपने शरीर को आभूषित और अलंकृत करते हैं । सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के वस्त्र, आभूषण और अलंकार-सामग्री का भी विकास होता रहा है । वस्तुतः स्त्री-पुरुष वस्त्र एवं अलंकार से रहित[२] हीन-दीन और विरूप ही रहते हैं और उनका यह वैरूप्य (रूपविपर्यय, विरूपता) उनके प्रिय स्वजन-बान्धवों को भी कष्ट देता है ।[३] अलंकरण-विभूषण ही शरीर को शुभ्र और मनोरम बनाते हैं । विभूषण भी मन के आह्लाद-स्थान हैं । विषाद में भी दुःखी मन उन्हें शरीर से दूर कर देता है ।[४] साम्ब के रूप से सभी स्त्रियां विदग्ध थीं । अतः कृष्ण ने उसे कुरूपता का शाप दे दिया था ।[५] अतः मनुष्य और स्त्री में अपने शरीर को वस्त्रों, आभूषणों तथा अलंकारों से सुरूप बनाने और सजाने का स्वाभाविक गुण है ।

State Museum Library Lucknow 7225

वराह पुराण भी वस्त्रालंकार[६] और आभूषणों[७] का उल्लेख करता है । वस्त्र हीन ` नग्न ` पुरुष को हेय दृष्टि से देखा जाता था ।[८] अतः शरीर को वस्त्र से ढकना और विभूषित (वस्त्रैर्विभूषणं कृत्वा)[९] आवश्यक है । वस्त्राच्छादन

---

१. वराह, २०८।४८ : वस्त्रान्नपानीय --- ।
२. वही, १७२।४
३. वही, १७२।७,१०, विरूप, ११,३१
४. वही, १७६।४१(२)
५. वही, १७७।२४-२८
६. वही, १७२।४, १८०।१२
७. वही, १८३।२७
८. वही, ६७।२०, २६(१), १७४।४३, जैन तीर्थंकरों और जैन अर्हतों को भी नग्न कहते थे ।

९. वही, ११८।४४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के बाद ही अलंकार सौगन्धिक (सुगन्ध) और ताम्बूल (जिसे प्रायः ओठ लाल करने के लिए खाते हैं) आवश्यक हैं।[1] स्त्री-पुरुष आच्छादन और भूषणों के अतिरिक्त सुगन्धों (गन्धान्) का प्रयोग करते थे।[2]

वस्त्र (वस्त्राणि)[3]

विभिन्न प्रकार के वस्त्र प्रयोग में प्रचलित थे। वराह पुराण क्षौम,[4] सूक्ष्म पट्ट[5] और सूक्ष्म वस्त्र[6] का उल्लेख करता है जिससे सिद्ध होता है कि महीन और सुन्दर रेशमी कपड़े पहने जाते थे। बन्धुवर्मन-कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष पट्ट मय वस्त्र धारण करते थे।[7]

विभिन्न प्रकार के रंगीन वस्त्र - शुक्लपीत (क्षौमशुक्लं सपीतकम्,[8] क्षौमं वस्त्रं पीतकं मनोज्ञं),[9] नीलवस्त्र,[10] रक्तवस्त्र[11] और कृष्णवस्त्र[12] पहने जाते थे।

कार्पासिक[13] (सूती) कपड़े भी पहने जाते होंगे।

---

१. वराह, ११८।४७ के बाद, द्रष्टव्य बंधुवर्मन-कुमारगुप्त प्रथम का मंदसोर अभिलेख, पं० ११-१२

२. वही, १३७।१५४-१५५ : प्रावारान् भूषणानि आच्छादयसि-- गन्धान् । भोगांश्च सर्वशः विमर्षि -- राजन् ----- ।।

३. वही, १७२।५७(२)

४. वही, ११८।४१,४३, १२२।६६, १२८।६१, १३७।१२६

५. वही, १३७।११८

६. वही, १४६।३०

७. बंधुवर्मन-कुमारगुप्त प्रथम का मंदसोर अभिलेख, पं० १२, श्लोक २१

८. वराह, ११८।४१

९. वही, ११८।४३

१०. वही, १३४।४

११. वही, १३५।२,३,४

१२. वही, १३५।१५

१३. वही, अ० १०६ में कार्पासिकी धेनु का वर्णन है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्त्रियां नीवी पहनती थीं और उसे कांची-दाम से बांधे रहती थीं। कभी कभी सूक्ष्म नीवी हवा से उड़ भी जाती थी।[1] वस्त्रयुग्म[2] (अर्थात् जोड़ा) के उल्लेख से ज्ञात होता है कि दो वस्त्रों - ऊपरी वस्त्र (ऊर्ध्व वस्त्र अथवा उत्तरीय) और नीचे का वस्त्र (अधोवस्त्र) - का पहनना प्रसिद्ध था। "उत्तरीय और अन्तरीय अर्थात् उपरना और धोती यही इस देश का प्राचीन वेष था। कला में भी इसका अंकन मिलता है। इस जोड़े को ही शाटक युगल (जोड़ा) या चेल युगल भी कहते थे।"[3]

भूषण (भूषणानि)[4]

वराह पुराण में निम्नलिखित आभूषणों का उल्लेख मिलता है :-

अंगुलीयक (अंगूठी), कटक (कड़ा), सोने का बना हुआ कर्णाभरण (कान का आभूषण)[5], और हार (हारा रत्नमया:)[6]।

पुष्पों से भी माला[7] और अन्य आभूषण बनाये जाते थे जिनसे शरीर विभूषित किया जाता था।

अलंकरण (सज्जा)

केश और नखों को भी अलंकृत किया जाता था।[8] केशपाश में पुष्प लगाने की भी प्रथा प्रचलित थी।[9] गन्ध[10] और सुगन्धों[11] तथा अनुलेप[12] का

---

१. वराह, १४६।३०
२. वही, ५५।१३,१५
३. पा० का० भा०, पृ० १३५
४. वराह, १३७।८० (२), १५३, १७२।४८
५. वही, ५५।१३
६. वही, १७६।७
७. वही, १७२।२५, २८
८. वही, १७५।१६, १७, १७६।२९
९. वही, १४६।२९
१०. वही, १३७।१५५, १७७।२५
११. वही, १३७।११९
१२. वही, १९८।४१

भी प्रयोग होता था । गन्धों में अगुरुसार, कपूर और चन्दन[1] का विशेष उल्लेख हुआ है । ताम्बूल[2] का प्रयोग भी होता था ।

साथ ही दर्पण, अंजन और कंघी (कंकती)[3] का भी प्रयोग होता था । शिर-प्रसाधन करने में कंकती और नेत्रों में लगाने के लिए अंजन का प्रयोग प्रचलित था ।[4] दर्पण में देखकर मुख-मंडल और रूप देखा जाता था ।[5] भूषितालंकृत होकर[6] ललाट में गन्ध से तिलक और अंगों में सुगन्ध लगाना (सौगन्धिकं) भी प्रचलित था । स्वभाव से ही सुगन्धमय भगवान[7] के अंगों (सुगन्धानि सर्वांगानि) में भी भक्त सौगन्धिक कर्म करता है ।

पैरों में जूते (वधन्नुपानहौ पद्भ्यां)[8] और खड़ाऊं (पादुके)[9] पहने जाते थे ।

आमोद - प्रमोद

मनुष्यों के विविध राग-रंग हैं । इसीलिए उनके आमोद-प्रमोद के साधनों में भी वैविध्य है । हृषीकेश में एक वनचर तापस, दैवत तपस्या द्वारा

---

१. वराह, १७६।८
२. वही, १३७।११८
   द्रष्टव्य, बंधुवर्मन - कुमारगुप्त का मंदसौर लेख, पं० ११-१२ : तांबूल-पुष्प
   विधिना समलंकृतोऽपि ।
३. वराह, १२८।६०,६१,६२
४. वही, १२८।६३
५. वही, १२८।७७ के बाद मन्त्र - मुखं च --- दर्पणं पश्य पश्यन्
६. वही, १२९।१-३,७
७. वही, १२९।५-७
८. वही, १३५।९८
९. वही, ५५।९८

ज्ञान-साधना में जुटा था । वही तापस कामदेव के प्रभाव से वसन्त के वातावरण में मलयानिल से रागी बन गया और वही तपस्वी देवदत्त मधुर गन्धर्व गीत से विमोहित होकर कामिनी के बाहुपाश में फंसकर केलि करता रहा । वर्षों बीत गये ।[1] जब चेत हुआ तो पुनः तप करने चल पड़ा ।[2] इसी प्रकार साधारण लोग भी पानगृहों[3] में पान-मांस रत[4] रहते थे । मनुष्य के लिए मांस, मदिरा, महिला, संगीत और नृत्य आदि भोग के विविध साधन थे । वेश्या-कर्म और व्यापार भी वहीं था ।

गीत

प्रम्लोचा, वही कामिनी थी जिसने उपर्युक्त तपस्वी के तप-बल को चुराया था । वह देवदत्त के आश्रम में मधुर गीत गाती हुयी आयी । मुनि की ध्यानावस्था भंग हुयी और समाधि टूट गयी ।[5] गायन-वादन और[6] नृत्य मनुष्य के प्रसिद्ध प्रमोद हैं जिनसे देवताओं को भी प्रसन्न किया जाता है । वराह पुराण से ज्ञात होता है कि मथुरा में देवालय के सम्मुख प्रेक्षणीय होता था जिसमें वादन के साथ साथ गीतनृत्यादि भी होता था । वेश्यायें भी इन पर्वों में भाग लेती थीं जो अन्य नर-नारियों को भी प्रतिलोभित करती थीं । सम्राट् भी ऐसे पर्वों का

---

१. वराह, १४६।१३-३६
२. वही, १४६।४२-४८
३. वही, २०६।३८
४. वही, १८०।६०
५. वही, १४६।२२
६. वही, १३६।२०-२५ इत्यादि, ८५-९८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आयोजन करता था ।[1] गीत-नृत्यादि वेश्याधर्म भी था । प्राचीन प्रसिद्ध सम्राट् भी अपनी प्रजा के अनुरंजन के लिए नृत्य, गीत, प्रेक्षणीय आदि संयुक्त उत्सव-समाज करवाते थे ।[2] मथुरा में, इसकी स्थापना के बाद, राम ने महोत्सव कराया था । उस दिन से वहाँ उसी तिथि पर महोत्सव करना पुण्य कर्म है ।[3] तीर्थों और मन्दिरों में जागरण के अवसर भी गीत-वाद्य और नृत्य होते थे । विवाह के समय भी महोत्सव[4] होते थे । अतः सामाजिक और धार्मिक जीवन में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है । सभी स्त्री-पुरुषों का यह प्रिय मनोविनोद है ।

कन्दुक क्रीड़ा

कन्दुक क्रीड़ा बालकों का प्रिय मनोविनोद है ।[5] प्रम्लोचा नाम की देव-वरांगना तपस्वी देवदत्त की तपस्या-भंग करने के लिए इन्द्र द्वारा भेजी गयी थी । वह गीत-गाती हुयी घूम रही थी । वह गेंद से खेलती हुयी आश्रम में संचरण

---

[1] वराह, १७५।२२-२४ : कान्यकुब्जाधिपो राजा क्षात्रधर्मे व्यवस्थितः ।
तस्य यज्ञं सर्वकालं देवगर्भेश्वरे शिवे ।।
प्रवर्तिते सुविधाढ्यं प्रेक्षणीयं मनोरमम् ।
वादित्राणि च गीतानि शक्रस्य भवने यथा ।
तस्य देवस्य या वेश्यास्ताभिः सा प्रलोभिता ।।
गीतनृत्याविष्टरता तासां धर्मानुगता ।।

[2] खारवेल का हाथी गुंफा लेख, पं० ५ : गंधव-वेद-बुधो दप-नत-गीत-वादित-संदसनाहि उसव-समाज कारापनाहि च कीडापयति नगरिं ।

[3] वराह, १७८।४-७

[4] वही, १२६।११३

[5] वही, १३७।१६५(१)

करती थी ।[1] गेंद को हाथ से मारती हुयी उछाल रही थी (करेण कन्दुकं घ्नन्ती चंचलापांगी सुकेशला) ।[2]

विहार

प्रीतियुक्त नरनारी विशेषतः पतिपत्नी उपवनों में विहार करते थे ।[3] ऐसे लोग उपवनों, देवतायतनों और विहारों में रमण करते हुए घूमते थे ।[4] वनों, उपवनों तथा रम्य प्रासादों के अतिरिक्त रम्य नदी-तटों पर भी ऐसे युवक-युवतियां विहार करते थे ।[5]

मृगया

मृगया राजाओं और राजपुत्रों का प्रिय विनोद था ।[6] अशोक ने भी अपने अभिलेखों में बताया है कि प्राचीन सम्राट् विहार यात्रा को जाते थे ।[7] इन यात्राओं में मृगया और इसी प्रकार के दूसरे आमोद प्रमोद होते थे ।

---

[1] वरांग, १४६।२६ : चित्रारामपदं पश्यन् सन्तुष्टमानसः ।
दूराददर्श तन्वंगीं क्रीडन्तीं कन्दुकेन ताम् ।।

[2] वही, १४६।२६(१)

[3] वही, १२६।११५-११८

[4] वही, १३७।८३ : रेमतुस्तौ विहारेषु देवतायतनेषु च
वने चोपवने चैव येकांकन्नन्दनोपमाः ।।

[5] वही, १५३।१२

[6] वही, १३७।६५-७३

[7] अशोकीय, ८वां शिलालेख :
अतिकातं अंतरं राजानो विहारयातां अयासु । एत मगव्या अञानि च
एतारिसानि अभिरमकानि अहुं ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर्म - विवेक

सत्कर्म ही सुख है और दुष्कर्म करना ही दुःख है।[1] ईश्वर पर अश्रद्धा, अहंकार, मोह, सर्वभक्षण, स्त्रीविक्रय, वेदविक्रय और आतिथ्य-सत्कार न करना, असन्तोष, परदारगमन, परपरिताप, अकर्मण्यता (आलस्य से घर में पड़े रहना) आदि को दुःख और दुःख का कारण बताया गया है।[2] समता, अहिंसा, परदार-पराङ्मुख रहना, एवं मौक्तिक, रत्न और कनक को लोष्ठवत् समझना तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि को ही सुख और सुख का कारण कहा गया है।[3] उपर्युक्त दुःख-सुख, क्रमानुसार, कुकर्म और सुकर्म ही हैं।

वराह पुराण के अनुसार ३२ अपराध[4] (या कुकर्मों) का उल्लेख किया गया है। इन अपराधों का सम्बन्ध आचार, भक्ष्याभक्ष्य और धार्मिक कृत्यों से विशेष रूप से है। अधिकांश अपराधों का सम्बन्ध धर्मकर्म से है।

` अगम्यागमन ` (अवांछनीय स्त्री-संपर्क) अत्यन्त निन्दित पाप कहा गया है।[5] वराह पुराण का विचार है कि इस विषय का सविस्तार वर्णन मनु आदि ने किया है।[6] इससे यहाँ धर्मशास्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है। ` अधम व्यक्ति के लिए उत्तम वर्ण या उत्तम पुरुष की स्त्री अगम्या कही गयी है -`[8] ऐसा मनु ने कहा है।[7] रजस्वला स्त्रियाँ भी अगम्या हैं और अगम्यागमन पाप है।

वर्ण	अगम्या
क्षत्रिय के लिये	ब्राह्मणी
वैश्य एवं शूद्र के लिये	क्षत्रिय-नारी (क्षत्राणी)

इसके अतिरिक्त माता, मातृष्वसा (मौसी), श्वश्रू, भ्रातृ-पत्नी, स्नुषा, दुहिता, मित्रपत्नी, जाया (जननी), स्वमातुला, सुतस्त्री, रजस्वला स्त्री, वियोनि (पशु आदि) और वर्णसंकर-संयोग भी अगम्यागमन कहा गया है। वियोनि-गमन से ब्राह्मण की शुद्धि सौ प्राणायाम करने से और वर्णसंकर-संयोग होने पर दस प्रणव गायत्री और ३०० प्राणायाम से शुद्धि होती है। गुरुपत्नी, राजपत्नी और ब्राह्मणी के विषय में मन से भी संकल्प न करना चाहिए।[10]

---

१. वराह, अ० ११६
२. वराह, ११६।८-१०
३. वराह, ११६।२०-२८
४. वही, १३०।५
५. वही, अ०६८, ६८।१२
६. वही, ६८।१६
७. वही, ६८।१०(१)
८. वही, ६८।१२
९. वही, ६८।१६-२५
१०. वही, १२०।३०

वराह पुराण में दी हुई नचिकेता की कथा से ज्ञात होता है कि पापियों को घोर नरक-यातना भोगनी पड़ती है और पुण्य कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। धर्मराज (यम) की पुरी, तथा स्वर्ग और नरक की गतियों का वर्णन[1] यही सिद्ध करता है। "पापी लोग परलोक में नाना तीव्र यातनाओं को सहते हैं और पुण्यात्मा लोग दिव्य लोकों को प्राप्त कर — अक्षय्य सुख भोगते हैं – यह नचिकेता के मुख से प्रामाणिक रूप से कहलाकर पुण्य का परिपाक शुभ और पाप का परिपाक अशुभ होता है। यही इस आख्यान का सार है।"[2]

मनुष्य कर्मपाश[3] से ही बंधा हुआ है जिससे मुक्त होकर ही वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। वह पापों के बन्धनों में भी जकड़ा हुआ है।[4] पुण्य आख्यानों के श्रवण से भी वह मुक्त हो जाता है। ब्रह्महत्या वाला, सुरापान करने वाला, चोर तथा गुरु-शय्या पर शयन करने वाला भी (एकादशी व्रत माहात्म्य के) श्रवण से सभी पापों से मुक्त हो जाता है। एक ब्राह्मण अपनी विधवा और वेश्या-बहन से अनजाने में ही अगम्यागमन के पाप से विद्ध और अत्यन्त परितप्त होकर प्राणान्त करना चाहता था।[5] किन्तु सुमन्तु सदृश धर्मज्ञ मुनियों से प्रेरित होकर वे प्रायश्चित्त द्वारा पाप-मुक्त होकर निर्मल हो गये।[6]

पंच-पातकों[7] का भी उल्लेख मिलता है। वृक्ष-छेदन, अभक्ष्य-भक्षण, परीवाद (निन्दा),[8] हिंसा, चोरी और अतिथि, अनादर आदि न करना भी धर्म कहा गया है।

---

१. वराह, अ० १९४-अ० २१२
२. पु०वि०, पृ० २७३
३. वराह, ९६।५६(२)
४. वही, ९६।६१
५. वही, १७६।४-५६
६. वही, १७६।७८-८०
७. वही, ९९।७, प्र०भा०ख०, तृतीय खं०, पृ० १०२२, १०२३-१०२८
८. वही, १२७।३२-३९

शुभाशुभ कर्म एवं प्रायश्चित

धर्म-विप्लव और नयचार

" सर्वप्रथम, कृतयुग में, सभी लोग धर्म द्वारा ही परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे । न दण्ड ही था, न दाण्डिक । परन्तु कुछ समय बाद मोहवश उनके कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान से शून्य हो जाने के कारण उनके धर्म का नाश हो गया । मोह और लोभ बढ़ने लगा । काम ने भी उन्हें घेर लिया । काम से फंसे हुए उन लोगों को राग ने भी आ दबाया । अब तो उनमें गम्यागमन, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य और दोषादोष का भी विवेक नहीं रहा । इस प्रकार धर्म के विप्लव हो जाने पर स्वाध्याय, वेद-ज्ञान और कर्मों का नाश हो गया ।[1] " ऐसी परिस्थिति में राज्य और दंडनीति की आवश्यकतावश उत्पत्ति हुई । इससे नयचार (न्यायोचित आचार) का प्रचार हुआ ।[2]

वराह पुराण के अनुसार भी कृतयुग में वेदकर्म द्वारा पृथ्वी देवताओं से युक्त थी । त्रेता में यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न किया जाता था । द्वापर में सत्त्व-रज की वृद्धि थी । परन्तु कलियुग में तम का प्राबल्य था और कलियुग में ही द्विज लोग (ब्राह्मण) भी स्वमार्ग (स्वधर्म) से गिर गये । इसी कारण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा हीनजातियां भी सत्य और शौच से हीन हो गयीं । इसके परिणामस्वरूप वर्णधर्म का विनाश और लोक का पराभव होने लगा ।[3] " इससे समाज में

---

१. महा०, शान्तिपर्व, ५९।१३-२१

२. वही, ५९।१३८(२)

३. वराह, ९८।३-६
ईशानवर्मन् के हरहा लेख से भी ज्ञात होता है कि ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में (लगभग ५५४ ई०) कलिस्वभाव से उत्पथ, श्रुतिपथ अथवा आचार-मार्ग नष्ट-भ्रष्ट हो गया था । पृथ्वी रसातल में जा धंसी थी ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नाना प्रकार के दुष्कर्म और पाप होने लगे । परन्तु धर्म चिन्तकों ने राष्ट्र और समाज को इस अनाचार, दुराचार और व्यभिचार से बचाने के लिए उपायों को बताया गया है । गरुड़ पुराण के अनुसार अपने स्वकर्म को न करने, निन्दित कर्म के करने और इन्द्रियों के अनिग्रह से मनुष्य का पतन होता है । इसलिए यत्नपूर्वक प्रायश्चित करना चाहिए जिससे उसकी अपनी अन्तरात्मा और लोकवर्ग भी प्रसन्न होता है । प्रायश्चित्त से ही पाप नष्ट होता है । जो प्रायश्चित्त नहीं करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ।[1]

अतः पाप के फल से बचने के लिए ही प्रायश्चित्त-विधान है । प्रायश्चित्त न करने से पाप के अनुरूप यमालय देखना पड़ता है और वहां नरक-यातना भी पापों के अनुरूप ही भोगना पड़ती है । यमालय-पुर अर्थात् धर्मराज के पुर और राजसभा का चित्रण करते हुए नरकों के स्वरूप और पापियों की यातनाओं का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है ।[2] सत्य ही शुभ कर्म का फल भी शुभ ही होता है (शुभं हि कर्म शुभत्वायोपकल्पते) ।[3] यही बताने के लिए नाचिकेता की पावनी और 'त्रिगुणात्मिका शुभकारिणी' कथा का वर्णन किया गया है ।[4] इस वैदिक कथा को पुराणकार ने साग्रह और साभिप्राय यहां उपनिबद्ध किया है ।[5] ----- पुण्य का परिपाक शुभ और पाप का परिपाक अशुभ होता है यही इस आख्यान का सार है । --- यह कथा अत्यन्त लोकोपकारक है ।[6] इस कथा का मूल 'क्रोध' है । वेदवेदांगतत्ववेत्ता और परमधार्मिक ऋषि भी इससे न बच

---

१. गरुड़, १।१०५।१-३
२. वराह, अ० १९५-अ० २१२
३. महा० शान्तिपर्व, ५६।१३०(१), १३५(१)
४. वराह, १९३।१० - अ० १९४ तक
५. पु० वि०, पृ० २७०
६. वही, पृ० २७३

सका । उसने अपने पुत्र को शाप दे ही दिया - `शीघ्र ही यम को प्राप्त हो[1] ।` निस्सन्देह नाचिकेत योगी[3] था (योगमास्थाय बुद्धिमान्,[2] --- चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु योगमास्थाय बुद्धिमान्) । पिता ज्ञानी होते भी क्रोध के वशीभूत हुआ और उसने स्वयं अपने आपको मृषावादी कहा है । परन्तु योगस्थ-ज्ञानी अल्पायु होते हुए भी नाचिकेत `दान्तोजितेन्द्रिय`[4] है ।

यही संसार है जो क्रोध, काम, लोभ, मोह, मद आदि से बनता है और इसी पाप-संकुचित संसार चक्र का दर्शन कराते हुए धर्मशास्त्र-चिन्तकों - मनु, आपस्तम्ब, बृहस्पति, गौतम आदि[5] - के अनुसार पापों और उनके फलों (कर्म-पाक) का वर्णन किया गया है ।[6] इसी प्रकार शुभकर्मफलोदय का भी वर्णन किया गया है ।[7] संसार के सभी स्त्री-पुरुषों को स्वधर्म-पालन और सत्कर्म करने तथा दुष्कर्म से बचने की प्रेरणा दी गयी है । इस आख्यान और अन्य ऐसी कथाओं से मनुष्य की विवेकशक्ति - शुभाशुभकरी बुद्धि[8] - को धर्म और पुण्यकर्म की ओर उन्मुख करना ही अभीष्ट है । संसार में पाप का विनाश ही कल्याण है ।[9] शुभकर्मों से स्वर्ग और पाप से नरक की प्राप्ति होती है ।[10] अतः धर्म - कर्म करना ही कल्याण है - यही श्रुति का आदेश है ।[11] बृहदारण्यक उपनिषद भी कहता है कि पुण्य कर्म से पुण्य और पाप कर्म से पाप होता है ।[12] वराह पुराण भी इसी कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है ।[13]

---

१. वराह, १९३।१२-१४
२. वही, १९३।१३
३. वही, १९३।१५
४. वही, १९३।१८-२१
५. वही, १९७।१६-१८
६. वही, अ० १९८- अ० २०५
७. वही, अ० २०६
८. वही, २१०।२०
९. वही, २१०।४६
१०. वही, २१०।२३(१)
११. वही, २१०।५(१)
१२. बृ०उप०, ३।२।१३ : पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ।।
१३. वराह, २१०।११-२३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उपसंहार

ऐसा विश्वास है कि शुभ कर्म का फल भी शुभ ही होता है (शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते)।[1] परन्तु "त्रिगुणात्मक मायाओं सात्विक, राजस और तामस – से मोहित होकर मनुष्य भगवान् को तत्वतः नहीं जानते हैं। यही ईश्वर की माया है जो बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो उस ईश्वर को जानते हैं और जानकर ही उसका निरन्तर भजन करते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं। परन्तु दुष्कर्म करने वाले मूढ़ लोग उसे नहीं भजते हैं।"[2] लेशमात्र की असावधानी और उसके स्मरण से दूर होते ही हम माया के शिकार हो जाते हैं। महातपस्वी देवव्रत थोड़ी सी ही अपनी शिथिलता से काम की माया में फंसकर तप-भ्रष्ट हो गया। परन्तु होश आते ही उसके मुख से निकल ही पड़ा –

अहो भागवती माया ययाहं मुग्धमोहितः ।
जानन्नपि तमोमूढः प्राप्तो देव बलात्कृतः ॥[3]

इसीलिए वराह कहते हैं कि जो मुझे एकाग्र-चित्त से जानता है, उस बहुदोषयुक्त मनुष्य से भी मैं सदैव प्रसन्न रहता हूं।[4] इस प्रकार दोष और अपराध हो जाने पर भी अपराधी अनुताप-युक्त होकर भगवत्स्मरण कर भविष्य में फिर उसे न करने से ही बच सकता है। जिस प्रकार भगवान् कहते हैं –

नाहं दानसहस्रेण नाहं यज्ञशतैरपि ।
तुष्यामि न तु चित्तेन ये नराः स्वल्पचेताः ॥

---

१. महा० शान्ति पर्व, ५६।१३०(१), १३६(१)
२. भगवद्गीता, ७।१३-१५
३. वराह, १४६।२७
४. वही, ११५।४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एकचित्तं समाधाय यो मां जानाति माधवि ।
नित्यं तुष्यामि तस्याहं पुरुषं बहुदोषकम् ॥[1]

भगवान् के वचन 'मा शुचः' 'मैं तुम्हें दोषों से बचा लूंगा,' उसे शरण देते हैं । इसी प्रकार अगम्यागमन के पाप से प्रकंपित भाई-बहन को जो चिता पर जलने जा रहे थे, रोक कर सुमन्तु मुनि और आकाशवाणी ने यही कहा - "धैर्य और विवेक से काम लो । तीर्थ सेवन से पापरहित हो ।"[2] धर्मशास्त्र और पुराण भी इसी प्रकार पापी मनुष्य को पाप से हटा कर पुण्य की ओर उन्मुख करते हैं । पापों के हो जाने से, यदि पापकर्ता के मन में अनुताप[3] हो तो उसे शुद्ध करने के लिए ही ऋषियों ने प्रायश्चित्त का विधान बनाया था ।

प्राचीन भारतीय समाज में सदाचार की महिमा[4] तथा आचारहीन ब्राह्मण[5] की भी निन्दा की गयी है[6]। सदाचार का तादात्म्य वर्णाश्रम-धर्म, धर्म और विष्णु से किया गया है । इस सिद्धान्त में सभी को 'स्व-स्व' धर्म-पालन और लोक-कल्याण की भावना से संसार को वासुदेवमय (वासुदेवं सर्वं) देखना ही अभीष्ट है । वराह पुराण में वर्णित चातुर्वर्ण्य-विधान पर यही भागवतीय प्रभाव परिलक्षित होता है । चारों वर्णों की दीक्षा से भी यही सिद्ध होता है कि जीवन में एक ऐसा भी समय आता है जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने

---

[1] वराह, ११५।३-४

[2] वही, १७६।५६-८०

[3] ध०शा०इ०, तृतीय खं०, पृ० १०३४ और आगे का २

[4] मनु, १।१०८, गरुड़ पू० ख०, पृ० १३८-१४२

[5] वराह, १६७।३

[6] गरुड़, १।२।४५ : अहं [illegible] सदाचारो धर्मोऽहं वैष्णवो ह्यहम् ।
वर्णाश्रमात्मा चाहं सर्गोऽहं पुरातनः ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्वधर्म को त्याग कर भगवत्पथ पर चलते हुए भागवतकर्म-परायण हो जायं । इस प्रकार समाज में धर्मपाठक अथवा धर्मोपदेशक ऋषि-मुनि प्रत्येक स्त्री और पुरुष को धीरे धीरे संयमी और शिष्ट बनाकर उन्हें चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर उन्मुख करते हैं । संयमी और शिष्ट बनने के लिए ही संस्कार और शिक्षा का विधान है । विद्याव्रतस्नात युवक गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर पंचमहायज्ञों द्वारा जीवन को पाप-रहित पवित्र एवं लोकोपकारी बनाते हुए जगत और जीवन का उपभोग करते थे । इष्टापूर्त कर्मों का उद्देश्य लोक कल्याण ही तो है ।

ईशावास्य-जप से संसार-चक्र की क्षणभंगुरता भी सामने आ जाती है- `कस्यस्विद् धनम्'। अतः जरा के दर्शन से ही लौकिक-भार को पुत्र के कन्धे पर छोड़कर परमार्थ की सिद्धि के लिए मनुष्य वनचर बनते थे । अपनी कुलपरम्परा को चलाने के लिए ही पुत्र की महिमा थी । परिवार और गृह का सुख गृहिणी के स्वभाव और स्वधर्म पर आधारित था । ज्योंही वह विवाद में उलझ कर स्वमार्ग-च्युत हो जाती है, प्रीति-विच्छेद भी सामने आ जाता है - इस विचार को वराह पुराण ने आदर्श दाम्पत्य प्रेम द्वारा पुष्ट किया है ।

सभी प्राणी कर्म के आधीन हैं । संसार में इसीलिए धर्म को श्रेयस्कर तथा स्वर्ग-साधन[१] माना गया है और पाप को नरक-प्राप्ति का द्वार।[२] अतः लोक कल्याण के लिए पापों का विनाश करना ही कल्याण है ।[३] मनुष्य अथवा स्त्री को पाप-पुण्य का विवेक कराना और उसमें शुभाशुभ-कारी बुद्धि[४] का विकास कराना ही `प्रायश्चित्त' व्यवस्था का लक्ष्य है जिसका विवेचन धर्मशास्त्रों और पुराणों में विस्तार से किया गया है ।

---

[१] वराह, २१०।५(१)

[२] वही, २१०।२३(१)

[३] वही, २१०।४६

[४] वही, २१०।११-२३

कर्म-विपाक से मनुष्यों को उद्बोधित करते हुए पुराण उनकी तमिस्रा को दूर कर सात्त्विक भाव, गुण और कर्म भरते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य को सचेष्ट होकर अपने आप अपना उत्थान करना चाहिए -

अभिध्याताभिभूतस्तु आत्मनात्मानमुद्धरेत् ।
आत्माशत्रुश्च बन्धुश्च न कश्चिद्बन्धुरात्मनः ॥[1]

यही भगवद्गीता का भी सन्देश है -

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मान मवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः ॥[2]

यह आत्मिक उन्नति पापों के नाश होने और समता, संयम, शान्ति, ज्ञान (जगत के स्वरूप का ज्ञान), न्याय-अन्याय का विवेक, ध्यान-योग, अहिंसा, प्राणायाम, श्रद्धा[3], गुरुशुश्रूषा और उदारता आदि सद्गुणों के विकास पर ही आधारित है। प्राचीन भारत के समाजशास्त्रियों का यही उद्देश्य था कि नर-पशु अपनी पशुता मिटाकर मानव बने और मानव बन कर दिव्यता की ओर बढ़े।

---o---

---

१. वराह, २१०।१५
२. भगवद्गीता, ६।५
३. वराह, अ २१०

अध्याय ५

आर्थिक जीवन

कृषीवलानान्च कृषि: सदा स्यात् ।
सुभिदायुक्ताश्च सदा हि लोका: ॥
काले सुवृष्टिर्भविता च शान्ति: ॥

- वराह, १८२।३१

वराह पुराण और प्राचीन भारत का आर्थिक जीवन

प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन और संस्थाओं पर पुराणों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । परन्तु आर्थिक जीवन और संस्थाओं के अध्ययन करने में पुराणों की उपेक्षा की गयी है ।[1] परन्तु पुराणों में अर्थ, उसका महत्त्व, अर्थोपार्जन के विविध उपायों, धन और उसका वर्गीकरण, वार्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य), कुसीद, वृत्तियों, सिक्कों तथा भूमि, वन, पर्वत, नदियों और रत्नों आदि का वर्णन मिलता है ।[2] इससे स्पष्ट है कि पुराणकारों ने आर्थिक जीवन और संस्थाओं के वर्णन में उदासीनता नहीं दिखायी है । वराह

---

[1] एन०सी० दास (इ०हि०ए०इ०), के०वी० रंगास्वामी अय्यंगर (ऐ०ए०इ०इ० थाट) और प्राणनाथ, ए०बी० (ए०का०ए०इ०) ने वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्रों, ने अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत, बौद्ध साहित्य (विशेषकर जातकों) और शुक्रनीति पर विशेष ध्यान दिया है । डा० जी०एल० आध्या (अ०इ०इ०) ने भारतीय साहित्य और दृष्टिकोण में दोष तथा कुछ कठिनाइयों का अनुभव करते हुए जातकों और अन्य बौद्ध ग्रन्थों (मिलिन्दपन्हो, महावस्तु, महानिद्देस, दिव्यावदान), जैनग्रन्थ, आचारांग सूत्र तथा महाकाव्यों, मनु, याज्ञवल्क्य और विष्णु स्मृतियों और अभिलेखों आदि का आश्रय लिया है । डा० लल्लनजी गोपाल (इ०हा०ना०इ०, प्रिफेस, पृ० १८) ने पुराणों की ओर दृष्टि तो डाली है, परन्तु तिथि-क्रम की कठिनायी उनके सम्मुख आ गयी । फिर भी उन्होंने अग्नि और ब्रह्माण्ड पुराणों को देखा । डा० बलराम श्रीवास्तव (ट्रे०का०इ०इ०) ने भी पुराणों का सहारा नहीं लिया ।

[2] गरुड़, अ० ७

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुराण के अनुसार राष्ट्र में शान्ति और समृद्धि, प्रीति, पण्य (प्रीतिपण्यानां),[1] 'धन जन रूप्य स्वर्ण',[2] तथा अन्य विभवराशियों से युक्त भूमि (सुवर्णादिकृताभूमिः सपर्वतवनाकरा ससमुद्रा),[3] कृषकों की खेती (कृषीवलानाञ्च कृषिः), समय पर[4] पर्याप्त वर्षा (काले सुवृष्टिः) और अन्न-बहुल प्रजा (सुभिक्षायुक्ताश्च लोकाः) पर आधारित थी।

अर्थ का महत्त्व

धर्मार्थतत्त्वज्ञ अर्जुन के मतानुसार "यह (भारत) अर्थ-भूमि है और यहां वार्ता - कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और विविध शिल्पों - की ही प्रशंसा होती है। अर्थ ही सभी कार्यों को करने में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते हैं। धनवान् मनुष्य धन के द्वारा उत्तम धर्म का पालन करता है। अर्थ की यह श्रुति का कथन है कि धर्म और काम तो अर्थ के ही दो अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि से दोनों की भी सिद्धि हो जाती है।"[5] नकुल और सहदेव ने भी अर्थ-योग का महत्त्व बतलाते हुए कहा कि मनुष्य को उठते-बैठते, सोते, घूमते-फिरते समय भी धन की आय को बढ़ाना चाहिए। धन से ही मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं को पूर्ण कर सकता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।[6] स्पष्ट है कि लौकिक जीवन में अर्थ का महत्त्व प्राचीन काल में भी माना गया था।

---

१. वराह, १८४।१६(१)
२. वही, १८६।१७(१)
३. वही, १८६।४८
४. वही, १८२।३१
५. शान्ति पर्व, १६७।११-१४
६. वही, १६७।२२-२३

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख में भी अर्थ के न्यायपूर्वक अर्जन, उसके रक्षण, वृद्धि और इसे सुपात्रों को दान करने का उल्लेख मिलता है।[1] ये एक गवर्नर (गोप्ता) की योग्यताएं थीं जिनसे यह सिद्ध होता है कि शासकों में भी ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जो देश की आर्थिक उन्नति करने में कुशल थे। मत्स्य पुराण से ज्ञात होता है कि सन्धिविग्रहक देशोत्पत्तिविशारद होते थे।[2] इसी प्रकार गजाध्यक्ष नागवनों और नाग-जातियों को जानने वाले (वनजातिविशारदः)[3] होते थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भू-भागों का वर्णन करते हुए देशोत्पत्ति का भी वर्णन किया है।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अर्थ-व्यवस्था की उपेक्षा नहीं की गयी थी। मंत्री और राजकुमार अर्थ-तत्व[5] (नीतिशास्त्रार्थतत्वज्ञम्) तथा अर्थविद्या (वेदशास्त्रार्थविद्यायां पारगो)[6] का भी अध्ययन करते थे। अर्थशास्त्र[7] भी एक विद्या थी। प्रसिद्ध चार[8] विद्याओं (आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिः) में वार्ता भी एक विद्या थी। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य और पशुपालन, ये तीन वृत्तियां (जीविकाएं) सम्मिलित थीं। किसानों की वृत्ति कृषि है, व्यापारियों की वाणिज्य और पशुपालन गोपालों की वृत्ति है। जो व्यक्ति जिस विद्या से युक्त है वही उसका इष्टदेवता

---

१. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिला लेख, श्लोक १० :
न्यायार्जनेऽर्थस्य च कः समर्थः
स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च ।
गोपायितस्यापि च वृद्धि हेतौ
वृद्धस्य पात्रप्रतिपादनाय ॥
२. मत्स्य, २१४।१७, कि०प०, २।२४।१७ परि०४ 'देशाष्टक'
३. वही, २१४।३४, द्रष्टव्य, प्रा०भा०भौ०स्व०,
४. का०मी०, अ० १७
५. भारत, १३०।१०५
६. वही, ८०।३०
७. विष्णु पु०, ३।६।२८
८. वही, ५।१०।२०

है और उसे उसकी ही पूजा करनी चाहिए, क्योंकि उसकी यही उपकारिणी है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भी अर्थ का महत्व था और अर्थविद्या का अध्ययन भी होता था।

अर्थ एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ था।[2] वराह इसे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम)[3] में सम्मिलित करता है। इन पुरुषार्थों पर ही जीवन के चार मार्ग निर्मित हुए थे -

१. धर्म मार्ग,
२. अर्थ मार्ग,
३. काम मार्ग,
४. मोक्ष मार्ग[4]

इनमें अर्थ मार्ग का सम्बन्ध आर्थिक जीवन से है। माता, पिता आदि कुटुम्ब-भरण करने के लिए धन की आवश्यकता होती है।[5] अन्य गृह-कृत्य भी धन से ही (करोति गृहकृत्यानि धनापायेन)[6] किये जाते हैं। धर्म-कर्म में भी धन की आवश्यकता होती है।[7] इस प्रकार जीवन में अर्थ का महत्व सदैव माना गया है। मृच्छकटिक में चारुदत्त निर्धनता और दरिद्रता के अभिशापों पर विषादपूर्ण विचार करता है - " हमारे घर को धनहीन समझ कर अतिथियों ने भी छोड़ दिया है। --- धन न रहने से मित्र भी शिथिल हो गये हैं। --- सत्य ही निर्धनता ही सभी आपत्तियों का मूल है।"[8]

---

१. विष्णु पु०, ५।१०।२८-३०
२. गरुड़, १।३।४
३. वराह, २१७।७
४. गरुड़, २।७।१६-१७
५. वराह, १३०।३२
६. वही, १६५।८
७. वही, १३०।२२-३१
८. मृच्छ०, १।१२-१४

सुखों का साधन धन है और धन से ही सुखों का मेला लगा रहता है (सुखानां साधनं द्रव्यं धनात्सुखसमुच्चयः) ।[1] इसीलिए सभी धन का वैभव चाहते हैं । वराह पुराण में वित्त,[2] धन,[3] द्रव्य[4] के उल्लेख मिलते हैं ।

वसुन्धरा

वसुन्धरा ही सम्पत्तियों की खान है । वसु, रत्न, मनुष्य, अन्न, पशु, धन, खेत आदि से परिपूर्ण पृथ्वी[5] ही वसुधा[6] या वसुन्धरा[7] कहलाती है । यही लोकधात्री[8] माता भी है । यह कर्म-भूमि थी ।[9] इस प्रकार गुणवती भूमि ही प्राचीन भारत की आर्थिक समृद्धि का आधार थी ।

वार्ता (वैश्य कर्म)

प्राचीन भारत के सामाजिक ढांचे में वैश्य को ही आर्थिक शक्ति का उत्पादक और उन्नायक कहा गया है । कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य तथा क्रय-विक्रय[10] ही वैश्य के प्रमुख कर्म थे । एक वैश्य का गृह धन और रत्नों से समृद्ध था और वहां गायें भी बहुत थीं ।[11] वह अपने पुत्र को वाणिज्य कराना चाहता

---

१. देवी भाग०, १।१५।४२
२. वराह, १३।४८,५८, ११५।३, १६५।२२,२३
३. वही, १३।५८, २५।७०, ६६।६५, १२५।६३, १२६।१६०, १३०।१८
४. वही, १६५।२२
५. वही, २१।२५-२६, १३०।१२, ११२।३२, १९४।३, १८६।४८
६. वही, ११४।४
७. वही, २८।१४, ११४।२, १२६।१३, १३०।१०
८. वही, १८८।६५
९. वही, ३२।३०
१०. वही, १२८।१६
११. वही, १३८।१५,२१

था ।[1] वह कृषि भी करता था ।[2] वैश्य और उसकी पत्नी ने अपने पुत्र से किसी न किसी वैश्य कर्म[3] (कृषि, पशुपालन या व्यापार) को करने की इच्छा प्रकट की । परन्तु उसने इन्कार कर दिया -

नाहं वाणिज्यमिच्छामि कृषि गोरक्ष्यमेव च ।।[4]

वैश्य और वैश्यकुल बालक की बातचीत से सिद्ध होता है कि वार्ता वैश्य-कर्म था और वैश्य इसे उन्नत करना चाहते थे ।

---

१. वराह, १३८।२२-२३
२. वही, १३८।२६
३. वही, १३८।२६
४. वही, १३८।३०(१)

कृषि

भारतवर्ष के आर्थिक जीवन में कृषि सबसे महत्वपूर्ण वर्तनोपाय रहा है। वराह पुराण अपने शान्ति-पाठ में राष्ट्र-वृद्धि की कामना करता हुआ प्रजा को सुभिक्ष कहता है। यह किसानों की खेती (कृषीवलानां कृषि:) पर निर्भर करता है और कृषि उपयुक्त समय पर पर्याप्त वर्षा होने (काले सुवृष्टि:) से होती है।[1] इस प्रकार समय पर वर्षा से कृषि की फलसिद्धि होती है (कृषिवृष्टिसमायोगोद्दृश्यन्ते फलसिद्धय:)।[2] यहां विष्णुधर्मोत्तर की उक्ति है कि सभी कर्मों में इन तीनों - दैव, पुरुष (पुरुषार्थ) और काल - के सुसंयोग से ही फल-प्राप्ति होती है। समय पर ही सिद्धि मिलती है,[3] अत: मनुष्यों को धर्मानुसार (अपना धर्म समझ कर) पौरुष करना चाहिए। वैश्यों का स्वधर्म (वैश्यवृत्ति) कृषि[4] ही था और उसे मालूम था कि समय पर पुरुषार्थ करने पर भी दैवी-कृपा से ही उसे सिद्धि मिलेगी। इसलिए आज भी वर्षा समाप्त होने के बाद जब किसान हल लेकर खेत को जाता है तो सबसे पहले हल, फारे (फाल) के पैर छूता है, सभी देवताओं से योग-क्षेम की याचना करता है और खेत में जाकर यही क्रियायें भूमि के साथ करता है। बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ 'धरती मां' की वन्दना करता है। सम्भव है कि आज का पढ़ा-लिखा

---

१. वराह, १८२।३१ : रोगा विनश्यन्तु च सर्वतश्च
कृषीवलानाञ्च कृषि: सदास्यात् ।
सुभिक्षा सुखाश्च सदाऽपि लोका:
काले सुवृष्टिर्भविता च शान्ति: ॥
वही, १८३।२४(२) : दैवो वर्षतु पर्जन्य: पृथिवी शस्यपूरिता ॥
२. विध०, २।६६।८
३. वही, २।६६।६
४. वही, २।८०।७(२)

किसान न करता हो । परन्तु जो वास्तव में किसान है, जिनकी कोई अन्य जीविका नहीं है, वे आज भी हल, खेत और नक्षत्रों तथा देवताओं की कृपा चाहते हैं । डा० काणे बताते हैं कि ` पारस्कर गृह्यसूत्र (२।१३) ने हल को निकालने एवं जोतने के प्रयोग में लाने के समय कई प्रकार के कृत्यों का वर्णन किया है (उत्तर प्रदेश में भी कहीं कहीं `समहुत` के समय कुछ देवों की पूजा आज भी की जाती है ।) ।`[1] इस परम्परा का प्राचीन इतिहास है जिसके रूढ़िगत संस्कार ही अब `पुरानी लकीरों` के रूप में बच गये हैं । इनका शास्त्रीय विधान ऋग्वेद से पुराणों तक फैला हुआ पाते हैं ।

कृषि विधान

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं कि ` सीता शब्द ऋग्वेद और उत्तर-कालीन संहिताओं में कृषि की देवता और हल की खूड या फाड़ के लिए प्रयुक्त हुआ है । शनैः शनैः पहला अर्थ विलुप्त हो गया । अर्थशास्त्र में केवल एक स्थान पर पुराना अर्थ है - सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च ।`[2] अर्थशास्त्र के अनुसार सभी प्रकार के बीजों को बोने के समय बीज की पहली मुट्ठी स्वर्णयुक्त जल से तर करके ही बोना चाहिए । बोते समय निम्नलिखित मंत्र पढ़े - `प्रजापति, काश्यप (सूर्यपुत्र), मेघदेवको मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं[3] । कृषि कर्म की अधिष्ठात्री सीता देवी हमारे इस बीज और धन की वृद्धि करें ।` स्कन्द पुराण में भी सावित्री देवी की स्तुति में विष्णु कहते हैं -

> कर्षुकाणां यथा सीता भूतानां धारिणी तथा ।[4]

---

१. ध०शा०इ०, प्रथम भाग, पृ० ४४१

२. पा०का०भा०, पृ० १९९

३. कौ०अ०, २।२४।४

४. स्कन्द, ७।१।१६५।११९(१)

सीता-यज्ञ का वर्णन करते हुए डा० काणे कहते हैं कि `इस यज्ञ का तात्पर्य है `जोते हुए खेत का यज्ञ`। गोभिल गृह्यसूत्र (४।४।२७) में इस यज्ञ का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है। यह यज्ञ स्मार्त या औपासन अग्निवाले व्यक्ति द्वारा खेत जोतने के समय किया जाता है। शुभ मुहूर्त में यज्ञ का भोजन बनाकर इन देवताओं को आहुतियां दी जाती हैं - इन्द्र, मरुद्गण, पर्जन्य, अशनि एवं भग। सीता, आशा, अरडा एवं अनघा को घृत की आहुतियां दी जाती हैं। परस्कर गृह्यसूत्र (२।१७) में यह यज्ञ विस्तार से वर्णित है -- ।`[1] विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार कृषि कार्य देवताओं, ग्रहों और तिथियों की पूजा के साथ आरम्भ होना चाहिए। वराह देव, शेष (अनन्त), पृथ्वी, पर्जन्य, भास्कर, वायुदेव और चन्द्र की पूजा करनी चाहिए (ये सभी कृषि की आधार-शक्तियां हैं - यथा पृथ्वी, पृथ्वीउद्धारक वराह, पृथ्वी का आधार अनन्त, पर्जन्य, सूर्य, वायु और औषधियों के प्रति सोम)। इसी प्रकार फाल और गोयुग (जुओं में जुते हुए बैलों) अर्थात् हल और बैलों की पूजा करे। फिर हवन करे और सभी देवताओं को आहुतियां दे। भूमि, हल और ब्राह्मणों की भी पूजा करे। फिर `या औषधय` इत्येवं मन्त्र का पाठ करे तथा फिर सुवर्णयुक्त जल से सींच कर पूर्वाभिमुखी होकर बीज बोए। बीज बोने पर भी निम्नांकित मंत्र का पाठ करे -

प्रजापते कश्यपाय देवाय नमः सदा ।
सदा मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च ॥

फिर ब्राह्मण और खेत जोतने वाले हलवाहे का भी पूजन करे।

जिस प्रकार कृषि प्रारम्भ में `काल` (समय) का महत्व था, उसी प्रकार उसके संग्रह करने (काटने, गाहने और घर में रखने) में भी उपयुक्त काल का

---

[1] ध०शा०इ०, प्रथम भाग, पृ० ४४१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महत्व था।[1] इससे सिद्ध होता है कि कृषि-विज्ञान का कितना धार्मिक महत्व था। इससे कृषि का विकास भी ज्ञात होता है।

वराह पुराण भी इसीलिए वनों और पशुओं से भरी हुयी और सस्यवती पृथ्वी[2] का उल्लेख करता है। सुवृष्टि की भी आवश्यकता थी। इसीलिए पर्जन्य देव से प्रार्थना करता है -

देवो वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्य पूरिता।[3]

समाज-व्यवस्था

वराहपुराण के अनुसार समाज-व्यवस्था का भी आर्थिक आधार था अर्थात् वैश्य की जीविका कृषि थी (वैश्यो वा कृषिजीवनः[4]) और राजन्य (क्षत्रिय) सस्य का रक्षक था (सस्यगोप्ता तु राजन्यो)।

इस प्रकार कृषि और क्षेत्र की रक्षा करना भी राजा या क्षत्रिय का कर्तव्य था।

कृषिकर्म

कृषि कर्म एक प्रकार से मायायोग ही कहा गया है जिसके प्रभाव से[5] भूमि में एक मुट्ठी बीज डालने से बहुत सा अनाज (अमृत) उत्पन्न होता है।

---

१. वि० ध०, २।८२।१४-२६ इत्यादि, आगे फल यज्ञ का वर्णन है जिसमें कृषि कर्म में जोतने आदि से कीड़ों आदि की हत्या से शान्ति मिले।
२. वराह, २१।२५-२६
३. वही, १८३।२४
४. वही, १६३।२७
५. वही, १२५।२६

वराह पुराण में भी कृषि के साथ साथ किसानों (कर्षकों)[1], खेत (क्षेत्र) और सुवृष्टि[2] तथा हलों[3] का उल्लेख मिलता है। शालि के खेतों में फसल कटने का भी उल्लेख है (शाल्यो लूयन्तेतेन)।[4] फसल पकने के बाद ही काटी जाती थी।[5]

कृषि हानि

बिजली के गिरने से क्षेत्र नष्ट हो जाता था (अशनिर्वा पतेत्क्षेत्रं वापि विनश्यति)।[6] अनावृष्टि[7] से कृषि कर्म को हानि पहुंचती थी[8] और ऐसी[9] अवस्था में अकाल पड़ता था, इनसे बचने के लिए प्रबन्ध भी किये जाते थे।

अनाजोत्पत्ति

शस्य से धान्य की उत्पत्ति होती थी (शस्यपंक्तिः धान्यानां)।[10]
वराह पुराण में निम्नलिखित धान्यों का उल्लेख मिलता है :-

श्यामाक (सावां), स्वस्तिक, गोधूम (गेहूं), मुद्गक (मूंग), शालि (धान), यव (जौ), नीवार (तिन्नी-पसाई के चावल, जंगली चावल) और कंगुक[11] (पाठ नीवारमल्लकं)।[12]

---

१. वराह, २०३।४६(२)
२. वही, २०३।५२(१)
३. वही, १३८।२६
४. वही, ७१।१३-१४
५. ब्रह्माण्ड, ३।३६।२२(२)
६. वराह, २०३।५२(२)
७. वही, ७१।१५,१६,१८,१९ : अनावृष्टि
वही, १२५।१९(२) : ऐसी निर्बलता हानि --- ।
८. वही, ७१।१५-१६
९. से०इ०, पृ० ८०, महास्थान शिलालेख (सं० ४५) में उल्लिखित आत्यायिक अवस्था में बचने के लिए पुंड्रनगर में कुछ प्रबन्ध किये गये थे। इसी प्रकार से०इ०, पृ० ८२- सोहगौरा ताम्रपत्र लेख (सं० ४७) में भी ऐसे समय में बचने के लिए उपायों का उल्लेख मिलता है।
१०. वराह, ७१।१२
११. वराह, ११५।१५
१२. पु०का०का०, भाग६, पृ. ३४४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऊपर `स्वस्तिक` पाठ भ्रष्ट है। इसके स्थान पर लक्ष्मीधर ने `षाष्ठिक`[1] पाठ दिया है। षाष्ठिक से साठी के चावलों का ज्ञान होता है। इनके अतिरिक्त तिल और व्रीहि[2] (धान) का भी उल्लेख मिलता है।

अन्य पुराणों की भांति यहां अनाजों का ग्राम्यारण्य रूपों में भेद नहीं किया गया है।

आराम-वाटिका

वृक्षों का लगाना महान् पुण्य कर्म था। इनसे ईंधन (जलाने के लिए) तथा हवन के लिए लकड़ी, फूल और[3] फल मिलते थे। इनका सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन में महत्व है।

---

[1] कृ०क०त०, भाग ६, पृ० ३७४

[2] वराह०, १२७।६

[3] वही, १७०।१४-२०

पशुपालन

गोरक्षा या पशुपालन भी महत्वपूर्ण वैश्य कर्म और उनकी जीविका का साधन था ।[1] गोधन[2] को महत्वपूर्ण धन माना गया था । मथुरा-मण्डल[3] गोव्रज से परिपूर्ण था । ऋषियों के आश्रमों में भी गोधन का बाहुल्य था । वहां वनों में उन्हें चरने की सुविधा थी तथा पास ही बहती हुयी नदी में पीने का पानी भी सुलभ था । गुरुओं के शिष्य इन आश्रमों में रहते हुए गोचारण करते थे । नेपाल की तराई में गंडकी के तट पर शालंकायन ऋषि का शिष्य आमुष्यायन गोचारण करता था ।[4]

धान्य (अनाज) और रत्नों की भांति अश्व और गाय आदि धन माने जाते थे ।[5]

वराह[6] पुराण में पशुओं को दो भागों में विभक्त किया गया है (ग्राम्यारण्या:) -

१. ग्राम्य पशु (पालतू पशु)
२. आरण्य पशु (जंगली पशु)

पशुपाल[7] ग्राम-पशुओं का पालन-पोषण करता था । इन्हें गोपाल

---

१. वराह, १३८।३०, २०३।४९
२. वही, १४४।७८,८२
३. वही, १४४।७७
४. वही, १४४।८२
५. वही, ६६।६५
६. वही, ४।३१
७. वही, २०३।४९

भी कहते थे जो दंड लिए हुए उनका रक्षण करता था (गोपाला इव दण्डेन)।[1]

सौरभ, (बैल, वृषभ), अश्व, गज, उष्ट्र, महिष, खर और गाय महत्वपूर्ण ग्राम-पशु थे ।[2] इनमें गाय सबसे महत्वपूर्ण और पूज्य थी । गोवध[3] महान् पाप था । इसीप्रकार गोदान[4] या कपिलादान महत्वपूर्ण पुण्य कर्म था ।

इन पशुओं का उपयोग कृषि और भार-वाहन में किया जाता था । गायें दूध देती थीं ।[5] क्षीर (दूध), दधि, घृत[6] और नवनीत[7] का जीवन में विशेष महत्व था । देवताओं को भी दूध प्रिय था ।[8]

गाय का निवास-स्थान ही लक्ष्मी का घर माना गया है (यत्रगावस्तत्र लक्ष्मी) ।[9] इसीलिए महलों और घरों में भी स्त्री-पुरुष श्रद्धा के साथ गो-सेवा करते थे ।[10] गाय के लिए प्राण भी देना स्वर्गप्रद माना गया था ।[11]

---

१. वराह, १६६।२१
२. वही, २०८।४२-४३
३. वही, १५४।३५, १६८।३१
४. वही, २००।१८, २०२।३५, १६०।२०३
५. वही, १३८।२१
६. वही, २०६।१८
७. वही, २०७।१
८. वही, २०६।२६-२८
९. वही, २०६।३५
१०. वही, २०६।३६-३७
११. वही, २०५।१०

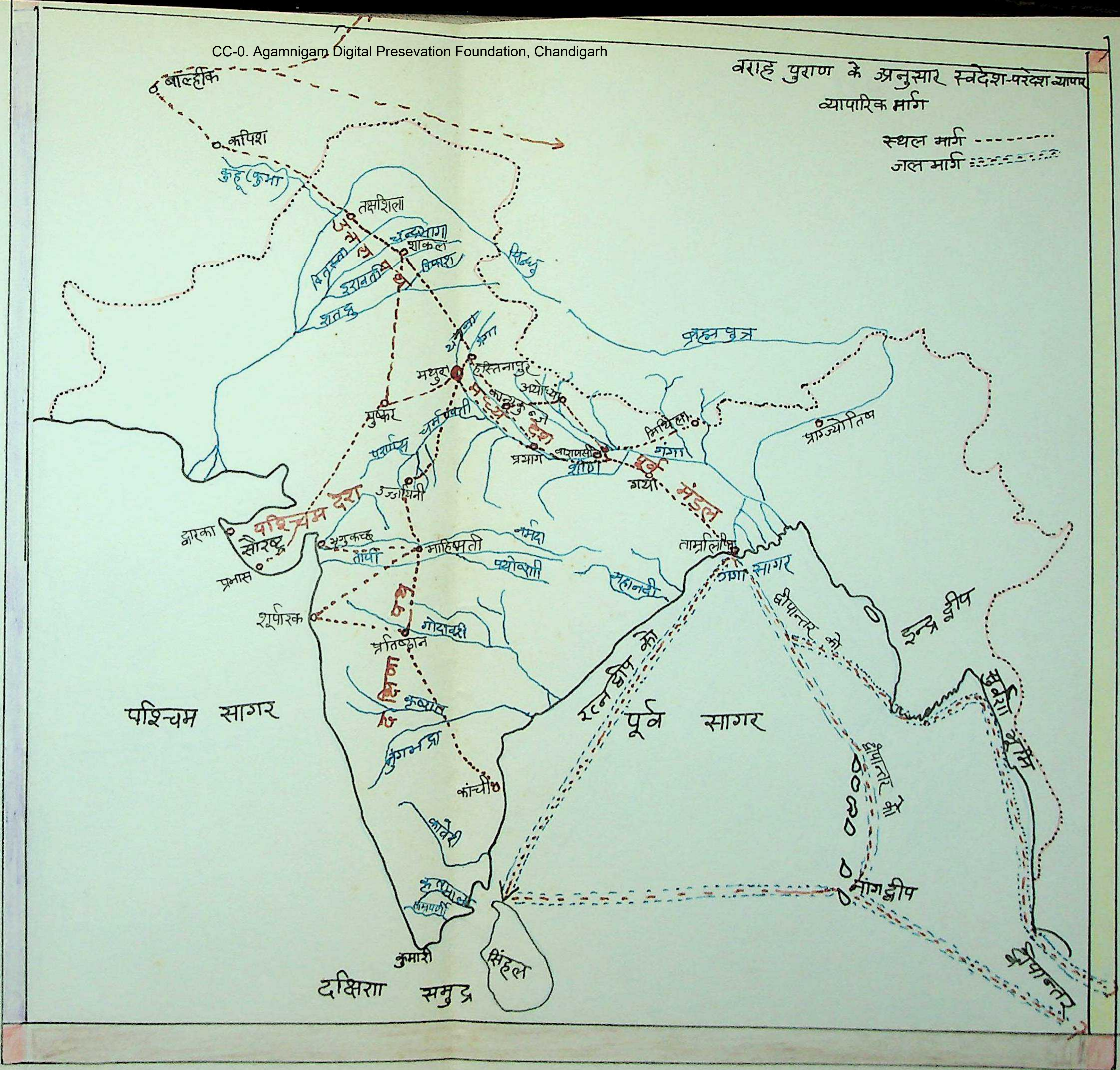

वराह पुराण के अनुसार स्वदेश-परदेश व्यापार व्यापारिक मार्ग

स्थल मार्ग - - - - - - -
जल मार्ग ==========

बाल्हीक
कपिश
कुहू (कुभा)
तक्षशिला
उत्तर पथ
चन्द्रभागा
शाकल
वितस्ता
इरावती
विपाश
शतद्रु
सिन्धु
ब्रह्मपुत्र
यमुना
गंगा
मथुरा
हस्तिनापुर
अयोध्या
कान्यकुब्ज
मध्य देश
पुष्कर
चर्मण्वती
पर्णाशा
प्रयाग
वाराणसी
शोण
मिथिला
गंगा
प्राग्ज्योतिष
गया
पूर्व मंडल
उज्जयिनी
पश्चिम देश
द्वारका
सौराष्ट्र
प्रभास
भृगुकच्छ
तापी
माहिष्मती
नर्मदा
पयोष्णी
महानदी
ताम्रलिप्ति
गंगा सागर
शूर्पारक
दक्षिण पथ
गोदावरी
प्रतिष्ठान
कृष्णा
तुंगभद्रा
कांची
कावेरी
कृतमाला
ताम्रपर्णी
कुमारी
सिंहल
पश्चिम सागर
पूर्व सागर
दक्षिण समुद्र
रत्नद्वीप को
द्वीपान्तर को
इन्द्र द्वीप
सुवर्ण भूमि
द्वीपान्तर को
नागद्वीप
द्वीपान्तर

वाणिज्य

वाणिज्य[1] को वैश्य की जीविका माना गया था (वाणिज्यस्यापि-जीविका:) ।[2] इस वृत्ति को वणिक्-भाव[3] (व्यवसाय-वाणिज्य वृत्ति) भी कहते थे । इसके अनुसार क्रय-विक्रय (व्यवसाय, खरीदना-बेचना) भी वैश्य का कर्म था ।[4]

वराह पुराण के युग में स्वदेश और परदेश के साथ वाणिज्य उन्नत दशा में था । सामुद्रिक व्यापारी समुद्र की कठिनाइयों का सामना करते हुए रत्नों की चाह में दूर द्वीपों तक जाते थे । इस प्रकार देश के आन्तरिक मार्गों में भी विविध-पण्य वस्तुओं को लिए हुए उत्तरापथ से पूर्वमण्डल तक और दक्षिणापथ तक एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते थे । मथुरा अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था जिसका दक्षिण बाहु उत्तरापथ की मंडियों को छूता था तथा दूसरा, वाम-हस्त पूर्वमण्डल पर स्थित समुद्रयायी व्यापारियों को महोदधि के उस पार भेज रहा था । इसी प्रकार दक्षिणापथ की ओर भी मथुरा देवी के चरण चल रहे थे । संस्कृत बौद्ध साहित्य से भी ज्ञात होता है कि " मथुरा व्यापारिक केन्द्र था । उत्तरापथ के व्यापारी सैकड़ों घोड़ों पर सामान लाद कर व्यापार के लिए मथुरा को जाते थे ।"[5]

---

१. वराह, १३८।२६, १८२।३१
२. वही, १२६।१०७, १६८।४६
३. वही, १७०।३३, १७१।३
४. वही, १२८।१६(१)
ब्रह्माण्ड ३।१५।५०(२)- ५१(१), ब्राह्मण के लिए क्रय-विक्रय जीविका निन्दित है । यह वैश्य की वृत्ति है ।
वायु, २।१७।७७ : क्रयविक्रयिणी --- वृत्तिरेषा तु वैश्यस्य ।
५. सं०बौ०भा०भौ०, पृ० ५५,
दिव्यावदान, २१६।१४,१५, २१६।५-६

स्वदेशी-वाणिज्य

वणिग्भाव

मथुरा में एक समृद्ध वैश्य वसुकर्ण रहता था जिसके पुत्र गोकर्ण की व्यापारिक यात्राओं से तत्कालीन व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उसने अपना बहुत सा धन धर्म-कार्यों में व्यय कर दिया। जब धन बहुत ही कम बचा तो उसे चिन्ता हुई कि वह किस प्रकार अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करेगा। यह सोच कर उसने व्यापार करना[1] निश्चित किया और वणिग्भाव से व्यापारिक भाण्ड लेकर चल पड़ा।

दक्षता

वह इस कार्य में अत्यन्त दक्ष वैश्य था। वह जानता था कि कौन वस्तु कहां सस्ती मिलेगी और किस देश में उसी वस्तु की अधिक मांग है जिससे उसे अधिक लाभ होगा। इस प्रकार वह देश के व्यापार और देश के बाहर जाने वाली बहुमूल्य वस्तुओं (बहुमौल्यानि[2] परदेशगमानि सुपण्यानि) के लाभ-हानि में कुशल (लाभालाभ विचक्षण:) था।

पूर्वमण्डल की यात्रा

इस प्रकार व्यापार करना सोच कर उसने सार्थ (साहु)[3] को बुलाया तथा घर से विदा लेने के बाद पूर्वमण्डल की ओर चला गया। वहां किसी भी

---

[1] वराह, १७०।३१-३३(१)

[2] वही, १७०।३४(२), ३५(१)

[3] वही, १७०।३३ : इति निश्चित्य मनसा वणिग्भावं कृतस्थिरम्।
कृत्वा सार्थमुपामन्त्र्य निर्गतः पूर्वमण्डलम्॥

नगर या प्रदेश का नाम नहीं दिया गया है । मथुरा से पूर्व की ओर श्रावस्ती होता हुआ गंगा सागर तक मार्ग जाता था । इससे आगे बर्मा (सुवर्ण भूमि) आदि देशों और द्वीपों को जाता था ।[1] पूर्व मण्डल में स्थित चम्पा, वैशाली, मिथिला, राजगृह, पाटलिपुत्र और ताम्रलिप्ति प्रसिद्ध नगर थे । ‘व्यापारी विदेह से गन्धार, मगध से सौवीर --, वाराणसी और चम्पा से गंगा-सागर और बर्मा तक जाते रहते थे ।’[2]

उत्तरापथ को जाने वाली व्यापारिक वस्तुएं (उत्तरापथगानि पण्यानि)

पूर्व मण्डल में गोकर्ण ने उन वस्तुओं को गिनाया जो यहां से[3] उत्तरापथ को भेजी जाती थीं । ये बहुमूल्य वस्तुएं विदेशों को भी जाती थीं । इन वस्तुओं के भी नाम नहीं दिए गए हैं । काव्यमीमांसा से ज्ञात होता है कि पूर्व देश (या पूर्व मण्डल) में उत्पन्न होने वाली निम्नलिखित प्रसिद्ध वस्तुएं थीं :-

लवली (लौंग), ग्रन्थिपर्णक (सुगन्धितपुष्प)[4], अगरु (अगर, सुगन्धित लकड़ी), द्राक्षा (दाख) और कस्तूरी ।

महाभारत से ज्ञात होता है कि अंग, वंग, कलिंग, ताम्रलिप्ति और पौण्ड्र देश में दुकूल, कौशिक, पत्रोर्ण और प्रावर तथा आभूषण के हाथी प्रसिद्ध थे । इनमें दुकूल, कौशिक और[5] पत्रोर्ण बहुमूल्य, श्रेष्ठ रेशमी महीन वस्त्र थे । प्रावर रेशमी दुपट्टा था ।

---

[1] बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ६४, तीसरा मार्ग, ‘पूर्व से पश्चिम तक’
कु०भा०भू०, पृ० ५३७-५४०, प्रा०भा०भू०, पृ० ४५
ज०इ०ल०, पृ० ६६-६७

[2] बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ६४-६५

[3] पराव, १७।३४-३५

[4] का०मी०, अ० १७, पृ० ९३।२४ : लवलीग्रन्थिपर्णकागरुद्राक्षाकस्तूरिकादीनामुत्पादः ।

[5] उ०प०, पृ० ११२, महा०सभापर्व, ४८।१५-१६
भा०उ०प०, पृ० ११२-१३

लौहित्य के पास किरातों के देश में चन्दन और अगरु की सुगन्धित लकड़ी, खालें (चर्म), रत्न, सुवर्ण और गन्ध प्रसिद्ध थीं ।[1]

पूर्व देश में बनने वाले बहुमूल्य मणि और स्वर्ण से अलंकृत आसन, यान तथा शयन, गजदन्त से बनी हुयी वस्तुएं तथा रथ और शस्त्र प्रसिद्ध थे ।[2] कौटिल्य के अनुसार कलिंग[3] (कालिंक) और वंग (वांगक) कार्पासिक (सूती) कपड़े के लिए प्रसिद्ध थे ।

इस प्रकार महाभारत और काव्यमीमांसा के आधार पर अनुमान लगा सकते हैं कि निम्नलिखित बहुमूल्य माल उत्तरापथ देश को जाते रहे होंगे :-

१. बहुमूल्य सुन्दर रेशमी कपड़े (दुकूल, कौशिक, पत्रोर्ण और प्रावर) तथा चाम्पेय (चम्पा, भागलपुर का बना हुआ सुन्दर वस्त्र) ।
२. हाथी दांत से बनी हुयी वस्तुएं ।
३. मणि और स्वर्ण जटित आसन और शयन आदि ।
४. सुगन्ध (कस्तूरी) और सुगन्धित लकड़ी (चन्दन और अगुरु) ।
५. चर्म (गज-चर्म, व्याघ्र-चर्म आदि) ।
६. शस्त्र ।

इस प्रकार पूर्व मण्डल में घूमते हुए गोकर्ण ने लाभालाभ का विचार कर उत्तरापथ और विदेशों में जाने वाली बहुत सी वस्तुओं को खरीद कर उत्तरापथ को गया था ।[4] इस प्रकार गोकर्ण ने पूर्व देश के माल को उत्तरापथ में बेचा और फिर वहां से माल लेकर मथुरा की ओर वापस चल पड़ा ।

---

[1] महा० सभापर्व, ४८।८-६,
मो० उपा० पर्व, पृ० ८४, १२२
[2] महा० सभापर्व, ४७।२८-३१,
मो० उ० प०, पृ० ७३-७४, १२१
[3] कौ० अ०, २।११
[4] वराह, १७०।३४-३६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्तरापथ का प्रसिद्ध पण्य

जब कोकर्ण उत्तरापथ के देशों से वापस चला तो भी अपने लाभ-हानि का विचार कर बहुत लाभ वाले श्रेष्ठ घोड़े, श्रेष्ठ मणि और श्रेष्ठ पट्ट (रेशमी वस्त्र) को खरीदा था ।[1]

श्रेष्ठ घोड़े (अश्वरत्नं)- उत्तरापथ घोड़ों के व्यापार के लिए अति प्रसिद्ध था ।[2] महावस्तु में भी अश्ववाणिज्य का विशेष उल्लेख मिलता है । " घोड़ों के व्यापारी घोड़ों को लेकर तक्षशिला से वाराणसी तक आते जाते रहते थे । इस व्यापार से उन्हें प्रभूत द्रव्य प्राप्त होता था ।"[3]

रामायण में काम्बोज, वाल्हीक, वनायु और नदीज (सिन्धु नदी के तट पर होने वाले सैन्धव) घोड़ों का उल्लेख मिलता है ।[4] महाभारत के अनुसार भी काम्बोज, सुन्दर घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था ।[5] यवन देश,[6] सिन्धु,[7] गान्धार[8] तथा तुषार देश[9] भी उत्तम घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे । तुरुष्क देश का घोड़ा उत्तम होता था ।[10]

---

१. वराह, १७०।३५(२)-३६ : क्रीत्वा क्रेयानि वस्तूनि लाभालाभं विचार्य सः ।
उत्तरापथ देशात्तु सार्थं स बहुविस्तरम् ।।
अश्वरत्नं मणिरत्नं पट्टरत्नं समर्थकम् ।
गृहीत्वा तु समागच्छन्मथुरायां गृहम्प्रति ।।

२. का०मी०, ६४।१४

३. सं०बौ०भा०भौ०, पृ० २०३

४. रा०बाल कां०, ५।२२

५. प्रा०भा०भू०, पृ० ११८, महा० सभापर्व, ५१।३-५

६. प्रा०भा०भू०, पृ० ११६, महा० सभापर्व, अ० ५१, पृ० ८६० (गीता प्रेस)

७. प्रा०भा०भू०, पृ० १२२, महा० सभापर्व, अ० ५१, पृ० ८६१

८. प्रा०भा०भू०, पृ० १२७

९. वही, पृ० १३२

१०. गरुड़,अ०, पृ० १७०

पट्ट-रत्न - सम्भवत: यहां पट्टरत्न का तात्पर्य चीनपट्ट (चीनांशुक, चीन का रेशमी कपड़ा) से है । चीन से आने वाला मध्य एशिया का कौशेय-पथ (सिल्क रूट) उत्तरापथ मार्ग से बाल्हीक में मिलता था । भारतीय व्यापारी भी स्वयं मध्य एशिया जाते थे । चीन का रेशमी कपड़ा (चीनपट्ट) प्रसिद्ध था । इसे कीटज और पट्टज भी कहते थे ।[1]

मणि - भी बहुमूल्य रत्न था । सम्भवत: यह पारसीक से आता था ।

शाकल एवं शाकल से मथुरा तक

अपने माल के साथ उत्तरापथ से मथुरा की ओर वापस आते हुए गोकर्ण विश्राम करने के लिए रास्ते में रुका । इस स्थान का नाम नहीं दिया गया है । परन्तु यह स्थान पर्वत के पास नदी के किनारे सुन्दर और समृद्ध प्रदेश में स्थित था -

एकदा सार्थसम्भारो विश्रान्तुं समुपक्रमे ।
स्थाने पर्वतसामीप्ये प्रभूतयवसाधिके ।
नद्यास्तीरे सुप्रदेशे आवासांश्च प्रचक्रिरे ।।[2]

यह स्थान बहुत सी पर्वत कन्दराओं से सुशोभित तथा सुगन्धित फूलों और फलों से लदे हुए वृक्षों से भरा हुआ था । पुराण ने केवल नारंग फल का उल्लेख किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि यह फल यहां विशेष रूप से होते थे ।[3]

---

[1] प्रा० भा० भू०, पृ०

[2] वराह, १४०।३७

[3] वही, १४०।३८(२)-४०(१)

इस विवरण से ज्ञात होता है कि यह नगर तक्षशिला[1] और मथुरा के बीच `केकय-मद्र-अभिसार` के निकट कहीं पंजाब में स्थित होना चाहिए। मद्र देश में इरावती के तट पर स्थित यह प्रसिद्ध शाकल नगर ही था। यह रम्य नगर था,[2] जिसके निकट इरावती ~~के तट पर~~ नदी (रावी) बहती थी और पास ही हिमालय की रमणीक पहाड़ियां थीं। नगर के निकट ही इरावती और नड्वला नदियों का पवित्र संगम था।[3] इरावती के तट पर रमणीक पर्वतों की घाटियों के मनोरम वन[4] में लाल लाल नारंगियां भी होती थीं (रक्तातिरंग-नारिंगैरिंगुदैः[5] ---)। मद्र देश के इस प्रसिद्ध नगर में महाधनी वणिक् भी रहते[7] थे, जो शाकल से सुराष्ट्र तक पण्य लेकर व्यापार के लिए जाते रहते थे। वे शूरसेन देश में भी धन कमाने आते थे। शाकल का एक व्यापारी सौराष्ट्र जा रहा था। जाते हुए मार्ग में मरुभूमि में उसका सारा माल चोरों ने छीन लिया। वहां से वह मथुरा आया और यहां उसने वाणिज्य द्वारा फिर बहुत सा धन कमाकर

---

१. [illegible], महावस्तु, २।२३५।१-३ : उत्तरापथे तक्षशिला नाम नगरं तत्र यशोनो नाम श्रेष्ठिपुत्रो अश्ववाणिज्येन तक्षशिलातो वाराणसिं गच्छति अश्वपण्य-मादाय।
उत्तरापथ का यह प्रसिद्ध नगर था। सम्भवतः गोकर्ण यहां अपने माल को बेचने और उत्तरापथ के माल को खरीदने आया था। यहां से अश्व आदि को खरीद कर मथुरा की ओर वापस चला था।
- द्रष्टव्य, ह्वेङ का० से०, पृ० ६५, ६६-६८
२. नारद, उत्तर खंड, १४।१७ : शाकले नगरे रम्ये ---- ।
३. वामन, ५३।४३,५१
४. मत्स्य, अ० ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, वि० ध०, प्रथम खंड, अ० १४८, १४९, १५०, १५१, १५२
५. वि० ध०, १।१५१।१०(१), मत्स्य, ११७।८(२) : रक्तातिरंगनारंगैः --- ।
६. वामन, ५३।१२, ४३-४५, भविष्य, उत्तर पर्व, ३०।४
७. वही, ५३।१२-१४ इत्यादि

गया चला गया ।[1] गया से वह पुनः शाकल को लौट गया ।[2] इससे सिद्ध होता है -

१. शाकल प्रसिद्ध व्यापारिक मंडी थी जहां से व्यापारी भिन्न-भिन्न देशों को व्यापार के लिए जाते थे ।[3]

२. शाकल और सुराष्ट्र के बीच मरुमण्डल होते हुए वणिक्-व्यापारियों का यातायात होता था ।[4]

३. मरुमण्डल (मारवाड़) और शूरसेन (मथुरा) के बीच भी व्यापारी आते-जाते थे ।[5]

४. इससे सिद्ध होता है कि मथुरा भी प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था ।[6]

५. मथुरा और गया के बीच भी गमनागमन होता था ।[7] वराह पुराण से भी यही सिद्ध होता है कि मथुरा से गोकर्ण पूर्वमंडल को गया था ।

६. गया से शाकल तक अर्थात् पूर्वमण्डल से उत्तरापथ को भी यातायात होता था ।[8] यही प्रसिद्ध उत्तरापथ मार्ग था जो पाटलीपुत्र, श्रावस्ती, वाराणसी, मथुरा होता हुआ शाकल और उससे आगे तक्षशिला तक जाता था ।

---

[1] वामन, ५३।६८-६९ : प्रेतकस्कन्धे समारोप्य त्याजितो मरुमण्डलम् ।
रम्ये च शूरसेनाख्ये देशे प्राप्तः स वै वणिक ॥
स्वकर्मधर्मयोगेन धनमुच्चावचं बहु ।
उपार्जयित्वा ययौ गयाशीर्षमनुत्तमम् ॥

[2] वही, ५३।७३-७४

[3] वृह का० २०५०, पृ० २६

[4] वामन, ५३।१२-१४

[5] वही, ५३।६७-६९

[6] वृह का० २०५०, पृ० २६

[7] वामन, ५३।६९

[8] वही, ५३।७३,७४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार गोकर्ण उत्तरापथ में तक्षशिला से चलकर शाकल में ही रुका था । वराह पुराण में वर्णित इस स्थान का वर्णन विष्णुधर्मोत्तर और मत्स्य के वर्णन में तादात्म्य है । वामन पुराण से सिद्ध होता है कि यह व्यापारिक नगर था जहां से लोग मथुरा को जाते रहते थे । भविष्य पुराण से ज्ञात होता है कि शाकल का एक व्यापारी गंगा में पिंड-तर्पण करने आया था ।[१] इस प्रकार शाकल से गंगा की घाटी में (प्रयाग तक) व्यापारी और अन्य लोग भी पितृ तर्पण के लिए आते होंगे । पाली बौद्ध साहित्य से भी ज्ञात होता है कि " तक्षशिला से मथुरा आने वाले प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग पर सागल पड़ता था । "[२] शाकल या सागल वर्तमान स्यालकोट ही है जो पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) का प्रसिद्ध नगर है ।

वहीं शाकल में हिमाद्रि की गुहा में रहता हुआ शुक मथुरा-मथुरा रट रहा था ।[३] गोकर्ण ने शुक को बताया - " मैं रम्य-मोक्षपुरी, मथुरा में रहता हूं । यहां व्यापार के लिए आया था । मैं माल लेकर पुनः वहीं जाना चाहता हूं ।"[४] इससे न केवल यह सिद्ध होता है कि मथुरा और शाकल के बीच भी व्यापारिक सम्बन्ध-सम्पर्क था, प्रत्युत शाकल में मथुरा एक मोक्षपुरी के रूप में भी प्रसिद्ध थी । गोकर्ण को मथुरा-निवासी समझ कर शुक भी उसके साथ मथुरा को चला आया ।[५] इस प्रकार वराह पुराण के युग में व्यापार पूर्वमंडल से लेकर उत्तरापथ तक अर्थात् देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक प्रचलित था ।

---

१. भविष्य, उत्तर पर्व, ३०।४-६
२. इ०भा०भू०, पृ० ४७३
३. वराह, १७०।६६(२)-६७(१)
४. वही, १७०।७१
५. वही, १७०।७२,७८, १७१।१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मथुरा से दक्षिणापथ तक

वराह पुराण से ज्ञात होता है कि एक बार दुर्भिक्ष-काल में पांचाल का रहने वाला वसु नामक एक ब्राह्मण अपनी भार्या सहित दक्षिण को चला गया। वहां शिवनदी (नर्मदा) के दक्षिण तट पर, स्थित एक 'उत्तमनगर' में (सुवरपत्तने) वह ब्राह्मण-वृत्ति से अपने कुटुम्ब के साथ रहने लगा।[1] नर्मदा तट पर स्थित यह नगर दक्षिणापथ में स्थित था, जहां गंगा के उत्तर तट पर स्थित पांचालनगरी से वह ब्राह्मण गया था।[2] यह पांचाल नगर कान्यकुब्ज[3] ही था। नर्मदा तट स्थित प्रसिद्ध नगर का नाम नहीं दिया गया है। सम्भवतः यह माहिष्मती ही होगा। अतः सिद्ध होता है कि पांचालनगर (कन्नौज) से दक्षिणापथ के प्रसिद्ध नगर माहिष्मती तक गमनागमन होता था। माहिष्मती प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था।[4] इस ब्राह्मण की मृत्यु के बाद उसकी कन्या उसकी अस्थियों को लेकर व्यापारियों के साथ (सार्थैः सह) मथुरा गयी थी।[5] मथुरा ~~कन्नौज~~ और माहिष्मती के बीच भी प्रचलित दक्षिणापथ-मार्ग पर व्यापारियों का गमनागमन होता था।[6]

उपर्युक्त पांचाल-ब्राह्मण के पांचों पुत्रों में सबसे छोटे लड़के ने वाणिज्य-भाण्ड लेकर सार्थ-समूह में विभिन्न देशों, प्रान्तों, पर्वतों और नदियों के किनारे

---

१. वराह, १७५।१०-११
२. वही, १७६।२५-२६
३. वही, १७६।२२
४. स्कन्द, २।४।२६।३,५-६
५. वराह, १७५।१३-१५, १७६।२६
६. बु० भा० भू०, पृ० ५४१
प्रा० भा० भू०, पृ० ४५

घूमता हुआ धनवान् हो गया।[1] इस प्रकार पण्य को लिए हुए घूमते घूमते वह मथुरा में भी आया।

वहीं वेश्या-रूप में रहती हुयी उसकी भेंट उसकी बहन से भी हो गयी। मथुरा में रहते हुए उससे एक ऋषि ने उसका परिचय पूछा। उसने उत्तर दिया -

पांचालो ब्राह्मणसुतो वाणिज्यञ्च समाश्रितः।
दक्षिणापथदेशाच्च मथुरायां समागतः ॥[2]

इससे सिद्ध होता है कि दक्षिणापथ के भी व्यापारी मथुरा आते रहते थे।[3] यह प्रसिद्ध मार्ग दक्षिणापथ था जो उत्तरभारत को दक्षिण भारत से जोड़ता था। यह मार्ग उत्तर में श्रावस्ती से चलकर दक्षिण में प्रतिष्ठान (पैठन) तक जाता था। --- बीच में पड़ने वाले स्थान प्रतिष्ठान से प्रारम्भ कर इस प्रकार थे, प्रतिष्ठान, माहिष्मती, उज्जैनी, गोनद, विदिशा, वनसाह्वय, कौशाम्बी, साकेत और श्रावस्ती।[4] माहिष्मती से उज्जैन होते हुए मथुरा को मार्ग जाता था। इसी प्रकार कौशाम्बी से प्रयाग और फिर गंगा द्वारा कन्नौज से तक मार्ग जाता था। मथुरा से वेरंजा जाने वाले मार्ग पर कन्नौज भी स्थित था।[5]

वराह पुराण[6] से ज्ञात होता है कि दक्षिणापथ मंडल में गोदावरी - तट पर स्थित प्रतिष्ठान भी एक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था।

---

१. वराह, १७६।१-३
२. वही, १७६।१५
३. वही, १७६।२६
४. कु०भा०भू०, पृ० ४४०-४४१
५. वही, पृ० ४४१
६. वराह, १६५।१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस नगर के व्यापारी देश के विभिन्न भागों में अपना पण्य लिये हुये घूमते रहते थे । प्रतिष्ठान पुर (या पत्तन) में रहने वाला एक धनी वैश्य घूमता हुआ मरुस्थल में पहुंचा, जहां निर्जल और छायाहीन प्रदेश में भूखा-प्यासा घूमता हुआ मर गया और प्रेत योनि को प्राप्त हुआ । वह प्रेत (वणिक) वहीं (मरुदेश) रहता था । कुछ समय बाद वहां व्यापारियों का समूह (सार्थ) आया ।[१] वहां मथुरा से भी व्यापारी क्रय-विक्रय करते हुए आते थे ।[२] इस प्रकार मथुरा और मरुस्थल के बीच भी व्यापारियों का यातायात होता था,[३] जैसा कि वामन पुराण[४] से भी सिद्ध होता है । इस प्रकार सिद्ध होता है कि वराह पुराण के युग में स्वदेश-वाणिज्य उन्नत दशा में था । मध्यदेश (मथुरा), पूर्वमंडल, उत्तरापथ, दक्षिणापथ और पश्चिमदेश (मरुदेश) के विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में वणिक अपना भाण्ड लिए हुए घूमते रहते थे ।

---

[१] वराह, १६५।१-२, ७-१०

[२] वही, १६५।१०-१४, १८-२०

[३] वही, १६५।२१-२३

[४] वामन, ५३।१२-१४

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सामुद्रिक व्यापार

भारत द्वीप का दक्षिण समुद्र के पार स्थित द्वीपों - इन्द्रद्वीप आदि अन्य आठ द्वीपों - के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था ।[1] इन द्वीपों के साथ भारत का व्यापार भी अत्यन्त लाभप्रद माना गया था ।

उत्तरापथ से मथुरा लौटने के कुछ समय बाद, पुनः धन की कमी हो जाने के कारण गोकर्ण को चिन्ता हुयी, इस बार वह समुद्रयान द्वारा द्वीपान्तर की ओर गया । इसकी इस यात्रा से भारत के सामुद्रिक व्यापार - समुद्र में यात्रा की कठिनाइयाँ और इस व्यापार से प्रचुर लाभ तथा भारतीय वणिकों की साहसिक पण्य-बुद्धि आदि - पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है ।

`अपने साथ मैं बहुत से रत्न लाऊँगा,` यह सोचकर उसने अपने साथ रत्नपरीक्षकों को भी ले गया । वह स्वयं रत्नकोविद था[3] । महासार्थवाह के नेतृत्व में समुद्रयायी[2] लोगों के साथ संविद कर चल पड़ा । इस बार उसके साथ शुक भी था जिसे वह शाकल से लाया था । ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सामुद्रिक व्यापार उच्चकोटि का व्यापार था जिसमें अत्यधिक लाभ की आकांक्षा थी । इस यात्रा में वह रत्नों की खोज में समुद्रयान द्वारा एक द्वीप को गया ।

---

[1] द्रष्टव्य, पीछे अ० २, भूगोल में नवभेद, पृ० ५६-६०

[2] बरक्ड वायु, (२।२१।३३) में भी `समुद्रयायी` का उल्लेख है ।

[3] वराह, १७१।३-५ : एवं निवसतस्तस्य द्रव्यक्षीणमजायत ।
पुनस्तथैव गमने वणिग्भावे मतिर्मता ।।
समुद्रयाने रत्नानि महामौल्यानि साधुभिः ।
रत्नपरीक्षकैः सार्धमानयिष्ये बहूनि च ।।
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थ पुरः सरः ।
समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं बुध्वानिर्गतः ।।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वाणिज्यसिद्धिकर्म

सामुद्रिक व्यापार में स्थलीय, विशेषकर स्वदेश व्यापार, से अधिक कठिनाइयां और संकट थे । व्यापारी इन कठिनाइयों और बाधाओं से परिचित भी थे । इसीलिए समुद्र-यात्रा के पूर्व कुछ धार्मिक क्रियायें - पूजा आदि - करते थे जिनसे उन्हें सामुद्रिक संकटों से त्राण मिलने की आशा थी ।[1] इन्हीं से उन्हें वाणिज्य-सिद्धि[2] की भी आशा थी और आशा थी कि वह कभी लाभ से वंचित न होंगे । लाभ के बिना वे उसी प्रकार नहीं लौटेंगे, जैसे समुद्रगामी नदियां वापस नहीं लौटती हैं ।[3] इतने अटल विश्वास और अदम्य उत्साह के साथ अपने अपने इष्ट देवों का स्मरण कर पोत पर चढ़ कर रत्नद्वीप आदि समृद्ध देशों की यात्रा करने वाले वणिक् शूर और धार्मिक व्यक्ति होते थे ।

सार्थवाह[4]

समुद्र व्यापार के लिए बहुत से `वाणिजक` एक साथ समुद्र में दल के दल जाते थे । सार्थवाह ही उन्हें विविध प्रलोभनों - रूप, शब्द (संगीत आदि), धन और कठिनाइयों से बचाता हुआ सही रास्ते से ले जाकर फिर सकुशल स्वदेश को वापस ले आता था ।[5]

---

[1] वि०ध०, ३।८३।३-१३

[2] वही, ३।८३।१० : कृत्वैतत्सिद्धिमाप्नोति वाणिज्ये नात्र संशयः ।
समुद्रयाने च तथा कान्तारे न विपद्यते ।।

[3] वही, ३।८३।१३ : अकंस्मिन्नित्यमयाव्यमृदां करोति कर्मैतदनिद्रतात्मा ।
न जातु लाभाद्विनिवर्तते सौ समुद्रगामीव निम्नगा वै ।।

[4] द्रष्टव्य, डा० मोतीचन्द्र, `सार्थवाह` ग्रन्थ

[5] महावस्तु, ३।२८६।१७-१८, पृ० २८७-२८९ इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गोकर्ण भी महासार्थवाह के नेतृत्व में (महासार्थपुरःसरः) समुद्रयायी व्यापारियों के साथ मिलकर (समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं कृत्य) इस निश्चय को मन में दृढ़ता से जमाये हुए (एवं[1] निश्चित्य मनसा) कि मैं बहुत से बहुमूल्य रत्नों को लाऊंगा, चला गया ।

धार्मिक कृत्य (देव-पूजा)

परन्तु जाने के पूर्व उसने भी कुछ धार्मिक कृत्य किये । देव-मन्दिर में माता-पिता के शुभ आशीर्वाद को लेकर उसने शुक के साथ पुण्य-दिन पर प्रस्थान किया । परन्तु चलते-चलते अपनी पत्नी को मातापिता की सेवा करने का आदेश देकर उसने पुनः देवता[2] का दर्शन तथा उनका अनुग्रह प्राप्त कर (देवं दृष्ट्वा प्रसाद्य च) जहाज पर चल पड़ा ।

समुद्रयात्रा

शुक के साथ समुद्र यान पर चढ़ कर शीघ्र ही वह महान् लवण सागर के बीच आ पहुंचा । अपार, दुस्तर और अगाध सागर में पोत बड़े वेग से जा रहा था । किन्तु दैववश वायु प्रतिकूल होकर उल्टी चलने लगी । पोतवाहों ने सभी पोतारूढ़ व्यक्तियों को आने वाले भय से सावधान कर दिया । प्रबल दुर्वात से जहाज संकट में फंस गया और पोतवाह लोग भी शक्ति-क्षीण होकर बेहोश हो गये ।[3] उस समय वे चिल्लाने लगे - `आह ! कितना कष्ट है, हे, कौन, कहां जाय ?` दुर्वात-पीड़ित वे एक दूसरे पर शंका करने लगे --- `कौन पापी साथ में जहाज पर आ गया है जिसके पातकों से हम सभी लोग इस समय मृत्यु के निकट आ

---

१. वराह, ७१।४-५

२. वही, ७१।५-६

३. वही, ७१।१०-१२(१)

पहुंचे हैं।`[1] इस प्रकार विलाप करते हुए उनके चार मास वहीं बीत गये, जबकि ६ मास में वाणिज्य की सिद्धि पूरी हो जाती थी।[2] पुण्यहीन गोकर्ण अपने को पापी समझ कर बहुत डर गया।

शुक

शुक ने गोकर्ण को सान्त्वना दी कि `डरो मत,` `शान्ति रखो`। स्वयं वह इधर उधर उड़ा और एक समुद्र में पर्वत पर स्थित एक विष्णु-मन्दिर पर पहुंचा। वहां उसने जटायु नामक पक्षियों के द्वारा उस विषम स्थिति से बचने का मार्ग जाना। शुक और जटायु की सहायता से जहाज और उसके व्यापारी सुरक्षित रूप से विष्णु के मन्दिर वाले पर्वत पर पहुंचे। वहां वे सुख से रहने लगे।[3]

रत्नाकर द्वीप

इस प्रकार `सुवात` के सहारे वे रत्नाकर में पहुंचे जहां बहुत से बहुमूल्य रत्नों को उन्होंने प्राप्त किया। रत्नकोविद लोग रत्नों की परीक्षा करते थे।[4] गोकर्ण भी उस द्वीप में रहता हुआ माता-पिता की स्मृति से व्याकुल हो गया।[5]

---

१. वराह, १७१।१२(२)-१४
द्रष्टव्य, `ट्रैवेल्स आफ फाहियान ऐन्ड संगयून`, पृ० १६६-१६७
जब फाहियान समुद्रयान द्वारा चीन वापस जा रहा था, तब भी वह जहाज ऐसी ही दुर्गति में फंस गया था। व्यापारियों ने फाहियान को ही पापी समझा था। वे उसे समुद्र में फेंक भी देना चाहते थे।
द्रष्टव्य, ट्रै०फा०सं०, पृ० १६६

२. वराह, १७१।१५

३. वही, १७१।१६-४३

४. वही, १७१।४४-४५(१) : पोताच्चावतुत्तार सुवातेनापि चालित: ।
रत्नाकर: शुभो यत्र भाषितस्ताद्वियोगत: ।
रत्नानि बहुमूल्यानि आहृतानि बहून्यथ ।
यावत्परीक्षणार्थञ्च गोकर्णं रत्नकोविदम् ।

५. वही, १७१।४८ : एवं वसन् स गोकर्णो द्वीपस्थ: शोकविह्वल: ।
शुश्रूषार्थञ्च दीनात्मा मातापित्रो: कृते सदा ।

अतः शुक, पहले ही, जहाज़ से मथुरा चला आया। गोकर्ण, बाद में, अन्य व्यापारियों के साथ रत्नाकर के समान रत्नों से परिपूर्ण[1] (अथ सार्थः समायातो रत्नपूर्णो यथोदधिः) होकर मथुरा वापस आ गया। इस प्रकार वे सभी लोग सामुद्रिक रत्नों के साथ प्रसन्न होकर स्वदेश लौट आये।[2] इस आख्यान से भारत के द्वीपान्तर-वाणिज्य पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। अवदान शतक से भी यही ज्ञात होता है कि सामुद्रिक व्यापारी अनेक कष्टों को सहते हुए रत्नों की इच्छा से रत्नद्वीप[3] जाते थे। रत्नद्वीप से वे रत्न संग्रह कर जम्बूद्वीप (भारत) को लौट आते थे।

हरिवंश पुराण से भी ज्ञात होता है कि यदु और मिवद्रु के पुत्र हरित रत्नराशि से पूर्ण समुद्र द्वीप पर शासन करने लगे। यहाँ दास जाति के कुछ लोग शंख एकत्र करते थे और कुछ दास प्रवाल, मौक्तिक और सोने का संग्रह करते थे। निषाद लोग छोटी छोटी नावों द्वारा जल में उत्पन्न होने वाले रत्नों को इकट्ठा करते थे। ये रत्नद्वीप के निषाद सभी प्रकार के रत्नों का संग्रह करते थे।[4] दूर-गामी वणिज नौकाओं से प्राप्त द्रव्य द्वारा नृप हरित को तृप्त करते थे।

इस प्रकार इस वर्णन से सिद्ध होता है कि रत्नद्वीप यदुवंशी राजा हरित द्वारा बसाया गया समृद्ध राज्य था।

* * *

---

[1] वराह, ९७१।५६

[2] वही, ९७१।५७

[3] सं०बौ०भा०वा०, पृ० २०३,
द्रष्टव्य, अवदानशतक, भाग १, २३।१२-१३, भाग २, ६६।४

[4] हरिवंश, विष्णुपर्व, ३८।२९-३४

पण्य

`विविधपण्यक्रयविक्रयाश्रयं । वणिग्जनं पौरजनं तथा नृपः ।।`[1]

ऊपर के विवरणों से ज्ञात होता है कि देश के विभिन्न भागों में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते हुए व्यापारी विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे । वराह पुराण में हमें निम्नलिखित पण्य-वस्तुओं के नाम प्राप्त होते हैं :-

अश्व, मणि, पट्ट[2] और रत्न[3] ।

अश्वों, मणियों और पट्ट उत्तरापथ से मध्यदेश को अथवा उससे आगे पूर्व मंडल को आता था । वैदूर्यादि रत्न समुद्र द्वीपों से आते थे ।[4] इनके रत्न-परीक्षकों का भी सम्बन्ध था । गरुड़ पुराण में रत्न-परीक्षा[5] का वर्णन करते हुए उनके प्राप्ति-स्थानों का उल्लेख है । ये महोदधि, नदी, पर्वत और वनों[6] में मिलते थे । महोदधि में प्राप्त होने वाले रत्नों पर वराह पुराण, हरिवंश और अवदान शतक से प्रकाश पड़ता है ।

---

[1] जातकमाला, २३।६७, विविध प्रकार के पण्य का क्रय-विक्रय करने वाले वणिक् की रक्षा करना राजा का धर्म था ।

[2] वराह, १७०।३६

[3] वही, १७१।४

[4] द्रष्टव्य, जातकमाला, १४ `सुपारगजातकम्` । इसमें भी हमें भरुकच्छ से सुवर्णभूमि (लोअर बर्मा) जाने वाले व्यापारियों का वर्णन मिलता है । पृ० ९२।२७-२८ एवं पृ० ९३ इत्यादि पर महासमुद्र से सम्बन्धित रत्नों का वर्णन है । उत्पातों से बचने के बाद व्यापारियों ने `वैदूर्यादीनि रत्नानि वहनभारारोपयामासुः ।`

[5] गरुड़, १।६८।१

[6] वही, १।६८।७

गरुड़ पुराण के अनुसार रत्नपरीक्षकों को कुल-शास्त्रज्ञ और उनके मूल्य-मात्रा (तौल) को भी जानने वाला बताया गया है ।[1] इसी प्रकार मणि-शास्त्रविद् भी होते थे ।[2] मूल्य-मात्रा से उनका प्राचीन काल के विविध प्रकार के सिक्कों और उनकी तौलों का भी ज्ञान होना आवश्यक था ।[3]

संस्कृत बौद्ध साहित्य, विशेषकर महावस्तु से ज्ञात होता है - अश्व-वाणिजक घोड़े लेकर तक्षशिला से वाराणसी तक आते थे ।[4]

ग्रामों[5] का भी क्रय-विक्रय होता था ।

सिक्के

वराह पुराण में सुवर्ण,[6] सुवर्ण-माषक (सुवर्णस्य माषकं)[7] और कार्षापण[8] के उल्लेख मिलते हैं ।

---

१. गरुड़, १।६८।१४
२. वही, १।६८।३४
३. वही, १।६८।२६-३४
४. सं०बौ०भा०जी०, पृ० २०३,
द्रष्टव्य, महावस्तु, २।२३५।१-३ : उत्तरापथे तक्षशिला नाम नगरं तत्र वक्केनो नाम श्रेष्ठिपुत्रो अश्ववाणिज्येन तक्षशिलातो वाराणसिं गच्छति अश्वपण्यमादाय ।
५. वराह, १७६।४६
६. वही, १७५।३० : यहां सुवर्ण भार का उल्लेख है । सुवर्ण मात्रा भी थी और एक सिक्का भी था ।
७. वही, १७५।४३
८. वही, १२६।१७७(२)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१ सुवर्ण = १६ माषक[1] = ८० कृष्णल[2]

सुवर्ण माषक इसी का १।१६ वां भाग था और छोटा तांबे का सिक्का था ।

१ माषक = ५ कृष्णल[3]

एक स्थान पर वराह पुराण ने त्रसरेणु[4] और लिक्ष्या[5] का भी उल्लेख किया है । मनु इसी को लिक्षा (लिक्षिका) कहते हैं ।

८ त्रसरेणु = १ लिक्षा या लिक्ष्या
३ लिक्ष्या = १ राजसर्षप (गौरसर्षप)
६ सर्षप = १ यव (साधारण)
३ यव = १ कृष्णल
५ कृष्णल = १ माष
१६ माष = १ सुवर्ण[6]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण प्राचीन मुद्रा-व्यवस्था (सिक्कों) और मात्रा (तौल प्रणाली) से परिचित था । खिड़की आदि के छिद्र से जो सूक्ष्म धूलि का कण आता है (और जो सूर्य प्रकाश में चमकता है) त्रसरेणु कहलाता है[7] । इस प्रकार लिक्ष्या (या लिक्षा) बहुत ही लघु रूप का परिचायक है ।

---

[1] गरुड़, १।७३।१७
[2] मनु, ८।१३४
[3] वही, ८।१३४
[4] वराह, ७।५(१)
[5] वही, १७१।२६(१)
[6] मनु, ८।१३२-१३४
याज्ञवल्क्य, १।१४।३६२-३६५
[7] वराह, १७१।२६(१) : सूक्ष्मा लिक्ष्यासमन्तेषां ---- ।

कार्षापण

यह अत्यन्त प्रसिद्ध प्राचीन तांबे और चांदी का सिक्का था । मनु के अनुसार ज्ञात होता है -

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥[1]

अर्थात् १ कर्ष तांबे की तौल का सिक्का (पण) कार्षापण कहलाता है ।

पालिग्रन्थों या प्राचीन अभिलेखों में इसे काहापण कहा गया है । वहां इसका उल्लेख चांदी के सिक्केके लिए हुआ है ।[2] ये सभी प्राचीन भारतीय पद्धति के ही प्राचीन सिक्के थे । यद्यपि शकों[3] का उल्लेख मिलता है, फिर भी वराह पुराण ने विदेशी सिक्कों का उल्लेख नहीं किया है ।

यान - वाहन एवं श्रम

आर्थिक व्यवस्था में यान-वाहन और श्रम का महत्वपूर्ण स्थान है । वाणिज्य-व्यवसाय के लिए तो यह नितान्त आवश्यक ही है । देश के विभिन्न भागों में व्यापारिक केन्द्रों को मिलाते हुए बहुत से मार्ग थे जिन पर व्यापारी अपने भाण्ड को शकटों (गाड़ियों) या अश्व आदि पर लादे हुए भृत्यों के साथ रखते थे । सेना में भी इनकी आवश्यकता होती है । वराह पुराण में हाथी,

---

[1] मनु, ८।१३६(२)

[2] ए०इ०, अभिलेख सं० ५८ (नहपान का नासिक गुफा लेख पं० १,२,३), नोट ५

[3] वराह, १२२।३०-३३,४६

घोड़े, रथ और यानों (हस्त्यश्वरथ --- यानानि)[1] के उल्लेख मिलते हैं। यान,[2] छोटे - बड़े[3] और विमान[4] की तरह कई प्रकार के प्रचलित थे। शिविका[5] का भी प्रयोग होता था। समुद्र, नदी आदि जल में नाव[6] और बड़े-बड़े समुद्रों में समुद्रयान[7] या पोत[8] चलते थे। इनके साथ साथ[9] अथवा महासार्थ[10] (सार्थवाह) और पोतवाह[11] भी चलते थे। ये समुद्र के मार्गों और कठिनाइयों से भी परिचित थे। वे भय उत्पन्न होने पर पोतारूढ़ लोगों को सावधान करते थे।[12]

व्यापारियों के साथ भृत्य[13] भी रहते थे जो अपने स्वामियों की सेवा-सहायता करते थे। वे विश्वासपात्र थे। गोकर्ण अपने माल को भृत्यों के ऊपर ही छोड़कर जाकर में पहाड़ियों की सैर करने गया था।[14]

दासों और दासियों के भी उल्लेख मिलते हैं।[15]

---

१. वराह, १३७।६६
२. वही, १५०।२५
३. वही, १७५।२५ : यानेन महता --- ।
४. वही, १८०।१४ : यानैरश्वापथैः -- ।
४. वही, १७२।४८ : विमानप्रतिमाकारं यानमारुह्य --- ।
५. वही, १६७।४६ : शिविकाश्च वाजिकुञ्जरयुक्तानि --- ।
६. वही, १६३।३४ : पारापारस्य नौरिव --- ।
सेनाक, महावस्तु, दूसरा खंड, १५४।१-३, विविधानि यानानि -- हस्तियानानि अश्वयानानि नावायानानि -- शिविकायानानि-- ।
७. वराह, १७१।४
८. वही, १७१।१०,११,१२,३१,३३,४४,५२
९. वही, १७०।३३
१०. वही, १७१।५
११. वही, १७१।१०,१२
१२. वही, १७१।३३-३४
१३. वही, १७१।३८,७३
१४. वही, १७०।३०-३६
१५. वही, ६६।६५

वृत्तियां (वर्तनोपाय)

ऋषियों ने जीविका के विभिन्न साधन बताये हैं (बह्वो वर्तनोपाया ऋषिभिः परिकीर्तिताः)[1] । गरुड़ पुराण ने दस प्रकार की वृत्तियों - विद्या, शिल्प, भृति (मज़दूरी), सेवा, गोरक्षा, विपणि (व्यापार), कृषि, वृत्ति (धृति), भैक्ष्य और कुसीद - का उल्लेख किया है[2] ।

उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि वराह पुराण में कृषि, पशु-पालन (गोरक्षा), विपणि और भृति के उल्लेख मिलते हैं । स्तेय-कर्म (चोरी) भी प्रचलित था । इसकी घोर निन्दा की गयी है[3] । इसके अतिरिक्त निम्न-लिखित, विविध प्रकार की जीविकोपार्जन करने वाले लोगों के उल्लेख मिलते हैं :-

मालाकार[4]

यह महत्वपूर्ण वर्ग[5] था, जिसका उल्लेख प्रथित प्राचीन १८ श्रेणियों[6] में भी मिलता है । यह आधुनिक माली है ।[7] फूल और फल वाले वृक्षों का लगाना और उन्हें सींचना इसका कार्य था । ये पुष्पों के आभूषण भी बनाते थे[8] ।

---

१. गरुड़, १।७७।४, गरुड़ पु० अ०, पृ० १६६-१६८
२. गरुड़ पु० अ०, पृ० १६७, गरुड़, १।२०५।८७, मनु, १०।११६
३. वराह, २०३।५४
४. वही, १५०।२६,४०
५. महावस्तु, ३।४४३।१
   सं० औ० भा० जी०, पृ० २११
६. ह० कु०, पृ० १०६-११२
७. वराह, १५०।४०
८. सं० औ० भा० जी०, पृ० २०६

गोपाल[१] अथवा पशुपाल[२] (पशुपालन वाले ग्वाले), कर्षक[३] (किसान), तथा वाणिज्य-जीविका वाले[४], क्रय-विक्रय[५] करने वाले, वणिज[६] (व्यापारी), सार्थ[७] (व्यापारियों का समूह), वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य) से सम्बन्धित थे। भिषजों[८] (वैद्यों) और शौण्डिकों[९] (सुरा बेचने वाला) की भी जीविका-वृत्तियां प्रचलित थीं।

भृति एवं सेवा (मजदूरी और नौकरी) सम्बन्धी वराह पुराण में निम्नलिखित वर्ग के लोगों का उल्लेख मिलता है :-

कर्मकर[१०] एवं कर्मकरी[११] (दासी)[१२] क्रम से, सामान्यतया नौकर और नौकरानी के परिचायक हैं। परन्तु कर्मकर को स्थपति[१३] (बढ़ई), शिल्पकार भी कहा गया है। इस अर्थ में यह कर्मार[१४] (कम्हार) का ही पर्यायवाची शब्द था। परन्तु वराह ने नौकरों के अर्थ में ही इनका उल्लेख किया है।

विलासिनी

इनका उल्लेख भी दासों के साथ हुआ है।[१५] यह स्त्रियां राज-सेविकाएं ही थीं। वे भृत्यों और कर्मकार पुरुषों के साथ काम कर रही थीं। वे सुवर्ण-पात्र लिए हुए सेवा में खड़ी हुई थीं।[१६]

---

१. वराह, १९९।२१
२. वही, २०३।४६
३. वही, २०३।४६
४. वही, २०३।४६
५. वही, १७५।१४
६. वही, १७२।२२ इत्यादि
७. वही, १६५।११, १६७।११, १२, १४, १५, १६
८. वही, १३७।१८
९. वही, २०३।६१
१०. वही, ११।४४
११. वही, १८०।३४
१२. वही, १८०।३३, ३४
१३. आप्टे संस्कृत इं० कोश, पृ० १३७
१४. सं०शी०भा०जी०, पृ० २०६
१५. वराह, ११।४०
१६. वही, ११।४२-४६

राजशब्दोपजीवी[1] - व्यक्तियों का अर्थ राजभृत्यों[2] के अर्थ में हुआ है। राज-रक्षिन्[3] (चौकीदार, पहरेदार) भी ऐसे ही राजभृत्य थे जो चोरों को पकड़ते थे।

वेश्याकर्म

मथुरा के समान समृद्ध नगरों में जहां बाहर से अधिक संख्या में लोग आते थे, वेश्याकर्म प्रचलित था। सुन्दर-साध्वी कन्यायें भी दुष्ट वेश्याओं के चक्कर में फंस कर अपने को नष्ट कर लेती थीं, जैसा कि एक ब्राह्मणी, बालरण्डा के जीवन से स्पष्ट है। वह मथुरा में अपने पिता की अस्थियों को लेकर आयी थी। वहां वेश्याओं ने इसे भ्रष्ट कर दिया और वह भी वेश्या की जीविका करने लगीं।[4] सम्भवतः राज-वेश्यायें अथवा देव-वेश्यायें (देवालयों से सम्बद्ध देवदासियां) भी विद्यमान थीं। कान्यकुब्ज के राजा के समय, गर्वेश्वरदेव के मन्दिर में प्रेक्षणीय होता था। वहां ये देव-वेश्यायें भी रहती हुयी गीत-नृत्य करती थीं।[5]

---

१. वराह, २०३।३३
२. वही, २०३।४९
३. वही, १९७।६
४. वही, १९५।१३-२५
५. वही, १९५।२४

उद्योग

सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मनुष्य अपने रहन-सहन के साधनों में भी सुधार करता रहा है । भाँति-भाँति के औज़ारों, वस्त्रों, आभूषणों, यन्त्रों, पात्रों, शयनासनों, यानों, पेयों आदि में मानव-कला प्रस्फुटित होती रही है । वस्त्रों और धातुओं का उद्योग सर्व प्रसिद्ध था ।

वस्त्रोद्योग

विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनते थे और विभिन्न रंगों में रंगे जाते थे -

क्षौम[1] - सुन्दर रेशमी कपड़ा था, जो क्षुमा से बनने के कारण क्षौम कहलाता था ।

पट्ट[2] - (पट्टरत्न)[3] यह सूक्ष्म और सुन्दर चीनी रेशमी का कपड़ा (पट्टजं) था, जो उत्तरापथ के मार्ग से देश में आता होता था । धौतवस्त्र[4] अथवा शुक्ल[5] (सफ़ेद या शुद्ध) वस्त्र के अतिरिक्त नीलवस्त्र[6] - रक्तवस्त्र[7] और कृष्ण वस्त्र[8] के उल्लेख सिद्ध करते हैं कि वस्त्र भिन्न भिन्न रंगों में रंगे भी जाते थे ।

---

[1] वराह, १२६।१९३
[2] वही, १३७।११८ : ताम्बूलं रक्तवस्त्रं तु सूक्ष्मे पट्ट वाससी ।
[3] वही, १७०।३६
[4] वही, २१८।२९
[5] वही, १८४।११
[6] वही, १८६।१७, २१८।२८
[7] वही, २१८।२८
[8] वही, २१८।२९

कम्बल - कम्बल[1] भी बनते थे। यह ऊन के ही बनते होंगे।

धातु उद्योग

विभिन्न धातुओं - स्वर्ण, रजत (रौप्य), ताम्र, कांस्य, रांगा, टीन (त्रपु), सीसा और लोहा (अयस) के उल्लेख मिलते हैं।[2] इन धातुओं से आभूषण बर्तन और मूर्तियां आदि बनती थीं।

रजतकार (रजतस्य कारकाः)[3] का भी उल्लेख हुआ है। ताम्र-पात्र[4] अत्यन्त पवित्र माने जाते थे।

शर्करा

गुड़,[5] शर्करा[6] और मधुखण्ड[7] के उल्लेख सिद्ध करते हैं कि शक्कर भी बनती थी। इक्षु (गन्ने) से ही गुड़ और शर्करा बनती है।

मदिरा,[8] सुरा[9] तथा शौण्डिक[10] के उल्लेख सिद्ध करते हैं कि शराब भी बनती थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के उद्योग भी प्रचलित थे।

---

१. वराह, १००।६, १०१।४, १०३।६
२. वही, ५५।१३,१७, ६६।६२ : सुवर्णरौप्यताम्राणि, ६६।८८, स्वर्ण, रौप्य, कांस्य
वही, १२६।१७,४३,४४,४५, २०८।४५
३. वही, २०३।३६
४. वही, १२६।१८,२४,३१,३४-३६,४४-४५,५०
५. वही, १०३।६, १०४।४
६. वही, १०३।१,२,१५, १०४।४
७. वही, २०५।२३
८. वही, १०३।७(१), १०४।४
९. वही, १८०।६१
१०. वही, १७६।४०

चौंसठ कलाएं

कांची-राज्य की राजकुमारी चौंसठ कलाओं में दक्षा कही गयी है। (चतुःषष्टिकलायुक्ता)।[1] परन्तु पुराणकार ने इनके नाम न देकर राजपुत्री के गुणों का वर्णन करने में सामान्य रूप से ही इसका उल्लेख किया है। फिर भी देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन में इन ६४ कलाओं का प्रचलन था।

व्यापार की वृद्धि से उद्योग और कला का भी विकास हुआ। प्राचीन साहित्य में ६४ कलाओं की तालिका प्राप्त होती है।[2] इन कलाओं का महत्व था। ये कलाएं थीं – (१) गीत, (२) वाद्य, (३) नृत्य, (४) नाट्य, (५) चित्रकला (आलेख्य), (६) मुखालंकरण (विशेषकच्छेद्य), (७) चावलों और फूलों से रूपाकृति बनाना (तंडुल-कुसुमावली-विस्तारः), (८) पुष्पशय्या सजाना (पुष्पास्तरण), (९) दांतों, कपड़ों और शरीर को रंगना (दशनवसनांगराग), (१०) मणिभूमिका-कर्म अर्थात् फर्श को मणियों से सजाना, (११) शयन-रचना, (१२) उदकवाद्य अथवा जलतरंग, (१३) उदक-घात अथवा जल-स्तंभ विद्या, (१४) चित्रयोग (चित्रण), (१५) माल्य-ग्रन्थन-विकल्प या माला बनाना, (१६) शेखरापीड-योजन या शिर को पुष्प के आभूषणों से सजाना, (१७) नेपथ्य-प्रयोग, (१८) कर्णपत्रभंग, (१९) गन्धयुक्ति, (२०) भूषणयोजन, (२१) ऐन्द्रजाल, (२२) कौचुमारयोग, (२३) हस्तलाघव, (२४) चित्र-शाक-पूप-भक्ष्य-विकार-क्रिया, (२५) पानक-रस-रागासव-योजन, (२६) सूचिवायकर्म या सिलाई-बिनाई (आज भी स्त्रियों के लिए आवश्यक गुण माना जाता है), (२७) सूत्रक्रीडा, (२८) वीणाडमरुकवाद्य, (२९) प्रहेलिका, (३०) प्रतिमाला, (३१) दुर्वाचकयोग, (३२) पुस्तक-वाचन, (३३) नाटकाख्यायिका दर्शन, (३४) काव्यसमस्यापूरण, (३५) पट्टिका (पेटिका)-वेत्र-बान-

---

[1] वराह, १३७।७७
[2] [illegible], पृ० ६४

विकल्प या शयनासन का बिनना, (३६) तक्षकर्म या छीलाकरना, (३७) तक्षण या कारपेन्ट्री-बढ़ईगीरी, (३८) वास्तुविद्या, (३९) सुवर्णरूप्यरत्नपरीक्षा, (४०) धातुवाद, (४१) मणि-राग ज्ञान, (४२) आकर ज्ञान, (४३) वृक्षायुर्वेद योग, (४४) मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध विधि, (४५) शुक-सारिका-प्रलापन, (४६) उत्सादन-संवाहन-कौशल्य, (४७) केश-मार्जन-कौशल, (४८) अक्षर-मुष्टिका-कथन, (४९) म्लेच्छित-विकल्प या विदेशी भाषा का ज्ञान, (५०) देशभाषा-विज्ञान, (५१) पुष्प-शकटिका-निमित्तज्ञान, (५२) निमित्तज्ञान, ग्रहों के आधार पर मुहूर्त-शकुन आदि का ज्ञान, (५३) यन्त्रमातृका, (५४) धारणमातृका, (५५) सम्पाठ्य, (५६) मानसी काव्यक्रिया, (५७) अभिधान कोश, (५८) छन्दज्ञान, (५९) क्रिया-विकल्प, (६०) छलितक योग, (६१) वस्त्रगोपन, (६२) द्यूतविशेष, (६३) अक्षक्रीडा, (६४) बालक्रीडनक, (६५) विनय, (६६) विजयिका ज्ञान, (६७) व्यायामिका ज्ञान।[१]

डा० पी०के० आचार्य ने ६७ कलाएं गिनाई हैं। उनका विचार है कि इस संख्या (६४) में कल्पना का योग है।[२] डा० बुधप्रकाश ने ६४ कलाओं के ही नाम दिये हैं। उनकी तालिका में सं० २ व ६६ नहीं हैं। सं० ४६ व ४७ (उत्सादन संवाहन केशमार्जन) को एक ही मानते हैं।[३] डा० बुधप्रकाश का विचार है कि "इस तालिका की बढ़ी हुयी संख्या से व्यवसायों और कला की वृद्धि परिलक्षित होती है।"[४] इन कलाओं का सम्बन्ध मध्य नागरिक जीवन के विविध पक्षों से है।

---

१. ह०ह०हि०सि०, पृ० १४-१५
हि०आ०ह०अ०, पृ० ५-१७
वराह पुराण में यह तालिका नहीं मिलती है। इसलिए इसका विस्तार से वर्णन करना उपयुक्त नहीं है। इसके लिए उपर्युक्त ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

२. हि०आ०ह०अ०, पृ० ५-१७

३. ह०ह०हि०सि०, पृ० १४-१५

४. वही, पृ० १५

इसमें आश्चर्य ही क्या है कि समृद्ध परिवारों और राजकुल की कुमारियां इन विविध कलाओं में दक्षता प्राप्त करती रही होंगी । साथ ही इन परिवारों की `किंकरी विलासिनी` स्त्रियां भी इन कलाओं में दक्ष होती होंगी, तभी वहां वह दासी आदि का कार्य भी करती थीं ।

उपसंहार

ऊपर के विवरणों में आर्थिक जीवन और संस्थाओं के विवेचन से यही ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण देश समृद्ध था । उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में व्यापार की चौमुखी उन्नति थी । विदेशों में भी वणिक् सम्पत्ति-लाभ के लिए जाते थे । यह अच्छी तरह ज्ञात था कि राष्ट्र की वृद्धि कृषि पर निर्भर करती है । अतः कृषि और इसके साथ साथ पशुपालन तथा विविध उद्योग-धंधे भी प्रचलित थे । निस्संदेह भारतीय समृद्धि के विकास में साहसिक वैश्यों का महत्वपूर्ण योगदान था ।

---0---

अध्याय ६

धर्म

त्रिवेदगम्यं त्रिनवेकमूर्तिं
त्रिशुक्लसंस्थं त्रिहुताशभेदम् ।
त्रितत्वलक्ष्यं त्रियुगं त्रिनेत्रं
नमामि नारायणमप्रमेयम् ॥

- वराह, ३।२७

वराहपुराण - एक धर्म संहिता

डा० विल्सन के अनुसार ` लिंग पुराण की भांति वराह पुराण भी एक धार्मिक `लघुपुस्तक` या ग्रन्थ है जिसमें विष्णु के प्रति कही गयी प्रार्थनाएं और धर्मक्रियापरक विधियों का वर्णन किया गया है । इसके अधिकांश भाग में विविध वैष्णव तीर्थों --- विशेषकर मथुरा माहात्म्य का वर्णन मिलता है ।`[1] डा० विन्टरनिज़ का भी यही विचार है कि वराह पुराण विष्णु-पूजकों के लिए ` पूजा-विधि और प्रार्थनाओं का संक्षिप्त ग्रन्थ है । यद्यपि यह वैष्णव ग्रन्थ है, किन्तु फिर भी शिव और दुर्गा के विषय में भी कुछ उपाख्यान प्राप्त होते हैं ।`[2] डा० हाज़रा के अनुसार भी यह विष्णु उपासकों के लिए विधि और प्रार्थनाओं का एक लघुग्रन्थ है ।[3]

यह वराह संहिता सभी पातकों को नष्ट करने वाली और सभी कामनाओं को सिद्ध करने वाली है ।[4] सर्वज्ञ (परमेश्वर) से यह उत्पन्न हुयी और (सबसे प्रथम), उत्पत्ति के समय ब्रह्मा को ही इसका बोध हुआ । ----इसे वराह संहिता अथवा वाराह शास्त्र कहा गया है जो एक पुण्य ग्रन्थ है । इसका श्रवण करना पुण्य कर्म है ।[5]

---

[1] वि०पु०अं०, प्रिफ़ेस, पृ० ४३-४४

[2] ह०लि०, १-२, पृ० ४६६

[3] पु०रि०हि०रा०क०, पृ० ६९

[4] वराह, ११२।९३-९४

[5] वही, ११२।७५
पुराणों, पुण्य आख्यानों अथवा शास्त्रों का श्रवण करना पुण्य कर्म माना गया है । वराह (२११।७७) के अनुसार श्रवण से महापाप - ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय और गुरुतल्पगमन भी नष्ट हो जाते हैं ।

इस प्रकार वराह पुराण एक धर्म संहिता है ।[१] इसमें समस्त दिव्य गुणों से विभूषित (चतुष्पाद: जातिगुणद्रव्य-क्रियात्मक:) प्रजापालक धर्म,[२] धर्मपथ,[३] धार्मिक कथाएं (धर्मसंहिता-कथा),[४] धर्मवत्सल राजा-[५] धर्मराज और उनके धर्मानुशासन[६] (पापों के नाश में ही लोक कल्याण और धर्म की स्थिति है)[७], धर्मवादकों[८] (धर्मशास्त्रप्रयोजकों) और उनका धर्मसन्चय[९] जिसमें विष्णु, ईश्वर, मनु, कश्यप, बृहस्पति और यम द्वारा प्रतिपादित धर्मों का संग्रह[१०] मिलता है । अत: यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें सभी लोगों की एक ही अभिकांक्षा है - हे विष्णु ! हमारी बुद्धि कभी भी अधर्म में न लगे (अधर्मे च न मे बुद्धिर्भवेद्विष्णो कदाचन)[११] ।

इस धर्म संहिता की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं हैं -

शीलवान-पक्षी

यहां केवल ईश्वर (दृष्टव्य इनके द्वारा रचित धर्म शास्त्र), विष्णु, यम तथा नारद, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य, सुमन्तु आदि ऋषि और राजर्षि आदि धर्म-चिन्तकों का ही उल्लेख और उत्कर्ष नहीं दृष्टिगोचर होता है, प्रत्युत धर्मज्ञ पक्षियों को धर्मोपदेशकों की भांति मनुष्यों को धर्म की ओर उन्मुख करते हुए पाते हैं । इनमें परमोत्कृष्ट स्वरूप शुक देव का है । ये पक्षी रूप में ही

---

१. वराह, १७० । ५६
२. वही, अ० ३२, १० । ४८, २१५ । ३४
३. वही, २१२ । २
४. वही, २१२ । १
५. वही, २१२ । ६
६. वही, २१० । ५०
७. वही, २१० । ४८-४९
८. वही, ११५ । १०
९. वही, १३७ । ११४(२)
१०. वही, १३७ । ११४-११७
११. वही, १३७ । ४०(१)

बंधन-बद्ध (पिंजड़े में) होते हुए भी अज्ञात, परन्तु अभ्यागत, व्यक्ति का आतिथ्य करते हैं और वह अतिथि (गोकर्ण) भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सका।[1]

संतानहीन गोकर्ण ने शुक को पुत्रवत् अपना लिया। जब पोत-भग्न के कारण वह अत्यन्त दुःखी तथा आश्रयहीन था। शुक उड़ा और थोड़ी दूर पर ही एक पर्वत पर उसे विष्णु मन्दिर के पास जटायु-पक्षियों का समूह दिखलायी पड़ा। वे पक्षी भी शुक को सान्त्वना देते हुए कणियों की भाँति उस जहाज के मार्ग-दर्शक बने।[2]

इसके सभी अध्यायों और खंडों का अध्ययन करने के बाद यही ज्ञात होता है कि यदि समाज में धर्मात्मा और शीलवान् व्यक्ति थे, तो इसके प्रतिकूल कुछ दुराचारी व्यक्ति भी थे। परन्तु दुराचारी और पतित पुरुष या नारी को भी सुधारने का प्रयत्न किया जाता था, जैसा कि ब्राह्मण, विधवा, स्त्री और उसके भाई की कथा से सिद्ध होता है। विधवा ब्राह्मणी असाध्वी-वेश्याओं के संसर्ग से वेश्या हो गयी थी। परन्तु पुनः, सुमन्तु ऐसे मुनि थे जिन्होंने उसे और उसके भाई को पुनः पवित्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी।[3] सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधान का यही उद्देश्य था। वराह पुराण ऐसे ३२ अपराधों और उनसे सम्बद्ध प्रायश्चित्तों का उल्लेख करता है जिन्हें प्रत्येक धर्मात्मा और वैष्णव व्यक्ति को करना आवश्यक था।[4]

---

१. वराह, १७०।४८-५०

२. वही, १७१।२८-३१, ३३-३६
रामायण का जटायु तो प्रसिद्ध है, जिसने सीता को छुड़ाने के लिए रावण के साथ युद्ध करते हुए प्राण दे दिए। एलोरा के कैलाश मन्दिर में शिल्पी ने इसी दृश्य को अपनी कला से मूर्त किया है (देखिए चित्र सं०)।

३. वराह, १७६।४८-५८

४. वही, अ० ११७।५-३५, अ० १३० - अ० १३६, अ० १७६

पौराणिक धर्म-समीक्षा

सामान्य जनता को वैदिक तत्वों तथा क्रिया-कलापों का लोक-दृष्टया प्रतिपादन करना पुराण का अपना तात्पर्य था । इस तात्पर्य के अनुकूल, परिवर्तित अवस्थाओं में, नये नये विषयों का भी सन्निवेश कालान्तर में पुराणों में किया गया ।[1] वायु पुराण के अनुसार अठारह पुराणों में बहुत से धर्मों का निरूपण किया गया है । रागी, विरागी, यती, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और संकर-जातियों के धर्म तथा गंगा आदि महान् नदियों (तीर्थों), यज्ञों और व्रतों तथा विविध दान, यम, नियम, योग, सांख्य, भागवत धर्म, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, वैराग्य-मार्ग, विविध उपासनाएं और ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, आर्हत (जैन व बौद्ध), षडदर्शन आदि का वर्णन पुराणों में किया गया है ।[2] किन्तु इतना करने के बाद भी व्यास सन्तुष्ट न थे ।[3] उन्होंने सोचा कि मैं वेद-सम्मत मोक्ष-मार्गों का निरूपण और (वेदान्त) सूत्रों में ब्रह्म-विवेचन कर चुका, किन्तु मुझे अनुभव हो रहा है कि यह ब्रह्माण्ड, माया का बनाया हुआ चित्र ही है । ब्रह्म ही सत्य और परमानन्द है । गोपियों के बीच विचरण करने वाला पीताम्बर-धारी और वेणु-नाद करते हुए मनोहर, श्रीकृष्ण ही वह परम पुरुष है ।[4]

---

१. पु०वि०, पृ० ३६८

२. वायु, २।४२।११(२)-१६

३. वही, २।४२।१७-१८

४. वही, २।४२।१६-२७

इसके बाद भी वे वेदार्थ-निश्चय में असफल रहे । अतः वे एक वन में चले गये जहां एक गुफा में बैठ कर उन्होंने एकाग्र मन से वेदों का स्मरण किया । कुछ काल बाद उनके समक्ष वेद मूर्तिरूप में प्रकट हुए । वेदों के हृदय-कमल प्रदेश में व्यास जी ने भगवान कृष्ण की जन्मस्थली मथुरा को देखा । उनकी भौंहों के बीच काशी, अधरस्थल में मायापुरी, लिंग प्रदेश में कांची, नाभिमण्डल में अवन्ती, कण्ठस्थल में द्वारका एवं प्राणों में प्रयाग को देखा । ------ वेदों के अंगों में ही तीर्थों, यज्ञों और विविध धर्मों को भी देखकर व्यास ने वेदों से पूछा - " क्या उस पर ब्रह्म से भी बढ़ कर कोई अन्य सत्ता है ? " वेदों ने उत्तर दिया - " हम लोगों (वेदों) के मत का प्रतिपादन तुमने पुराणों, इतिहासों और सूत्रों में किया है । ---- उस ब्रह्म से परे कुछ नहीं है ।"[1]

उपर्युक्त विवरण से पुराणों का वेद सम्मत होना एवं कृष्ण को परं ब्रह्म मानना तथा मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका, द्वारावती और प्रयाग (अयोध्या के स्थान पर) का माहात्म्य ज्ञात होता है । यह कृष्ण-भक्ति का ही माहात्म्य है ।

भागवत पुराण के अनुसार महाभारत और ब्रह्मसूत्र के निर्माता व्यास सरस्वती के तट पर अशान्त बैठे थे ।देवर्षि नारद भी वहां आये । उनकी मानसिक स्थिति का अध्ययन करने के बाद नारद व्यास से कहा - " आपने सब कुछ कहा है पर भगवान् के यश का वर्णन नहीं किया । --- जिस प्रकार धर्म, कर्म, अर्थ आदि का वर्णन आपने किया है, वैसी विष्णु की महिमा आपने नहीं गायी है । --- आप विष्णु-चरित्र का वर्णन करें ।"[2] इस प्रकार नारद ने व्यास को रजोगुण और तमोगुण को नष्ट करने वाली भक्ति (भक्ति: ---- रजस्तमोपहा) का माहात्म्य बताया ।[3] व्यास ने भागवत की रचना की

---

१. वायु, २।४२।५८-१०६

२. भागवत, १।४।२७-३३, १।५।१-२२

३. वही, १। अ० ६

सात्त्विक वृत्ति और भक्ति के विकास के लिए की । इस भागवत में उन्होंने परमगुह्य तत्वज्ञान (सत्य धर्म) का निरूपण किया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अठारह पुराणों में विविध प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया गया है । इन धर्मों में सामाजिक धर्मों - वर्णाश्रम धर्म, संस्कार, श्राद्ध आदि - एवं राजधर्मों के अतिरिक्त धार्मिक संप्रदायों - ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, आर्हत - एवं उपासनाधर्म यथा कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग आदि और दार्शनिक सिद्धान्तों (षड्दर्शन) का वर्णन किया गया है । इस प्रकार पुराणों में पंचलक्षणों (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित) के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय विचार और पद्धतियों का समावेश होने लगा । पुराणों में नयी सामग्री का समावेश ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था । इस प्रकार डा० हज़रा के अनुसार पुराणों में वर्णाश्रमधर्म, आचार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, दान, पूजा, व्रत, तीर्थ, प्रतिष्ठा, दीक्षा, उत्सर्ग आदि का समावेश ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य या इसके पूर्व ही प्रारम्भ हुआ ।[१]

प्राचीन भारत में विविध धार्मिक आन्दोलन हुए । इन्हें वैदिक (श्रौत एवं स्मार्त), वेद-विरोधी (बौद्ध एवं जैन मत), अर्ध-वैदिक (वैष्णव, शैवधर्म, ब्रह्मा-उपासना) और अवैदिक (शाक्त) विभिन्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । इनके अतिरिक्त कुछ मिले-जुले लोग भी थे जो मोक्ष के लिए विभिन्न देवी-देवताओं को पूजते थे और वे वर्णाश्रम-धर्म को भी मानते थे । इन्हीं लोगों के बीच पौराणिक धर्म का उदय हुआ ।[२]

डा० हज़रा के अनुसार " गौतम बुद्ध के बहुत पूर्व ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध विद्रोह हुए थे । सुत्तनिपात के महानिद्देस खंड में ६३ अ-ब्राह्मण सम्प्रदायों का उल्लेख है जो बुद्ध के समय विद्यमान थे ।"[३]

---

[१] पु० रि० हि० रा० क०, पृ० ५-६

[२] वही, पृ० १६३

[३] वही, पृ० १६४

" ब्राह्मण धर्म के सबसे बड़े शत्रु जैनधर्म, बौद्ध धर्म और आजीवक धर्म थे । ये अहिंसावादी थे । इन्होंने ब्राह्मणों और वेदों को मान्यता न दी । उन्होंने वर्णभेद को भी न माना । इस प्रकार बौद्धधर्मानुयायी ब्राह्मणधर्म के घोर शत्रु हो गये । ------ अशोक और कनिष्क इसके महान् उन्नायक थे । मौर्यों के बाद शुंगों के राज्यकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ । परन्तु अशोक ने बौद्धधर्म की जो उन्नति की थी, वह न रुकी । प्रारम्भिक आन्ध्र (सातवाहन) शासकों के अभिलेखों से सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म उन्नति पर था । कुषाणों का शासन काल भी बौद्ध धर्म की उन्नति का ही युग था ।"[1]

" पतंजलि कालीन भारत में वैदिक यज्ञों का पुनरुद्धार हुआ, जैसा कि महाभाष्य से ज्ञात होता है और अयोध्या लिपि से भी ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे । यह युग विष्णु-वासुदेव की पूजा के विकास के लिए भी उल्लेखनीय है ।"[2]

परन्तु यह एकांगी चित्र है । " मौर्य युग के प्रारम्भ में त्रयी विद्या (तीन वेद) का महत्व स्थापित हो चुका था । ------ अथर्व वेद की भी प्रसिद्धि हो रही थी । पतंजलि ने अथर्ववेद और इसकी नौ शाखाओं का उल्लेख किया है । समाज की शिक्षा और उपदेश-क्रिया में इतिहास-पुराण जनप्रिय हो गये थे । पुराणों का नव संस्करण तथा स्वरूप-विस्तार गुप्त युग तक होता रहा । (संस्कृत) बौद्ध साहित्य में जातकों, अवदानों और बुद्ध-जीवन-चरित्र यथा सद्धर्म-पुण्डरीक, --- की प्रत्येक पंक्ति, जैसा विंटरनित्ज़ कहते हैं, पुराणों की प्रवृत्ति का स्मरण कराता है । इससे तत्कालीन युग में पुराणों का अस्तित्व सिद्ध होता है । --- कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास-श्रवण और पुराण की शिक्षा के उल्लेख से सिद्ध होता है कि मौर्य-शुंग युग में पुराण प्रचलित थे । ---

---

१. पु०रि०कि०रा०का०, पृ० १६७

२. इ०टा०पा०, पृ० १५५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सातवाहनों और क्षत्रपों के अभिलेखों से स्पष्ट है कि ये शासक प्राचीन सम्राटों की उपलब्धियों का अनुकरण करते थे ।"

" यदि बौद्ध धर्म को कुछ यूनानी और कुषाण सम्राटों का आश्रय मिला, तो ब्राह्मण धर्म को भी शकों का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ । कुषाणों में भी एक शासक अपने को वासुदेव कहता है । बेसनगर अभिलेख से ज्ञात होता है कि तक्षशिला के यवन-दूत हेलिओडोरस पर भागवत धर्म का भी प्रभाव पड़ा था । --- घोसुंडी लेख (२०० ई०पू०) में संकर्षण और वासुदेव के मन्दिर का उल्लेख है । पतंजलि से ज्ञात होता है कि कृष्णलीला का प्रदर्शन प्रेक्षणीय में होता था । --- पतंजलि शिवभागवत का उल्लेख करते हैं । ---- श्रौत सूत्रों और गृह्यसूत्रों में उल्लिखित धार्मिक कृत्य प्रचलित थे । --- यद्यपि कुछ सम्राटों ने बौद्ध धर्म का उन्नयन किया था, परन्तु ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध यह अधिक उन्नति नहीं कर सका । -- शुंगों और कण्व राजाओं ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार विशेष प्रयत्नों से किया था । क्षत्रप शासक ब्राह्मण धर्म के उत्साही समर्थक थे । सातवाहनों ने भी वैदिक यज्ञ किये थे । इन्होंने वेदश्री और यज्ञश्री नाम धारण किये थे । वे `राजर्षि` और `एक ब्राह्मण` थे ।"[१]

शक-सातवाहन युग में उषवदात (ऋषभदत्त) द्वारा देव-ब्राह्मणों को सहस्रों मुद्राओं का दान,[२] सैकड़ों गोदान, सुवर्णदान, ग्रामदान, प्रति वर्ष हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराना तथा तीर्थयात्रा और अभिषेक करना[३] उसका धर्म ही था । महाक्षत्रप रुद्रदामन[४] प्रथम भी गो-ब्राह्मणों और धर्म-कीर्ति की वृद्धि करने में तत्पर था ।

---

१. का०इ०इ०, द्वितीय भाग, पृ० ६५४-६५६
२. नहपान कालीन (शक सं० ४१,४२,४५) नासिक लेख, पं० ५-६
(सं०इ०, सं० ५८)
३. नहपान कालीन नासिक लेख (सं०इ०, सं० ५६), पं० १-३
नहपान का कार्ले गुफालेख, पं० १-३
४. रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ शिलालेख, पं० १५

गौतमीपुत्र शातकर्णी `एकब्राह्मण` था जिसने वर्ण-संकर को रोका था ।[1] डा० हाजरा ने भी स्वीकार किया है कि इन वाक्यों से वैष्णवधर्म की जन-प्रियता और प्रसिद्धि परिलक्षित होती है ।[2]

पुराणों के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि जैनों और बौद्धों द्वारा ब्राह्मणधर्म और समाज पर किये गये प्रहारों का ही यह परिणाम था कि पुराणों में भी उनकी निन्दा की गयी है । इससे स्पष्ट है कि पुराण-लेखक ब्राह्मण धर्म और समाज का पुनरुद्धार कर रहे थे ।

पुराणों का जैन-बौद्ध धर्मों के प्रति रोष-उन्मेष विष्णु पुराण में विशेष रूप से देखने को मिलता है ।[3] यहां इन्हें `नग्न`, दुराचारी और पापी-पाखण्डी कहा गया है ।[4] वायु पुराण में भी इन्हें पतित, त्रयीधर्म-विहीन नग्न, निर्ग्रन्थ, शाक्य और धर्म-विरोधी तथा कुपथ पर चलने वाला कहा गया है ।[5]

इसी प्रकार संस्कृत बौद्ध साहित्य, विशेषकर, अशोकावदान और शार्दूलकर्णावदान (जहां गायत्री की निन्दा की गयी है) से ज्ञात होता है कि बौद्धों में ब्राह्मण-संस्कृति के प्रति विद्वेष और कलह की भावना थी ।[6] इस प्रकार धार्मिक असहिष्णुता चरम सीमा पर पहुंच गयी थी ।

---

१. वासिष्ठीपुत्र पुलुमायी का १९वें वर्ष का नासिक लेख, पं० ६

२. पु० रि० हि० रा० का०, पृ० २००
कु० कौ०, वही, पृ० १९७

३. वही, पृ० २४-२५, विष्णु पु०, तृतीय अंश, अ० १७- अ० १८

४. विष्णु पु०, ३।१८।९९-१०३

५. वायु, २।१६।२४-३३

६. सं० बौ० सा० भा० जी०, पृ० ११५-११६

अत: एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो बिना किसी प्रकार के भेदभाव किये हुए सम्पूर्ण प्रजा का रक्षण कर सकता । यही प्रजा-पालक धर्म ही था जो चारों पादों - जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया से परिपूर्ण था (धर्मश्चतुष्पाद:) ।[1] यही धर्म, वृष भगवान के स्वरूप में, ही परमेश्वर के दक्षिण-अंग से उत्पन्न हुए थे जिनका कर्तव्य प्रजा-पालन था ।[2] इसीलिए यह वृष रूपी धर्म प्रजापति था ।[3] इसी दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या करते हुए डा० अग्रवाल का विचार है -

“ धर्म शब्द का वह ऊंचा अर्थ है जिसके अनुसार धर्म शब्द व्यक्तिगत जीवन के लिए, सामाजिक जीवन धारण करने वाले नियमों के लिए और सारे संसार के नियमों को धारण करने वाले नियमों के लिए प्रयुक्त हुआ । वस्तुत: लोगों को साफ दिखायी पड़ता था कि मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनों की नींव या जड़ में एक ही सत्य पिरोया हुआ है, जिसे उन्होंने धर्म कहा । जीवन के जो नीति-सम्बन्धी नैतिक नियम हैं, वे इसी धर्म शब्द के अन्तर्गत आते हैं । मनु ने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य, संयम अक्रोध आदि गुणों को धर्म के दस लक्षणों में माना है । धर्म शब्द के इस नीतिमूलक उच्च अर्थ की दो परम्पराएं साफ तौर से दिखायी पड़ती हैं । एक तो भगवान बुद्ध ने धर्म शब्द का यह ऊंचा अर्थ प्रचलित किया । अपने जागे हुए चोखे मन की शक्ति से सारे जीवन का विश्लेषण करते हुए भगवान बुद्ध ने यही निश्चय किया कि धम्म या धर्म ही अन्तिम बुनियाद है, जिस पर सृष्टि और मानव-जीवन का ठाठ रुका हुआ है । नीति-सम्बन्धी गुण भी बुद्ध के धर्म शब्द के अन्तर्गत ग्राह्य थे । ‘धम्मं सरणं गच्छामि’ इस तरह की दीक्षा का जब समाज में प्रचार हुआ, तब धम्म शब्द का वही ऊंचा अर्थ इष्ट था । किसी छोटे सम्प्रदाय या मत के लिए धर्म शब्द का प्रयोग बुद्ध या उनके विचारशील शिष्यों को मान्य नहीं था । धर्म शब्द के अर्थ की यह धारा थी, जिसने कितनी ही शताब्दियों तक लोगों को उच्च भावों से प्रेरित किया ।”[4]

---

१. वराह, अ० ३२, पीछे दृष्टव्य, अ० १, राज्योदय
२. वही, ३२।१-४, दृष्टव्य, मनु, ८।१६, विष्णु स्मृति, ८६।१५
३. वही, ३२।२६(१)
४. अ० पं०, पृ० १४७-१४८

अन्य पुराणों और ग्रन्थों की भांति वराह पुराण भी पीड़ा से दुःखी, परन्तु अचेत और अपथ-गामी, व्यक्तियों को नरक का भीषण दृश्य[1] दिखा कर उनको अपथ से सुपथ की ओर ले जाना चाहता है। नरक दुष्कर्म करने वालों को ही मिलता है।[2] शुभ कर्म का फल भी शुभ होता है।[3] कर्मानुसार ही विविध योनियों में प्राणी जन्म लेता है। पक्षि योनि से उठकर कर्मों के आधार पर ही पशुयोनि तथा पशुयोनि से भी उठकर वह मनुष्ययोनि को प्राप्त कर सकता है। मनुष्ययोनि में शूद्रता से उठकर क्रमशः विशत्व और क्षत्रियता को प्राप्त कर सकता है। क्षत्रियत्व से भी ऊपर पुण्य कर्मों द्वारा वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।[4] अस्तु धर्म ही हमें ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। यह प्रेरक-धर्म[5] ही सर्वश्रेष्ठ सनातन विष्णु धर्म[6] कहा गया है।

वराह पुराण के अनुसार धर्म के स्रोत वेद तथा आगम[7] और धर्मशास्त्र थे। धर्मशास्त्र-चिन्तकों - मनु, पराशर, अत्रि, औद्दालक, आपस्तम्ब, बृहस्पति, शुक्र, गौतम, शंख, लिखित, अंगिरा, भृगु, पुलस्त्य, पुलह और यम - में विष्णु श्रेष्ठ

---

१. वराह, अ० १९५-अ० २०१ ; अग्नि पु०, अ० ३७१

२. ~~वही~~, अ० २०२-अ० २०३

वराह

३. वही, अ० २०५-अ० २०७ ; अग्नि पु०, ३७१।२२-२३

४. वराह ~~वही~~, २००।९२(२)-९७,

गरुड़, २, अ० १०-अ० २३

५. ध०शा०इ०, खंड १, पृ० ४, नोट १३

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (पूर्वमीमांसा सूत्र, १.१-२)

६ ~~६. आगे, इसी अध्याय में, इसका विवेचन किया जायगा।~~ अग्नि पु०, अ० ३७४, ३७४।२२-३३

७. वराह, २११।८९

८. वही, १९७।१८-१९

धर्मज्ञ थे ।[1] धर्मकामा-वसुन्धरा विष्णु से ही अपनी अथवा समाज की धर्म-पिपासा शान्त करने के लिए विविध प्रश्न कर रही थी । विष्णु कर्म ('ममकर्म' मम विष्णु के लिए आया है) परायण मनुष्य[2] अपने धर्मपथ पर स्थित स्वधर्म-पालन करते हुए विष्णु-लोक को प्राप्त होते हैं ।[3] यही सनातनधर्म है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

विविध धार्मिक पद्धतियां

वराह पुराण से विभिन्न धार्मिक पद्धतियों, मतों और धार्मिक क्रियाओं का ज्ञान होता है जो उस समय प्रसिद्ध और प्रचलित थीं । निम्नलिखित मत तथा उपासनाएं प्रचलित थीं :-

वैष्णव-धर्म - 'मम भक्ति',[4] भगवद्भक्ति,[5] विष्णु-पूजन[6]

शैवधर्म- शिवपूजन[7] अथवा ईश्वराराधन[8]

शाक्तधर्म- शक्ति-उपासना[9]

सौर-धर्म - आदित्याराधन[10]

गणेश-पूजन[11]

---

[1] वराह, १३४।४५(२) : देवो नारायणस्तत्र सर्वधर्मविदांवर: ।।
वही, १३७।६१ : विष्णुर्धर्मविदां वर: ।

[2] वही, १२१।१२(१) : नरा --- मम कर्म परायणा:

[3] वही, १२१।१६-२१

[4] वही, १६७।२९

[5] वही, २१२।२०

[6] वही, २११।६१

[7] वही, १८६।३४-३५

[8] वही, २११।८६

[9] वही, २७।३२-३८ इत्यादि, अ० ६६

[10] वही, १५७।३६, १७६।३०,४०, २१३।३-४

[11] वही, १८६।३५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्कन्द पूजन[1]
हनुमन्त पूजन[2]
देव पूजा[3]
त्रिमूर्ति[4]
नाग-पूजा[5]
नग्न[6] अर्थात् जैन धर्मावलंबी अर्हत
पाखण्ड[7] एवं नास्तिक[8]
नक्षत्र-ग्रह[9]

यज्ञ[10]

ध्यानयोग[11] - अर्थात् योगस्थ होकर परमेश्वर का ध्यान करना ।

संन्यासयोग[12] - न्यासयोग[13] अथवा संन्यासधर्म ।

कलेवर त्याग[14] - योग, ध्यान और संन्यास के साथ प्राणों का त्याग करना । यह एक प्रकार का तप ही था ।

सत्य, तप, दान एवं व्रतचर्या - विभिन्न देवताओं तथा तिथियों और कार्यों से सम्बन्धित प्रचलित और प्रसिद्ध धर्म था ।

---

१. वराह, अ० ६१
२. वही, १६०।१०-१३
३. वही, ८।३५, १८५।१२-१३, १८६।२२
४. वही, ९०।१-२
५. वही, १६०।६७, अ० ६०
६. वही, १७४।४३
७. वही, ७१।६२, १७४।४४
८. वही, १७४।५०
९. वही, १८६।२२(२)
१०. वही, १४४।११७, १४६।५
११. वही, १४१।६६, १७४।६४, १७५।८
१२. वही, १४२।१३-१४
१३. वही, १४२।५९
१४. वही, ५५।५५, १४०।५३-५४ इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रतिमार्चन[1] - देव-प्रतिमाओं की पूजा
शालग्राम शिला[2] - पाषाणार्चन
तीर्थाभिगमन[3]

'अल्बेरुनी कालीन भारत में वैष्णव धर्म की प्रधानता थी, न कि शैव धर्म की। नारायण ही प्रथम (आदि) देवता हैं। शिव को गौण स्थान प्राप्त था। इस युग के धार्मिक इतिहास में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन है। इसके पहले शिव प्रसिद्ध और प्रमुख देवता थे।'[4] वराह पुराण के अध्ययन से भी विष्णु-नारायण[5] की महिमा सिद्ध होती है। बाउक के जोधपुर अभिलेख का प्रारम्भ विष्णु-वन्दना (ओं नमो विष्णवे)[6] से होता है। जगत का कारण हृषीकेश निर्गुण और सगुण कहा गया है। मिहिर भोज का ग्वालियर शिलालेख भी इसी प्रकार 'ओं नमो विष्णवे' से प्रारम्भ होता है। यहां भी शेषशायी नारायण की वन्दना की गयी है। नरक-नाशक उस प्रभु से प्रार्थना की गयी है कि वह हमारी रक्षा करे।[7] वराह पुराण भी प्रारम्भिक वन्दना में नरकान्तक कृष्ण का स्मरण करता है।[8] प्रतिहार शासक महाराज देवशक्ति 'परम वैष्णव' थे।[9]

---

[1] वराह, १८४।२१
[2] वही, १४४।५५(१) इत्यादि
[3] वही, १७४।५
[4] अल्बे० इ०, सचाउ, प्रिफ़ेस, पृ० ४७
[5] वराह, १६२।२७ : नारायण: सर्वजगत्प्रधान:
[6] सि०लि०इ०, पृ० १५८, बाउक जोधपुर लेख, पं० १
[7] वही, पृ० १६२, मिहिरभोज का ग्वालियर शिला लेख, पं० १
[8] वराह, १।२
[9] सि०लि०इ०, पृ० १६६, मिहिरभोज का वराह ताम्रपत्र लेख, पं० १-२

धर्म (प्रवृत्ति एवं निवृत्ति)

धर्म को दो भागों में विभक्त किया गया है - (१) प्रवृत्ति धर्म और (२) निवृत्ति धर्म ।[1] सनकादि ऋषियों ने निवृत्ति धर्म को अपनाया था तथा मरीचि आदि ऋषियों ने प्रवृत्ति धर्म का विस्तार किया था । प्रवृत्ति का साधारण अर्थ राग है । इसीलिए प्रवृत्ति धर्म से हमारा ज्ञान संसार में वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त करना अभीष्ट होता है । इसी प्रकार निवृत्ति (वृत्ति-हीन) अर्थात् वैराग्य धर्म है जिसके अनुसार संन्यास-तप-योग द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ मोक्ष प्राप्त होता है । सनकादि मुनियों - सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार - ने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ब्रह्म-भावना से युक्त ब्रह्मज्ञानी थे ।[2] वे वैराग्य-धर्म (निवृत्ति धर्म) के अनुयायी थे ।[3] मरीचि आदि ऋषियों ने प्रवृत्ति धर्म को अपनाकर सृष्टि-क्रम को चलाया ।

विष्णु पुराण के अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार का वैदिक कर्म है । इन दोनों प्रकार के कर्मों से उस पुरुषोत्तम का ही यजन किया जाता है । मनुष्य ऋक्, यजुः और सामवेदोक्त प्रवृत्ति मार्ग से यज्ञेश्वर, यज्ञपुरुष का ही यजन करते हैं । निवृत्ति मार्ग से योगी जन भी उन्हीं ज्ञानात्मा पुरुष को ज्ञान योग से पूजते हैं ।[4] इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्तिमार्ग क्रमानुसार कर्म मार्ग अथवा कर्मकाण्ड[5] और ज्ञानमार्ग के परिचायक हैं । प्रवृत्ति मार्ग यज्ञों पर आधारित है ।

---

१. वराह, २।४५
२. विष्णु पु०, ६।७।५०(१)
३. कूर्म, १।७।२०-२१
४. विष्णु पु०, ६।४।४१-४३ : प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।
ताभ्यामुभाभ्यां पुरुषैर्यज्ञमूर्तिः स इज्यते ।।
ऋग्यजुःसामभिर्मार्गैः प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ ।
यज्ञेश्वरो यज्ञपुमान्पुरुषैः पुरुषोत्तमः ।।
ज्ञानात्मा ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्तिः स चेज्यते ।
निवृत्ते योगिभिर्मार्गे विष्णुर्मुक्तिफलप्रदः ।।

५. वराह, ३१।३(१)

वैदिक धर्म और यज्ञ (कर्मकाण्ड)

भारतीय धर्म का मूल वेद ही है । प्रतिपादित विषय की दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं - कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड । संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्म की विवेचना होने के कारण इनका कर्मकाण्ड में अन्तर्भाव है । ज्ञान की विवेचना करने के कारण उपनिषद ज्ञान-काण्ड कहलाते हैं ।[1] ऋग्वेद कालीन धर्म में इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, सविता, रुद्र आदि देवता उपास्य थे । इनमें अग्नि और इन्द्र प्रधान देवता थे । अग्नि की महिमा ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही गायी गयी है । कर्मकाण्ड में अग्नि ही प्रधान देवता थे और वैदिक ऋषि उनके प्रति अत्यन्त सम्मान और श्रद्धा की भावना रखते थे । विभिन्न देवताओं के लिए यज्ञ किये जाते थे । बहुत सी कामनाओं को पूरा करने के लिए यज्ञ होते थे । भगवद्गीता में इस प्रकार के उपासकों की निन्दा की गयी है ।[2] अग्नि पु० भी यज्ञादिक क्रियाओं को हेय (२क) बताकर (यज्ञाद्यं कर्म सन्त्यज्य) योग (ज्ञानयोग) को परमार्थ मानता है (मभ्यसेत) (२ख)

इस प्रकार वैदिक युग में ही यज्ञों के विरुद्ध प्रतिक्रिया[3] हुयी जिसके परिणामस्वरूप आरण्यकों और उपनिषदों ने ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा की । उपनिषद युग में ही याज्ञवल्क्य ने आत्मविद्या और आत्मदर्शन को दृढ़ता के साथ प्रतिपादित किया ।[4]

धार्मिक जीवन के उतार-चढ़ाव

बौद्ध और जैन धर्मों के उदय से भी कर्म-काण्ड को आघात पहुंचा । बौद्ध और जैन धर्मों ने यज्ञों को हेय समझकर उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न किया ।[5] अशोक ने पशु-हिंसामय यज्ञों को हेय समझकर उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न किया ।

---

१. भा० द०, पृ० ५१
२. भगवद्गीता, २।४३
३. भा० द०, पृ० ६६-६७
हि० इ० फि०, भाग १, पृ० २५-२७
वै० द०, पृ० ३०८-३१६
इ० इ० भू०, पृ० ३६०-३६१
४. बृ० आ० उप०, २।४।२-५
५. अशोकीय शिला लेख १, इ० इ० भू०, पृ० ८३

(२क) अग्नि पु०, ३८०/४२, (२ख) वही, ३७४/१६६

परन्तु मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद शुंग-सातवाहन युग में पुनः यज्ञ होने लगे और यह वैदिक-धर्म तथा यज्ञों के पुनरुद्धार का युग था ।[1] इसी युग में भागवत धर्म का भी उत्कर्ष हुआ । कुषाण युग में पुनः बौद्ध धर्म प्रबल हुआ । परन्तु भागवत धर्म भी जनप्रिय बना रहा । भागवत धर्म में वासुदेव - विष्णु को ही यज्ञमूर्ति के रूप में स्वीकार किया गया । गुप्त सम्राटों की स्वर्ण-मुद्राओं पर यज्ञवेदी अंकित है । इस युग में भी अश्वमेध यज्ञ हो रहे थे ।[2] परन्तु गुप्त साम्राज्य के पतनोन्मुख होने पर श्रुतिपथ को आघात लगे ।

वेदोद्धार

हर्षवर्धन के युग में ब्राह्मणधर्म और बौद्ध धर्म में स्पर्धा और संघर्ष चल रहा था । हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर विशेष था, यद्यपि वह ब्राह्मण धर्मावलम्बी था । इसीलिए बुद्ध-पूजा के साथ-साथ आदित्य और ईश्वर देव (शिव) की भी उपासना प्रचलित थी ।[3] वल्लभी के मैत्रकों[4] तथा पालवंशीय[5] राजाओं के शासनकाल में भी बौद्ध धर्म की उन्नति हुयी ।

---

[1] ए० इ० यू०, पृ० ६८
का० हि० इ०, भाग २, पृ० ६५४-६५६

[2] हि० लि० इ०, लेख सं० ३४, ईशानवर्मन् का हड़हालेख, श्लोक ८-९, १२
पार्ग्स, हि० मौ०, पृ० १७५-१७६, त्रिपाठी, हि० का०, पृ० ३७

[3] त्रिपाठी, हि० का०, १५६-१६०, १६५-१६७
युअनच्वांग के विवरणों से भी ज्ञात होता है कि मध्य देश में - वाराणसी (सारनाथ), वैशाली, थानेश्वर, स्थमुल, श्रुघ्न, प्रयाग, मतीपुर, कौशाम्बी, गोविषाण आदि स्थानों या राज्यों में भी बौद्धधर्म उन्नति पर था ।
(दृष्टव्य, वाटर्स युअनच्वांग) ।

[4] ह० हि० सो०, पृ० १६५-१७०, इस युग में भी शैवधर्म और वैष्णव धर्म के साथ साथ बौद्ध धर्म और जैन धर्म की भी उन्नति हुयी ।

[5] मजूमदार, ए० इ०, पृ० २८३

वराह पुराण भी अन्य पुराणों की भांति वेदों[1] और स्मृतियों[2] का महत्व प्रतिपादित करता है। वराह पुराण के प्रारम्भ में ही मूर्तिमती सावित्री (माता --- सर्ववेदानां सावित्री) व्यास को वेदों का दान करती हुयी प्रकट होती हैं।[3] इससे वराह पुराण के युग में पुनः वेदोद्धार का परिचय मिलता है।

इसी राजनैतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का उदय हुआ। कुमारिल भट्ट ने "वेदों के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया। --- उस समय अहिंसा की लहर के विरुद्ध कर्मकाण्ड को भी पुनरुज्जीवित करने का उसने प्रयत्न किया। यज्ञों में पशुहिंसा की भी उसने पुष्टि की।"[4]

यज्ञ और पशु हिंसा

वराह पुराण में वर्णित एक व्याध-चरित्र से ज्ञात होता है कि धार्मिक कृत्यों में पशुहिंसा और मांस का उपयोग होता था। यह व्याध नित्य एक मृग मार कर आतिथ्य, यज्ञ (होम आदि), पितृ-श्राद्ध में भी मांस की बलि देता था। इसे धर्मवित्, धर्मबुद्धि तथा धर्मव्याध कहा गया है।[5] इसका पुत्र सर्वशास्त्र-विशारद था।[6] उसकी पुत्री की सास, अपनी बहू (व्याध-पुत्री) को जीव-घातक की पुत्री कहा करती थी। परन्तु इस धर्मव्याध ने ~~भी~~ यह भी सिद्ध

---

१. वराह, २।७६-८३

२. वही, १८७।६३

३. वही, २।७४-८३

४. ओझा, म० भा० सं०, पृ० २८

५. वराह, ८।२-९, ११, १२

६. वही, ८।१०

कर दिखा दिया कि " जो अन्न (गोधूम एवं व्रीहि) खाते हैं, उसमें भी करोड़ों जीवों की हत्या होती है।[१] वह व्रीहि की भी रक्षा मृग-पक्षियों से करता हुआ अन्न के खाने में भी हिंसा मानता है। वह धर्मव्याध एक मृग मार कर पितृ-श्राद्ध करता था। उसका मत था कि जिस प्रकार मृग मांस खाने में हिंसा है, उसी प्रकार अन्न आदि के खाने में हिंसा होती है। किन्तु यज्ञों (पन्च महायज्ञ) के करने के द्वारा ही वह अन्न भी शुद्ध हो जाता है।[२] यदि वह व्याध जीवघाती था तो अन्य लोग भी (अन्न आदि खाते हुए) लोकहिंसक थे। यज्ञों में उस व्याध ने पंच महायज्ञों पर विशेष बल दिया। ऐसा ही शास्त्र-मत है कि पन्च यज्ञों के किये बिना भोजन करने वाला नरकगामी होता है।[३] इस प्रकार बौद्ध धर्म के अहिंसावाद के विरुद्ध कुमारिल का पूर्वमीमांसा सिद्धान्त प्रचलित हुआ। अतः धर्मव्याध मान रहा था कि विधिपूर्वक की गई हिंसा को अहिंसा ही कहते थे (विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसा प्रकीर्तिता)[४]।

गोमेध[५] आदि विविध यज्ञ,[६] अग्निहोत्रशाला,[७] अग्निहोत्रयज्ञ[८] और श्राद्ध[९] के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि यज्ञ प्रचलित थे। इन यज्ञों में मांस की भी बलि दी जाती थी और यह शास्त्र सम्मत थी।[१०] विभिन्न पशुओं और पक्षियों की बलि दी जाती थी। मृग, छाग, शश, छागल (बकरा) आदि पशु और लावक (बटेर), वार्तिक और कपिंजल (तीतर) आदि पक्षी प्रशस्त माने गये थे।[११]

" इनका प्रयोग करने में कोई अपराध नहीं है। उनका भोजन करना मंगलकारक और सुखद है। इसलिए सिद्धि चाहने वालों को इनका प्रयोग विधान-

---

१. वराह, ८।२०-२९
२. वही, ८।२८-३०
३. गरुड़, १।५०।७३
४. वही, १।२२९।१५(१)
५. वराह, १६।१०-११, ३८(२)
६. वही, १६।२५, ३२-३३
७. वही, ११।७६(१)
८. वही, ११२।५(१), ६(१) : होतव्यान्यग्निहोत्राणि ।
९. वही, अ० १३- अ० १५
१०. वही, ११४।२६ : कानि मांसानि ते चैव पूर्वं शाकाश्च कीदृशाः ।
प्रापाण्यापि कुर्वीत् कर्म शास्त्रानायुतम् ॥
११. वही, ११४।११-१२, १४-१५

पूर्वक यज्ञ करने में करना चाहिए । इससे उन्हें परासिद्धि मिलती है ।[1]

यज्ञों द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था ।[2] यज्ञों को विष्णु से ही प्रतिष्ठित कहा गया है ।[3] निम्नलिखित यज्ञों के नाम और महत्व का उल्लेख मिलता है :-

अश्वमेध,[4] अग्निमित्र,[5] गोमेध,[6] पुंडरीक,[7] वाजपेय[8] एवं सर्वमेध ।[9] इनके केवल नाम ही उल्लिखित मिलते हैं । अश्वमेध[10] और वाजपेय[11] प्रसिद्ध यज्ञ हैं ।

सरमा के वैदिक आख्यान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि महेन्द्र (इन्द्र) ने अपने सामन्तों के साथ हजारों विविध यज्ञों को किया था । इन यज्ञों के करने से उसका बल बढ़ गया था ।[12] मनु स्वायंभुव के पुत्र प्रियव्रत ने भी महान् यज्ञों को किया था और विविध यज्ञों में प्रभूत दक्षिणा दी थी ।[13]

---

[1] वराह, ११४।१६-१८

[2] वही, १२५।३१,३२

[3] वही, ११।१६

[4] वही, १००।१४(१)

[5] वही, १२६।७०

[6] वही, १६।३८, १११।१३

[7] वही, १२६।६०,६१

[8] वही, ९९+ १२६।७६

[9] वही, ९९।७५

[10] ध०शा०इ०, प्रथम भाग, पृ० ४६५-५६७

[11] वही, प्रथम भाग, पृ० ५५७-५५९

[12] वराह, १६।३१-३३

[13] वही, २।५६-५७

परन्तु ये विचार वैष्णव धर्म के अनुकूल नहीं हैं।[1] अतः तान्त्रिक विचारों तथा कुमारिल के प्रभाव के कारण ही यज्ञ में मांस-प्रयोग का अनुमोदन किया गया है।

यज्ञकर्म के लिए शास्त्रीय ज्ञान और विधि का ज्ञान होना परम आवश्यक था। एक ऐसे ब्राह्मण का वृत्तान्त मिलता है जो कर्म-दोष से राक्षसत्व को प्राप्त कर चाण्डाल हो गया था।[2] यह सोमशर्मा नामक ब्राह्मण मुनि (चरकः) था। वह लोभ-मोह के कारण अज्ञ लोगों के लिए यज्ञ करता था। एक बार, दैव योग से, यज्ञ प्रारम्भ हो जाने के बाद उसके समाप्त होने के पहले ही वह मर गया। इसी यज्ञ-दोष से वह राक्षस हो गया। वह सूत्र-मन्त्र परिभ्रष्ट भी था। मन्त्रहीन और स्वरहीन रूप में यज्ञ करवाया था।[3] इससे स्पष्ट है कि यज्ञ-कर्म को सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए दक्ष पुरोहितों की आवश्यकता थी। यज्ञों के अप्रिय होने में भी यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था। पुरोहित-ब्राह्मण के लिए लोभ करना भी महादोष था।

ज्ञानमार्ग

यद्यपि कुमारिल ऐसे महान् विचारकों ने पूर्व मीमांसा का समर्थन किया और उसके प्रचार के लिए अथक प्रयत्न किया, किन्तु अहिंसा-प्रिय समाज में पशु-हिंसा वाली यज्ञों का आदर नहीं किया गया। इसीलिए कुमारिल के बाद शंकराचार्य ने ज्ञान मार्ग को प्रशस्त किया।

शंकर-मत संन्यास, अहिंसा और ज्ञान पर आधारित था। उनके माया-वाद और अद्वैतवाद के कारण जो बौद्धों के विज्ञानवाद से विशेष भिन्न नहीं थे, बौद्ध भी आकर्षित हुए। इसीलिए वे 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहलाते थे।[4]

---

[1] सुविराजा०, वैष्णविज्म, पृ० ११५-११८

[2] वराह, १३६।१८

[3] वही, १३६।१८-८४

[4] म० भा० सं०, पृ० २६

सम्भवत: इस समन्वयात्मक दृष्टि के कारण ही बुद्ध-द्वादशी[1] व्रत भी प्रचलित हो गया ।[2] संक्षेप में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध मत में इस प्रकार समन्वय हो गया कि बुद्ध भी पूज्य और उपास्य बन गये । कुमारिल बौद्ध धर्म का निराकरण करना चाहते थे, किन्तु शंकराचार्य ने अपने `मायावाद` और अद्वैत वेदान्त द्वारा बौद्धों को भी आत्मसात कर लिया । यह `सर्वधर्म` का समन्वित स्वरूप एलोरा के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन गुफा-मन्दिरों या विहारों में देखते हैं । सर मोनियर विलियम्स ने इस समवाय-तत्व को हिन्दूधर्म की एक विशेषता बताया है ।[3] इस दृष्टिकोण से शंकराचार्य महान् आचार्य (धर्मोपदेशक) और सुधारक थे ।[4]

वराह और मायावाद

शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है । वही इस जगत को उत्पन्न करती है । --- वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है ।[5] माया की दो शक्तियां होती हैं - आवरण और विक्षेप । --- आवरण शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है ।[6] वराह भी कहता है कि मेरी माया से मूढ मनुष्य मुझे नहीं देख सकता है (मायया मम मूढात्मा शक्तो द्रष्टुं न मामभूत्) ।[7]

---

१. वराह, अ० ४७
२. वृ० का०, भाग ६, पृ० ३३१-३३२ ; वराह पु०, अ० ४७ (बुद्धद्वादशीव्रत)
३. हिन्दुइज़्म, पृ० ८१-८२, ८५
४. वही, पृ० ८३, १३७
५. भा० द०, पृ० ४२४
६. वही, पृ० ४२५
७. वराह, १४५।६(२)
द्रष्टव्य, वही, १४६।२० : अहो भागवती माया ययाहं मूढमोहित: ।
जानन्नपि समीपं प्राप्तो वैवस्वतालयम् ।।
विष्णु को मायाकरण्ड कहा गया है (विष्णुर्मायाकरण्डक:, वराह, १३७।२७)।

अज्ञान-आवृत सम्पूर्ण लोक मोह के वशीभूत होकर ममत्व और आसक्ति के बन्धन से बंधा हुआ है ।[1] अतः उसका कल्याण यज्ञ अथवा कर्म से न होकर संन्यास योग[2] से ही हो सकता है । यहीं से मनुष्य माया के आवरण को तोड़ कर आत्म-दर्शन की ओर प्रवृत्त होता है (आत्मनात्मानुदर्शनम्)[3] । इस प्रकार संन्यास (पुत्रदारगृहन्त्यक्त्वा मुक्त्वा)[4] और ध्यानयोग[5] से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

वराह पुराण वेदान्त[6] से भी अवगत था । परन्तु वराह पुराण वैष्णव पुराण है,[7] जिस पर रामानुज[8] के विचारों की अत्यधिक छाप लगी है । यही भागवत दर्शन है । भगवान स्वयं कहते हैं -

नाहं दानसहस्रेण नाहं यज्ञशतैरपि ।
तुष्यामि न तु वित्तेन ये नराः स्वल्पचेतसः ।
एकचित्तं समाधाय योग्यं जानाति माधवि ।
नित्यं तुष्यामि तस्याहं पुरुषं बहुतोषकम् ।।[9]

यही भक्ति योग है । इसके अनुसार विष्णु, नारायण अथवा कृष्ण[10] ही परंब्रह्म हैं । उसकी प्राप्ति समाधि-स्थिति में अनन्यभाव से (एकचित्तं समाधाय) चिन्तन करने से ही सम्भव है । स्वयं शिव भी विष्णु से आत्म-बोध की इच्छा प्रकट करते हैं (मां बोधय जगत्पते)[11] ।

---

१. वराह, १४२।५५
२. वही, १४२।५९
३. वही, १२२।९७
४. वही, ११४।५६
५. वही, १७४।६४
६. वही, २६।१३
७. मोनियर विलियम्स, हिन्दुइज्म, पृ० ११८
८. पु० वि०, पृ० ५५८, पुराणम् (१९६२), पृ० ३६०-३८३
९. वराह, ११५।३-४
१०. भागवत, ७।१५।७९
११. वराह, १४६।३८

वैष्णव धर्म एवं भक्ति

वाराह-शास्त्र

वराह पुराण एक वैष्णव पुराण है जिसमें जगत के कारण स्वरूप विष्णु का महत्व, उनके सगुण-स्वरूप अवतारों, विष्णु-भक्ति, दीक्षा-विधि, भागवत-आचार और सोपचार-उपासना का वर्णन किया गया है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण उल्लेख देवकी-पुत्र वासुदेव और उनके शिष्यों द्वारा वासुदेव-धर्म की स्थापना तथा इसका विस्तार है। इस प्रकार, सत्य ही, वराह पुराण भगवच्छास्त्र[1] है जिसका प्रणयन और प्रचार भागवतों के लिए (उक्तं भागवतार्थाय)[2] हुआ था। इसे वराह-प्रणीत और सभी भागवतों का प्रिय शास्त्र कहा गया है।[3] यह वराह-ज्ञान या वाराह-शास्त्र सभी शास्त्रों का नवनीत (सार) है जिसे स्वयं विष्णु ने वराह रूप धारण कर प्रतिपादित किया है।[4] यह सभी प्रकार के भक्तों को संसार (पुनर्जन्म) से मुक्ति देने वाला है। इसीलिए इसे महान् मोक्ष-शास्त्र भी कहा गया है। इसका प्रयोग विष्णु-भक्तों की व्यवस्था के लिए किया गया है। अतः यह, सत्य ही, विष्णु-उपासकों के लिए महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थ है।[5] प्रथित, निक्षेप-उद्धरण (जिसमें प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है) का विवेचन करते हुए भण्डारकर का मत है कि भारत के अधिकांश भाग में वासुदेव-उपासना महत्वपूर्ण धर्म हो गया था, जिसने अग्नि,[6] सविता, सोम और ब्रह्मा आदि की पूजा को प्रभाव-हीन कर दिया था।

---

१. वराह पुराण के अध्यायों के अन्त में 'इति वराह पुराणे भगवच्छास्त्रे' उल्लिखित मिलता है (वराह, अ० ११८-१२०, १२४-१२६, १३० आदि)।

२. वराह, १५०।५८

३. वही, १४८।५,३६ : एतच्छास्त्रं महाभागे प्रयुक्तं लीलया (विधिना) मया।
वराहरूपिणा तेन सर्वभागवतप्रियम् ॥

४. वही, १४८।२०-२७

५. विल्सन, वि०पु० अ०, प्रिफेस, पृ० ४३, विन्टरनित्स, हि०इ०लि०, १-२, पृ. ४६६
कारा, पृ० रि०, हि० रा० क०, १०८६

६. भ०व०म०, भाग ४(वै०शै०), पृ० ४

विष्णु (परमदेव)

वैष्णव धर्म या सम्प्रदाय का मूल विष्णु हैं । वराह पुराण[1] के अनुसार वे विष्णु ही 'परमदेव' (स विष्णुः परमदेवो),[2] परमेश्वर एवं परं ब्रह्म[3] हैं जिनकी कुक्षि में ही रुद्र, इन्द्र आदि देवता, सिद्ध, महर्षि, सप्तलोक आदि स्थित हैं ।[4] यही विष्णु का पुरुष-रूप,[5] विराट रूप अथवा 'विश्व-तनु' स्वरूप था जिसके अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुयी थी ।[6] विष्णु पुराण[7] की भांति वराह पुराण में भी 'ब्रह्मपार'[8] - स्तोत्र (पारं परं विष्णुरपार पारं ---) प्राप्त होता है[9] जिसमें पुरुषोत्तम विष्णु को 'अजन्मा' अक्षर और नित्य ब्रह्म कहा गया है । यहां इस स्तोत्र पर विष्णु पुराण का प्रभाव पड़ा है । इस स्तोत्र में विष्णु को विश्व-तनु, परात्पर, पुराण-पुरुष, हरि, नारायण एवं कृष्ण, कहा गया है ।[10] यह विष्णु की महिमा ही है ।

विष्णु नाम निरुक्ति

विष्णु की नाम-निरुक्ति से भी सभी देवताओं में उनकी वरीयता ही सिद्ध होती है ।[11]

---

१. वराह, ९७।८
२. वही, १।१५
३. वही, ७२।४
४. वही, १।१६-१७
५. ऋग्वेद, १०।७।९०, पुरुष-सूक्त, भगवद्गीता, ११।९-४६,
वराह (९९।१०) भी पौरुष सूक्त का उल्लेख करता है ।
भागवत, २।५।३५ : स एव पुरुषः ---- इत्यादि ।
वही, २।६।१५ : सर्वं पुरुष एवेदं भूतभव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥

विष्णु पु०, १।२।१३-१८
६. वराह, ३।१६
७. विष्णु, पु०, १।१५।५४,५५-५७
८. वराह, ३।९-१०, १९-२०
९. विष्णु, १।१५।५७
१०. वराह, ३।१९-२०
११. वही, ७२।५ : विश प्रवेशने धातुरेतस्य नुप्रत्ययादनु ।
विष्णुर्यः सर्वदेवेषु परमात्मा सनातनः ॥

द्रष्टव्य, विष्णु पु०, ३।१।४५

विष्णु और सविता

यद्यपि पुरुष सूक्त में विष्णु की महिमा का वर्णन किया गया है । किन्तु ऋग्वेद में विष्णु का स्थान इतना महान् न था । उस युग में वे एक अप्रधान, साधारण देवता थे और उनका सम्बन्ध सविता या सूर्य से था ।[१] प्रो० बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि " ऋग्वेद के अनुसार विष्णु सौर देवता हैं अर्थात् सूर्य के ही अन्यतम रूप हैं । विष्णु नाम की निरुक्ति इसी तथ्य की द्योतिका है । यास्क का कथन है कि रश्मियों द्वारा व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों के द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के हेतु सूर्य ' विष्णु ' नाम से अभिहित किये जाते हैं ।"[२] वराह पुराण भी योग और ऐश्वर्य से युक्त विष्णु को आदित्य कहता है (स आदित्यो -- योगैश्वर्य समन्वितः) ।[३] १२ आदित्यों (द्वादशादित्य) के नाम में विष्णु भी एक आदित्य का नाम है ।[४]

विष्णु के अवतार एवं अवतार-प्रयोजन

विष्णु देवों के भी आराध्य परम देव हैं ।[५] अतः वे परमेश्वर एवं परमात्मा हैं, जो देवकार्य सम्पन्न करते हैं । वे एक होकर भी अनेक रूप धारण

---

१. मैकडानेल, वैदिक माइथोलाजी, पृ० ३७ इत्यादि
कीथ, रेलिजन एन्ड फ़िलासफ़ी, पृ० १०८ आदि
हेस्टिंग्स, इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रेलिजन एन्ड एथिक्स, जिल्द २, पृ० ५४०

२. पु०वि०, पृ० ४५६, निरुक्त, १२।१६ : अथ यद् विषितोभवति तद् विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा ।
यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तोभवति, व्याप्नोति वा
रश्मिभिरयं सर्वम्, तदा विष्णुरादित्यो भवति ।।
- दुर्गाचार्य, २।३

३. वराह, ७२।६(२)

४. गरुड़ अ०, पृ० २४५

५. वराह, ५४।२, ५५।३८ : नमः समस्तामरसंपूज्य ।
११३।४६ : सर्वभूतमहात्मायो ---- ।

करते हैं ।[1] कूर्म और अन्य पशु-रूपों (कूर्ममृगत्वमुच्चैस्त्वया कृतं रूपमनेकरूप)[2] को धारण किया है[3] । उन्हें धरास्थिति के लिए भी अवतार लेना पड़ा (धरास्थितिं कर्तुमनेकरूप:) । सृष्टि[4] (सृष्ट्यर्थमेतच्च देव चेष्टितं ---- मूर्तिता) के लिए भी उन्हें अवतरित होना पड़ा । अत:, यह उपयुक्त कथन है कि देवकार्य के लिए ही विष्णु अवतार धारण करते हैं ।[5] भगवान की इन अवतार-मूर्तियों[6] की पूजा होती है और इन अवतार-चरित्रों का पुण्य-पाठ भी[7] होता है । इन अवतारों की संख्या अनिश्चित है (अवतारा ह्यसंख्येया हरे:) । मुख्यत: परमेश्वर के अवतार लेने के उद्देश्य निम्नलिखित थे :-

१. जगत का पालन, देवता आदि[8] (गो, ब्राह्मण, धर्म --) की रक्षा एवं अधर्म का नाश करना तथा

२. दुष्टों का दमन कर धर्म की रक्षा करना था ।

इस प्रकार विष्णु-अवतार का प्रयोजन पृथ्वी का भार उतारना (अन्यायी एवं आततायी शासन- यथा कंस, वेन आदि का अन्त करना)[9] तथा धर्म की व्यवस्था करना एवं असुरों का विनाश करना ही था । वराह पुराण के युग में भी असुरों का प्राबल्य था । मही भार-बोझिल थी ।

---

१. वराह, ७०।१६(२) : कली नारायणो देवो बहुरूपो व्यजायत ।

२. वही, ५५।३६

३. वही, १५।१८

४. वही, ५५।४०, ५५।३५ : सृष्ट्यर्थमेतच्च देव विष्णो ---- ।

५. वही, ७३।४३ : देवकार्यावतारेण मानुषत्वमुपागत: ।

६. वही, ४१।११ : पुष्प मंडलिकां कृत्वा जागरं तत्र कारयेत् ।
प्रादुर्भावादरेक्तत्र वाचयेद्भावयेद्बुध: ।।

७. भागवत, १।३।२६(१),
गरुड़, १।१।३४

८. वही, १।१४५।४०(२)

९. विष्णु पु०, ४।१३।२०, ५।७।६, ५।१९।२५,
मत्स्य, ४७।१२

वराह पुराण भी, ग्रन्थारम्भ के मंगलस्तव में मही-उद्धारक वराह की वन्दना करने के बाद कृष्ण और राघव राम (सो यं कंसासुरारिमुरनरकदशास्यान्तकृत)[1] का स्मरण करता है जिन्होंने दुष्टों और राक्षसों का अन्त कर धर्म की रक्षा की थी । उसी कृष्ण-विष्णु का पुनः आह्वान किया गया है कि वह आदिवराह-रूप धारी कृष्ण विष्णु हमारे[2] शत्रुओं को भगाये (कृष्णोविष्णुः सुरेशो नुदतु मम रिपूनादिदेवो वराहः) । धरणी भगवान् को स्मरण करा रही है कि प्रत्येक कल्प में पृथ्वी का उद्धार किया है -

मत्स्य रूप से नष्ट वेदों को रसातल से निकाला और उन्हें ब्रह्मा को दिया । समुद्र मन्थन के समय कूर्म रूप से मन्दराचल को धारण किया । वराह रूप से रसातल में डूबती हुयी पृथ्वी को समुद्र से एक दांत से ही निकाल लिया । पृथ्वी के भारस्वरूप हिरण्यकशिपु को नरसिंह रूप से मार डाला । जामदग्न्य राम के अवतार द्वारा पृथ्वी को क्षत्रियों से विहीन बना दिया । दाशरथि की दिव्य मूर्ति रामावतार से रावण का अन्त किया । वामन[4] रूप से बलि को प्रबुद्ध किया ।[3]

यहाँ प्रभु के प्रसिद्ध दशावतारों (मत्स्यादि नामानि) में केवल सात नाम - मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, जामदग्न्य राम, राम और वामन - का उल्लेख है । इन नामों में बुद्ध का नाम नहीं है । परन्तु मत्स्यादि दशावतार के नामों में (मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम (जामदग्न्य), राम (दाशरथी), कृष्ण, बुद्ध और कल्की)[5] बुद्ध का नाम सम्मिलित है ।

---

१. वराह, १।२
२. वही, १।२
३. वही, १।४-१०,
विष्णु पु०, ३।१।३६-४४ में भी विष्णु के ७ रूपों- यज्ञ, अजित, सत्य, हरि, मानस, वैकुण्ठ और वामन का उल्लेख है ।
४. वराह, ७।४०
५. वही, ४।२, ११३।२७(२)-२८(१), २११।६६

इसी अध्याय (अ० १) में कुछ आगे चलकर १२ रूपों का उल्लेख है - केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर ।[1] ये बारह मूर्तियां (त्रिनवेकमूर्ति)[2] वर्ष के १२ मासों से सम्बन्धित थीं ।[3] इन बारह नामों में भी बुद्ध का नाम नहीं है ।

अन्य स्थल पर नारायण को आठ रूपों वाला (अष्ट मूर्तयः) - धरा, सलिल, तेज, वायु, आकाश (पांचतत्व) और त्रिमूर्ति - ब्रह्मा, विष्णु और शिव (क्रमशः रजस, सत्व और तम के स्वरूप) कहा गया है ।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि विष्णु-नारायण[5] के अनेक अवतार थे । वराह पुराण के वृत्तान्त में इसे स्पष्ट रूप से समझाया गया है । जब हेतु और प्रहेतु द्वारा पराजित होकर देवता क्षीरशायी हरि के पास गये तो विष्णु ने उन्हें आश्वासन दिया[6] और स्वयं भगवान् ने अपनी माया शक्ति से अपने को एक ही रूप से दश, सौ, सहस्र, लक्ष और कोटि रूपों में परिवर्तित कर दिया ।[7] अतः सत्य ही कहा गया है कि हरि के अवतार असंख्य हैं ।[8] परन्तु वराह पुराण भी मत्स्यादिक स्वरूपों (मत्स्य है आदि में जिसके - मत्स्यादि स्वरूपेण अवतारं

---

१. वराह, १।२५-२८

२. वही, ३।१७

३. वही, ४३।८ : मासनाम्ना तु संयुक्तं प्रादुर्भावाभिधानकम् ।
प्रीयतामिति सर्वत्र विधिरेष प्रकीर्तितः ॥

४. वही, ४।४-७

५. वही, १०।६६(१)

६. वही, १०।५९--६७

७. वही, १०।६८-६९ : तैः सञ्चिन्तितमन्तु देवश्चक्रगदाधरः ।
आद्ययाः सैन्यमाविश्य एक एव महाबलः ।
एकधा दशधात्मानं शतधा च सहस्रधा ।
लक्षधा कोटिधा कृत्वा स्वमूर्त्या च जगत्पतिः ॥

८. भागवत, १।१३।२६, वि० ध०, १।१।३४
भागवत, १।३।५(१) : एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
कू० ना०, १।२।४९ : एवमादीन्यनेकानि यस्य रूपाणि ।
वि० ध०, १।१६०।१९: प्रादुर्भावसहस्राणि --- ।

करोत्यज:)[1] के दस नाम वाली तालिका (दशावतार) सर्वाधिक प्रसिद्ध थी । वराह पुराण के पृथक-पृथक तीन स्थलों पर इसका उल्लेख मिलता है ।[2]

चतुर्मूर्ति-नारायण

नारायण की चार मूर्तियों का भी उल्लेख है (नारायणो देवश्चतुर्मूर्तिश्च) ।[3] परन्तु इनके नामों का उल्लेख नहीं किया गया है । परमेश्वर (नारायण) के चार व्यूहों - वासुदेव, बल (संकर्षण), प्रद्युम्न और अनिरुद्ध[4] - को भी नारायण की चार मूर्तियां कहा गया है । इन मूर्तियों का नाम-क्रम विशेषत: उल्लेखनीय है - संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ।[5] यहां सम्भवत: ज्येष्ठत्व के कारण संकर्षण (या बल) का नाम प्रथम स्थान पर रखा गया है । वैसे प्राय: वासुदेव का नाम प्रथम स्थान पर ही मिलता है ।[6]

अष्ट-मूर्तियां

विभिन्न देवी-देवताओं - अग्नि, अश्विनीकुमारों, गौरी, गणपति, नाग, गुह, आदित्य, चन्द्र, मातृगण, दुर्गा, धनद, विष्णु, धर्म, शम्भु, आदि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए[7] वराह पुराण कहता है कि नारायण में आत्म-भोग की इच्छा जागृत हुयी । इससे उनमें विकार हो गया और उनसे महान् अग्नि उत्पन्न हुयी । इससे वायु की उत्पत्ति हुयी । इसमें भी विकार होने पर इससे आकाश की उत्पत्ति हुयी, फिर इससे जल और इसके बाद पृथ्वी की

---

१. गरुड़, १।१४२।२(२)
२. वराह, ४।२, ११३।२७(२)-२८(१), २११।६६
३. वही, ९८।१४(१)
४. वही, ६६।२७
५. वही, १४८।१४
६. पी० ता० रे०, पृ० ४१
७. वराह, १८।१-५

उत्पत्ति हुयी।[1] यही पांच तत्व हैं जिनसे सृष्टि का विस्तार हुआ।

मूर्तित्रय

मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम (जामदग्न्य), राम (राघव), कृष्ण, बुद्ध और कल्की[2] - की मूर्तियां प्रभु के स्वरूप को देखने के साधन (सोपान) हैं। उनका परम रूप देवताओं को भी दुर्लभ है।[3] इसीलिए उन्होंने, प्रत्यक्षतः, अपने स्वरूप को जगत के रूप में रच डाला। उनकी राजसिक मूर्ति ब्रह्मा सृष्टि करती है। उस सृष्टि की स्थिति-संचालन स्वयं विष्णु अपने सत्व रूप से करते हैं और वह तामसिक रूप में रुद्र होकर उसका संहार करते हैं। ये तीन मूर्तियां और पंचतत्व-मूर्तियां मिलाकर नारायण प्रभु की आठ मूर्तियां हैं (इत्थेताश्चाष्टमूर्तयः)।[4] इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत नारायण से व्याप्त है (अभिव्याप्तमिदं सर्वं जगन्नारायणेनह)।[5]

---

१. वराह, १८।६-१२
वही, ११।११(२), १२(२), १३ :
नमस्ते चापरूपाय नमस्ते जलरूपिणे।
नमस्ते क्षितिरूपाय नमस्ते तेजसात्मने।
नमस्ते वायुरूपाय नमस्ते व्योमरूपिणे॥

२. वराह, ४।२

३. वही, ४।३-४

४. वही, ४।५-७

५. वही, ४।८(१)
गीता, ९।४, १०।३९
गरुड़, १।२।१२ :
सर्वेदं सर्वगं सर्वं सर्वं प्राणिहृदिस्थितम्।

परमात्मा का स्वरूप

सम्पूर्ण जगत को व्याप्त करने वाला ही वासुदेव कहलाता है । उन परमात्मा में ही समस्त प्राणी बसते हैं और वे स्वयं भी सब के आत्म रूप से सभी प्राणियों में विराजमान हैं, इसलिए उन्हें वासुदेव भी कहते हैं ।[१] यही विष्णु भी कहलाते हैं । सभी देवता, मनु, सप्तर्षि आदि विष्णु की ही विभूतियां हैं ।[२] इस प्रकार विष्णु सब में स्थित है और सब कुछ विष्णु में स्थित है (सो यं-सर्वं संस्थः) ।[३] इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व ही उसका स्वरूप है । सभी प्राणियों में विद्यमान (सर्वभूतस्थितं तं सर्वगं हरिं)[४] नारायण - वासुदेव ही परमात्मा, परं ब्रह्म है जिससे यह सम्पूर्ण जगत जन्म लेता है (जन्माद्यस्य यतो भवेत्)[५] ।

इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए वराह पुराण में एक वृत्तान्त है । अश्वशिरा नामक धार्मिक नरेश थे । उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया और ब्राह्मणों को बहुत सा दक्षिणा दिया ।[६] उसी समय महान् योगी कपिल और जैगीषव्य भी उनके यहां आये । राजा ने योगियों का स्वागत करते हुए उनसे पूछा - परमदेव, हरि-नारायण की किस प्रकार पूजा करनी चाहिए (कथमाराधयेद्देवं हरिं नारायणं परम्)[७] ।

---

१. विष्णु पु०, ६।५।८०
२. वही, ३।१।४१-४६
३. वराह, १।२ : सो यं कंसासुरारिर्मुरनरकदशास्यान्तकृत्सर्वसंस्थः ।
कृष्णो विष्णुः सुरेशो नुदतु मम रिपूनादिदेवो वराहः ॥
४. गरुड़, १।१
५. वही, १।१२, भागवत, १।१।१ : जन्माद्यस्य यतो ----- ।
वे० सू०, १।१।२
६. वराह, ४।१३-१६
७. वही, ४।१७

योगियों ने कहा - 'यह नारायण 'गुरु' कौन है (क एका नारायणो गुरुः)? हम दोनों ही प्रत्यक्ष नारायण हैं।'

राजा ने कहा - 'आप सिद्ध-तपस्वी ब्राह्मण हैं। वह शंखचक्रगदाधारी और पीताम्बर पहने हुए तथा गुरुड़ पर विराजमान जनार्दन महादेव हैं। उनके समान कौन हो सकता है?'

राजा की बात सुनकर वे दोनों योगी हंस पड़े और राजा के समक्ष ही कपिल विष्णु हो गये तथा जैगीषव्य गरुड़ बन गये। इस प्रकार वहां गरुड़स्थ नारायण प्रत्यक्ष (प्रकट) हो गये। राजा ने आश्चर्य के साथ दोनों मुनियों से कहा - 'इस प्रकार वह विष्णु नहीं हैं जिसकी नाभि से निकले कमल में ब्रह्मा की उत्पत्ति हुयी है।' उन मुनियों ने पुनः कौतुक किया - 'कपिल तो पद्मनाभ हो गये और जैगीषव्य भी प्रजापति (ब्रह्मा) बन गये। वहीं से रुद्र और भास्कर भी उत्पन्न हुए। राजा ने इसे भी योगियों की माया ही कहा। उसी मध्य राजा को भवन में मत्कुण (खटमल), मशक (मासा, मच्छर), हाथी, सिंह, व्याघ्र, गोमायु (श्रृंगाल), मृग और अन्य पालतू तथा वन्य पशु और कीड़े भर गये। राजभवन में जीव-संघ को देखकर राजा अत्यन्त विस्मित होकर सोचने लगा - 'यह जैगीषव्य और कपिल का ही माहात्म्य है।' हाथ जोड़ कर राजा ने निवेदन किया - 'भगवन्, यह क्या है?'

उन ब्राह्मणों ने कहा - 'आपने पूछा था कि विष्णु का पूजन किस प्रकार होता है (कथं विष्णुरिज्यते) और उनकी प्राप्ति कैसे होती है (प्राप्यते च)। महाराज, हम लोगों ने आपको यही समझाया है (तेनैवं दर्शितं तव)।[१] राजन् ये सभी सर्वज्ञ के गुण दिखाये गये हैं। वही नारायण सर्वज्ञ और इच्छानुसार

---

[१] वराह, ४।९८-३४

रूप धारण करने वाला है ।[1] वह अन्यत्र कहीं अलग स्थित नहीं है । उस पृथक् रूप को मनुष्य नहीं पा सकते और न उससे उनका कोई परमार्थ ही सिद्ध हो सकता है ।[2] जगदीश्वर परमात्मा सभी शरीरों में स्थित है । भक्ति से उसे अपनी देह में ही देखा जा सकता है । वह किसी एक स्थान में सीमित - बंधा हुआ नहीं रहता है ।[3] राजन्, परमात्मा विष्णु का यह स्वरूप आपको इसीलिए सिखाया गया है कि आप में `प्रतीति` (विश्वास और धारणा) जम जाय । इस प्रकार विष्णु सर्वगत और सर्वसंस्थ, परमेश्वर तथा परमात्मा है । कीड़े-मकोड़े और सभी पशु भी विष्णु रूप हैं ।[4]

इस उपाख्यान से विष्णु-पूजा[5] पर प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार की विष्णु-आराधना ही वैष्णवधर्म अथवा भक्ति-योग है । आगे यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि वैष्णवधर्म पर कपिल और जैगीषव्य के विचारों का कहां तक प्रभाव पड़ा है ।

---

[1] वराह, ४।३५ : सर्वज्ञस्य गुणा ह्येते ये राजंस्तव दर्शिताः ।
स च नारायणो देवः सर्वज्ञः कामरूपवान् ।।

[2] वही, ४।३६

[3] वही, ४।३७ : किन्तु सर्वशरीरस्थः परमात्मा जगत्पतिः ।
स्वदेहे दृश्यते भक्त्या नैकस्थानगतस्तु सः ।।

[4] वही, ४।३८-४०

[5] वही, ४।१७(२) : कथमाराधयेद्देवं हरिं नारायणं परम् ।
यह प्रश्न था जिसके उत्तर में ही वृत्तान्त कहा गया है
और इसके उपसंहार में भी कहा गया है ।
वही, ४।३६ : आद्यां पृष्टो त्वया राजन् कथं विष्णुरिहेज्यते ।
प्राप्यते च महाराज तेनैव दर्शितं तव ।।

भागवत धर्म का इतिहास

धर्म के विकास में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों[1] का अस्तित्व रहा है । यदि संहिता युग में मनुष्य ने अपनी धर्माभिव्यक्ति स्तुतियों और मंत्रों द्वारा की, तो आगे चलकर उसे इन मंत्रों के अतिरिक्त यज्ञ तथा वेदी की आवश्यकता पड़ी । परन्तु यज्ञ-साधन जटिल था और इसमें धन-जन की भी आवश्यकता थी । इसीलिए इनके विरुद्ध विद्रोह हुआ ।[2] जब ज्ञान के प्रघोष का चारों ओर शोर हो रहा था, उसी समय कुछ ऐसे विचारों और प्रतीकों[3] का भी प्रचलन हो गया कि जिनसे भक्ति के उदय होने में देर न लगी । श्वेताश्वतर उपनिषद के अन्त में देवता और गुरु के प्रति `परा भक्ति` का उल्लेख[4] महत्वपूर्ण है । डॉ० बनर्जी का विचार है कि इस समय के बाद भक्ति के उल्लेख स्पष्ट

---

१. मुंडक उप०, १।२।१

२. वही, १।२।७-९, १।२।१०, श्रेय (ज्ञान) की अपेक्षा इष्टापूर्त को तुच्छ बताया गया है, क्योंकि इन कर्मों से केवल स्वर्ग प्राप्त होता है । परन्तु पुराणों के अनुसार क्रमश: स्वर्ग और मोक्ष दोनों मिलते हैं । पूर्त धर्म के अन्तर्गत ही देवायतन बनवाना भी आता था । इसका विवरण आगे दिया गया है (दृष्टव्य, पृ० ५०२) ।

३. दृष्टव्य, मुंडक, २।१।३-४, यहाँ `उपासना,` `भावगतेन चेतसा` और `तन्मयो` के पदों तथा उनसे सम्बद्ध क्रियाओं में भक्ति का आभास मिलता है ।
श्वेताश्वतर उप०, १।३ में ध्यानयोग का वर्णन है । मूर्ति को भी देखने के लिए ध्यानयोग की आवश्यकता पड़ी । ध्यानयोग ने ही मूर्ति-कल्पना को साकार रूप दिया ।
वही, १।४ में चक्र का वर्णन है ।

४. वही, ६।२३

रूप से मिलते हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के कई सूत्रों[1] में शब्द-सिद्ध करने में भक्ति के व्युत्पत्ति-जनित भाव का उल्लेख किया है।

डॉ० अग्रवाल के अनुसार पाणिनि के समय धार्मिक अवस्था महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। " वह भक्ति प्रधान दृष्टिकोण था। --- पाणिनि के युग में भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है।[2] " डॉ० अग्रवाल कहते हैं - " भक्ति धर्म का प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नये रूप में समाज के सामने आया। वासुदेव की भक्ति करने वाले वासुदेवक कहलाते थे (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन, ४।३।९८)। इस नये धर्म के देवताओं की एक विशेषता यह भी थी कि मूल देवता या मान्य महापुरुष का स्वरूप अपने साथ परिवार की पंचायत लेकर विकसित हो रहा था। जैसे बौद्ध धर्म में सप्तमानुषी बौद्धों की कल्पना थी, जैन धर्म में पंच मुख्य तीर्थंकरों की कल्पना थी, यक्षों में वीर या मुख्य यक्षों की उपासना थी, वैसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुयी। भागवतों ने इसके दो विकल्प रखे। एक तो कृष्ण के साथ उनके राजसी जीवन के अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी। वासुदेव के भक्त जैसे वासुदेवक कहलाते थे, वैसे ही अर्जुन के भक्त अर्जुनक कहलाते थे। वासुदेव और अर्जुन के इस धार्मिक साहचर्य का ही दूसरा रूप नर-नारायण की सहयुक्त पूजा थी, जिसमें नारायण प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महाभारत के शान्ति पर्व में नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से उसका आरम्भ इसी युग में हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है।[3] " वस्तुतः एक ही शक्ति नर और नारायण इन दो रूपों में अभिव्यक्त होती है (नारायणः नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्)।[4]

---

[1] डे० क्रि० आ०, पृ० ७४-७५

[2] पा० का० भा०, पृ० ३५१

[3] वही, पृ० ३५२-३५३

[4] उद्योग पर्व, ४८

" वासुदेव कृष्ण की परिवार कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक लोक व्यापी एवं स्थायी हुआ । वह चतुर्व्यूह या पंचरात्र-कल्पना थी । उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और संकर्षण इन दोनों का जुड़वां रूप लोक में प्रसिद्ध हुआ । इसे ही व्याकरण के उदाहरणों में वासुदेवसंकर्षणौ कहा गया है (८।१।१५, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ, द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः) । ----- नर-नारायण की भांति संकर्षण और वासुदेव नये भक्ति धर्म का मुख्य सूत्र बन गया ।[1] नागनिका के नानाघाट अभिलेख (ई०पू० प्रथम शताब्दी) में `नमो संकसनं वासुदेवानं`[2] (नमः संकर्षण-वासुदेवाभ्यां), `संकर्षण-वासुदेव को नमस्कार` से यह सिद्ध होता है कि धर्म-इन्द्र, चारलोकपाल, सूर्य-चन्द्र आदि देवताओं की पूजा के साथ साथ इनकी भी मान्यता एवं उपासना प्रचलित थी । इसमें प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के उल्लेख न होने से यह भी ज्ञात होता है, जैसा डा० सरकार भी मानते हैं कि अभी तक चतुर्व्यूह का सिद्धान्त कम से कम इस दशे में जनप्रिय नहीं हुआ था ।[3] घोषुण्डी (राजस्थान में जिला चित्तौड़गढ़ में नगरी के निकटस्थ एक गांव) लेख में वासुदेव-संकर्षण की पूजा का उल्लेख मिलता है ।[4] इसी लेख (प्रथम शताब्दी ई०पू०) में उनकी पूजा के लिए मन्दिर बनवाने का भी उल्लेख है ।[5] प्रो० बनर्जी के अनुसार[6] इस अभिलेख के पूर्व ही वासुदेव का सम्बन्ध नारायण के साथ जुड़ गया था ।

---

१. पा०का०भा०, पृ० ३५३
२. सें०इ०, सं० ८२, पृ० १६३, पं० १
३. वही, नोट ४
४. वही, अभिलेख पं० ३ : कारितो अयं राजा भागवतेन गाजायनेन ----- पाराशरीपुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्भ्यां संकर्षणवासुदेवाभ्यां ----- सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिलाप्राकारो नारायणवाटका । पाराशरीपुत्र सर्वतात भागवत (वासुदेव अर्थात् गाजायन वंशीय राजा पाराशरीपुत्र सर्वतात भागवत (वासुदेव उपासक) सम्राट् थे जिन्होंनेअश्वमेधयज्ञ भी किया था । उन्होंने ही पाषाणवेदिका युक्त पूजा का स्थान (नारायणवाटक) बनवाया था ।
५. क०भा०स०, पृ० १२
६. डे०आ०आ०, पृ० ६-१०

कालान्तर में इसी वासुदेव-संकर्षण के युग्म रूप में प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के जोड़ देने से चतुर्व्यूह का स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ । कुछ समय बाद ही साम्ब (शाम्ब) को मिला देने से पांच वृष्णि-वीरों की स्थिति पूज्य बन गयी । यही मान्यता पंचरात्र धर्म की आधार-शिला बन गयी ।[1]

State Museum Library Lucknow 7225

वासुदेव कृष्ण-भक्ति

ईसा संवत् चलने के बाद मथुरा और उसके आसपास पाये गये अभिलेखों के आधार पर भागवत धर्म का विवेचन करते हुए प्रो० बनर्जी की मान्यता है -कि, ' वासुदेव परम्परायें मथुरा और उसके आस पास के स्थानों को वासुदेव और उनके सम्बन्धियों की पूजा से सम्बद्ध करते हैं । मथुरा के आस पास अन्य धर्म - बौद्ध, जैन, यक्ष और नाग की पूजा - प्रचलित थे । वासुदेव-कृष्ण उपासना ने कम से कम नाग-पूजा को दबा कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया । इस सम्बन्ध में ' मोरा वेल इन्सक्रिप्शन ' अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।[2] मोरा अभिलेख में पंच-वृष्णि-वीरों की प्रतिमाओं का देवगृह में स्थापित करने का उल्लेख है ।[3] इस लेख में इनके नाम नहीं दिए गए हैं । सम्भवत: पांचों वृष्णि-वीर मथुरा मंडल में इतने प्रसिद्ध नहीं हो चुके थे कि अभिलेख में इनके नाम या परिचय देना अनावश्यक समझा गया ।

---

१. पा० का० भा०, पृ० ३५३

२. ऐ० आ० आ०, पृ० १२
ए०इ०, सं० २४, पृ० १९४ और आगे, मथुरा से लगभग ७ मील दूर मोरा नामक गांव में यह अभिलेख मिला था । यह लेख महाक्षत्रप राजुवुल के पुत्र महाक्षत्रप शोडास के राज्यकाल में लिखवाया गया था ।

३. ए०इ० अभिलेख सं० २४, पं० १-२ : महाक्षत्रपस राजुवुला पुत्रस स्वामिस्य महाक्षत्रपस्य शोडासस्य संवत्सरे ---- भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमा: शैलदेवगृहे स्थापिता: ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भद्राश्ववर्ष के राजा भद्राश्व के प्रश्न करने पर कि `यदि आपने कोई आश्चर्य देखा हो या आपको विदित हो तो मुझे बताइये।` अगस्त्य ने उत्तर दिया कि `भगवान् जनार्दन आश्चर्य रूप हैं और उनके आश्चर्यमय कर्म हैं।` पूर्वकाल की बात है कि नारद श्वेतद्वीप को गये थे।[१] वहां उन्होंने शंख-चक्र-कमल धारण किये हुये पुरुषों को देखा। वे आश्चर्य में पड़ गये और सोचने लगे कि क्या यही विष्णु हैं - यही सनातन विष्णु हैं तथा उन पुरुषों को देखकर उन्हें बहुत बड़ी चिन्ता हो गयी कि इनमें कौन से प्रभु विष्णु हैं।[२] इस प्रकार सोचते सोचते उन्हें बहुत बड़ी चिन्ता हो गयी कि वह शंख-चक्र-गदाधर कृष्ण की आराधना किस प्रकार करेंगे। जिस प्रकार उस प्रभु, परं देव, कृष्ण - नारायण को जान सकूं, उस उपाय पर चिन्तन करते हुए उन्हें बहुत समय (वर्षसहस्त्रान्तु) बीत गया।[३] अन्त में ध्यान से ही प्रभु प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष प्रकट हो गये।[४] नारद ने भगवान् से पूछा यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो यह बताइये कि आप किस उपाय से प्राप्त हैं (त्वत्प्राप्तिर्येन तद्ब्रूहि)।[५] इस प्रश्न का उत्तर वैष्णव धर्म की उपासना-पद्धति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

---

१. वराह, ६६।१-३(१)
द्रष्टव्य, महा०, शान्तिपर्व अ० ३३६-अ० ३४६, नारायणीय आख्यान

२. वराह, ६६।३(२)-४ : सोऽपश्यच्छंखचक्राब्जान्पुरुषांश्चित्तमतेजस: ।
अयं विष्णुरयं विष्णुरेष विष्णु: सनातन: ॥
चिन्ताऽभूत्तस्य तान्दृष्ट्वा कोऽस्मिन्विष्णुरिति प्रभु: ॥

३. वही, ६६।५-६ : एवं चिन्तयतस्तस्य चिन्ता कृष्णं प्रति प्रभो
आराधयामि च कथं शंखचक्रगदाधरम् ॥
येन वेद्मि परं देवं कृष्णं नारायणं प्रभुम् ॥
एवं संचिन्त्य दध्यौ स तं देवं परमेश्वरम् ॥
उपर्युक्त उद्धरण में (परं देवं, प्रभुं, नारायणम्) स्पष्टत: कृष्ण-माहात्म्य के सूचक हैं।

४. वही, ६६।७-८

५. वही, ६६।९

देवदेव भगवान् ने उत्तर देते हुए पूजा-के विभिन्न प्रकारों को बताया -

१. वेद-मार्ग - ' पुरुष-सूक्त और संहिताध्ययन द्वारा जो द्विज मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं सदैव सुलभ हूं । '

२. पंचरात्र मार्ग - ' वेदशास्त्र के अभाव में जो मनुष्य मुझे पंचरात्र-मार्ग से पूजते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं । '

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए पंचरात्र-विधि करणीय है । परन्तु शूद्रादिकों[1] (शूद्र और संभवत: स्त्रियों) के लिए पंचरात्र-विधान करणीय न था ।

शूद्रादिकों के लिए भगवत्प्राप्ति के निम्नलिखित उपाय बताये गये हैं -

१. क्षेत्रपदवीगमन - पुण्य क्षेत्रों में जाना अर्थात् वैष्णव तीर्थों की यात्रा करना ।

२. प्रभुनाम जप - भगवान् के नामों का स्मरण, जप या कीर्तन करना ।

इन उपर्युक्त दो मार्गों के अतिरिक्त शूद्र इत्यादिकों के लिए पूजा का अन्य कोई उपाय न था ।[2] ये सभी सात्विक उपाय थे जिन्हें सत्वस्थ मनुष्य सत्युग,

---

[1] वराह, ६६।१०-११ : पौरुषं सूक्तमास्थाय ये यजन्ति द्विजाशु माम् ।
ते मां प्राप्स्यन्ति सततं संहिताध्ययनेन च ।।
अलाभे वेदशास्त्राणां पञ्चरात्रोदितेन हि ।
मार्गेण मां यजन्ते ये ते मां प्राप्स्यन्ति मानवा: ।।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते ।
दृष्टव्य, हि०इ०फि०, भाग ३, पृ० १२

[2] वराह, ६६।१२ : शूद्रादीनान्तु मे क्षेत्रपदवीगमनं हित ।
मन्नाम चिकीर्त्तनेषां नान्यत्पूजादिकं चरेत् ।।
ऊपर ' मे क्षेत्र -- ' के स्थान पर ' मत्क्षेत्राणि ' भी पाठान्तर है । इससे विष्णु-क्षेत्रों की यात्रा करना सिद्ध होता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

त्रेता और द्वापर युगों में करते थे । कलियुग में राजसिक और तामसिक भावों वाले लोग अधिकांश थे । अतः वे प्रभु पराङ्मुख थे ।[1]

वेदमार्ग तथा[2] पान्चरात्र मार्गों के अतिरिक्त भक्ति तथा यज्ञ भी भगवत्-प्राप्ति के साधन थे ।

अन्य स्थल पर बताया गया है कि जनार्दन (विष्णु) अथवा उनके दशावतारों[3] की पूजा दो प्रकार से होती थी -

१. वेदोक्तविधि और २. आगमोक्तविधि ।[4]

पद्मपुराण से ज्ञात होता है कि आगमोक्त मार्ग से कृष्ण का पूजन स्त्री और शूद्र करते हैं । अन्य तीन वर्णों के लोग वेदोक्तमार्ग से भगवान् का पूजन करते हैं । स्त्री और शूद्र नाम (जप या कीर्तन) द्वारा भी प्रभु की आराधना करते हैं । भगवान् पूजन, यजन और व्रत से प्रसन्न नहीं होते हैं । वे केवल भक्तिप्रिय हैं ।[5] पद्मपुराण भक्ति के कई भेद बताता है -

(१) मानसी, (२) वाचिकी और (३) कायिकी[6] तथा
(१) वैदिकी, (२) लौकिकी और (३) आध्यात्मिकी ।

---

[1] वराह, ६६।१५

[2] वही, ६६।१८ : वेदेन पन्चरात्रेण भक्त्या यज्ञेन च द्विज ।
प्राप्यो हं नान्यथा वत्स वर्ष कोटियुतैरपि ॥

[3] वही, २११।६७-७२

[4] वही, २११।८६ : एतज्ज्ञात्वा तु विप्रर्षिभिः पूजनीयो जनार्दनः ।
वेदोक्तविधिना भक्त्या आगमोक्तेन वा सुधीः ॥

[5] पद्म, ४।८४।४८-५०

[6] वही, ४।८५।३-४

मानसी भक्ति - ध्यान-धारणा के साथ बुद्धियोग से वेदों का स्मरण करना मानसी भक्ति है।

वाचिकी भक्ति - अविश्रान्त रूप से वेदमन्त्रों का उच्चारण करना अथवा आरण्यकों का जप करना वाचिकी भक्ति है।

कायिकी भक्ति - व्रतोपवास तथा नियमों द्वारा पञ्चेन्द्रिय-जय कायिकी भक्ति है।[१]

लौकिकी भक्ति - पाद्य, अर्घ्य आदि उपचारों, नृत्य, गीत एवं वादन के साथ जागरण, बलि (भेंटोपहार) तथा अर्चा-पूजन लौकिकी भक्ति कहलाती थी।

वैदिकी भक्ति - ऋग्यजुःसाम (त्रयी) के जप, संहिता-अध्ययन तथा होम तथा दर्श और पूर्णमास आदि यज्ञों का करना ही वैदिकी भक्ति कहलाती है।

आध्यात्मिकी भक्ति - सांख्य-दृष्टि से आत्मदर्शन के साथ-साथ उस परमात्मतत्त्व की उपासना को आध्यात्मिकी भक्ति कहते हैं।[२] योगजा-भक्ति भी आध्यात्मिकी-भक्ति कहलाती है।[३] सांख्याचार्य कपिल ने योग पर आधारित भक्तियोग का प्रतिपादन किया।[४] वराह पुराण में कपिल नामक ब्रह्मर्षि का उल्लेख है जो भगवान् के अनन्य भक्त थे।[५] योगेश्वर-कपिलमुनि साक्षात् विष्णु ही थे।[६] इसी आध्यात्मिक भक्ति-भाव का अनुसरण करने वाले ज्ञानी भागवत कहे गये हैं। वराह पुराण भी पुरुषसूक्त एवं संहिताध्ययन द्वारा विष्णु पूजा[८] अर्थात् वैदिक भक्ति का उल्लेख करता है।

---

१. पद्म, ४।८५।५-७
२. वही, ४।८५।८-१८
३. वही, ४।८५।१६
४. भागवत, ३।२५।३१-४४
५. वराह, १६३।२५-२६
६. वही, ४।१४,२२
७. वही, ११८।१०
८. वही, ६६।१०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यद्यपि वराह पुराण में भक्ति का वर्गीकरण नहीं किया गया है, परन्तु भागवत्कर्म, भागवत्पथ या भागवत्धर्म में उपर्युक्त विविध विधि की उपासनाएं प्रचलित थीं । वराह के अनुसार पंचरात्र विधि ही अधिक प्रचलित थी । नारद से भगवान् ने स्वयं कहा था - " हजारों व्यक्तियों में कोई ऐसा भक्त हो, जो कर्म-फल को त्याग कर अथवा लौकिक कर्मों का अन्त कर पंचरात्र विधि को स्वीकार करे । यह पन्चरात्र उसी के हृदय में स्थिर होकर टिकेगा । किन्तु जो राजसिक और भावों से समावृत हैं, वे मुझसे विमुख रहेंगे ।"[1] इस प्रकार सात्विकगुण-कर्म वाला ही भक्त विशिष्ट प्रिय था ।[2] यही प्रिय भक्त ज्ञानी भागवत था और इस प्रकार शुद्ध पंचरात्र विधि सात्विक भक्ति थी ।

नारद-पन्चरात्र

भगवान् ने नारद को ही प्रसन्न होकर यह पन्चरात्र शास्त्र का ज्ञान दिया ।[3] अन्त में उन्होंने भगवत्प्राप्ति के चार ही उपायों - वेद, पन्चरात्र, भक्ति और यज्ञ - को श्रेयस्कर बताया ।[4] इससे ज्ञात होता है कि नारद मुनि पन्चरात्र शास्त्र के प्रथित आचार्य थे । इस शास्त्र का मूल स्रोत स्वयं परमेश्वर भगवान् थे ।[5]

---

१. वराह, ६६।१३-१५ : एवं मयोक्तं विप्रेन्द्र पुराकल्पे पुरातनम् ।
पन्चरात्रं सहस्राणां यदि कश्चिद्ग्रहीष्यति ।।
कर्मक्षये च मां कश्चिद्यदि भक्तो भविष्यति ।
तस्य चेदं पन्चरात्रं नित्यं हृदि वसिष्यति ।।
इतरे राजसैर्भावैस्तामसैश्च समावृताः ।
भविष्यन्ति [illegible] मच्छासनपराङ्मुखाः ।।

२. वही, ६६।१६ : कृतं त्रेता द्वापरञ्च युगानि त्रीणि नारद ।
सत्वस्था मां गमिष्यन्ति कलौ रजस्तमो धिकाः ।।

३. वही, ६६।१७ : अन्यच्च ते वरं वच्मि शृणु नारद साम्प्रतम् ।
यदिदं पन्चरात्रं शास्त्रं परमदुर्लभम् ।।
तद्भवान्वेत्स्यते सर्वं मत्प्रसादान्न संशयः ।

४. वही, ६६।१८

५. वही, ६६।१९

प्रो० बलदेव उपाध्याय के अनुसार ‘ षाड्गुण्य-योग से ‘ भगवान् ’ है, समस्त भूतवासी होने से वही ‘ वासुदेव ’ है तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण वही परमात्मा है । ----- पञ्चरात्र में परब्रह्म के उभय निर्गुण तथा सगुण भाव स्वीकृत हैं ।’[1]

‘ महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में पहले पहल इस तन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । जब महर्षि नारद को इसके तत्वों की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने --- श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया तथा लौट कर इस देश में उनका प्रथम प्रचार किया । इस प्रकार नारायण ऋषि इसके प्रवर्तक हैं । पांचरात्र ग्रन्थ का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है । छान्दोग्य उपनिषद में एकायन विद्या का नामोल्लेख है । --- यहां भी एकायन का सम्बन्ध नारद से है, जिन्होंने समस्त वेदों के साथ साथ एकायन का भी अध्ययन किया था । नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा का ही दूसरा नाम एकायन शाखा है । जयाख्य संहिता पांचरात्र के प्रचारक शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जायन, औपगायन और कौशिक ऋषि को काण्वशाखानुयायी बतलाती है, पर अभी तक इस शाखा के ग्रन्थों का पता नहीं चलता ।’[2]

भगवच्छास्त्र (पञ्चरात्र) का उदय एवं विस्तार

वराह पुराण में भी नारायण-[3] रूपी वासुदेव का जन्म और उनके धर्म का प्रचार तथा इसके आचार्यों एवं उनमें होने वाले मतभेद का उल्लेख मिलता है ।

---

१. भा०द०, पृ० ५२६

२. वही, पृ० ५२४

३. वराह, १४८।३,४,७२

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यह शास्त्र और धर्म दोनों ही पन्चरात्र[1] विधि पर ही आधारित है । अत: पन्चरात्र शास्त्र ही भगवच्छास्त्र है । डा० श्रेडर के अनुसार पौष्कर, वाराह और ब्राह्म, नामक पांचरात्र संहिताएं सबसे प्राचीन हैं ।[2]

भगवत्धर्म और भगवच्छास्त्र

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बार-बार वराह पुराण में ‘ममकर्म’,[3] ‘मम-मार्ग’,[4] ‘ममव्रत’,[5] ‘ममधर्म’[6] और ‘मम शास्त्र’[7] एवं ‘ममभक्ति’[8] तथा ‘ममदीक्षा’[9] के उल्लेख मिलते हैं । इन सभी पदों का अर्थ, क्रमानुसार, भगवत्कर्म, भगवत्मार्ग, भगवत्व्रत, भगवद्धर्म, भगवच्छास्त्र, भगवद्भक्ति और भगवत्दीक्षा है । भगवत्कर्म या भगवद्धर्म भागवत धर्म ही है जिसका प्रवर्तन स्वयं नारायण भगवान् ने वासुदेव रूप से किया ।

स्वयं नारायण प्रभु का वाक्य है कि "मैं सभी धर्मों का आश्रय हूं - सभी धर्म मुझ पर ही निर्भर हैं । मुझे किसी धर्म के प्रति द्वेष नहीं है । इसी लिए मैं ‘परम प्रभु’ हूं । यह शास्त्र भी सभी भागवतों को प्रिय है ।"[10]

---

१. वराह, १४८।७१
२. ए०आ०रे०लि०ह०, पृ० १८३, नोट १
श्रेडर, इ०पा०अ०स०, ३०
३. वराह, १३८।८७, १३९।१०३, १४८।४४,५१,५५,६०,७७
४. वही, १४७।५३,५४, १४८।३२,४९-५१, १४९।५७,६५
५. वही, १५१।६
६. वही, १४१।११, १४८।३१
७. वही, १४८।३०,३७
८. वही, १४९।४३
९. वही, १४८।४७
१०. वही, १४८।४-५ : अहं नारायणो देव: सर्वधर्मव्यपाश्रय: ।
मात्सर्यं चैव मे नास्ति तेनाहं परम: प्रभु: ।।
एतच्छास्त्रं महाभागे प्रयुक्तं लोक्या मया ।
वराहरूपमादाय सर्वभागवत प्रियम् ।।
इस कथन से धार्मिक क्षेत्र में मात्सर्य का पता चलता है ।
द्रष्टव्य, कूर्म, १।१२।२५८ आदि

वासुदेव

द्वापर युग में मैं देवकी के गर्भ से वसुदेव का पुत्र हुआ । इसीलिए मैं वासुदेव के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[1]

डा० दासगुप्त के अनुसार " उपनिषदों में उल्लिखित वासुदेव ही परं ब्रह्म हैं और वह ही पन्चरात्र के निर्माता भी हैं ।"[2] रामानुज से पहले, प्रसिद्ध चिन्तक, यामुनाचार्य ने वराह, लिंग, और मत्स्य पुराण -- आदि के आधार पर पन्चरात्र का मूल नारायण अथवा वासुदेव से होना सिद्ध किया है । उन्होंने अपने ग्रन्थ पुरुषनिर्णय में भी सिद्ध कर दिखाया है कि उपनिषदों और पुराणों का श्रेष्ठ, परं देव, नारायण या वासुदेव ही है । यामुन के अनुसार भगवान् ने अपने भक्तों के लिए ही पन्चरात्र शास्त्र का निर्माण किया था ।[3] यह सात्वत-संहिता कहलाती है जिसके २५ अध्यायों में नारायण चार व्यूहों की उपासना का वर्णन मिलता है ।[4] ईश्वर संहिता भी अपने आपको वासुदेव विरचित बताती है ।[5]

वराह पुराण के अनुसार नारायण ऋषि अथवा भगवान् ही इस शास्त्र के मूल स्रोत थे । बाद में संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने दीर्घ काल तक भगवत्परायण रहकर भगवत्प्रसाद से ही पृथक् पृथक अपने शास्त्रों का प्रणयन किया ।[6] वराह पुराण कहता है कि यह सत्य है, न कि मिथ्योक्ति । भगवान्

---

१. वराह, १४८।१०
२. हि०इ०फि०, भाग ३, पृ० १६
३. वही, पृ० १६,२१
४. वही, पृ० २१
५. वही, पृ० २१
६. वराह, १४८।१४-१६(१) : संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो ह्यनिरुद्धकः ।
गच्छता बहुकालेन मम भक्तिपरायणाः ॥
ततो दीर्घेणकालेन इच्छापूर्वस्थितेन च ।
यन्तेषां प्रदास्यामि यो यस्य हृदिसंस्थितः ।
ते प्रवक्ष्यन्ति मां देवि शास्त्राणि व्यवस्थिताः ॥
शास्त्राणि प्रतिष्ठेत यथार्थः सुनिश्चितः ।

के प्रसाद से ही कालान्तर में इसका लोक में प्रचार अन्य शिष्यों द्वारा हुआ ।[1] इनमें पांच शिष्य विशेष रूप से उल्लिखित किये गये हैं ।

उपर्युक्त विवरण से सिद्ध होता है कि पृथक्-पृथक् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से सम्बन्धित पन्चरात्र-ग्रन्थ थे जिनके आधार पर इनके धर्म और विचारों का प्रचार हुआ । सम्भवतः इन चारों वृष्णिवीरों के ग्रन्थ पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों पर आधारित थे ।[2] ये मार्ग सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुणों पर आधारित होंगे ।

वासुदेव के पांच शिष्य

वासुदेव के पांच धर्म संयुक्त सुशिष्य थे । वे प्रभु के प्रसाद से बली एवं विचक्षण ऋषि थे । उन्होंने पृथ्वी पर वासुदेव की धर्ममूर्ति स्थापित की[3] और उनके धर्म का प्रचार किया । इन ऋषियों के नाम शाण्डिल्य, जाजलि, कपिल, उपगायक और भृगु थे । वे भावत्पथ का अनुसरण करने वाले थे । वे प्रपन्न-चित्त और आत्मदर्शी मुनि थे जिन्होंने अपने ज्ञानकेप्रभाव से भावज्ज्योति का प्रकाश चारों ओर फैलाया ।[4]

---

१. वराह, १४८।१६(२)-१८

२. ए० आ० ह० रि० लि०, पृ० १८३
हि० इ० फि०, तृतीय भाग, पृ० २१-२२

३. वराह, १४८।११ : पन्च तस्य सुशिष्याश्च भविष्यन्ति विचक्षणाः ।
ऋषयो धर्मयुक्ता मत्प्रसादाद्बलान्विताः ।
ते मां संस्थापयिष्यन्ति धर्ममूर्ति मही गतम् ॥

४. वही, १४८।१२

शाण्डिल्य

ये प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि थे जिनका उल्लेख जयाख्य संहिता में भी पांचरात्र के प्रचारकों में हुआ है।[१] शाण्डिल्य ने पन्चरात्र शास्त्र अथवा एकायन वेद को संकर्षण से सीखा था। डा० दासगुप्त बताते हैं कि " संकर्षण की प्रेरणा से ही एकायन वेद पर आधारित अन्य पन्चरात्र ग्रन्थ लिखे गये। शांडिल्य ने एकायन वेद के सिद्धान्तों को संकर्षण से सीखकर अन्य ऋषियों को इसकी शिक्षा दी।"[२]

जाजलि

यह एक आचार्य थे।[३] यह महातपस्वी,[४] वानप्रस्थविधानज्ञ[५] ऋषि थे। परन्तु उन्हें अहंकार हो गया था। इसीलिए वे काशी गये और वहां तुलाधार नामक वैश्य ने इन्हें सनातन धर्म - समता, अहिंसा, आचार, दान आदि - का उपदेश दिया।[६] परन्तु इससे जाजलि को सन्तोष नहीं हुआ। पुनः तुलाधार ने उन्हें आत्म-यज्ञ द्वारा यज्ञ-पुरुष को ही सन्तुष्ट करने तथा श्रद्धालु होने का उपदेश दिया।[७] वायु पुराण में शौनक आदि ऋषियों के साथ जाजलि का भी उल्लेख है।[८] वराह पुराण के अनुसार ये मावच्छास्त्र के आचार्य थे।

---

१. भा०द०, पृ० ५२४
२. हि०इ०फि०, भाग ३, पृ० २१
३. भा०सं०इ०हि०, पृ० ४९७
४. महा० शान्तिपर्व अ०, २६१
५. वही, २६१।१४
६. वही, अ० २६२
७. वही, अ० २६३-२६४
८. वायु, १।६१।५२
९. वराह १४२|१२(१)

कपिल

प्रसिद्ध ऋषि थे (पीछे इनके विचारों का विवेचन किया जा चुका है) । इन्होंने पन्चरात्र सिद्धान्त वासुदेव से सीखा था । डा० दासगुप्त का कथन है - " सात्वत संहिता से ज्ञात होता है कि सभी ऋषियों के लिए संकर्षण के प्रस्ताव पर नारायण ने पन्चरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया था --- ईश्वर संहिता से ज्ञात होता है कि वासुदेव से एकायन वेद की उत्पत्ति हुयी । --- लोगों को लौकिक जीवन में फंसा देखकर वासुदेव ने कुछ चुने हुए, विशेष शिष्यों - सनकादि ---- और कपिल को ही एकायन वेद की शिक्षा दी ।"[१]

जैगीषव्य, पंचशिख आदि के समान यह भी प्रथित आचार्य थे ।[२]

उपगायक

इनके विषय में उल्लेख नहीं मिलते हैं ।

भृगु

ये प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि थे ।[३] सनकादि मुनियों एवं कणाद, कपिल आदि की भांति भृगु भी परमधर्मवेत्ता थे । कूर्म पुराण के अनुसार बदरिकाश्रम में नारायण-नर के साथ एक ऋषि समाज में इन्हें भी बैठा हुआ पाते हैं ।[४] वराह के अनुसार ये पन्चरात्र के भी आचार्य थे ।

---

[१] हि०इं०फि०, भाग ३, पृ० २१

[२] स्ट०उपपु०, भाग १, पृ० १३०

[३] स्ट०उपपु०, भाग १, पृ० ११३,१२४, नोट ४५, १४० (क्रियायोग से संबंधित है)

[४] कूर्म, २।१।१५-२०

वाराह-ज्ञान (एक पन्चरात्र संहिता)

संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के सुशिष्यों ने सभी शास्त्रों को मथकर जिस नवनीत (अथवा घृत) रूपी शास्त्र का प्रणयन किया, उसे वाराह-ज्ञान की संज्ञा दी गयी है।[1] यह महाज्ञान ही प्रमाण माना गया। यही महाज्ञान एवं परम मोक्षशास्त्र सूक्ष्म रूप से भक्तों में विद्यमान था। स्थूल रूप से यह शास्त्र कर्म पर आधारित था।[2] इस प्रकार यह सभी धर्मों, विशेषकर वेदान्तवादियों का ज्ञान और पूर्व-मीमांसकों के कर्म का समन्वय ही था।

विभिन्न प्रकार के लोगों में विभिन्न प्रकार के ज्ञान एवं कर्म, यथा - ज्ञान, कर्म, इष्ट, दान, योग, अर्चा-विधि (क्रियायोग), सर्वधर्मपालन, सर्व-भक्षण और सर्वविक्रय आदि के अनुसार एकत्रित-व्यवस्थित होकर मुझे देखते हैं (ध्यान में रखते हैं)।[3]

इस प्रकार यह महामोक्षशास्त्र भक्तों की व्यवस्था के लिए प्रयुक्त किया गया।[4] युगप्रभाव से अपनी अपनी रुचि के अनुसार वे इसकी व्याख्या करेंगे।

संक्षिप्त-समीक्षा

ऊपर के निर्देशों से स्पष्ट है कि वराह पुराण एक पन्चरात्रशास्त्र और धर्म का पोषक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें निर्दिष्ट कुछ आचार्यों - जाजलि, भृगु और उपसायक - के ग्रन्थों का भी अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

[1] वराह, १४८।१९-२० : सुशिष्या बाढमित्येवं भविष्यन्ति न संशयः ।
तदेते प्रवदिष्यन्ति सर्वभागवतप्रियम् ॥
यथा मथ्यमानाद्धि दध्नश्चोद्ध्रियते घृतम् ।
एवं सर्वेण शास्त्रेण वाराहं घृतान्वितम् ॥

[2] वही, १४८।२१-२३

[3] वही, १४८।२४-२७

[4] वही, १४८।२८-२९

कृष्ण भक्ति

प्रा० विल्सन की मान्यता है कि "वराह पुराण की संप्रदाय-परम्परा में कृष्ण-उपासना की ओर विशेष झुकाव नहीं है। न तो रथयात्रा का ही उल्लेख है और न व्रतों में जन्माष्टमी का ही निर्देश है।"[1] किन्तु प्रारंभ में ही सर्वसंस्थ (= सर्वभूतस्थ) कृष्ण की वन्दना की गयी है (सो यं कंसासुरारिर्मुरनरक--- अन्तकृत् सर्वसंस्थः कृष्णोविष्णुः ---)।[2] पुनः, प्रारंभ में ही, कृष्ण-रूप की अवतारणा की गयी है तथा हरिं द्वापरतः कलौ च कृष्णीकृतात्मानमथो नमामि।[3] यह द्वापर के विष्णु कृष्ण ही हैं जिन्हें भागवत पुराण में भगवान् देवकीसुत[4] और देवदेवेश योगेश[5] कहा गया है। वराह पुराण भी उनके योगस्वरूप (योगिनां योगमुत्तमम्) की स्तुति करता है।[6] परं ब्रह्म, नारायण, पुरुष-पुरातन ही कार्यवश कृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे - परात्परं पारगतं प्रमेयं युधाम्पतिं कार्यत एव कृष्णम्।[7] यह कृष्ण-वासुदेव ही पंचरात्र मार्ग के प्रवर्तक थे। द्वापर युग में वसुदेव-देवकी पुत्र, वासुदेव अर्थात् कृष्ण के पांच शिष्यों, धर्मात्मा ऋषियों ने वासुदेव-धर्म का प्रचार किया। अन्य शिष्यों ने भी भागवत् धर्म और वाराहशास्त्र का प्रचार किया।[8]

श्वेत द्वीप में देवर्षि नारद सभी को विष्णुमय देखकर चकित हो गये।[9]

---

१. अं० विष्णु पु०, प्रिफ़ेस, पृ० ४४
२. वराह, १।२
३. वही, ३।१८
४. भागवत, ११।६।५०
५. वही, ११।६।४२
६. वराह, १२४।१७(२)
७. वही, ३।२०
८. वही, १४८।१०-२२
९. वही, ६६।२-४

विष्णु को पहचानने में असमर्थ होकर वे कृष्ण का चिन्तन करने लगे और परं देव, प्रभु, कृष्ण को दीर्घकालीन ध्यान योग द्वारा ही प्रत्यक्ष कर सके ।[१] भगवान ने प्रत्यक्ष होकर नारद को पंचरात्र शास्त्र का उपदेश किया ।[२] सभी अवतारों के साथ भी वासुदेव की लीलाओं का स्मरण किया गया है -

> चाणूरकंसासुर दर्पभीतेभींताम्पराणामभयाय देवः ।
> युगे युगे वासुदेवो बभूव कल्पे भवत्यद्भुतरूपकारी ।।[३]

कृष्ण ही, वृन्दावन में पूज्य, ध्येय और स्तुत्य गोविन्द थे, जिनकी १२ श्लोकों में की गयी ब्रह्म-स्तुति[४] ही कृष्ण के माहात्म्य का प्रमाण है । इस तपस्वी राजा ने अध्यात्मयोग से वृन्दावन में परमात्मा गोविन्द में मन लगाकर कलेवर त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया ।[५] इस प्रकार कृष्ण-माहात्म्य स्पष्ट है । न केवल कृष्ण का परं देवत्व एवं ब्रह्मत्व निर्दिष्ट है, प्रत्युत् कृष्णाष्टमी-व्रत[६] का भी वर्णन वराह पुराण में मिलता है ।[७] यहाँ भी कृष्ण (हरि, विष्णु एवं गोविन्द) की विधानपूर्वक अर्चना होती थी ।[८] अतः स्पष्ट है कि प्रो० विल्सन का उपर्युक्त मत निराधार है । स्पष्टतः, कृष्ण-उपासना प्रचलित थी और कृष्ण के इस माहात्म्य से ही कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा और इसके आसपास का क्षेत्र भी पावन बन गया ।

यहाँ गोपवेशधर देव,[९] गोविन्द देव, अथवा गोपीश्वर[१०] की पूजा होती

---

१. वराह, ६६।५-८(१)
२. वही, ६६।९-१९
३. वही, १५।१७
४. वही, ३६।१२-२२
५. वही, ३६।२३
६. वही, ६३।२,७,११
७. वही, अ० ६३
८. वही, ६३।३-४
९. वही, १५७।२२
१०. वही, १५७।२८

थी, जहां गोपियां `कृष्ण-कृष्ण` का मधुर गान करती हुयी गाती-नाचती और गोपीश्वर देव की पूजा करती थीं-[1] गोप्यो गायन्ति नृत्यन्ति कृष्ण कृष्ण इति ब्रुवन् ।[2] वे गाती थीं -

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्[3] ।
श्रवणमंगलं भुवि गृणान्ति ते भूरिदा जना: ।।

पंचरात्रियों ने प्रभु[4] के पांच रूपों - पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन् और अर्चा - की कल्पना की है। वराह पुराण में इन सभी स्वरूपों के महत्व और उनकी आराधना का वर्णन मिलता है।

`पर` प्रभु का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है जिसे परब्रह्म कहा जाता है।[5] इस[6] `कारण` (हेतु) से ही सृष्टि, स्थिति अथवा पालन और प्रलय होता है। इन क्रियाओं के लिए वह अपने उपर्युक्त रूपों को धारण करता है।[8] अन्य भागवत ग्रन्थों[7] की भांति वराह पुराण की भी विभु-शक्ति नारायण ही है-

नारायण: परो चिन्त्य: पराणामपि पूर्वज:[9] ।
ब्रह्मस्वरूपो भगवाननादि: सर्वसम्भव: ।।

इस स्वरूप की वन्दना ब्रह्मपार-स्तोत्रों में की गयी है।[10] `नारायणात्मक-ब्रह्म पर`[11] का जप भी परं निर्वाण की प्राप्ति का साधन है।

---

[1] वराह, १५७।२३-२४
[2] वही, १५७।२३
[3] भागवत, १०।३१।६
[4] रे० आ० आ०, पृ० १५, ओ०डे०थे०, पृ० ४३
[5] द्रष्टव्य, भागवत सम्प्रदाय, पृ० ११६
[6] वेदान्तसूत्र १।१।२, भागवत, १।१।१ : जन्माद्यस्य यतो --- ।
[7] भागवत, ३।८।१०-३३
[8] वराह, १।१७-१८, २१-२२
[9] वही, २।२४ और २।२५
[10] वही, ३।१०, ११-२१, ६।८, १०-१६
[11] वही, ४।११

पहले एकमात्र नारायण ही थे[१] जिससे सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति हुयी।[२] मत्स्यादि रूप भी उसी के स्वरूप हैं।[३] कलियुग[४] में नारायण बहुत रूपों वाले हुए (कलौ नारायणो देवो बहुरूपो व्यजायत्)। वासुदेव कृष्ण न केवल परम आराध्य हैं, प्रत्युत वे ही[५] `नारायण गुरु` हैं। केशव ही परमपूज्य हैं (न हि देवः केशवात्परः)।

नारायण (`पर` स्वरूप)

प्रथमतः उस अव्यक्त ने अपने आप (स्वयं) अपने को `आप` (जल) रूप में उत्पन्न किया। उस (नार) या जल में ही शयन करने वाले नारायण[६] से ब्रह्मा और रुद्र उत्पन्न हुए। उस नारायण की प्रेरणा[७] से ब्रह्मा ने सृष्टि की और इसी सृष्टि में सभी प्राणी नारायणात्मक हैं।[८] नारायण ही `पर` अचिन्त्य, ब्रह्मस्वरूप, अनादि एवं `सर्वसम्भव` स्वरूप है।

वराह पुराण के युग में विष्णु ही वह `पर` रूप था जिसे `विष्णुः पुराणः पुरुषः शिवः`[९] कहा गया है। इन्होंने ही विभिन्न मूर्तियों को विभिन्न युगों में धारण किया।

व्यूहवाद

वासुदेव अपने सहायक अंशों-संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के साथ

---

१. वराह, ६।२
२. वही, अ० ६, ६।२-२०
३. वही, ६।२५
४. वही, १०।१९(२)
५. वही, १७६।३३
६. वही, २।१२-२०
७. वही, २।२२
८. वही, २।२४-२६
९. द्रष्टव्य, पीछे, `विष्णु के अवतार`, तथा
तथा ३।१७-१८

`चतुर्मूर्ति`[1] रूप में[3] पूजे जाते थे,[2] जैसा साहित्य और पुरातत्वपरक साक्ष्यों से भी सिद्ध होता है। पांचरात्रिक लोग इन चतुर्मूर्ति[4] अथवा चतुर्व्यूह की पूजा अष्टाक्षर विधान अथवा द्वादशाक्षर[5] मन्त्र से करते हैं। वराह पुराण में अष्टाक्षर मन्त्र - `ओं नमो नारायणाय` - का ही महत्व प्रारम्भ[6] से अन्त तक मिलता है। `ओं नमो वासुदेवाय` भी[7] अष्टाक्षर मन्त्र है। परन्तु `ओं नमो नारायणाय` मूल-मन्त्र कहा गया है।

सम्भवत:[8] `प्रवीर` उपाधि का प्रयोग (नमोऽस्तु ते लोकनाथ प्रवीराय[9] नमोऽस्तु ते) प्रमुख वृष्णि वीर वासुदेव के लिए ही किया गया है। इन `प्रवीर` को ही `सशक्त` और `सर्वज्ञ` भी कहा गया है जो षड्गुणों (ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य,[10] शक्ति और तेज) से संयुक्त भगवान् थे। ये चारों ही रूप पूज्य एवं स्तुत्य थे।

---

१. वराह, १८।१४(१), ९९।२७
बनर्जी, डे० आ० आ०, पृ० १५
२. महा०, आश्वमेधिक पर्व, अ० ९२, दा० पा०, पृ० ६३-७१
पो० ता० रे०, पृ० २५-३१
३. पीछे इसका विवेचन किया जा चुका है, पृ०
डे० आ० आ०, पृ० १५-१७
४. महा० आश्वमेधिकपर्व, अ० ९२, पृ० ६२४२
५. नम: पुरुषोत्तमाय (वराह, १२०।१३), वराह, ३७।२१,३१, ११४।६१,
११५।८, ११८।८, १२०।७,११, १२३।३१, १२४।४, ४४, १२८।५३,६५,७७
१२९।५, १८१।१८, १८२।४, १८३।१९,२०, १८५।७,११, १८६।९,१३,१९,२१५।८
६. `ओं नमो वासुदेवाय` (वराह, १२३।३२, १८२।८ और १८२।९ के बीच) में ही
`भगवते` जोड़ कर द्वादशाक्षर मन्त्र (वराह, १२०।९) `ओं नमो भगवते वासुदेवाय`
बनता है। `नमो भगवते तेजसे विष्णवे` (१२९।१०) भी मन्त्र है।
७. पद्म, ४।९०।१३, भागवत, ११।२७।४२
८. वराह, १२४।५
९. जैन ग्रन्थ उत्तर पुराण (अ० ७१-अ० ७२) में बलदेव की हीनता और नेमिनाथ
की श्रेष्ठता वर्णन करते हुए भी कृष्ण के पराक्रम का वर्णन कर (७२।२८३-२८५)
उनके वृत्तान्त का वर्णन करता है। परन्तु यहां भी उन्हें प्रवीर कहा गया है।
उत्तर पुराण, ७२।२८३ :
हरिर्वा कंसं च कंसमिव वाजनिरन्वमेत्सीत् ।
चाणूरमेनमिव यो हतवान्, तेजस्विनां अभिभवन्तु न को प्रगल्भ: ।।
मृत्युर्यथाहृत् शिशुं शिशुपालभाजौ,
१०. भागवत, ११।५।२७-२९

विभव (अवतारवाद)

अधर्म के नाश और धर्म की संस्थापना के लिए ही भगवान् संसार में अवतरित होते हैं ।[1] अर्थात् ऊपर वैकुण्ठ लोक से मनुष्य लोक में आते हैं और कार्य समाप्ति के बाद पुनः अपने लोक में चले जाते हैं ।[2] जैसा ऊपर कहा गया है कि भगवान् विष्णु के दशावतार - मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, (जामदग्न्य) राम, (दाशरथि) राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि[3] प्रसिद्ध थे । अन्य स्थल पर कृष्ण बुद्ध-इन के स्थान पर वासुदेव का नाम है ।[4] एक अन्य स्थल पर इन दशावतारों[5] में बल (राम) और कृष्ण[6] का भी उल्लेख है । दशावतार की सभी सूचियों में बुद्ध का नाम सम्मिलित है ।

इन सभी अवतारों की पूजा होती थी ।[7] दशावतारों की पूजा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मत्स्य-मूर्ति का निर्माण कर उसे पंचामृत से स्नान कराकर कुंकुम से लेप करें और पीतवस्त्र (पीताम्बर) तथा उपानह (खड़ाऊं) पहनाकर छत्र लगायें । फिर भक्त को चाहिए कि वह उनकी कमलों से पूजा करे । इसी प्रकार मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, (परशु) राम, (राघव) राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि नामक दश अवतार-मूर्तियों की भक्ति के साथ पूजा करें अर्थात् इन देव-स्वरूपों को पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य एवं विविध अलंकारों से सुशोभित कर सम्यक रीति से पूजें । रात्रि में देवदेव का उत्थापन करें । प्रभात होते ही स्नान कर भक्ति से केशव की पुष्पधूप आदि तथा विविध फलों के नैवेद्य से पूजा करें ।[8]

---

१. गीता, ४।६-८, भागवत, ११।४।३-२२
२. भागवत, ११।६।२१, २६-२७, २८-३१
३. वराह, ४।२, २१३।२७(२)-२८(१)
४. वही, १५।९-१८
५. वही, ४८।१७-२२
६. वही, ४८।२१(२) : बलकृष्णौ यजेद्धीमान् पुत्रकामो न संशयः ।
७. वही, २११।६७(१) : एवं दशावतारांश्च पूजयेद्भक्तिसंयुतः ।
८. वही, २११।६४-७१

यही कर्मपथ है जिसे भक्तियोग भी कहा गया है । डा० बनर्जी का मत है कि व्यूह-विभव सम्बन्धी पांचरात्र-मत ने ही इस भागवती उपासना अथवा भागवत धर्म को वैष्णव धर्म में परिणत कर दिया और यह कार्य गुप्त युग में सम्पन्न हुआ । यद्यपि अवतारवाद की कल्पना व्यूहवाद से प्राचीन एवं सरल थी, परन्तु यह सत्य है कि दोनों ही उपासना-पद्धतियां गुप्तोत्तर काल और मध्य युगों में साथ साथ प्रचलित रहीं ।[1]

उपचार-पूजा (क्रियायोग) एवं भक्ति

इनकी (दशावतार) पूजा के लिए पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि[2] उपचारों द्वारा होती थी । इन उपचारों की भी विधि है (उपचारेण अर्चयित्वा यथाविधि) ।[3] भगवान् को विधिपूर्वक मन्त्रसहित स्नान कराकर मन्त्रयुक्त (मन्त्र का पाठ करते हुए) गन्ध, माल्य, पुष्पान्जलि देते हुए पूजा करना और तत्पश्चात् विधानपूर्वक धूप देकर वस्त्र से भगवान् को विभूषित करते हुए पुनः पुष्प और आसन देकर तथा फिर प्रापणक कर मुख-प्रक्षालन कराकर स्तुति करना धर्म है ।[4]

इन उपचारों का सम्बन्ध भगवान् की प्रतिमा-पूजा से है ।[5] इसे ही क्रियायोग-पथ कहते हैं ।[6] इस पूजा के करने से ही निष्काम भक्तियोग की प्राप्ति होती है और अन्त में भक्त भगवान् को भी पा लेता है ।[7] वराह पुराण भी प्रतिमा, द्रव्य, इसके स्वरूप एवं प्रतिष्ठाविधि के बाद गन्ध, चन्दन, माल्य आदि संस्कारों द्वारा प्रतिमार्चन का वर्णन करता है ।[8] वराह पुराण भी गीता के समान

---

[1] ए०आ०आ०, पृ० १८

[2] वराह, २११।६७(२)-६६

[3] वही, ११४।२८(१), अ० ११४, अ० ११५

[4] वही, ११८।२६-४३ इत्यादि

[5] भागवत, ११।२७।६-४८

[6] वही, ११।२७।१,४६

[7] वही, ११।२७।५३-५४

[8] वही, अ० १८१-अ० १८५

ही भक्तियोग का वर्णन करता है जिसके अनुसार योग-युक्त होकर, शीतोष्ण, लाभालाभ, मीठा-कड़ुआ आदि का विचार किये बिना भगवत्पथ पर स्थित कर्म करता रहे ।[1]

भगवन्नाम-स्मरण, कीर्तन, दर्शन, स्पर्श,[2] उपवास[3] एवं जागरण[4] का विशेष महत्व था ।

व्रतों के साथ साथ स्तुति, नाम, गायन, वादन और नृत्य[5] द्वारा भी भगवान् को प्रसन्न किया जाता था । प्रारम्भ से अन्त तक वराह पुराण में सुमधुर और भावपूर्ण स्तोत्र प्राप्त होते हैं ।

विष्णु-प्रिय ऋतुओं, मासों, तिथियों एवं दिनों पर व्रत तथा जागरण किये जाते थे[6] यथा आज भी प्रचलित हैं । कार्तिक मास का माहात्म्य विश्वर्मन् के गंगाधर शिलालेख (लगभग ४२५ ई०)[7] में भी प्राप्त होता है ।

न्यास

अन्य वैष्णव ग्रन्थों की भांति वराह पुराण अपने शरीर में ही भगवान् को देखने या पाने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है ।[8] अतः शरीर में ही देवताओं को ठीक से स्थिर करना या धारण करना या `न्यास` भी पूजा का एक विधान था ।[9] वराह पुराण भी हरि के विभिन्न नाम-रूपों को शरीर के

---

[1] वराह०, ११५।३५-४१
[2] वराह, २११।८८
[3] वही, १८६।७
[4] वही, ४४।७ आदि, १३६।६१-१०१
[5] वही, अ० १३८
[6] वही, अ० १४८
[7] का०इ०इ०, भाग ३, अभिलेख सं० १७, पं० २१, वि०ध०, १।२४६।८-११
[8] वराह, ५।४५(२) : अभेदेन स्वदेहे तु पश्य आराधन् प्रभुम् ।
[9] भागवत, ११।२७।२३-२४

विभिन्न अंगों में धारण करते हुए भगवान् विष्णु के १२ नामों का स्तवन करता है - केशव चरणों में, नारायण जंघाओं में, माधव कटि में, गोविन्द गुह्यांग में, विष्णु नाभि में, मधुसूदन उदर में, त्रिविक्रम उर में, वामन हृदय में, श्रीधर कण्ठ में, हृषीकेश मुख में, पद्मनाभ नेत्रों में तथा दामोदर शिर में स्थित रह कर विभिन्न अंगों की रक्षा करें ।[१] इस प्रकार भक्त निर्भय रहता है । पूजा के समय अंग-न्यास किया जाता था ।[२]

रामभक्ति

नमामि रामं नरनाथमच्युतं (वराह, १२।५)

भारत के धार्मिक इतिहास में कृष्ण के साथ साथ राम और उनकी उपासना भी प्रचलित हुयी । वराह पुराण में भी दशावतार-सूचियों में दाशरथी राम का उल्लेख मिलता है । ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगलाचरण में ही `दशास्यान्तकृत`[३] राम का स्मरण किया गया है । `क्षात्रतेज` के ही स्वरूप में उन्होंने रावण का वध किया था ।[४]

परब्रह्म रूप में राम की स्तुति मिलती है ।[५] गीता के विराट पुरुष की भांति ही राम-वन्दना भी है -

> त्वया ततं विश्वमिदं समस्तं
> सनातनस्त्वं पुरुषो मतोमे ।
> समस्त विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
> सहस्रबाहो जय देवदेव [६]
> नमोऽस्तु रामायमहानुभाव ।।

---

१. वराह, १।२५-२८
२. श०क०, भाग २, ६३५
३. वराह, १।२
४. वही, १।१०(१)
५. वही, १२।५-१३ तुलना कीजिये, गीता, ११/१२, २१, ३२, ४६.
६. वही, १२।१३

इससे राम-सम्प्रदाय का अस्तित्व सिद्ध होता है जिसके अनुसार रामोपासना होती थी ।[1] भगवान् (आद्यपुरुष) ने अपने आप चार भेदों - राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न - में विभक्त कर लिया था ।[2] इस प्रकार विष्णु का स्वरूप राम आदि चार रूपों में (चतुर्धा सो व्ययो विष्णु:)[3] पूज्य था । राम की पूजा क्रूर शत्रु के नाश के लिए करना चाहिए (क्रूरशत्रु विनाशाय यजेद्दाशरथिं बुध:) ।[4]

राघव (राम) - विष्णु के पावन स्थल, चित्रकूट गिरि, में महापुण्य राम स्तोत्र का पाठ किया गया है ।[5]

रामभक्ति से प्रसन्न होकर सीता ने लंका की त्रिजटा नाम की राक्षसी को वरदान दिया था ।[6] राम के दर्शन मात्र से अहल्या निष्पाप हो गयी थी ।[7] इससे सिद्ध होता है कि इस युग में रामभक्ति प्रचलित थी ।

वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय सम्भवत: अपनी अग्रमहिषी प्रभावती गुप्ता के प्रभाव के कारण विष्णुभक्त बन गया था । अत्यन्त भगवद्भक्ता प्रभावती गुप्ता रामभक्त थी । वह अपनी राजधानी नन्दिवर्धन से केवल तीन मील की दूरी पर स्थित रामगिरि पर भगवान रामचन्द्र के दर्शन के लिए जाया करती थी । उस सम्य रामगिरि पर भगवान् राम के उत्तुंग देवालयों का निर्माण हुआ होगा । उनमें भगवान् रामचन्द्र की पादुकाओं की पूजा होती थी । कालिदास ने भी इन रघुपति-पदों का उल्लेख मेघदूत में किया है । प्रभावती गुप्ता के दोनों ताम्रपट्ट लेख, उसने

---

[1] वराह, ४५।२(१)

[2] वही, १५।१६, विष्णु पु०, ४।४।८७

[3] वराह, ४५।८(१)

[4] वही, ४८।२१(१)

[5] वही, १२।२,४

[6] वही, १८०।६३

[7] विष्णु पु०, ४।४।६१

कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन उपवास करके द्वादशी को पारण के अवसर पर रामगिरि पर दिये थे । उनमें से एक में रामगिरिस्वामी के अर्थात् भगवान् रामचन्द्र के पादमूलों का स्पष्ट उल्लेख है ।"[1]

डा० मीराशी के अनुसार "अनुमान है कि श्री रामचन्द्र का एक और उत्तुंग देवालय वर्धा के निकट पवनार में धाम नदी के तट पर ठीक उस स्थान पर था जहां इस समय श्री विनोबा जी का आश्रम है । उसे रामायण के विविध प्रसंगों की निर्देशक मूर्तियों से अलंकृत किया गया था । उनमें से कतिपय मूर्तियां कुछ वर्ष पूर्व प्राप्त हुयी थीं । देवगढ़ के गुप्तकालीन देवालय की भांति ये मूर्तियां भी सम्भवत: श्री रामचन्द्र के देवल की दीवारों में बैठायी गयी थीं ।"[2]

वराहमिहिर ने भी राम की मूर्ति का उल्लेख किया है ।[3] राम के हाथों से मृत्यु प्राप्त कर शम्बूक ने भी सुगति ही प्राप्त की । शम्बूक ने राम को प्रणाम कर कहा-[4] "स्वामिन् ! युष्मत्प्रसादादेवेष महिमा । किमत्र तपसा ? अथवा महदुपकृतं तपसा । अर्थात् हे स्वामी ! आपके प्रसाद से ही मुझे यह महिमा प्राप्त हुई है -

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने लोकनाथ: शरण्यो ।"[5]

शम्बूक को शरण्य लोकनाथ घर पर ही बैठे (सहज ही) प्राप्त हो गये थे । इस प्रकार स्पष्ट है कि गुप्त-वाकाटक युग से लेकर भवभूति और यशोवर्मन् के युग तक रामभक्ति प्रचलित हो गयी थी । कालान्तर में भी रामभक्ति का विकास होता रहा ।

---

१. वा० रा० इ० आ०, पृ० ७३, क्ला० एज, पृ० ४९७

२. वा० रा० इ० आ०, पृ० ७३-७४

३. बृ० सं०, ५८।३०(१)

४. उ० रा० च०, अंक २।११ : शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते ।
सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति ।।

वही, २।१२

५. वही, २।१३

हनुमन्त

राम-भक्ति के साथ-साथ मथुरा में हनुमन्त की पूजा का भी उल्लेख मिलता है। यहां इन्हें गणेश्वर (हनुमन्तं गणेश्वरं) कहा गया है।[1] कुछ चन्देल सिक्कों पर हनुमान् की मूर्ति प्राप्त होती है। खजुराहो में हनुमान् की मूर्ति भी प्राप्त होती है।[2]

---

[1] वराह, १६०।७०, १३(१)

[2] अ०क०स०, पृ० १६३

नवधाभक्ति

भक्ति के नव प्रकार - (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन हैं।[1] वराह पुराण में इनका वर्णन एक सथा नहीं प्राप्त होता है। परन्तु इनका महत्व और विभिन्न स्थलों पर इनका उल्लेख मिलता है। कहा गया[2] है कि स्मरण, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श से चाण्डाल भी पवित्र हो जाता है।

श्रवण - श्रवण का महत्व अत्यधिक माना गया है और भगवत्कथा, लीला और उनके गुणकर्मों का श्रवण करना पुण्यकर्म ही था। देश के विभिन्न स्थानों यथा- उज्जयिनी[3] तथा प्रतिष्ठान[4] के विष्णुमंदिरों में पुण्य-आख्यानों का पाठ होता था और श्रोता श्रवण करते थे। श्रवण से ही लोगों का कल्याण होता था। एकादशी माहात्म्य का वर्णन करते हुए वराह पुराण स्पष्ट कहता है कि श्रवण से सम्पूर्ण पाप नष्ट होते हैं।[5] बुद्धिमान्, निर्धन मनुष्य दर्शन, स्पर्श और श्रवण से ही विकल्मष होकर स्वर्ग को जाता है।[6] भागवत में श्रवण का महत्व बताते हुए कहा गया है कि श्रवण-मार्ग से ही भगवान् हमारे हृदय में प्रवेश कर उसे निर्मल और शान्त बनाते हैं जिससे भावसरोरुह के प्रफुल्ल होने पर ही परमानन्द की प्राप्ति होती है।[7] भगवान् से इतनी प्रीति हो जाती है कि मनुष्य भगवत्पादों को छोड़ता ही नहीं है। वराह पुराण के अनुसार व्याध और व्याघ्र ने भी नारायण-मन्त्र (नमो नारायण)

---

१. पु०वि०, पृ० ४३८, भागवत, ७।५।२३,२४

२. वराह, २११।८८

३. वही, १६७।२५-२६

४. वही, १६५।३३-३७

५. वही, २११।७७ : ब्रह्मघ्नश्च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः
पापान्येतानि सर्वाणि श्रवणेनैव नाशयेत् ।।

६. वही, २११।७८

७. भागवत, २।८।४-६

के श्रवण[1] से ही शुद्ध होकर सुगति प्राप्त की ।

कीर्तन - कीर्तन का महत्त्व बताते हुए वराह पुराण कहता है कि 'नारायण, अच्युत, अनन्त और वासुदेव,' इन नामों का सतत कीर्तन करता हुआ मनुष्य 'तल्लयता' प्राप्त करता है ।[2] युद्ध भूमि अथवा अन्यत्र शस्त्रों को लिये हुये मार डालने के लिये खड़ा हो, तब भी नाम-प्रकीर्तन से भगवान् उसकी रक्षा करते हैं ।[3] यथा - प्रह्लाद एवं आरुणि ।

दास्य-भक्ति[4] - पृथ्वी भक्तिभाव से अपने को भगवान् की शिष्या और दासी कहती है । इससे दास्य-भक्ति का परिचय मिलता है ।

प्रपत्ति - वराह पुराण में 'प्रपद्यन्ते'[5] अथवा 'प्रपद्ये'[6] का बार बार उल्लेख गीता के प्रमुख वाक्य का स्मरण कराते हैं - 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते'[7] । यहां रामानुज स्वामी अपने गीता भाष्य में कहते हैं - "ये मामेवाव्यभिचारिण्याभक्त्या प्रपद्यंते भजंति ते मायामेतां दुस्तरामपि तरंति ततो मां जानंतीति भावः" । अर्थात् जो अनन्य भक्ति से भगवान् को ही आश्रय मान कर उनका उनका भजन करते हैं, वे इस माया से पार होकर उनको जान जाते हैं । यही प्रपत्ति का सिद्धान्त है । प्रो० बलदेव उपाध्याय का विचार है - "वैष्णव मत में भक्ति की अपेक्षा प्रपत्ति का गौरव अधिक माना जाता है । भक्ति को केवल उनके शरण में जाने की आवश्यकता मात्र रहती है । शरणापन्न होते ही भगवान् अपनी निर्मल दया के प्रभाव से उसका उद्धार सम्पन्न कर देते हैं ।"[8]

---

[1] वराह, ३७।२१-२२, ३१-३२, ३९

[2] वही, २११।८१ : नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः ।
सततङ्कीर्तयेद्भूमे याति मल्लयताम्प्रिये ।।

[3] वही, ११४।६२

[4] वही, ११४।६३(१) : अहं शिष्या च दासी च तव भक्त्या व्यवस्थिता ।

[5] वही, ११४।३२(२), ३४, ३६, ३७, ३८, ३९, ४३, ४७, ५०, ५१

[6] वही, ११४।५५

[7] गीता, ७।१४

[8] पु०वि०, पृ० ४३६

प्रपत्ति ही श्रद्धाभक्ति - एक ईश्वर में ही अचल विश्वास और श्रद्धा से आत्मनिवेदन[1] है[5]। यही दृढ़भक्ति[2] है जिसे परा प्रीति[3] अथवा अतुला प्रीति[4] भी कहा गया है।

आपत्स्वपि सदा यस्य भक्तिरव्यभिचारिणी ।
याप्रीतिरधिका विष्णौ विषयेष्वनपायिनी ।।[6]

भक्ति एवं `नमोनारायण` मन्त्र का महत्व

वराह पुराण का मत है कि मूढ़ लोग[7] गोविन्द-परमेश्वर को नहीं जानते हैं। वह एक ही दिन में प्रसन्न हो जाते हैं। अगस्त्य मुनि ने राजा भद्राश्व से कहा -

साधु साधु जगन्नाथ स्त्रीशूद्रा: साधु साध्विति ।
द्विजा: साधु नृपा: साधु वैश्या: साधु पुन: पुन:[8] ।
साधु प्रह्लाद साधुस्ते ध्रुव साधो महाव्रत ।।

ऊपर की पंक्तियों के रहस्य को समझाते हुए अगस्त्य ने कहा कि पूर्व जन्म में राजा भद्राश्व शूद्र थे और उनकी रानी वैश्य के गृह में दासी थी। वैश्य द्वारा विष्णु मन्दिर में जलाये हुए दीप को रातभर जलाते हुए वे दोनों (शूद्र एवं

---

१. भ०का०उ०ह०, पृ० ६-११
२. वराह, १२६।३० (१)
३. वही, १२६।३२(२)
४. वही, १२६।३५(२)
५. नारद भक्तिसूत्र, २ : सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ----- ।
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, सा परानुरक्तिरीश्वरे --- ।
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, पृ० ३४७ एवं पाद टिप्पणी १, तत्त्वार्थदीप, पृ० ५४ :
हि०द०फि०, भाग ४, पृ० ३४७ एवं पाद टिप्पणी १, तत्त्वार्थदीप, पृ० ५४ :
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक: ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।।
६. गरुड़, १।२१६।१५
७. वराह, ४६।१५
८. वही, ४६।१६(२), १७(१), १८(१)

दासी) वहीं बने रहे । प्रातःकाल वहीं उनकी मृत्यु भी हो गयी । इस प्रकार दूसरे के भी दीपक को जलाने के पुण्य से इस शूद्र का जन्म प्रियव्रत के घर में राजा रूप में हुआ और वही दासी भी उसकी रानी हुयी ।[1] इस प्रकार शूद्र और स्त्री भी भक्ति के पुण्य प्रभाव से उच्च कुल में उत्पन्न हुए । इस बृत पर यहां हमें विष्णु पुराण (अंश ६, अ० २) का प्रभाव परिलक्षित होता है । व्यास ने भी कहा था - `शूद्रस्साधुः कलिस्साधुः, योषितः साधु धन्यास्ताः,`[2] अर्थात् शूद्र, कलि और स्त्री ही श्रेष्ठ हैं । व्यास से मुनियों ने इसका कारण पूछा कि `क्यों कलियुग श्रेष्ठ है, क्यों शूद्र ही श्रेष्ठ हैं और क्यों स्त्रियां श्रेष्ठ हैं?`[3] व्यास ने हंसकर कहा - `जो फल कृत्युग में दस वर्ष तप, ब्रह्मचर्य, और जप से प्राप्त होता है, उसे मनुष्य त्रेता में एक वर्ष, द्वापर में एक मास और कलियुग में एक दिन-रात में प्राप्त कर लेता है । जो फल कृत्युग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ और द्वापर में देवार्चन करने से प्राप्त होता है, वही कलियुग में केशव (कृष्ण) का कीर्तन से प्राप्त होता है ।`[4]

वराह पुराण भी इस मत का अनुसरण करता हुआ कहता है कि कृत्युग में ज्ञानी भक्त एक वर्ष में हरिभक्ति द्वारा जो प्राप्त करता है, वही त्रेतायुग में आधे वर्ष में और द्वापर में तीन मास तक पूजा करने से प्राप्त करता है । कलियुग में वही फल `नमो नारायण` ही कह कर प्राप्त करता है ।[5] इसीलिए कलियुग में भक्ति की प्रधानता है । यही यहां प्रतिपादित किया गया है (भक्तिमात्रं मयेरितम्) । जो ब्राह्मण एवं क्षत्रिय (राजानो) विविध यज्ञों से उन (नारायण) का यजन करते हैं, साधु हैं । वही स्त्री साधु है जो अपने पति की सेवा (प्रत्यक्ष में) करती हुयी परोक्ष में हरि की सेवा करती है । शूद्र वही धन्य है जो द्विज शुश्रूषा

---

[1] वराह, ४६।२३-२६

[2] विष्णु पु०, ६।२।६-८

[3] वही, ६।२।१२

[4] वही, ६।२।१५-१७, पु० वि०, पृ० ४४५-४४६

[5] वराह, ४६।३०-३१ : पूर्णे संवत्सरे भक्तिं हरेः कृत्वा विचक्षणः ।
संवत्सरार्द्धे त्रेतायां समाप्नोतन्न संशयः ॥
त्रिमासे द्वापरे भक्त्या पूज्यं लभते फलम् ।
नमो नारायणेत्युक्त्वा कलौ तु लभते फलम् ॥

में संलग्न रहता है और उसकी आज्ञा से ही हरिभक्ति करता है। इस कारण स्त्री एवं शूद्र साधु हैं। प्रह्लाद ने अपने आसुरी स्वभाव को छोड़ कर अनन्य भाव से पुरुषोत्तम का संश्रय प्राप्त किया। इसीलिए वह साधु है। मनु प्रजापति के कुल में उत्पन्न होकर बाल्यकाल में ही ध्रुव भी वन को चले गये और वहां विष्णु की आराधना करते हुए वह परमपद प्राप्त करने में सफल हुए।[१] इस प्रकार विष्णु और भागवत पुराणों की भांति इन पुण्य आख्यानों - प्रह्लाद[२] एवं ध्रुव[३] चरित्र - द्वारा भी वराह पुराण ने हरि भक्ति के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है।

--

---

[१] वराह, ४६।३४-४०

[२] विष्णु पु०, १, अ० १७-अ० २०
भागवत्, ७, अ० ४- अ० १०

[३] विष्णु पु०, १, अ० ११ - अ० १२
भागवत्, ४, अ० ८-९

भागवत धर्म

“ अतस्त्वापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव यान्श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतोभयात्[1] ।”

नारायण-परायण भक्तों को भागवत कहा जाता है जो भगवान, छ: गुणों से परिपूर्ण है, उसी को एक मात्र अवलंब और आश्रय मानकर उसी के लिए सब कुछ समर्पित करने वाला भागवत् कहलाता है । वराह पुराण से ज्ञात होता है कि रत्नद्वीप को जाते हुए गोकर्ण का जहाज समुद्र में दुर्वात पीड़ित (तूफान में फंसा) था और सभी लोगों के प्राण संकट में थे । गोकर्ण सबसे अधिक दु:खी था । उसे लोग पापी कहते थे, क्योंकि उसके पुत्र न था । ऐसे संकट के समय उसने अपने पुत्रवत् प्रिय शुक - भागवत के शुकदेव (शुक पक्षी के रूप में थे) - से आर्त वाणी में निवेदन किया -

> यदत्र युक्तकालेऽस्मिन् विषमे समुपस्थिते ।
> वद स्वाध्याय षाड्गुण्यकृच्छ्रे त्वद्कार्यविक्रम: ।।[2]

ऐसे ही म्रियमाण परीक्षित ने भी शुकदेव का आश्रय लिया था । मृत्यु से भयभीत प्रत्येक मनुष्य की यही स्थिति होती है ।

भागवत धर्मों का तात्पर्य उन नियमों से है जिनका पालन करने से भगवत्-प्राप्ति हो सके । भागवत पुराण में एक स्थान पर कहा गया है कि “ अज्ञ पुरुषों को भी तत्काल आत्मलाभ कराने के लिए भगवान् ने जो उपाय बताये हैं, उन्हें ही भागवत धर्म समझना चाहिए । उन भागवत धर्मों का आश्रय लेने पर कोई मनुष्य प्रमाद में नहीं पड़ता है । --- वह संसार में आंख मूंद कर दौड़े तो भी कहीं नहीं गिरेगा ।”[3]

---

१. भागवत, ११।२।७

२. वराह, १७१।१८

३. भागवत, ११।२।३४-३५

भागवत धर्मों को करने वाला ही शुद्ध भागवत होता है जिसके स्वयं विशिष्ट-स्वभाव, आचार-विचार एवं कर्म पर आधारित-लक्षण हैं । कभी कभी भक्तों कने से भी अपराध हो जाते हैं । वराह पुराण भागवत लक्षणों और भागवत धर्मों के अतिरिक्त ३२ अपराधों का उल्लेख करता है जिनसे भगवद्भक्त को बचना चाहिए और यदि हो भी जाय तो उसका प्रायश्चित्त कर ले । इस प्रकार वह पुनः शुद्ध भागवत हो जाता है ।

भागवत लक्षण

भागवत-लक्षणों (ईदृशास्तु नरा मम कर्मपरायणाः) को वराह पु० के अ० १२१ में वर्णन किया है । ये निम्नलिखित हैं -

विपुल कर्म करने के बाद भी आत्म प्रशंसा न करने वाला हो । शुद्ध अन्तरात्मा से बहुत कर्म करने वाला हो । भगवत्कर्म करता हुआ अनुग्रह-परायण हो । कार्य-अकार्य-विवेक तथा सभी धर्मों पर निष्ठा हो । शीत, धूप, वर्षा, वायु तथा भूख-प्यास को सह लेने वाला हो । अदरिद्र रहे (`यो दरिद्रो,` पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, शुद्ध पाठ होना चाहिए `यो दरिद्रो` में लुप्त अकार ( ) चिन्ह छूटा है) । आलस्य-हीन रहे (दृष्टव्य, हेलियो डोरस का बेसनगर अभिलेख में `अप्रमाद`) । सत्यवक्ता (स्पष्ट वक्ता) हो । ईर्ष्या रहित (अनसूयकः) - मात्सर्य-हीन हो । स्व-पत्नी-परायण रहे और पर-दार पराङ्मुख हो । सत्य-वादी (सत्यनिष्ठ) हो । सदैव विशुद्धात्मा (अकल्मष, पवित्र) रहे । भक्तों का प्रेमी (भागवतप्रियः) हो । संविभाज्य विशेषज्ञ (सब में बांट कर पाने वाला) हो । भगवान और नित्य ब्राह्मणों से प्रेम रखने वाला (ब्रह्मण्य) और प्रियभाषी हो । ब्राह्मणों की सेवा में लीन रहना चाहिए । वियोनि से विमुख (वियोनिगामी न होना) हो । भगवत्कर्म-परायण, जीवहिंसा न करने वाला तथा सभी प्राणियों का हित करने वाला हो । शुचिता और सभी जगह समतायुक्त रहे । सोना-पत्थर-मिट्टी एक समान (समलोष्टाश्मकांचनः) समझे । आत्यावस्था में भी शान्त,

दान्त और शुभकर्म करने वाला हो । दूसरे द्वारा किये हुए अपकार को भुलाकर सतत सम्पूर्ण भगवत्कर्म का ही स्मरण करता रहे । सत्य-वार्तालाप करने वाला हो । मिथ्या और अप्रिय न बोले । सत्य और तत्व को जानने वाला हो । नित्य-कर्म(स्नान, सन्ध्या, वन्दन, जप, ध्यान आदि) तथा नित्य जीविका में लगा हुआ रहे । किसी का पीछे (परोक्ष) में भी अपमान न करे । ऋतुकाल में ही संतान के लिए (न कि भोग के लिए) अपनी पत्नी से संयोग करे① । अपने धर्म पर दृढ़ता से आरूढ़ रहकर अपने मत के सिद्धान्तों का पालन करते हुए दूसरे मत की निन्दा न करे तथा सर्वधर्मसम्मत सनातनधर्म में निष्ठा रखे② । जितेन्द्रिय हो । क्रोध, लोभ और मोह से रहित हो । नित्य आत्मकल्याण, देवता, अतिथि और गुरु का प्रिय करने वाला हो । हिंसा न करने वाला हो । मधु मांस का त्यागी हो । मन से भी ब्राह्मणी-गमन का संकल्प न करे । विप्र को कपिला (गाय) दान करे । वृद्ध का सान्त्वना के साथ पालन करे । सभी पुत्रों के साथ विशेषता न दिखाये । ब्राह्मण को क्रुद्ध देखकर उसे शान्त कर प्रसन्न करे । कपिला गाय को भक्ति के साथ स्पर्श करे । परन्तु कुमारी (को स्पर्श द्वारा) न दूषित करे । पैरों से अग्नि पर न चले । पुत्र से (अधिक) वार्तालाप (विवाद) न करे । जल में मूत्र-त्याग न करे । गुरुभक्त हो, न कि बकवाद करने वाला हो[3] । गुरु की निन्दा न करे । इस प्रकार धर्म से युक्त होकर जो विष्णु भगवान का भजन करता है, वह पुनर्जन्म से मुक्त होकर विष्णुलोक को जाता है ।[4]

--

---

१. वराह, १२१।२-११
२. वही, १२२।१९-२०
३. वही, १२२।२३-२७
४. वही, १२२।२५

भगवद्धर्म एवं द्वात्रिंशदपराध तथा प्रायश्चित

प्राचीन भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में शौचाशौच, भक्ष्याभक्ष्य और कर्त्तव्याकर्त्तव्य (विधि-निषेध) का विवेचन किया गया है। मनुष्य स्वभावतः प्रमादी है और प्रमाद से ही उसका पतन भी होता है। हेलिओडोरस के बेसनगर अभिलेख में इसी लिये `अप्रमाद` का महत्व बताया गया है। इसीलिए उसको उन्नत बनाने के लिये यम-नियमों से जकड़ा गया है। किन्तु नियम-बद्ध होने पर भी वह कर्म-च्युत हो जाता है। वराह पुराण के अनुसार वैष्णव भागवत व्यक्ति - से होने वाले ३२ अपराधों तथा उनसे निवृत्त्युपाय-स्वरूप प्रायश्चित्त क्रियाओं - तप[1], व्रत आदि का वर्णन किया गया है। अ० ११७ एवं अ० १७९ में इन अपराधों का वर्णन किया गया है। अ० १३० से अ० १३६ तक इनसे मुक्त होने के लिये प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है। अपराधों की ये दोनों तालिकाएं निम्नलिखित हैं -

(क)

३२ अपराध (वराह अ० ११७)[2]

१. अपराधान्न (अपराधी का अन्न) अथवा परकीयान्न (परकीय = द्वेषी अथवा परकीया = दूसरे की भार्या का अन्न) खाना।
२. मैथुन, अशुद्ध स्थिति में भगवद्दर्शन।
३. रजस्वला दर्शन।
४. शव-स्पर्शकर अशुद्ध दशा से भगवद्दर्शन।
५. शव देखकर भी बिना आचमन किये प्रभु-दर्शन।
६. प्रभु-पूजा के समय मल त्यागा।
७. नील (रंगे) वस्त्र धारण कर मंदिर जाना।

(ख)

३३ अपराध (अ० १७९)[3]

१. दन्तकाष्ठ (दातुन) का न करना। किन्तु पाठ में (१७९।३) `भक्षणं दन्तकाष्ठस्य` है।
२. राजान्न भोजन नीचे क्र० १७ में पतितान्न का उल्लेख है।
३. वही.
४. शवसंस्पर्श (क-४)
५. पुरीषोत्सर्ग (क-६)
६. सूतकी (जच्चा) और उदक्या (रजस्वला) दर्शन।
७. स्पर्श (सूतकी और उदक्या का स्पर्श अथवा समागम)

---

[1] वराह, १३०।४(२)-६
[2] वही, ११७।५-३५
[3] वही, १७९।३(२)-१० यहां ३३ अपराधों का उल्लेख है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८. पूजा में विषम बोलना।	८. मैथुन (मूत्र-क्रिया, पूजा के समय अथवा मन्दिर के पास)
९. भगवान का स्पर्श विधान के अनुसार न करना।	९. असत्यभाषण (क-८)
१०. भगवत्कर्म में क्रोध करना।	१०. कोष (अस्पष्ट है)
११. अकर्मण्य-पुष्पों से पूजन।	
१२. रक्त-कौसुंभ वस्त्र पहन कर पूजा करना।	
१३. अन्धकार में पूजा करना।	
१४. काले कपड़े पहनकर पूजना।	११. पिण्याक-भक्षण (क-२१)
१५. अधौत वस्त्रों को पहनकर पूजा करना।	१२. रक्त (क-१२), १३. पारक्य (क-२५), १४. मलिन वस्त्र(क-१५), १५. नील लगा वस्त्र धारण करना (दृष्टव्य क-७)
१६. अज्ञान में (भूल में भी) स्वयं (अकेले) भोजन न करना।	
१७. मत्स्य-मांस खाकर भगवान के पास जाना।	१६. गुरुनिन्दा (गुरोश्चालीक-निर्बन्धः)
१८. जालपाद (हंस) खाकर मंदिर जाना।	१७. पतितान्न-भक्षण १८. अभक्ष्यभक्षण
१९. भगवद्दीप को छूकर भगवद्दर्शन करना।	१९. तन्दुलीय (भक्षण)
२०. श्मशान जाकर अशौच अवस्था में मंदिर जाना।	२०. विभीतक (भक्षण)
२१. पिण्याक खाकर मंदिर जाना।	२१. वरान्न का देना (बिना देव-पितृगण को अर्पित किये)
२२. वाराह मांस खाकर मंदिर जाना।	२२. जालपाद (क-१८), २३. वराह का भक्षण (क-२२)। (जालपाद वराह्योः के स्थान पर शुद्ध पाठ होना चाहिए `बक-जालपाद वराह्योः)
२३. सुरापान कर मंदिर जाना।	
२४. कुसुम्भ-भक्षण करना।	

२५. दूसरे के प्रावरण को ओढ़ कर मंदिर में जाना ।

२६. देव-पितरों को बिना अर्पित किये हुए नवान्न खाना ।

२७. जूते पहन कर वापी पर जाना ।

२८. अजीर्ण होने पर मंदिर जाना ।

२९. शरीर की मालिश कर (मर्दयित्वा) अथवा शरीर सजाकर (मंडयित्वा) मंदिर जाना ।

३०. गन्ध-पुष्प दिये बिना ही धूप देना ।

३१. भेरी आदि बिना बजाये ही मंदिर द्वार खोलना ।

३२. महापराध ।

२४. मंदिर में जूते के सहित जाना (क-२७), २५. मंदिर में कोप करना, क-१० (सोपानत्कोप-समर्पणम्) ।

२६. निषिद्ध कुसुमों से पूजा करना (क-११)

२७. निर्माल्य को बिना उतारे पूजा करना ।

२८. दीपान्धकार में पूजा करना (क-१३) ।

२९. सुरापान (क-२३) ।

३०. अन्धकार में देव-प्रबोधन करना ।

३१. अन्धकार में अर्चन करना ।

३२. विष्णु को नमस्कार न करना ।

` क ` सूची में अपराधों को क्रमानुसार १ से ३२ तक गिनाया गया है । परन्तु ` ख ` में कोई वर्णन-क्रम और स्पष्टता नहीं है । अन्त में, ` ख ` ३३ अपराधों का उल्लेख करती है ।[1] अतः इस स्थान पर कुछ दोष हैं । दो स्थानों पर स्पष्ट ३२ अपराधों का ही उल्लेख मिलता है । अ० १३० में भी ३२ अपराध तथा अ० १३०- अ० १३६ में इनके लिए प्रायश्चितों का वर्णन है । इन सभी अपराधों से शुद्ध होने के लिए (वराह पु०) अ० १३० से अ० १३६ तक प्रायश्चितों का वर्णन है ।

---

[1] वराह, १७९।१० : अपराधास्त्रयस्त्रिंशत्समाख्याता मया धरे ।
एभिर्युक्तस्तु पुरुषो विष्णुं नैव प्रपश्यति ।।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अपराध और शुद्धि

यदि अल्पबुद्धि व्यक्ति ऊपर उल्लिखित ३२ अपराधों को करे, तो वह निवृत्त्युपाय रूप से प्रायश्चित्त कर्मों को करने से पुनः शुद्ध भागवत हो सकता है।[१] इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी प्रायश्चित्त-विधि प्रचलित थी। पवित्र और अकल्मष वैष्णव ही शुद्ध भागवत[२] कहलाते हैं।

१. राजान्नभक्षण - लोभ, भय अथवा आपत्तिकाल में भी जो भक्त राजान्न खाते हैं, वे नरक-गामी होते हैं। राजा राजसिक, तामसिक और दारुण कर्म करता है। इसीलिए उसका अन्न भी गर्हित माना गया है।[३] अतः धर्म-धारणा के लिए ऐसा अन्न खाना उचित नहीं है।

विधिपूर्वक भगवान् की (प्रतिमा) प्रतिष्ठित कर, पूजन एवं दान तथा चान्द्रायण, तप्तकृच्छ्र आदि व्रतों को करने एवं भागवतों द्वारा बनाये हुए भोजन को भगवान् को अर्पित कर खाने से इससे शुद्धि होती है।[४]

२. दन्तकाष्ठ-अभक्षण[५] - मनुष्य का मुख कफ-पित्त आदि से भरा हुआ है। अतः दन्तकाष्ठ को बिना खाये हुए अर्थात् बिना मुख-शुद्धि के ही (दन्तकाष्ठ-दन्तकाष्ठमखादित्वा यः कर्माणि करोति यः) कर्म करता है, उसकी शुद्धि[६] भी आकाशशयन (खुले में सोना) नामक व्रत के करने से होती है।

---

१. वराह, १३०।४(२)-६
२. वही १३५/२१,४२
३. वही, १३०।८-१६
४. वही, १३०।१७-२४
५. वही, १७६।३(१) `भक्षणं दन्तकाष्ठस्य` है। दन्तकाष्ठ (दातुन) न करना ही पाप हो सकता है। यही यहाँ कहा गया है।
६. वही, अ० १३१

३. मैथुन - मैथुन के बाद अस्नात ही मन्दिर में जाने से विष्णुभक्त गृहस्थ यावक, पिण्याक और वायु भक्षी होकर (तप एवं व्रत से) शुद्ध होता है।[1]

४. शव-स्पर्श - भगवद्भक्त के लिए शवस्पर्श शास्त्र-विरुद्ध है। ७ दिन और ३ रात तक एकाहार रहकर[2] पंचगव्य पीने से ही वह शुद्ध होता है। सभी भागवतों के लिए शवस्पर्श वर्जित है।

५. रजस्वला-स्पर्श - रजस्वला स्त्री को छूकर भगवान् का स्पर्श करने वाला अन्धा, दरिद्री और ज्ञानशून्य हो जाता है। परन्तु भगवद्भक्ति-परायण[3] होकर तीन रात तक आकाशशयन कर तप द्वारा शुद्ध होता है।

६. मृतक-स्पर्श - मृतक स्पर्श कर[4] भगवत्कोष्ठ में रहने से पाप होता है। इससे भी व्रतों और तप से शुद्धि होती है।

७. वातकर्म - पीछे अजीर्ण-स्थिति में मन्दिर जाना अपराध कहा गया है। यहां वातकर्म (वायु निकलने की क्रिया) को भी दोष[5] माना गया है। इससे भी व्रत एवं तप और संयम से शुद्धि होना बताया गया है।

८. पुरीष-त्याग - पूजा करता हुआ मल-त्याग करने[6] वाला अपराधी भक्त आकाश-शायी जलशय्या में रहने से शुद्ध होता है।

९. अभाष्यभाषण - पूजा छोड़कर जो कुछ[7] अन्य वाक्य बोलता है, उसकी शुद्धि १५ दिन तक आकाश शयन से होती है।

---

१. वराह, १३२।१-१०
२. वही, १३२।११-१७
३. वही, १३२।१८-२५
४. वही, १३२।२६-३८, पीछे सं० ४ में, शवस्पर्श के बाद भगवान् का स्पर्श अपराध उल्लिखित है। यहां कोष्ठ में जाना या रहना पाप बताया गया है।
५. वही, १३२।१-७
६. वही, अ० १३३
७. वही, १३४।१-२

१०. नीलवस्त्र,[1][4] ११. रक्तवस्त्र,[2][5] १२. कृष्णवस्त्र,[3][6] १३. अविधौत (मलिन) वस्त्र, १४. उच्छिष्ट एवं १५. पारक्य-वस्त्र पहनकर पूजन करने वाले भागवत जन विभिन्न व्रतों, तप और दम-नियमों (प्रायश्चित्तों) से शुद्ध होते हैं ।

१६. अविधान-स्पर्श - भगवान् को स्पर्श करने का भी विधान (१६ उपचार का विधान) है । उसके विरुद्ध गन्ध, माल्य, सुगन्धि आदि अर्पित करने से भागवत-आचार का अतिक्रमण होता है । इस अपराध से शुद्धि शरीर प्रक्षालन,[7] मार्जन, प्राणायाम और क्षमा-याचना आदि प्रायश्चित्त करने से होती है ।

१७. क्रोध - यदि विष्णु-भक्त क्रोध की अवस्था में भगवान् का स्पर्श करे तो महान् अनर्थ होता है । भगवान् के भक्त को शुद्ध - संयमी और दान्त (दम से इन्द्रियनिग्रह युक्त) तथा अहंकारहीन, लाभ-हानि-भाव से रहित होना चाहिए । क्रोध से अभक्ष्य-भक्षण कर व्रत द्वारा शुद्ध होता[8] है । छठे काल में अनिन्दित गृह-भिक्षा को शुद्ध भागवत के घर से लेकर खाये ।

१८. अकर्मण्य पुष्प - निषिद्ध-कुसुमार्चन के अपराध से विष्णु-भक्त भी एक मास तक एकाहार रह कर वीरासन-विधि से रहे । इसी प्रकार संयम और व्रतों, एक भक्ष्य, घृतमायस, और यावकान्न का प्रयोग करते हुए तीनि दिन तक वायुभक्षी रहे ।[9]

---

१. वराह, १३४।३-५
२. वही, १३५।१-७
३. वही, १३५।१५-२१
४. वही, १३५।२२
५. वही, १३५।२७-३१
६. वही, १३६।७८-८५
७. वही, १३४।६-२९
८. वही, १३४।३०-५७
९. वही, १३४।५८-६८

१९. रक्तवस्त्रधारण - रजस्वला स्त्री के रज-तुल्य रक्तवस्त्र धारण कर पूजन या भगवद्दर्शन के अपराध से भी कायशुद्धि, १७ दिन तक एकाहार, ३ दिन तक वायुभक्षण एवं एक दिन तक जल-पीने पर ही भक्त शुद्ध होता है ।[1]

२०. अन्धकार में पूजन - भगवद्दीप जलाये बिना अन्धकार में शास्त्र के बिना ही भगवान को स्पर्श करने के अपराध से शुद्ध होने के लिए १५ दिन तक आंख बंद कर और २० दिन तक एकाहार करके रहे । किसी भी मास की द्वादशी को एकाहार होकर रहे । पुनः गोमूत्र में पका हुआ यवान्न खाए ।[2]

२१. कृष्णवस्त्रधारण कर पूजा करना - इस अपराध से शुद्ध होने के लिए एक सप्ताह तक यावक और ३ रात्रि तक मधुपिंडिका - एक पिंडिका नित्य - खाकर रहे ।[3]

२२. अविधौत (मलिन) वस्त्र धारण कर पूजा करना - इस अपराध से भी प्रायश्चित्त - ३ दिन यावक, ३ दिन पिण्याक, ३ दिन पर्णभक्षण, ३ दिन पायस भक्षण और ३ दिन पायसभक्षण द्वारा शुद्ध होता है ।[4]

२३. श्वानोच्छिष्ट पदार्थ - की भेंट (नैवेद्य) देने से भगवद्भक्त पापयुक्त होता है । यह भी विभिन्न आहार-व्रतों से शुद्ध होता है ।[5]

२४. वराह मांस - वराह मांस से भगवान् का प्रापण और स्वयं भक्षण करने वाला भक्त इस पापकर्म से पांच दिन तक गोमय, ७ दिन तक कण

---

१. वराह, १३५।१-७
२. वही, १३५।८-१४
३. वही, १३५।१५-२१
४. वही, १३५।२२-३१
५. वही, १३५।३२-३८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

खाकर रहे, ७ दिन तक पानी पीकर रहे, ७ दिन अक्षारलवण (नमक आदि न खाकर), ७ दिन तक सत्तू, ३ दिन तक तिल-भक्षण, ७ दिन तक पाषाण-भक्षण के बाद ७ दिन तक दूध पीकर तथा ४९ दिन शान्त, दान्त और अहंकारहीन विचरण करता हुआ रहे।[1] इसका वर्णन पुनः, आगे, मिलता है।[2] यहां प्रायश्चित्त फल, मूल, पायस, तक्र, एवं पावक भोजन से होता है। (शुद्धो भागवत-श्रेष्ठो अपराधविवर्जितः)।

२५. जालपाद भक्षण - इस अपराध से शुद्ध होने के लिए भी १५ दिन तक - ३ दिन यावकान्न, ३ दिन वायु भक्षण, ३ दिन बिल्व फलाहार, ३ दिन अक्षारलवण भोजन से प्रायश्चित्त करता हुआ रहना चाहिए।[3]

२६. भगवद्दीप स्पर्श - भगवान के प्रदीप को छूकर पूजा आदि भगवत्कर्म करने वाला भगवद्भक्त शुक्लपक्ष की द्वादशी के दिन आहार-व्रत और आकाशशयन करने के बाद दीप-दान कर शुद्ध होता है।[4]

२७. श्मशान जाकर अस्नात ही मंदिर जाना - धरणी ने पूछा - " श्मशान में तो नित्य शिव जी रहते हैं। इसीलिए यह पवित्र और प्रशंसित स्थान कहा गया है। फिर वहां जाकर क्यों अशुचिता लगती है?" नारायण ने उत्तर दिया कि " वे स्वयं सोचते हैं कि त्रिपुर में नर-नारी हत्या के पाप से ऐश्वर्यहीन शिव कैसे शुद्ध हों।" इसलिए श्मशान भगवान् को प्रिय स्थान नहीं है। वहां जाकर प्रायश्चित्त करने से ही शुद्ध होता है - चतुर्थभक्षण करता हुआ १५ दिन तक एक वस्त्रधारी कुशासन पर सोये और प्रातः पंचगव्य पान करे।[5]

---

१. वराह, १३५।३९-४०, ५६
२. वही, १३६।५६-६५
३. वही, १३५।५१-५७
४. वही, १३६।१-७
५. वही, १३६।८-१०

२८. पिण्याक भक्षण - इस अपराध से भी प्रायश्चित्त - एक दिन यावक और गोमूत्र[१] से रह कर रात्रि में वीरासन और आकाशशयन करे - द्वारा शुद्ध होता है ।

२९. मद्यपान कर मन्दिर जाना - जो दीक्षित होकर भागवत काम-राग से मद्यपीकर मंदिर जाता है, उसके लिए प्रायश्चित्त[२] नहीं है । अन्यथा (अज्ञान से पीने वाला) प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है ।

३०. कौसुंभ-भक्षण - कौसुंभ शाक का खाना या नैवेद्य में देना भी अपराध माना गया है । चान्द्रायण[३] व्रत और १२ दिनों तक पयोव्रत (दूध पीकर रहना) से शुद्ध होता है ।

३१. पारक्य वस्त्र धारण करना - इस अपराध का प्रायश्चित्त, भगवत्भक्ति परायण रहकर ‘अष्टभक्त’ व्रत करने के बाद माघ शुक्ल द्वादशी के दिन शान्त, दान्त और व्रती रहकर जलाशय में रहे । भगवद् भजन में[४] एकचित्त से लीन रहता हुआ प्रातःकाल होने पर पंचगव्य पीकर भगवत्कर्म करे ।

३२. नवान्न-प्रयोग - भगवान्, देवताओं और पितरों को दिए बिना जो भक्त नवान्न खाता है । उसे इस अपराध से शुद्ध होने के लिए प्रायश्चित्त में ३ दिन या एक दिन का उपवास[५] कर चौथे दिन आकाश-शयन और प्रातःकाल में पंचगव्य पीकर शुद्ध होता है ।

---

१. वराह, १३६।५१-५५

२. वही, १३६।६६-७०

३. वही, १३६।७१-७७

४. वही, १३६।७८-८५

५. वही, १३६।८६-९१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

३३. बिना गन्धमाल्यार्पित किये हुये धूप देने के अपराध का प्रायश्चित्त किसी भी मास की शुक्लपक्षीय द्वादशी में उपवास और ११ अष्टभक्त व्रत करने के बाद प्रातःकाल पंचगव्य पीकर शुद्ध होता है ।[1]

३४. जूते पहनकर मन्दिर जाने वाला भक्त भी प्रायश्चित्त विधि (इसका उल्लेख नहीं है) से विनीत होकर भक्ति के साथ अपराधरहित होकर शुद्ध होता है ।[2]

३५. बिना भेरी किये हुये भगवत्प्रतिबोधन - करने वाला भी प्रायश्चित्त किसी मास की शुक्लपक्षीय द्वादशी को आकाशशयन करके शुद्ध हो जाता है ।[3]

३६. अजीर्ण-स्थिति में मन्दिर जाने वाला - बहुत अधिक भोजन अजीर्ण स्थिति में मन्दिर जाने वाला विष्णुभक्त भी प्रायश्चित्त - ३ दिन यावकाहार, ३ दिन मूलाहार, ३ दिन पायस, ३ दिन सत्तू, ३ दिन वायु भक्षण और ३ दिन आकाशशयन करने के बाद प्रातः पंचगव्य पीने से शुद्ध होता है ।[4]

इस प्रकार इन अध्यायों में `अपराध विशोधन-कर्म` का वर्णन करते हुए विभिन्न प्रकार के व्रतों का भी उल्लेख हुआ है । इस प्रायश्चित्त-विधान का महत्त्व भी भागवत-धर्म में कम न था ।[5] इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैष्णव मत के संचालक और व्यवस्थापक अपने सम्प्रदाय के भागवत-लोगों को दोषों, दुर्गुणों और दुराचारों से बचाकर शुद्ध भागवत बनाना चाहते थे ।

---

१. वराह, १३६।९२-९७
२. वही, १३६।९८-१०१
३. वही, १३६।१०२-१०५
४. वही, १३६।१०६-११३
५. वही, १३७।१-३

ऊपर प्रायश्चित्त-विधान में अपराधों की संख्या ३६ तक हो गयी है । इसमें सं० ७ एवं सं० ३६ (वातकर्म अथवा अजीर्णास्थिति) तथा सं० ११ एवं १६ (रक्त-वस्त्र), १२ एवं २१ (कृष्णवस्त्र), १३ एवं २२ (अविधौत वस्त्र), १५ एवं ३१ (पारक्य वस्त्र) में पुनरुक्ति होने से यह संख्या ३१ रह जाती है । इसमें ख` सूची का सं० १ अदन्तधावन जोड़ कर ३२ संख्या ही रहती है । यहां दृष्टव्य है कि ख.` सूची में बाद में किसीने कुछ जोड़ा और घटाया है । अदन्तकाष्ठ धावन का उल्लेख क. सूची में नहीं है ।

भागवती-दीक्षा

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।।[1]

पाप-कर्म के क्षय से शुद्ध भागवत के हृदय में ज्ञान का उदय होता है । यहां दो तत्त्व हैं -

१. पाप-क्षय और
२. ज्ञानोदय ।

ज्ञान का तात्पर्य है कि उस अज, अमर, अन्तर्यामी एवं सनातन परमात्मा को संसार में सभी जगह सबमें व्याप्त देखकर उसी में अपने को आत्मसात (तल्लयं) कर देना है ।[2] वह एक ही `पर` है । वही सर्वज्ञ सर्वदर्शी है ।[3] परन्तु यह ज्ञान - अष्टांग योग एवं वेदान्त - बिना गुरु के सम्भव ही नहीं है । योग से मनुष्य संस्कृत होता है । दीक्षा तैयार होता है और फिर गुरु कृपा से मनुष्य में ज्ञान (वेदान्त) - परो नान्यः (उस प्रभु के अतिरिक्त कोई और परमेश्वर नहीं है) एवं वह जगत का

---

[1] गरुड़, १।२२८।५(२)

[2] वराह, ५।५८, १५।२२, ५५।५६(२) तल्लयं

[3] वही, ४।३५

अहेतु-हेतु है (स्थितत्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य) - अंकुरित होता है। परन्तु यह शरीर इन्द्रिय संघात - ऐसा है कि जरा भी असावधानी (प्रमाद) से उसकी अनुभूति का तार टूटते ही दुष्कर्म हो जाता है। विकर्म से अधर्म हो जाता है और मनुष्य पुनः भवबन्धन में बंध जाता है। इसीलिए भूल को सुधारने और सुधार कर पुनः भगवत्पथ पर आने के लिए वराहपुराण ने भागवतों का भी प्रायश्चित्त विधान बनाया था।

चातुर्वर्ण्य-दीक्षा

पंचरात्र विधान का अनुसार[1] करते हुए वराह पुराण ने भगवान् का द्वार चारों वर्णों के लिए खोल दिये थे। चारों वर्णों के भक्तों को उनके स्वधर्मों का भी त्याग करा कर दीक्षा- द्वारा गुरु उन्हें केवल भगवान (नारायण परं ब्रह्म) में मन लगाने का अभ्यास (ध्यान-योग) कराता है। इस प्रकार[2] इस विधान में चारों वर्णों को दुःख-बहुल संसार से मुक्त कराना ही अभीष्ट था।

दीक्षा-विधि

दीक्षा निर्धारित-विधि पर ही सम्पन्न होती थी।[3] इस विधि-विधान में प्रथमतः व्यक्ति की स्वेच्छा मन की शान्ति तथा प्रभु पर विश्वास आवश्यक था। इसके बिना न विधान ही कुछ कर सकता है और न गुरु।

---

१. वराह, १२७।१०, १२८।३४,३५

२. वही, १२८।३१ : दीक्षा एषा च शूद्राणामुपचारश्च ईदृशः ।
चतुर्णामपि वर्णानां दुःखसंसार मोक्षणम् ।।

यहां दृष्टव्य है कि कुमारिल और शंकराचार्य भी क्रम से बौद्ध धर्म को मिटाने अथवा आत्मसात करने में सफल न हुए। परन्तु भागवत धर्म ने शूद्रों को भी अपना कर दुःख-मुक्ति से बचाने का मार्ग बताया। बौद्ध धर्म दुःख-तत्त्व पर ही आधारित है और शूद्र वर्ग ही अधिकांशतः बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट होता है। अतः यह महत्वपूर्ण धर्म साधन था।

३. वराह, १२८।४०

द्रव्य संग्रह[1]

दूसरी आवश्यकता गुरु की है। गुरु उस सुशिष्य को स्वीकार कर आज्ञा दे[2] कि दीक्षा की सामग्री ले आवे (तदाज्ञान्तु पुरस्कृत्य दीक्षाद्रव्याण्याहरेत्)।

वेदी-निर्माण एवं अर्चन

विविध द्रव्य आ जाने के बाद कलापूर्ण, गुरु की संरक्षता में वेदी का निर्माण किया जाता है। तत्पश्चात् विधानपूर्वक कलश-स्थापन, पुष्प-पल्लव, तिल आदि द्वारा अर्चन विधि के अनुसार लायी हुयी द्रव्य से मन्त्रपूर्वक गुरु और भगवान् का अर्चन करे। पुनः मन्त्रसहित गुरु को प्रसन्न करता हुआ मधुपर्क प्रदान कर गुरु को पुनः[3] प्रणाम आदि करता हुआ सभी भागवतों के मध्य में उसकी शिष्यता स्वीकार करे।

गुरु-उपदेश

इसके बाद गुरु दीक्षित,[4] विष्णुभक्त को भागवत धर्मों का उपदेश (पीछे वर्णन हो चुका है) देता है। सनातन विष्णुधर्म का ही पालन करना अभीष्ट है।

प्रत्येक ~~वर्ण~~ वर्ण के लिए पृथक्-पृथक् विधान था।[5] इसे हम निम्नलिखित कोष्ठक-रूप में दे रहे हैं -

---

१. वराह, १२७।१२(२)-१७(१)

२. वही, १२७।११-१२(१)

३. वही, अ० १२७

४. वही, १२७।२६-४०

५. वही, अ० १२७ में ब्राह्मण-दीक्षा तथा अ० १२८ में शेष तीन वर्णों की दीक्षा का वर्णन है।

वर्ण	दीक्षाद्रव्य वा।६ (संस्कारद्रव्याणि १२८।२३)	वेदी	कर्मत्याग	छत्र
ब्राह्मण	लाज, मधु, कुश, घृत, गन्ध, सुमन, धूप, दीप, प्रापणक, कृष्णाजिन, पालाशदंड, कमंडलु, घट, वस्त्र पादुका, शुक्लयज्ञोपवीत, यंत्रिका, अर्घपात्री, चरुस्थाली, दर्विका, तिल, व्रीहि, यव, फल, भक्ष्य, भोज्य, अन्न, पान, रत्न, कनक, क्षुर एवं जलपूर्ण पात्र ।	१६ हाथ की चतुरस्र (चतुरस्रां तु षोडश हस्तान् १२७।१८)	पाप अथवा अपकर्म (यदि कोई हो तो उसका त्याग, १२७।५३)	पाण्डु छत्र
क्षात्रिय	कृष्ण चर्म को छोड़कर उपर्युक्त सभी द्रव्य एवं आश्वत्थ-दंड-काष्ठ	१२ हाथ की (द्वादश-हस्तां वेदीं (१२८।५)	शस्त्र त्याग, क्षात्रियकर्म त्याग (१२८।७,८)	रक्त छत्र
वैश्य	छागचर्म, उदुम्बर दन्तकाष्ठ (१२८।१५-१६)	१० हाथ की वेदी (दशहस्तां १२८।१४)	वैश्यकर्मों-कृषि, गोरक्षा वाणिज्य एवं क्रयविक्रय-त्याग (१२८।१२, १६)	पीत छत्र
शूद्र	नील छाग का चर्म, वेणु-दंड, नील वस्त्र (१२८।२४)	८ हाथ अष्टहस्तां १२८।२४	शूद्रकर्मों, शूद्र-भक्ष्य एवं अभक्ष्य-भक्ष्य का त्याग १२८।२६-२८	नील छत्र

मधुपर्क

किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन पर उसके सम्मान में जो मधु आदि का प्रदान होता है उसे मधुपर्क विधि कहते हैं । इसका शाब्दिक अर्थ है - वह कृत्य जिसमें मधु का (किसी व्यक्ति के हाथ पर) गिराना या मोचन होता है । ---- गृह्यसूत्रों में इसका विस्तार के साथ वर्णन मिलता है । ---- आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार यज्ञ कराने वाले ऋत्विक, घर में आये हुए स्नातक एवं राजा को, आचार्य, श्वसुर, चाचा, एवं माता के आगमन पर इन्हें मधुपर्क दिया जाता है । मानव०, खादिर०, याज्ञवल्क्य के अनुसार छः प्रकार के व्यक्ति अर्घ्य (मधुपर्क के भागी) होते हैं, यथा- ऋत्विक, आचार्य, वर, राजा, स्नातक, तथा वह जो अपने को बहुत प्यारा हो । बौधायन० ने इस सूची में अतिथि को भी जोड़ दिया है ।[1] वाराह गृह्य सूत्र केवल छः व्यक्तियों - ऋत्विक्, आचार्य, विवाह्य (वर), राजा, स्नातक और प्रिय - को ही अर्घ्य मानता है (षडर्घ्या भवन्ति) ।[2] वराह पुराण के मधुपर्क-आख्यान का सम्बन्ध धर्म से है, क्योंकि वराह पुराण के अनुसार मधुपर्क का सम्बन्ध देवता (विष्णु) से है ।[3] यहां मधुपर्क की उत्पत्ति एवं इसका स्वरूप, इसके करने से प्राप्त पुण्य, इससे सम्बन्धित देवता, द्रव्य और जिसे देना चाहिए, उसका वर्णन किया गया है ।

मधुपर्क-उत्पत्ति

लोक-प्रलय के बाद जब ब्रह्मा, विष्णु और महेश अव्यक्त थे, उस समय विष्णु के दक्षिणांग से एक रूपवान्, द्युतिमान्, श्रीमान्, ह्रीमान और कीर्तिमान्

---

१. ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० ३०८, इत्यादि

२. वा०गृ०सू०, ११।१

३. वराह, १६१।३(२) : कीदृशो मधुपर्कश्च किं पुण्यं का च देवता ।
ध०शा०, तृतीय खंड, पृ० ५६६, इसे पूजा के १६ उपचारों में छठा उपचार
कहा गया है (षोडशोपचारपूजान्तर्गतषष्ठोपचारः) ।
कालिका पुराण, अ० ६७

पुरुष प्रकट हुआ जो भव-मुक्ति देने वाला मधुपर्क के नाम से विख्यात हुआ ।[1] इस प्रकार मधुपर्क का उद्भव स्वयं विष्णु से हुआ ।[2] तथा इसे स्वयं मोक्ष देने वाला बताया गया है ।

मधुपर्क-कार्य

इसका दान करना ही इसका कार्य था (कारणं मधुपर्कस्य दानं संकरणं तथा) । विष्णु-पूजन के बाद भगवान् को जो मधुपर्क देता है वह ऊर्ध्व लोक को जाता है ।[3]

दान-विधि

विष्णु-भक्त व्रतोपचार के साथ ही निम्नांकित मंत्र को पढ़ते हुए मधुपर्क लेकर दान करें -

ओं एषो हि देव भगवंस्तव गात्रभूतः ।
संसार मोक्षणा करो मधुपर्क नामा ।
भक्त्या मयाद्यप्रतिभावितो प[4]
गृहाण देवेश नमो नमस्ते ।।

मधुपर्क-योजना

घृत, दधि और मधु का समान भागों में मन्त्र सहित मिश्रण ही मधुपर्क कहलाता है ।[5] इसे भगवत्भक्ति के साथ करने से उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ।[6]

---

१. वराह, १६१।५-१०
२. वही, १६१।११-१२
३. वही, १६१।१३-१५(१)
४. वही, १६१।१५(२)-१७
५. वही, १६१।१६ : घृतं दधि मधुश्चैव करवीत समं तथा ।
विधिना मन्त्रपूतेन यदीच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ।।
६. वही, १६१।२०

मधुपर्क-योजना (घृत, दधि और मधु मिलाने) के पूर्व अत्यन्त भक्ति के साथ शान्ति-पाठ (मंत्र जप) और `नमो नारायणाय` मंत्र[1] कहने के बाद ही पात्र में मधुपर्क का आवाहन करना चाहिए ।[2]

उदुम्बर (काष्ठ, गूलर) के पात्र में सर्पि (घी), दधि और मधु को मिलाना चाहिए । यदि मधु न मिले तो गुड़ मिला ले, यदि घृत न मिले तो लाज (खीलें) मिला ले और दधि के न मिलने पर दूध मिला लिया जाय । दधि, मधु और घृत मात्रा में बराबर-बराबर होना चाहिए । यह मधुपर्क त्रिमूर्ति-स्वरूप ही है - विष्णु दधि रूप है, मधु रुद्र रूप है और घृत पितामह (ब्रह्मा) रूप है ।[3]

इस प्रकार विधिपूर्वक बना हुआ यह पवित्र मधुपर्क भगवान् विष्णु को अर्पित किया जाता है । इससे सर्वयज्ञफल प्राप्त कर मनुष्य विष्णु लोक को प्राप्त करता है ।[4]

जो विष्णु भक्त प्राण-त्याग (अनशन) करता है, उसे भी यह भव-मोचन मधुपर्क देना चाहिए ।[5]

---

१. वराह, १६२।९-१६

२. वही, १६२।१७ : यो सौ भवान्देववर प्रसूतो
यो वै समर्थो मधुपर्क नाम्ना ।
आगच्छ सन्तिष्ठ इमे च पात्रे ।
ममापि संसार विमोक्षणाय ॥

३. वही, १६२।१८-२१

४. वही, १६२।२२-२३

५. वही, १६२।२४-२७

विष्णुधर्म - सनातन धर्म

सर्वधर्म-सम्मत विष्णु धर्म ही प्राचीन सनातन धर्म है (यश्च धर्मः सनातनः)। इसके अनुसार दूसरे धर्म के विषय में वादविवाद (परवाद) नहीं करना चाहिए। जो अपने धर्म में निश्चयता के साथ स्थिर हैं, उन्हें अपने मत के सिद्धान्त के अनुसार ही स्वधर्म का पालन करना चाहिए। अपने धर्म-पथ पर दृढ़ता से स्थित रहते हुए दूसरे के धर्म-कार्यों की निन्दा भी नहीं करनी चाहिए[१]।

वराह भगवान् कहते हैं कि यह तथ्य मनु, आंगिरस, शुक्र, गौतम, सोम, रुद्र, शंख, लिखित, काश्यप, धर्म, अग्नि, वायु, यम, इन्द्र, वरुण, कुबेर, शाण्डिल्य, पुलस्त्य, आदित्य, पितृगण और भगवान् स्वयम्भू की दृष्टि में भी नहीं आया, यद्यपि उपर्युक्त सभी लोगों ने धर्म का निरूपण किया है[२]।

---

[१] वराह, १२१।१०-२० : आत्मनात्मनिधर्मेण ये नरा निश्चितव्रताः ।
स्वकं पालयते धर्मं स्वमतेनैव भाषितम् ॥
परवादं न कुर्वीत् सर्वधर्मेषु निश्चितम् ।
न निन्देत् धर्मकार्याणि आत्मधर्मपथे स्थितः ॥
तु० की०, अशोकीय शिला लेख ७, १२ ।

[२] वराह, १२१।१३-१८ : पुनरन्यत् प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व वसुन्धरे ।
पुराणानां प्रसन्नानां यश्च धर्मः सनातनः ॥
मनुनाप्यन्यथा दृष्टो ह्यन्यथांगिरसेन च ।
शुक्रेण चान्यथा दृष्टो गौतमेनापि चान्यथा ॥
सोमेन चान्यथा दृष्टो रुद्रेणाप्यन्यथा पुनः ।
शंखेन चान्यथा दृष्टो लिखितेनापि चान्यथा ॥
कश्यपेनान्यथा दृष्टो हि धर्मेणाप्यन्यथा धरे ।
अग्निना वायुना चैव दृष्टो धर्मान्यथा धरे ॥
यमेन चान्यथा दृष्ट इन्द्रेण वरुणेन च ।
कुबेरेणान्यथा दृष्टः शाण्डिल्येनापि चान्यथा ॥
पुलस्त्येनान्यथा दृष्ट आदित्येनापि चान्यथा ।
पितृभिश्चान्यथा दृष्टो ह्यन्यथापि स्वयम्भुवा ॥
ध०शा०इ०, प्रथम खंड, पृ० ४, नोट ८६

अग्नि पुराण से भी ज्ञात होता है कि मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, हारीत, अत्रि, यम, आंगिरस, वशिष्ठ, दक्ष, संवर्त, शातातप, पराशर, आपस्तम्ब, उशनस, व्यास, कात्यायन, बृहस्पति, गौतम, शंख और लिखित ने धर्म का प्रतिपादन किया है (धर्ममेतेयथा ब्रुवन्) । वराह पुराण ने उपर्युक्त धर्म-शास्त्र-निर्माताओं की तालिका में विष्णु का नाम छोड़ दिया है । अतः स्पष्ट है कि वराह द्वारा प्रतिपादित सनातन धर्म विष्णु-धर्म ही था । डा० काणे का मत है कि "[2]कुछ में तो पूर्णरूपेण सांप्रदायिकता है ।"[1] यथा हारीत स्मृति जो वैष्णव है ।

यह विष्णु-धर्म (विष्णुकृतं कर्म)[3] ही था जिसका प्रतिपादन धर्मविदों में श्रेष्ठ विष्णु ने किया था (विष्णुर्धर्मविदांवरः)[4] । इससे यह ज्ञात होता है कि वराह पुराण में वर्णित विष्णुधर्म विष्णु-स्मृति या विष्णुधर्म सूत्र से प्रभावित है । विष्णु स्मृति का प्रारम्भ वराह-विष्णु द्वारा समुद्र से पृथ्वी को उठाना और इसकी यथास्थान व्यवस्था से[5] होता है । इसके बाद ही देवदेव विष्णु ने धर्मों (वर्णाश्रम) और वैष्णव धर्मों[6] का निरूपण किया ।[7] वराह पुराण अपने को भागवच्छास्त्र भी कहता है । अतः इसके धर्म पर, विशेषतः भागवतधर्म अथवा विष्णुधर्म पर भागवत् पुराण का भी प्रभाव पड़ना आवश्यक प्रतीत होता है ।

---

१. अग्नि, १६२।१-२

२. ध० शा० इ०, प्रथम खंड, पृ० ४२

३. वराह, १३७।११५(१), यहां स्मृतिकार विष्णु (= वराह) का ही उल्लेख है ।
वही, १२०।२० : गुह्यं विष्णुप्रमाणितम् ।

४. वही, १३७।६१(१)

५. वि० स्मृ०, १।१-४३

६. वही, १।४७-४८, ६१-६४

७. वही, १।६५, अ ९७ - अ ९८ में मोक्ष-धर्म का वर्णन किया गया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शैवधर्म

भारत के धार्मिक इतिहास में शैवधर्म अत्यन्त प्राचीन एवं प्रसिद्ध धर्म रहा है। इसे योगी, ज्ञानी, भूत, वैताल, पिशाच, किरात आदि सभी प्रकार के लोगों ने अपनाया है।[1] सिन्धु घाटी सभ्यता एवं वैदिक युग से लेकर आज तक शिव पूज्य बने हुए हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य से लेकर साधारण जोगियों तक वे उपास्य हैं। भारत के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में भी राजाओं से लेकर साधारण जनता द्वारा वे उपास्य थे।

वैदिक संहिताओं में रुद्रसूक्तों से रुद्र का महत्व ज्ञात होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी ईश (शिव) का महत्व प्राप्त होता है। विदेशी लेखकों, सिक्कों, अभिलेखों, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य, कलाकृतियों से भी शिवोपासना की प्राचीनता एवं प्रसिद्धि परिलक्षित होती है।[1]

रामायण,[2] महाभारत[3] एवं पुराणों[4] से शैव धर्म के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वायु[5] एवं लिंग[6] तथा शिव[7] पुराणों से शिव और उनके सम्प्रदाय के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वराह पुराण भी रुद्र-माहात्म्य एवं शैव-उपासना तथा विभिन्न प्रकार के शैवों का भी वर्णन मिलता है।

---

१. बैनर्जी, पौ० ता० रे०, पृ० ६३-८०, पाठक, शैव कल्ट इन नार्दर्न इंडिया
   पा० का० भा०, पृ० ३४९
   इ० टा० प०, पृ० १८०
२. रा० युद्धकाण्ड, १२३।२०, उत्तर काण्ड, १६।१०, १५
३. आदि पर्व, १।२२, ३०-३२, १८।४१-४३, ६६।१
४. पौ० ध० स०, पृ० ३७-४०
५. वायु, १।२३।२०९-२१३, पूर्वार्द्ध अ० २४-अ० २५ इत्यादि
६. लिंग, पूर्वार्द्ध, अ० २ - अ० ३, अ० ७-अ० २०, अ० २४-अ० ३४ इत्यादि
७. उमा संहिता, १।१०-१८ इत्यादि

ईश्वराराधन का महत्व

यद्यपि वराह पुराण वैष्णवशास्त्र है, परन्तु शिवोपासना का महत्व अक्षुण्ण है । शिवाराधन के बिना वैष्णवत्व भी दुर्लभ है । ईश्वर की आराधना से ही पाप का क्षय होता है । अनेक जन्मों के बाद शंकर की उपासना से पाप-मुक्त होकर वैष्णवत्व सुलभ होता है । ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिव की पूजा करना चाहिए ।[1] वराह पुराण में शिव-स्तोत्रों में उनकी महिमा तथा उनकी लीला तथा नाम-रूपों का माहात्म्य ज्ञात होता है, जहां उन्हें `वेदान्तवेद्य-यज्ञमूर्ति देवातिदेव` आदि कहा गया है ।[2]

वैष्णव-शैव कलह

वैष्णवों के इस उदार दृष्टिकोण के होते हुए भी दक्ष-यज्ञ के आख्यानों से वैष्णवों और शैवों के बीच होने वाले विवाद और कलह का भी आभास मिलता है । दक्षयज्ञ में शिव की उपेक्षा होना तथा दधीच मुनि के समझाने पर भी दक्ष द्वारा शिव की निन्दा करना सिद्ध करता है कि वैष्णवों और शैवों के बीच संबंध अच्छे न थे ।[3] वाद-विवाद से ही दोनों पक्षों में युद्ध भी छिड़ गया । परन्तु दोनों दलों में समझौता भी हो गया ।[4] शिव ने दक्ष और देवताओं से कहा कि मैं सभी यज्ञों में पूज्य हूं और निन्द्य नहीं हूं (सम्पूज्यः सर्वयज्ञेषु न निन्द्यो हं विशेषतः) ।

---

[1] वराह, २११।८४(२)-८६ : दुर्लभं वैष्णवत्वं हि त्रिषु लोकेषु सुन्दरि ।
जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजम् ।
वैष्णवत्वं लभेत्कश्चित्सर्वपापक्षये सति ।।
पापक्षयमवाप्नोति ईश्वराराधने कृते ।
ज्ञानमन्विच्छता रुद्रं पूजयेत्परमेश्वरम् ।।

[2] वही, २१।६८-७६ एवं ३३।१६-२४

[3] कूर्म, १।१५।२४-३२

[4] वही, १।१५।७०-७४

दक्ष ! तू लोकैषणा छोड़ कर मेरा भक्त बन जा (मद्भक्तो भव)।[1] ब्रह्मा ने भी दक्ष को विष्णु एवं शिव को अभेद दृष्टि से देखने तथा शिव का आश्रय लेने का आदेश दिया।[2] दक्ष ने ऐसा ही किया।[3]

वराह पुराण में भी दक्ष यज्ञ का वर्णन किया गया है।[4] यज्ञ-मन्त्रों के शब्द से क्रुद्ध होकर रुद्र अपने रथ पर धनुष-बाण लेकर यज्ञ-स्थल को गये। उनके पहुंचने से ही ऋत्विजों के मन्त्र बन्द हो गये और उन ऋषियों ने भी रुद्र को न पहचान कर कहा कि 'यह कोई असुर ही आया है।'[5] यहां भी रुद्रानुचरों एवं दक्षपक्षी देवताओं - लोकपाल, पूषा, विष्णु - में युद्ध हुआ। यह हरिहर-युद्ध अत्यन्त भीषण था।[6] ब्रह्मा की मध्यस्थता से युद्ध शान्त हुआ तथा हरिहर का माहात्म्य लोक में समान रूप से स्थापित हो गया।[7] यज्ञ में रुद्र का ज्येष्ठ भाग वैदिकी श्रुति से अनुमोदित किया गया।[8] देवताओं ने परमभक्ति के साथ महात्मा शम्भु का स्तोत्र गाया।[9] इस स्तोत्र में शिव के विभिन्न नामों - त्र्यम्बक, हर, शम्भु, रुद्र, भीम, नीलकण्ठ, त्रिपुरघ्न, उमापति, भव, सर्व, महादेव - के साथ देवदेव महेश्वर के स्वरूप - विषमनेत्र, त्रिनेत्र, शूलपाणि, त्रिशूलपाणि, दण्डधारी, कपालधारी - का भी चिन्तन और स्मरण किया गया है।[10] परन्तु उनका सर्वश्रेष्ठ नाम पशुपति है जो समस्त लोकों में आराध्य है।[11]

---

[1] कूर्म, १।१५।७५-७६

[2] वही, १।१५।८०-९१

[3] वही, १।१५।९२

[4] वराह, अ० २१

[5] वही, २१।२५-३८

[6] वही, २१।४०-५९

[7] वही, २१।६०-६२

[8] वही, २१।६५

[9] वही, २१।६६-६७

[10] वही, २१।६८-७६

[11] वही, २१।७९-८३

अ० ३३ में भी रुद्र सम्भूति का वर्णन करते हुए प्राय: इन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति की गयी है । यहां रुद्र क्रोध के साथ दक्ष की यज्ञशाला में जाकर वैतालों, पिशाचों और योगियों को उत्पन्न करते हैं । उन्होंने पूषन् के दांतों और भग के नेत्रों को नष्ट कर दिया ।[१] इसी बीच ब्रह्मा ने उनके क्रोध को शान्त कर दिया । रुद्र अपने को ज्येष्ठ मानते हुए यज्ञ-भाग मांगते हैं ।[२] देवताओं ने शंभु की स्तुति की[३] और शिव ने उन्हें पशु बताते हुए अपने आपको पशुपति घोषित किया ।[४] इस प्रकार शिव पूज्य और देवों के भी स्वामी (देवानां पतिरुच्यते)[५] मान लिये गये । दोनों स्तोत्रों में पशुपति का महत्व परिलक्षित होता है ।

इस दूसरे स्तोत्र में शिव को कपर्दि, स्थाणु, त्रिपुरान्तक, अन्धविनाशक, कैलासवासी, कृत्तिनिवास, भैरव, शशिमौलि, नीलकण्ठ, विश्वेश्वरदेव, शिव, शम्भु, कराल, और महादेव कहा गया है ।[६] इसी अध्याय के श्रवण का भी माहात्म्य बतलाया गया है । इसके श्रवण से पापनाश होता है ।[७] इस प्रकार स्पष्ट है कि विष्णु और उनकी उपासना के साथ ही साथ शिव की भी पूजा का माहात्म्य था । इस अध्याय में विष्णु के साथ युद्ध का वर्णन नहीं है ।

हरि-हर का अभेदत्व

विष्णु-शिव का अभेद-ज्ञान इससे भी सिद्ध होता है कि अत्यन्त सूक्ष्म रूप में नारायण रुद्र के हृदय में ही स्थित थे और इस प्रकार एक ही मूर्ति में दोनों ही परिलक्षित होते थे ।[८]

---

१. वराह, ३३।१-१०

२. वही, ३३।११-१४

३. वही, ३३।१५-२५

४. वही, ३३।२७-३०

५. वही, ३३।३३

६. वही, ३३।१६-२५ : इनमें कुछ नाम पहले स्तोत्र में आ चुके हैं । उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया है ।

७. वही, ३३।३४

८. वही, ७१।२-५

ऊपर दक्ष-आख्यान से स्पष्ट है कि शिव और उनकी उपासना यज्ञ-धर्म के विरुद्ध ज्ञान, वैराग्य तथा तप पर[2] आधारित थी।[1] इसमें त्र्यम्बक नाम तो शिव को ऋग्वेद से सम्बद्ध करता है।

रुद्र (अर्द्धनारीश्वर)

रुद्र नाम भी वैदिक मंत्रों में प्रसिद्ध हो चुका था। यहां पुराणों में, रुद्र को ब्रह्मा के क्रोध से उत्पन्न कहा गया है। यह अर्द्धनारीश्वर (अर्द्धनारीनरवपुः) स्वरूप था, जिसके दो भाग- (१) स्त्रीत्व, (२) पुरुषत्व - थे।[3] पुरुष-भाग से ही ग्यारह रुद्र उत्पन्न हुए। इसे रुद्रसर्ग कहा गया है। यहां इन ११ रुद्रों[4] के नाम नहीं दिये गये हैं।[5] अन्य स्थल (अ० ६७) पर रुद्रोत्पत्ति[6] का वर्णन करते हुए अनेको हुए नीललोहित, पिंगाक्ष, विशालाक्ष, कपाली एवं भव कहा गया है।

कपाली

रुद्र का यह अत्यन्त प्रसिद्ध नाम है। अहंकार-विमूढ़[7] ब्रह्मा के पांचवे शिर को काटकर हाथ में कपाल लिये हुए (कपालहस्तो भगवान्) कपाली कहलाये तथा ब्रह्महत्या से मुक्त होने के लिए ~~सम्पूर्ण संसार~~ में कपाली भिक्षा[8] मांगते हुए सम्पूर्ण संसार में घूमते रहे और नारायण की कृपा से वे शुद्ध हो गये। वराह पुराण के अनुसार रुद्र ब्रह्मा से उत्पन्न होकर ब्रह्मा के कन्धों पर बैठे हुए थे। [illegible]

---

१. कूर्म, १।१५।६६ (२) : समाराध्य तपोयोगादीशानं त्रिदशाधिपम्।

२. ऋग्वेद, ७।४।५६।१२ : त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
श्री एस० के० गुप्त, प्रोसीडिंग्स ओ० का०, दरभंगा, १६४८

३. वराह, २।४८-५२(१), २१४।३४

४. दृष्टव्य, गरुड़ पु० अ०, पृ० २२७-२२८

५. वराह, ६७।२

६. वही, ६७।५-६

७. ~~वही~~, कूर्म, २।३१।६६(२)

८. कूर्म, १।३१।२६-१०२

उत्पन्न होकर ब्रह्मा के कन्धों पर बैठे हुए थे । रुद्र ने ब्रह्मा से अपने पांचवें मुख से आथर्वण मन्त्र को गावे के लिए कहा । परन्तु ब्रह्मा ने रुद्र से कहा कि तुम किरात और कपाली होकर कुमार-बल से संसार की रक्षा करो ।[1] परन्तु रुद्र कपाल शब्द से कुपित हो गये तथा उन्होंने अपने बायें अंगूठे[2] से ब्रह्मा के पांचवें शिर को काट डाला । वह कटा हुआ शिर उनके हाथ में लगा रहा । इस प्रकार वह कपाली हो गये । इस पाप से मुक्त होने के लिए उन्होंने[3] तीर्थ यात्रा की और अन्त में कपालमोचन (वाराणसी) में शुद्ध हो गये । ब्रह्मा ने कापालिक व्रत (नग्न-कापाल-व्रत), तीर्थ यात्रा, शुद्ध शैव[4] तथा पाशुपत शास्त्र का महत्व बतलाया । यही शैवधर्म की लोक-व्यवस्था है । यहां दृष्टव्य है कि `कपाली` के नाम से स्वयं शिव को भी घृणा थी ।

शिव और श्मशान

श्मशान से भी शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध है । कपाली शिव श्मशान में निवास करते हैं । परन्तु विष्णु (एवं उनके अनुयायी) ईश्वर-प्रशंसित श्मशान की निन्दा करते हैं ।[5] वराह पुराण के अनुसार त्रिपुर-विजय में शिव ने बाल, वृद्ध और स्त्रियों की हत्या की थी । उस पाप से शिव-योगी का मान एवं ऐश्वर्य नष्ट हो गया । इसलिए वे अपने गणों के साथ वहां रहते हैं । मायाबल के नष्ट होने

---

१. वराह, ६७।२-५

२. वही, ६७।६-८

३. वही, ६७।१०-२७

४. वही, ६७।२८-३० : एव रुद्र विख्याता लोकमार्ग व्यवस्थित: ।
व्रतानि कुरुते देव त्वत्कृतानि त्रिपुरक ।
स त्वत्प्रसादाद्देवेश ब्रह्मापि विशुद्ध्यति ।
यद्व्रतं नग्नकापालं यद्वाभ्रव्यन्त्वया कृतम् ।
यत्कृतं शुद्धशैवञ्च तन्नाम्ना भविष्यति ।
मां पुरस्कृत्य देवस्त्वं पूज्यसेविधानत: ।
तेषां शास्त्राणि सर्वाणि शास्त्रं पाशुपतं तथा ।
कथयस्व महाभाग सविधानं समासत: ।।

५. वही, १३६।११-१४

पर सर्वभूतमहेश्वर, त्रियम्बक की पूजा करने विष्णु स्वयं वहां गये । विष्णु ने ईश से कहा "पाप-युक्त यहां क्यों रह रहे हो, तुम ही कर्ता और विकर्ता हो, तुम ही सांख्य एवं योग हो, तुम ही योनि (जगत् का कारण) और तुम ही इसमें लीन हो तथा तुम ही उग्र, आदि, देवदेव, साम और दिशाएं हो । क्यों नहीं तुम अपने को तत्व से जानते हो (किन्न बुध्यसि तत्वेन) ? मुझ, विष्णु को देखो और अपनी माया तथा योगशक्ति का स्मरण करो । मैं तुम्हारे कल्याण के लिए ही यहां आया हूं ।"[1] विष्णु द्वारा आत्म-प्रबोध किये जाने पर महेश्वर ने सर्वलोकमहेश्वर नारायण से कहा -" हे विष्णु ! तुम्हारे ही प्रसाद से देवत्व, योग एवं सांख्य (ज्ञान) की प्राप्ति हो गयी है । मैं अब विगत ताप एवं पूर्णरूप से शांत हूं । मैं तुमको जानता हूं और तुम मुझे जानते हो । हमारे - आपके भेद को कोई नहीं जानता है । ब्रह्मा भी यह भेद नहीं जानते हैं । --- त्रिपुर-वध में नरहत्या के पाप से मुक्त होने के लिए क्या करूं ?"[2] विष्णु ने उत्तर दिया कि "कपालमाला को लेकर समल (श्मशान) को चले जाओ । वहां मनुष्य निस्पृह होकर रहते हैं । वहीं कपालों को लेकर मांस-भक्षण करते हुए रहो । मृत प्राणियों के मांस ही तुम्हारे प्रिय भोज्य हैं । एक सहस्र वर्ष (?) तक वहां रहने के बाद तुम गौतम मुनि के प्रसाद से पाप रहित हो जाओगे ।"[3] २८ शैवाचार्यों में गौतम भी महान् आचार्य माने गये हैं ।[4]

प्रो० भंडारकर के अनुसार शिव के अनुयायी चार सम्प्रदायों - (१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कारुकसिद्धांतिन (कारुणिकसिद्धांती) और (४) कापालिक - में विभक्त थे । इनमें पाशुपत, कालमुख और कापालिक सम्प्रदायों को अतिमार्गिक अथवा कुमार्ग पर चलने वाला कहा गया है तथा शैव सम्प्रदाय को सिद्धांत शास्त्र

---

१. वराह, १३६।१६-२६

२. वही, १३६।३०-३६

३. वही, १३६।३७-४५

४. हि०इ०फि०, भाग ५, पृ० ६

अथवा सत्यशास्त्र और धर्म पथ पर चलने वाला कहा गया है।[1]

वराह पुराण में इन सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु एक ओर रुद्र-माहात्म्य[2] और उनकी स्तुतियां[3] प्राप्त होती हैं, इसके प्रतिकूल, दूसरे पक्ष में, शिव को कपाली, श्मशानवासी, मृतप्राणियों (शवों) का मांस-भक्षक और नर-बध के कारण पापयुक्त कहा गया है।[4] इस प्रकार वराह पुराण स्पष्टतः शैव सम्प्रदाय को मुख्यतः दो भागों में ही विभक्त करता है -

१. धर्मलक्षण से युक्त शुद्ध आचरण करने वाला वर्ग तथा
२. धर्म के प्रतिकूल आचरण करने वाला अर्थात् कुमार्ग पर चलने वाला वर्ग।

दूसरा वर्ग ही पाषण्ड-रत भी कहा गया।[5] इन दोनों शैव सम्प्रदायों के उदय और विकास पर भी वराह पुराण महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। यह एक आख्यानक-रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

मोह एवं मोहशास्त्र

हरि-भक्ति से सभी लोग मुक्तिपद को पाते जा रहे थे।[6] चिन्ता यह हुयी कि फिर नरक में कौन रहेगा और सृष्टि कैसे होगी? भगवान् जनार्दन ने कहा कि तीन युगों में तो बहुत से मनुष्य[7] उनकी उपासना करेंगे। परन्तु कलियुग में विरले ही लोग भगवान् का आश्रय लेंगे। इसलिए मैं मोह को उत्पन्न कर रहा हूं

---

[1] क०व०म० (वै०शै०), भाग ४, पृ० १८०-१८१
[2] वराह, ६६।५५(२) : रुद्रस्य खलु माहात्म्यं सकलं कीर्तितं मया।
वही, ६७।३३(१) : एतद्रुद्रस्य माहात्म्यं मया ते परिकीर्तितम्।
वही, ७१।१-२ इत्यादि
[3] वही, २१।६६-६७, ३३।१५ इत्यादि
[4] वही, १३६।३४-४२
[5] वही, ७१।६२ : एतत् कथितं विप्रा मया धर्मस्य लक्षणम्।
एतस्माद्विपरीतो यः स पाषण्डरतोऽभवत्॥
[6] वही, ७०।३०-३३
[7] वही, ७०।३४-३५(१)

और रुद्र ! तुम मोहशास्त्र का निर्माण करो । हे महेश्वर ! संसार के लोगों को थोड़ा सा ही प्रयत्न दिखाकर (अल्पायासं दर्शयित्वा मोहयाशु महेश्वर) ।[१] महेश्वर ने ऐसा ही किया और उसके बाद बहुत से लोग मोहशास्त्र-परायण हो गये ।[२]

पाशुपत शास्त्र एवं पाशुपत योग

यह मोहशास्त्र ही पाशुपतशास्त्र और मोह भी पशुभाव तथा पाश है ।[३] वराह पुराण कहता है कि नारायणदेव एवं वेद-मार्ग को जो एक ही जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं । किन्तु जो ब्रह्मा, विष्णु और[४] शिव में भेद करते हैं वे वेदमार्ग के प्रतिकूल पापकर्म करने वाले नरक को जाते हैं । इन्हीं पापी लोगों में मोह उत्पन्न करने के लिए शिव ने जो शास्त्र (मोहशास्त्र) बनाया वह नयसिद्धांत ~~कलात~~ कहलाता है ।[५] यह पशुभाव ही पाश (बन्धन)[६] है और इसी से व्यक्ति का पतन होता है । इसे पाशुपत-शास्त्र-वेद कहते हैं । इस प्रकार मूल वेदों के अतिरिक्त पाशुपतशास्त्र को भी वेद कहा गया है । इस प्रकार पाशुपतशास्त्र अथवा पाशुपतधर्म वेदमार्ग की प्रतिकूलता के कारण ही मोहशास्त्र कह कर निन्द्य बताया[७] गया है । संसार को मोहयुक्त बनाने के लिए ही यह पृथक् शास्त्र बना । इस शास्त्र से सम्बद्ध मिथ्या ही व्रत, जटाएं एवं भस्म धारण[८] करने वाले विप्रों को गौतम ने वेदकर्म-बहिष्कृत और त्रयीबाह्य कहा है । वे आडम्बरमात्र से जटाएं धारण[९] कर शिव के समान ही प्रेतलोक में मिथ्या शिव चिन्हों या लिंग के धारण करते थे ।

---

१. वराह, ७०।३५(२) : एवमोहं सृजाम्याशु यो जनं मोहयिष्यति ।

२. वही, ७०।३६ : त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ।
अल्पायासं दर्शयित्वा मोहयाशु महेश्वर ।।

३. वही, ७०।३७-३८

४. वही, ७०।३९-४०

५. वही, ७०।४१ : ये वेदमार्ग निर्मुक्तास्तेषां मोहनार्थमेव च ।
नयसिद्धान्तसंज्ञाभिर्मया शास्त्रन्तु दर्शितम् ।।

६. वही, ७०।४२ : पाशोऽयं पशुभावस्तु स यदा पतितो भवेत् ।
तदा पाशुपतं शास्त्रं जायते वेदसंज्ञितम् ।।

७. वही, ७१।८-९ : एवमुक्ते तु रुद्रेण सर्वे ते मुनयो नृप ।
पप्रच्छुः शंकरं देवं मोहशास्त्र प्रयोजनम् ।
मोहनार्थन्तु लोकानां त्वया शास्त्रं पृथक्कृतम् ।।

८. वही, ७१।३९-४३

९. वही, ७१।४८

इस प्रकार शिव-शास्त्र एवं शैवधर्म दो प्रकार का है -

१. वेदक्रियासमायुक्त-संहिता तथा तदनुकूल धर्म,
२. मोक्षशास्त्र या पाशुपत शास्त्र तथा पाशुपत धर्म ।

इनमें पहला सम्प्रदाय धर्मलक्षणों से युक्त, शिवशासन-परायण तथा आचार सम्मत था ।[१] दूसरा सम्प्रदाय दम्भ, मोह (रागद्वेष आदि), लौल्य, शौचरहित रौद्र तथा क्षुद्रकर्म-सुरा-मांस एवं स्त्री-लोलुपता आदि सदाचार विरुद्ध कर्मों पर आधारित था ।[२] दूसरे वर्ग को ही पाषण्ड कहा गया । इसकी निम्नलिखित विशेषताएं थीं -

१. यह वेदमार्ग के प्रतिकूल पाशुपत शास्त्र पर आधारित था और पाशुपत शास्त्र के रचने वाले दाम्भिक एवं लौल्यार्थी द्विज थे[३] जिन्होंने कलि (कलह, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ) युग में अपने शास्त्र की रचना की ।

२. ये पाशुपत दीक्षा से सम्पन्न पाशुपत योग - परायण थे ।[४]

३. ये शौचवर्जित क्षुद्रकर्म परायण वेदमार्ग के विरुद्ध आचरण करते थे ।[५]

४. ये लौल्यार्थी, वेदान्तिक लोग, रुद्र के उपासक थे तथा अपने बनाये हुए शास्त्रों को वेद के समान मानते थे । इनको उच्छुष्मरौद्र (उच्छुष्मरौद्रास्ते)[६] भी कहा गया है । ये शिव-प्रिय नहीं थे (नाहन्तेषु व्यवस्थितः) ।

५. ये भैरव को मानने वाले क्रूरकर्म-परायण थे ।[७]

---

१. वराह, ७१।५६(१-२)
२. वही, ७१।५२-५८
३. वही, ७१।५२
४. वही, ७१।५३
५. वही, ७१।५४
६. वही, ७१।५५
७. वही, ७१।५६

६. ये लोग ऐसे ही बहुत से रौद्र, उच्छुष्म-निरत, सुरामांसप्रिय, स्त्रीलोल और पापकर्म करने वाले थे। ये गौतम मुनि से शापित द्विज ही थे ।[1]

अतः इस वर्ग को पाषण्ड कहना उचित ही था । कापालि को 'नग्न' और पाषण्ड के साथ ही (नग्नकापालिपाषण्ड)[2] पतित कहा गया है ।

शिवाराधन (शिवभक्ति)

शिव की उपासना मूर्ति और लिंग-रूप में होती थी ।[3] स्वयं शिव कहते हैं कि लिंग मूर्ति में उनकी पूजा देवता आदि करते हैं ।[4] नेपाल में शंकर-उपासना पर विशेष रूप से वर्णन किया गया है ।[5] मुन्जवान पर्वत[6] पर धर्मारण्य क्षेत्र में स्थाणु नामक महेश्वर और पार्वती की पूजा होती थी । यहाँ नन्दी नामक महामुनि ने तप करते हुए शिव (शर्व) की पूजा करते थे । वह मुनि उग्र-तपस्या, विविध व्रतों[7] एवं नियमों का पालन करते हुए जपपुष्पोपहार से भक्ति के साथ पूजा करते थे । तप, पूजा एवं भक्ति से प्रसन्न होकर शिव जी ने उनके सम्मुख प्रत्यक्ष दर्शन देते हुए कहा कि " मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूं जिससे तुम मेरे अदृश्य रूप को देख लो"-

उक्तवांश्च मुनिं शर्वश्चक्षुर्दिव्यं ददामि ते ।
अदृश्यं पश्य मे रूपं वत्स प्रीतोऽस्मि ते मुने ।।[8]

---

१. वराह, ७१।५८
२. वही, १७४।४३
३. वही, १८६।४२
४. वही, ७२।१०(१)
५. वही, अ० २१३-अ० २१५
६. वही, २१३।१३
७. वही, २१३।३०-३४
८. वही, २१३।३६, यहाँ गीता (११।८) की शब्दावली का स्मरण हो आना स्वाभाविक है । कृष्ण भी अर्जुन से कहते हैं -
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

भगवान शंकर के इस स्वरूप का दर्शन ज्ञानी (विद्वांसो) ही करते हैं ।[1] यही शुद्ध शैव धर्म था जिसमें उपासना, भक्ति एवं ज्ञान का सम्मिश्रण था न कि कापालिकों और पाशुपतों की निन्द्य क्रियायों का।भगवान् के स्वरूप को देखकर नन्दी ने हाथ जोड़कर स्तुति एवं वन्दना की ।[2] भगवान् ने प्रसन्न होकर उन ऋषि से वर मांगने को कहा । नन्दी ने सभी कुछ - प्रभुत्व, अमरत्व, शक्रत्व, ऐश्वर्य, गाणपत्य, ब्रह्मत्व, लोकपालत्व, अपवर्ग आदि को - त्याग कर शिव के प्रति अनन्य भक्ति की याचना की[3] -

> यथान्ये न भवेद्भक्तिस्त्वत्तो नित्यं महेश्वर ।
> तथाहं भक्तिमिच्छामि सर्वभूताशये त्वयि ।।[4]

शिवभक्ति के अनुसार शिव का आराधन शुद्धचित्त से तप, जप, और पूजा पर आराधित थी ।[5] इन साधनाओं से ही नन्दी महामुनि नन्दीश्वर हो गये जो शिव के समान ही पूज्य थे ।[6] रुद्र-कोटि का जप[7] शिवाराधन में महत्वपूर्ण माना गया है ।

चतुर्दशी तिथि पर शिव-पशुपति की पूजा करने का माहात्म्य है । इस तिथि पर उपवास रखकर ब्राह्मणों को गोधूम (गेहूं) का भोजन कराना चाहिए ।[8] इसे ईशानव्रत कहा गया है । लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु में कालिका पुराण से इस व्रत का वर्णन उद्धृत किया है ।[9] बताया गया है कि सूर्यवंशीय क्षत्रियों ने ही यहां से नेपाल जाकर वहां लिंगार्चन की स्थापना की ।[10] उमापति चन्द्रशेखर की उपासना यहां भी करते थे ।[11]

---

[1] वराह, २१३।३७
[2] वही, २१३।४२-५०
[3] वही, २१३।५३-५७
[4] वही, २१३।५८
[5] वही, २१३।५९-६२
[6] वही, २१३।६८-७९
[7] वही, २१३।५९(२), ६३
[8] वही, ३३।२९-३०
[9] कृ० क० त०, भाग ६, पृ० ३८३-३८५
[10] वराह, २१५।४४
[11] वही, अ० ८०, पृ० ३५५

त्रिमूर्ति

(ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा: ।वराह ७०।२१)

त्रयी – पुराणों में देव-त्रय (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), त्रिमूर्ति का महत्व प्रतिपादित किया गया है । शिव, ब्रह्मा और विष्णु नामक तीनों देवताओं को त्रयी का नाम दिया गया है (भवान् ब्रह्मा च विष्णुश्च त्रयमेतत्त्रयी स्मृता) ।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि एक परमेश्वर का यह त्रिविध-विभाजन त्रिगुणों पर आधारित है । एक अव्यक्त परमेश्वर ने अपने आपको तीन भागों में विभक्त कर (त्रिधा भूत्वा) तीन गुणों के अनुरूप सात्विक, राजसिक और तामसिक स्वरूपों में अपने आपको प्रकट किया । सात्विक स्वरूप का सम्बन्ध वेदपाठ से था । राजसिक स्वरूप यज्ञ करने के लिए था और तामसिक रूप, कालस्वरूप, शूलपाणि रुद्र थे । तामस स्वरूप असुरों में प्रसिद्ध था ।[२] कृतयुग में वही परमेश्वर नारायण था, त्रेता में वह रुद्र रूप था तथा द्वापर में वह यज्ञमूर्ति था ।[३] यद्यपि यहां पर सात्विक और राजसिक रूपों का नामोल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि नारायण-परमेश्वर ने अपने को तीन प्रकार से सात्विक, राजसिक और तामसिक रूपों में विभक्त किया । विष्णु सत्व-स्वरूप हैं । नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने राजसिक और तामसिक गुणों से युक्त शिव को जन्म दिया । ब्रह्मा सात्विक और राजसिक गुणों से युक्त हैं ।[४] सत्व स्वरूप से मुक्ति होती है । राजसिक स्वरूप से सृष्टि होती है । वेदबाह्य कर्म और शास्त्र का स्वरूप रौद्र-वृत कहा गया है ।[५] यह गुण-भेद होने पर भी वराह पुराण स्पष्ट कहता है कि " जो विष्णु है, वही ब्रह्मा है और वही महेश्वर है । इन तीनों में जो कोई भेद करता है, वह दुष्ट और दुरात्मा दुर्गति को पाता है ।[६]

---

१. वराह, ७२।२(१)

२. वही, ७०।६-१४(१)

३. वही, ७०।१५-१६, तीनों देवताओं (त्रयी) के रूप भी नारायण से ही उत्पन्न हुए, [illegible] (वराह, १८७।१७) ।

४. वही, ७०।१५-१८

५. वही, ७०।२

६. वही, ७०।२६(२)-२७

ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर - प्रश्न है कि शिव, हरि और चतुर्मुख (ब्रह्मा) में कौन पर (परब्रह्म) है और कौन अपर है ।[1] वराह पुराण के अनुसार नारायण परं देवता हैं, उसके बाद उनसे उत्पन्न ब्रह्मा तथा ब्रह्मा से उत्पन्न रुद्र सर्वज्ञ कहलाते हैं ।[2] जब शिव जी कैलास पर विराजमान थे, वहां ब्रह्मा जी आये । ब्रह्मा ने रुद्र को अन्धक द्वारा देवताओं को पीड़ित करने का समाचार बतलाया । उन्होंने नारायण का स्मरण किया ।[3] नारायण दोनों - ब्रह्मा और रुद्र - के बीच में आकर उपस्थित हो गये और वे तीनों देवता एकीभूत हो गये ।[4] वे स्वयं सूक्ष्म दृष्टि से अपने आपको एक रूप में पाकर प्रसन्न हुए । इस प्रकार उनकी तीन प्रकार की दृष्टि एक समान हो गयी ।[5] यह त्रिविध दृष्टि, त्रिगुणात्मिका दृष्टि - सात्त्विक, राजसिक और तामसिक - ही रही होगी ।[6] एक ही मूर्ति को त्रिधाविभक्त किया गया था । शेषशायी नारायण कहते हैं कि ईश्वर (शिव) को क्रोध के कारण उत्पन्न किया गया । ब्रह्मा भगवान् नारायण के नाभिपद्म से उत्पन्न हुए । इस प्रकार तीनों ही देवता (ब्रह्मविष्णुहर) समुद्र में एक साथ परम प्रीति के साथ स्थित रहते हैं । किन्तु श्राद्ध-वर्णन[7] के प्रसंग में ब्रह्मा, विष्णु और शिव को पितृदेवता के रूप में वर्णन करते हुए ब्रह्मा को पिता, विष्णुदेव को पितामह और रुद्र को प्रपितामह कहा गया है ।[8]

त्रिकला देवी - तीनों देवताओं (त्रिमूर्ति) के समान ही उनकी तीनों शक्तियों के भी एक रूप का वर्णन त्रिकला देवी के नाम से किया गया है ।[9] इस परमेश्वरी कुमारी देवी को त्रिशक्ति भी कहते थे ।[10]

---

१. वराह, ९०।१-२
२. वही, ९०।३
३. वही, ९०।८-१६
४. वही, ९०।१७ : ततो नारायणो देवो ताभ्यां मध्ये व्यवस्थितः ।
तत्रैकीभूतास्ते तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।।
५. वही, ९०।१८
६. वही, १८७।८, १२-१४
७. वही, १९०।५७
८. वही, १९०।५८
९. वही, ९०।२१-२३
१०. वही, ९१।१

शाक्त धर्म

धर्म के इतिहास में देवी-उपासना का विशेष महत्व है। विश्व-संस्कृति के विभिन्न कक्षों में उपास्य मातृ-देवी को विराजमान पाते हैं। प्रागैतिहासिक युग[1] से लेकर आज तक देवी-माहात्म्य अक्षुण्ण बना हुआ है। पुराणों में विशेषकर मार्कण्डेय पुराण[2] और देवी-भागवत पुराण[3] देवीमाहात्म्य के लिए प्रसिद्ध हैं। अभिलेखों, मुद्राओं और सिक्कों पर भी देवी के विविध रूपों और नामों को पाते हैं।[4]

देवी-उपासना को ही शाक्तधर्म कहते हैं। देवी-भक्त को शाक्त व्यक्ति कहते हैं कि वह मातृरूप में ईश्वर को परमशक्ति स्वरूप पूजता है।[5] वराह पुराण में त्रिमूर्ति के साथ ही साथ त्रिकला-शक्ति की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री शक्तियों के माहात्म्य और कार्य का वर्णन सिद्ध करता है कि वराह पुराण के युग के धार्मिक जीवन में भी शक्ति-उपासना का महत्व था।

वराह पुराण में भी गौरी-चरित्र का वर्णन किया गया है। प्रजापति ब्रह्मा ने अपने कोप से उत्पन्न रुद्र (रोदनाच्चस्य रुद्रत्वं संजातं) को स्वमूर्ति-सम्भवा गौरी नामक कन्या (गौरीं नाम्नीं स्वयं देवीं भारतीं) भार्या रूप में दी। परन्तु जब रुद्र सृष्टि करने में असमर्थ दिखायी दिये तो ब्रह्मा ने गौरी को आत्मसात्[6] कर लिया। पुनः दक्ष से उत्पन्न दाक्षायणी देवी शिव को ब्याह दी गयी।

---

[1] प्रिहिस्टारिक इंडिया, पृ० २०१-२०२
पी० ता० रे०, पृ० ११०-११२

[2] मार्कण्डेय पु०, अ० ७८-अ० ९०

[3] देवी भाग०, ११।१७।३९(२) : न देवीपूजनात्पुण्यमधिकं क्वचिदीक्ष्यते।
वही, ११।१८।६६ : न शिवोपासना नित्या न विष्णूपासना तथा ।।
नित्योपास्तिः परादेव्या नित्या श्रुत्यैव चोदिता ।।
वही, ११।१८।५७-५८

[4] स्ट० इ० ब० नीला, पृ० १७२-१७६ इत्यादि

[5] शक्ति और शाक्त, पृ० ६

[6] वराह, २१।१-१२, ८४-८६

शक्ति-त्रिमूर्तित्व एवं महत्व - त्रिमूर्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर संयुक्तरूप में एक ही हो गये, तब उनकी एक दृष्टि से ही एक दिव्य कुमारी का जन्म हुआ। वह कुमारी त्रिवर्णा (तीन रंगों वाली) - कृष्णा, शुक्ला और पीतिका - थी। यही कुमारी देव-त्रयी की शक्ति और परमेश्वरी कही गयी है। इसे ही त्रिकला देवी भी कहा गया है जो सर्वदा विश्व की पालन करने वाली शक्ति है।[1] उसके अन्य नाम भी सर्वप्रकार से सिद्धि देने वाले हैं।[2] इससे देवी-भक्ति का परिचय मिलता है। अन्य देवताओं की भांति देवी-नामों का भी महत्व है।

देवताओं ने अलग अलग तीन प्रकार के तीन रंग वाले शरीरों को कर दिया। सफ़ेद (श्वेत, सिता), लाल और कृष्ण (काले) रंग की देवियां हो गयीं।[3]

ब्राह्मी (सृष्टिदेवी)[4] - श्वेत रंग वाली ब्राह्मी देवी प्रजा की सृष्टि करने वाली ब्रह्मा की शक्ति है। यह सौम्य रूप वाली देवी है जो ब्रह्मा में अधिष्ठित रहती है। वह सर्वज्ञत्व (सर्वगत्व) की प्राप्ति के लिए तप करने श्वेत पर्वत पर चली गयी।[5] उस देवी के बिना ब्रह्मा-प्रजापति सृष्टि कार्य में सफल न हो सके और उसे खोजते हुए वे स्वयं श्वेतपर्वत पर गये जहां उन्होंने उस कुमारी (कन्यां) को देखा।[6] ब्रह्मा ने उस सृष्टिदेवी को सर्व-गामी होने का वरदान दिया।[7] सृष्टिदेवी ब्रह्मा में

---

[1] वराह, ९०।१८-२३

[2] वही, ९०।२४ : अपराण्यपि नामानि भविष्यन्ति तवानघे।
गुणोत्थानि महाभागे सर्वसिद्धिकराणि च॥

[3] वही, ९०।२६

[4] वही, ९०।३०(१) : या सृष्टिर्ब्रह्मणो देवी श्वेतवर्णा विभावरी।
वही, ९०।४०(१), ४१(१), ९१।२(१)

[5] वही, ९०।२७, ३०-३१
वही, ९०।३९ : सर्वगत्वमभीप्सती -- ऐसा स्पष्टत: प्रतीत होता है (वराह, ९०।३९-४०) कि `सर्वज्ञत्व` पाठ अशुद्ध है।

[6] वही, ९०।३४-३८

[7] वही, ९०।३९-४१

लय हो गयी ।[१] उस समय से लेकर ब्रह्मसृष्टि का विस्तार बढ़ने लगा ।[२] इस प्रकार सृष्टि कार्य में ब्रह्मा की शक्ति, ब्राह्मी देवी, का महत्व स्थापित हो गया ।

विधेश्वरी - लोकसृष्टि[३] के अतिरिक्त सृष्टिदेवी से ही सम्पूर्ण वाङ्मय की भी स्थापना हुयी । वही सर्वाक्षरमयी देवी एकाक्षरा, वागीशा, सरस्वती, विधेश्वरी और अमिताक्षरा भी कहलाती हैं । वही ज्ञाननिधि देवी है और वही विभावरी भी कहलाती है । उसके सौम्य तथा ज्ञानोद्भव नाम दृष्टव्य हैं ।[४] यह सात्विक देवी है । इस ब्रह्मशक्ति के अनन्त भेद हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिशक्ति देवी का श्वेतवर्णीय स्वरूप सृष्टि कहलाता है और उस सृष्टिदेवी से न केवल सम्पूर्ण स्थावरजंगम-जगत की ही सृष्टि हुयी, प्रत्युत् सम्पूर्ण वाङ्मय, वर्ण (अक्षर) और ज्ञान की भी उत्पत्ति इसी देवी से हुयी । अतः उस देवी को ज्ञान-निधि का उपयुक्त नाम ही दिया गया है । उस देवी की शक्ति से ही अशक्त-प्रजापति[५] (ब्रह्मा) सृष्टिकार्य एवं ज्ञानविस्तार में सशक्त हो गया ।[६] इसी लिए ब्रह्मा ने देवी की स्तुति की ।[७]

परमेश्वरी - इस ब्रह्मस्तुति से ज्ञात होता है कि ध्रुवा सत्यसम्भूता, अक्षरा, सर्वगा,[८] सर्वजननी, सर्वभूतमहेश्वरी, सर्वज्ञा, सर्वसिद्धिप्रदायिनी देवी परमेश्वरी है । वही देवी यज्ञ, ज्ञान और वेदों (धर्म) तथा पशु-प्राणियों एवं

---

[१] वराह, ९०।४१
[२] वही, ९०।४२
[३] वही, ९०।४४ : यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके जगत्स्थावरजंगमम् ।
तत्सर्वं स्थापितं सृष्ट्या भूतं भव्यञ्च सर्वदा ॥
वही, ९६।६८(३)
[४] वही, ९१।१-४
[५] वही, ९०।३४-३५
[६] वही, ९०।३६-४४
[७] वही, ९१।८
[८] वही, ९१।९-१०

वनस्पति-जगत की उत्पत्ति का कारण है। वही विद्या (विद्या विद्येश्वरी -- सर्वज्ञा[1]) और सभी सिद्धियों को देने वाली (सिद्धा प्रसिद्धा-- सर्वसिद्धिविधायिनी) है। सर्व-विद्येश्वरी देवी[2] शत्रुओं का नाश कर कल्याण करने वाली तथा संतान देने वाली प्रजेश्वरी है। ब्राह्मी देवी का यह माहात्म्य ही सिद्ध करता है कि सरस्वती देवी कितनी और क्यों पूज्य है।

वैष्णवी - त्रिशक्ति का वर्णन करते हुए कहा[3] गया है कि कुमारी वैष्णवी देवी मन्दरपर्वत पर तपस्या करने चली गयी। कौमारव्रत का पालन करती हुयी यह राजसी शक्ति विशाला (बद्रीनाथ) के निकट तप कर रही थी। बहुत समय तक वहां अकेली होने के कारण परमाशक्ति का मन क्षुब्ध हो गया। उसके क्षोभ से ही सौम्यनेत्रवाली बहुत सी कुमारियां उत्पन्न हो गयीं। इन लाखों कुमारियों को देखकर वहीं, उस पर्वत पर, उस देवी ने एक पुर (नगर) का निर्माण किया, जहां असंख्य कन्यायें भी जुट गयी थीं। उनमें प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं[4] -

विद्युत्प्रभा, चन्द्रकान्ति, सूर्यकान्ति, अपरा (?), गम्भीरा, चारुकेशी, सुजाता, मुंजकेशिनी, घृताची, उर्वशी, शशिनी, शीलमंडिता, चारुकन्या, विशालाक्षी, धन्या, पीनपयोधरा, चन्द्रप्रभा, गिरिसुता, सूर्यप्रभा, अमृता, स्वयम्प्रभा, चारुमुखी[5], शिवदूती, विभावरी, जया, विजया, जयन्ती एवं अपराजिता।

ये तथा अन्य[6] सभी अनुचरी देवियां थीं जो उस वैष्णवी देवी की सेवा में वहां विद्यमान थीं। सभी लोग, देव, गन्धर्व, ऋषि, सिद्धचारण, दैत्य आदि

---

[1] वराह, ६१।११-१३
[2] वही, ६१।१४-१५
[3] वही, ६०।३२
[4] वही, ६२।१-७
[5] वही, ६२।८-१०
[6] वही, ६२।११-१३

उस वरदा देवी की उपासना करते थे ।[१]

महिषासुर-वध - नारद ने उस देवी के रूप की महिमा की प्रशंसा कर महिषासुर को उसे प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया ।[२] उस परमादेवी[३] को ही वैष्णवी शक्ति[४] कहा गया है जिसमें सचराचर त्रैलोक्य विद्यमान् था ।[५] उस परमेश्वरी[६] देवी ने ही अपनी अनुचरी देवियों के साथ घोर रूप धारण कर रुद्र के सान्निध्य में महिषासुर का वध कर दिया ।[७] सभी देवताओं ने उनकी स्तुति की जिससे देवी-माहात्म्य सिद्ध होता है ।[८] इस वैष्णवी देवी के १८ कोटि के भेद कहे गये हैं । यह राजसी शक्ति, वैष्णवी ही पालन करने वाली (पालनी) है ।[९] स्पष्ट है कि देवी-पूजा का महत्व था ।[१०]

रौद्री (तामसीशक्ति)[११] - त्रिशक्ति में रौद्री को तमोद्भवा शक्ति कहा गया है ।[१२] वह नीलगिरि पर तप करने गयी थी ।[१३] रौद्रीदेवी को कृष्णा (काली), विशालाक्षी, कराल-दांतों वाली कहा गया है ।[१४] वह कालरात्री और संहारकारिणी है ।[१५] रुरु दैत्य से त्रस्त देवताओं को अभयदान देती हुयी भीमपराक्रमा

---

[१] वराह, ९२।३१-३२(१)
[२] वही, ९२।३०-३२
[३] वही, ९५।२१(२)
[४] वही, ९३।९ : सा शक्तिः परमा देवी वैष्णवी रूपधारिणी ।
[५] वही, ९५।२२
[६] वही, ९५।४५(१), ५८(२), ५९(१)
[७] वही, ९५।३०-४९
[८] वही, ९५।५०, ५१-५९
[९] वही, ९६।६८(१-२)
[१०] वही, ९५।५९-६३
[११] वही, ९६।१८
[१२] वही, ९६।१
[१३] वही, ९०।३३, ९६।१
[१४] वही, ९०।३३(१)
[१५] वही, ९६।१८, ३३

देवी हंसी और उसकी हंसी से ही बहुत सी अनुचरा देवियां प्रकट हुयीं । उन देवियों से यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ।[1]

चामुण्डा - इन देवियों के साथ ही महादेवी ने रुरु दैत्य की सेना को युद्ध में नष्ट कर दिया । केवल वह दैत्य ही बच गया ।[2] देवी के त्रिशिख द्वारा उस दैत्य के चर्म और मुण्ड पृथक्[3] हो गये जिन्हें देवी ने अपहरण कर लिया,[4] इसी से वह चामुण्डा कहलायी । रुद्र-पशुपति महादेव ने उनकी[5] स्तुति की । इस स्तुति से वह देवी प्रसन्न होकर सबको वरदा होती[6] है । तामसी रौद्रीशक्ति को ही चामुण्डा कहते हैं । इसके नवकोटि भेद हैं । इन सभी देवियों के पति भगवान् रुद्र ही कहे गये हैं । जितने रूप महाशक्ति के हैं, उतने ही स्वरूप शंकर के भी होते हैं ।[7]

इस प्रकार यह त्रिशक्ति-समुच्चय का वर्णन देवी-भक्ति का माहात्म्य है जिसके श्रवण करने से भक्त सर्वपापहीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है । जिसके घर में यह देवी-माहात्म्य लिखा हुआ रहता है अथवा जो पुस्तक में भी स्थित[8] इसकी पूजा करता है, वह अभय होकर सुख और सम्पदा प्राप्त करता है ।

ब्रह्मा से गायत्री का जन्म हुआ और उसने भी वेत्रासुर से युद्ध किया ।[9]

---

१. वराह, ९६।१९-२३
२. वही, ९६।२४-३१
३. वही, ९६।३२ : रुरोस्तु दानवेन्द्रस्य चर्ममुण्डे क्षणात्ततः ।
अपहृत्याहरद्देवी चामुण्डा तेन सा भवत् ।।
देवीभाग० (५।२६।५५) में चंड एवं मुंड का वध करने के कारण देवी चामुंडा कहा गया है ।
४. वही, ९६।४५-५०
५. वही, ९६।५२
६. वही, ९६।५७
७. वही, ९६।६९-७०
८. वही, ९६।५३-५६, ६१-६५
९. वही, ९९।१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

देवकार्य करने के लिए ही वह देवी नन्दादेवी हो गयी और उस वैष्णवी देवी ने विन्ध्य पर्वत पर युद्ध करते हुए महिषासुर को मार डाला ।[१]

गंगा को भी शंकरप्रिया देवी कहा गया है ।[२] गोविन्द, विभावसु, शक्र, शिव, ब्रह्मा, चन्द्र, रवि, बृहस्पति, और मुनियों में क्रमशः लक्ष्मी, स्वाहा, शची,[३] गौरी, गायत्री, ज्योत्स्ना, प्रभा, बुद्धि और मेधा को भी देवी कहा गया है । ये विभिन्न शक्तियां हैं जिनकी श्रद्धा के साथ आराधना होती है ।

अष्टमातृगण - देवियों के बहुत नाम और रूप थे[४] और विभिन्न ग्रन्थों में ये भिन्न-भिन्न मिलते हैं ।[५] वराह पुराण में अन्धक-वध का वर्णन करते हुए मातृदेवियों के जन्म (जन्म मातृणां,[६] मातृणामुद्भव[७]) का वर्णन किया गया है ।[८] यहां आठ मातृदेवियों का उद्भव का वर्णन करते हुए उनकी समता कामादिगण (काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य, पैशुन्य और असूया) से की गयी है ।[९]

---

१. वराह, ९९।३-४
२. वही, ९९।३(१)
३. वही, ११०।९-१०
४. गरुड़ पु० अ०, पृ० २३८-२४०
५. डे० हि० आ०, पृ० ५०३-५०५
६. वराह, २७।४२
७. वही, २७।४१
८. वही, अ० २७, मत्स्य (अ० १७८) में भी अन्धक-वध का वर्णन करते हुए माताओं का जन्म-वृत्त मिलता है । यहां पहले लगभग ७६ देवियां शिव से उत्पन्न हुयीं (१७८।९-१८) । फिर नृसिंह ने ४ देवियों को उत्पन्न किया (१७८।६२-६४) । इनकी अनुचरी देवियां ३२ थीं (१७८।६५-७३) । यहां सप्त मातृदेवियों का भी उल्लेख है (१७८।८८) । इनमें केवल रौद्री का नाम दिया गया है (१७८।८१) । वराह पुराण में केवल अष्ट माताओं का वर्णन है ।
९. वराह, २७।३७

अन्धकार्दित देवता और ब्रह्मा शिव के पास कैलास पर्वत पर गये । उन्होंने अपने आने का कारण अन्धकोत्पात बताया तथा शिव को उससे रक्षा करने के लिए कहा । अन्धक के साथ युद्ध करते हुए शिव के त्रिशूल से आहत अन्धक के शरीर से जो रक्त पृथ्वी पर गिरा, उससे असंख्य अन्धक उत्पन्न हो गये । यह देखकर रुद्र ने मूलान्धक को पकड़ कर त्रिशिखाग्र से घायल कर दिया और नारायण ने अन्य अन्धकों को मारा । इसी समय विभिन्न देवताओं ने अपनी अपनी देवियों को[1] प्रकट किया ।

१. योगेश्वरी[2] - रुद्र के क्रोध से उत्पन्न योगेश्वरी रुद्र के ही समान रूप वाली देवी[3] थी । इसे काम का स्वरूप माना गया है (कामं योगेश्वरीं विद्धि) ।

२. माहेश्वरी - इसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं[4] किया गया है । इसे क्रोध का रूप कहा गया है[5] (क्रोधो माहेश्वरी तथा) । माहेश्वरी देवी को गायत्री भी माना गया है ।

३. वैष्णावी - विष्णु[6] ने इस देवी का निर्माण किया था । इसी लिए इसे वैष्णावी कहा[7] गया है । इसका तादात्म्य लोभ से किया गया है (लोभस्तु वैष्णावी) ।

---

[1] वराह, २७।१-२९

[2] वही, २७।३०

[3] वही, २७।३५(१)

[4] वही, २७।३५(१)

[5] गरुड़ पु०, १।२०६।४

[6] वराह, २७।३१(१)

[7] वही, २७।३५(२)

४. ब्रह्माणी - ब्रह्मा से विनिर्मिता देवी ब्रह्माणी[1] का तादात्म्य मद से किया गया है (ब्रह्माणी मद एव च)।[2]

५. कौमारी - कार्त्तिकेय द्वारा विनिर्मिता देवी[3] को कौमारी कहा गया है जिसका तादात्म्य मोह से किया गया (मोह: स्वयम्भु: कौमारी)।[4]

६. माहेन्द्री[5] अथवा इन्द्रजा[6] - इन्द्र द्वारा निर्मिता, इन्द्रजा[7] देवी अथवा माहेन्द्री को मात्सर्य बताया गया है (मात्सर्यन्चेन्द्रजां विदु:)।[8]

७. यामी - यम-विनिर्मिता देवी[9] को यमदण्डधारण करने वाली देवी (यमदण्डधरा) को पैशुन्य कहा गया है।[10] यहां इस देवी का नाम नहीं दिया गया है। बृहत्संहिता में उल्लिखित मातृकाओं[11] की प्रतिमा पर टीका करते हुए उत्पल ने मातृ-देवियों में यामी का उल्लेख किया है।[12]

८. वाराही (वराहास्या) - विष्णु के वराह अवतार द्वारा निर्मिता देवी[13] को ही वराहास्या[14] (वाराही) कहा गया है। इसका तादात्म्य अनसूया (ईर्ष्या का अभाव) से किया गया है (अनसूया वराहास्या)।

---

१. वराह, २७।३१(२)
२. वही, २७।३५(२)
३. वही, २७।३१(२)
४. वही, २७।३६(१)
५. वही, २७।३२(२)
६. वही, २७।३६(१)
७. वही, २७।३१(२)
८. वही, २७।३६(१)
९. वही, २७।३१(२)
१०. वही, २७।३६(२)
११. बृ० सं०, ५७।५६(१)
१२. डे० हि० आ०, पृ० ५०४
१३. वराह, २७।३२(१)
१४. वही, २७।३०(१)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन आठों मातृ-देवियों को देवताओं (रुद्र, ब्रह्म, विष्णु, कार्तिकेय, इन्द्र, यम, वराह और महेश्वर) का शरीर बताया गया है (शरीरन्देवतानान्तु)[1] । ये सभी देवियाँ[2] काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य, पैशुन्य और अनसूया के मूर्त रूप ही थे । स्पष्टतः यहां वाराही को दोषहीन बताना वराह देव का ही माहात्म्य है । इस मातृ-जन्म को निम्नांकित कोष्ठक में स्पष्ट किया गया है ।

मातृणामुद्भवं

मातृदेवियां	उद्भव	स्वरूप	कामादिगण
१. योगेश्वरी	रुद्रकोप-उत्पन्न	रुद्ररूपधारिणी	काम
२. माहेश्वरी	इसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया गया है	+	क्रोध
३. वैष्णवी	विष्णु-निर्मिता	विष्णुस्वरूप-धारिणी	लोभ
४. ब्रह्माणी	ब्रह्मणा-विनिर्मिता	ब्रह्म-स्वरूप	मद
५. कौमारी	कार्तिकेयेननिर्मिता	कार्तिकेयस्वरूप	मोह
६. माहेन्द्री (इन्द्रजा)	इन्द्रेण-विनिर्मिता (इन्द्रजा)	इन्द्र-स्वरूप	मात्सर्य
७. यामी (नाम नहीं दिया है)	यमेन निर्मिता	यमदण्डधरा देवी	पैशुन्य
८. वराहाख्या (वाराही)	वराहेणदेवेन तस्य देव्या रूपं निर्ममे	पातालोद्धारणं रूपं	अनसूया

---

१. वराह, २७।३३(२)

२. वही, २७।३४ : कामः क्रोधस्तथा लोभो मदो मोहोऽथ पंचमः ।
मात्सर्यं षष्ठमित्याहुः पैशुन्यं सप्तमन्तथा ।
असूयाष्टमी ज्ञेया इत्येता अष्ट मातरः ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दुर्गा-कात्यायनी - दुर्गा-कात्यायनी को सूक्ष्मस्वरूपा और पृथक् मूर्तिवाली कहा गया है ।[1] दुर्गा को सभी मातृदेवियों में श्रेष्ठ बताया गया है ।[2]

गायत्री[3] - वेत्रासुर से भय उत्पन्न होने पर गायत्री देवी प्रकट हुयीं और उन्होंने असुर का वध कर डाला ।[4] इससे प्रसन्न होकर देवताओं ने वेदमाता गायत्री[5] की स्तुति की ।[6] भविष्य में इन्होंने महिषासुर का वध किया ।[7]

नन्दा - ब्रह्मा ने वेत्र नामक[8] असुर का वध करने के बाद गायत्री देवी को हिमालय प्रस्थापित कर दिया । वहाँ इस देवी की स्थापना से लोगों को अत्यधिक प्रसन्नता हुयी, इसलिए वह नन्दा के नाम से प्रसिद्ध हुयीं ।[9] आज भी अल्मोड़ा, नैनीताल में नन्दा देवी अपनी पूजा और मेला के लिए प्रसिद्ध हैं ।

दिग्देवियां - ब्रह्मा ने दश कन्याओं को जन्म दिया, जिनमें छः मुख्य थीं - पूर्वा, दक्षिणा, प्रतीची, उत्तरा, ऊर्ध्वा और अधरा । वे अत्यन्त रूपवती कन्यायें थीं ।[10] ब्रह्मा ने इन कन्याओं को लोकपाल आदि देवताओं को दे दिया । इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, धनदेश, ईशान, स्वयं (ब्रह्मा को ऊर्ध्वा) और शेष (अनन्त) को अधोव्यवस्थिता कन्या दी गयी ।[11]

---

१. वराह, २८।१
२. गरुड़, अ०, पृ० ३६२
३. वराह, २८।२१
४. वही, २८।२२-२७
५. वही, २८।३०
६. वही, २८।२९-३५
७. वही, २८।४३
८. वही, २८।४४
९. वही, २८।४५(१) : संस्थाप्य नन्दिता यस्मात्तस्मान्नन्दाऽभवत्तु सा ।
१०. वही, २९।३-५
११. वही, २९।१२-१३

इनकी देवियां - ऐन्द्री, आग्नेयी, यामी, निर्ऋति, वारुणी, वायव्यी, कौबेरी, ईशानी, ब्राह्मी और अनन्ता (शेष अनन्त की देवी) शक्तियां ही हैं।

स्कन्द की भी छः[१] मातारं (कृत्तिकारं) मातृदेवियां कही गयी हैं। इनमें गिरिजा प्रमुख थीं।

ऊपर[२] उल्लिखित देवीमाहात्म्यों का श्रवण एवं पाठ भी पुण्य कर्म कहा गया है। इससे देवीभक्ति का ज्ञान होता है। अष्ट-मातृकाओं[३] की पूजा भक्ति के साथ करना बताया गया है। इनकी पवित्रतिथि अष्टमी[४] है। दशों दिग्देवियों की पूजा करने की तिथि दशमी[५] कही गयी है। इन देवियों की पूजा और व्रत करने से पापक्षय होता है।

अष्टमी, नवमी और[६] चतुर्दशी की तिथियाँ देवी के व्रतोपवास तथा पूजन के लिए महत्वपूर्ण हैं। सभी द्वादशी की तिथियों पर विशेषतः कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को[७] वैष्णवी देवी के पूजन का विशेष महत्व है। देवी पूजन का भी विधान था।

सबसे महत्वपूर्ण तिथि एवं पूजन नवमी को होता है (नवम्यान्च सदा पूज्या इयं देवी)[८]। इसके पूजन एवं स्तोत्रपाठ से वरदा देवी अपने भक्तों को संकटों से बचाती हैं। अतः स्पष्ट है कि वराह पुराण प्राचीन शाक्तधर्म पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

---

[१] वराह, २५।४७
[२] वही, २७।४१-४३, २८।४५, २९।१६
[३] वही, २७।४३
[४] वही, २९।१४
[५] वही, २९।१५
[६] वही, ९६।५७
[७] वही, ९९।११
[८] वही, २८।४०-४२

सूर्याराधन

प्राचीन भारत के इतिहास में सूर्य और उनकी उपासना का महत्व अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक देव-पद्धति में सवितृ, मित्र और सूर्य की स्तुतियां मिलती हैं। कालान्तर में भी उनका महत्व कम न हुआ।[१]

प्रो० आर०जी० भण्डारकर ने संहिताओं, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों एवं महाभारत आदि के आधार पर सूर्य-उपासना का विवेचन करते हुए ईसा की ७वीं शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा-पंडित मयूर-रचित सूर्य-स्तवन, भवभूति द्वारा मालतीमाधव में सूर्य-प्रार्थना का उल्लेख करते हुए बताया है कि पापों से मुक्त होने, धन, अन्न, यश, स्वास्थ्य एवं अन्य प्रसादों की प्राप्ति के लिए सूर्य की आराधना वैदिक युग से होती चली आयी है और आज भी उनके १२ नामों का स्तवन और जप किया जाता है। सभी नाम संस्कृत-व्युत्पत्ति पर आधारित हैं और उनमें कोई विदेशीपन होने का लक्षण नहीं है।[२] अतः प्रो० भण्डारकर की मान्यता है कि सूर्य-संप्रदाय की अवतारणा आवश्यक ही थी। शंकराचार्य के समय तक इसका प्रभाव दक्षिण में भी पड़ चुका था। प्रो० भण्डारकर की ही मान्यता है कि अभी तक सूर्योपासना पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा था, परन्तु वराहमिहिर के समय से मग-सूर्योपासकों का प्रभाव सूर्य मन्दिरों एवं मूर्तियों की पूजा-प्रतिष्ठा पर पड़ता हुआ दिखायी पड़ता है।[३] भविष्य पुराण (अ० १३९) की शाम्ब-कथा और मगों के आमन्त्रण एवं आगमन का उल्लेख तथा ईसवी की बारहवीं शताब्दी के अभिलेख (गया में गोविन्दपुर अभिलेख) द्वारा इसका अनुमोदन होता है।[४] अन्य गुप्तकालीन अभिलेखों, ह्वेनसांग, अल्बेरूनी, कुषाण-सिक्कों पर मिहिर-मूर्ति का साक्ष्य देते हुए भंडारकर की धारणा

---

[१] क०व०म०, भाग ४ (वै०शै०), पृ० २१६

[२] वही, पृ० २१६-२१७

[३] वही, पृ० २१७-२१८

[४] वही, पृ० २१८-२१९

है कि मुल्तान का[1] मंदिर कुषाण युग में बना होगा । इस पर पार्श्व (पर्शियन) प्रभाव पड़ा था ।

डा0 हज़रा ने वामन,[2] ब्रह्म, वराह और भविष्य पुराणों में सूर्य के विवरणों का उल्लेख किया है । उनका विचार है कि वराह पुराण में वर्णित शाम्ब को कृष्ण-शाप की कथा एवं सूर्य-भक्ति[3] (वराह, अ0 १७७) भविष्य पुराण (१।७३ इत्यादि) पर आधारित है ।

डा0 हज़रा की मान्यता है कि प्रारम्भिक वैदिक युग से विविध नामों से सूर्य की उपासना प्रचलित रही है और विशद और साहित्य का प्रणयन किया गया जिसमें पुराण और पुराणेतर ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं । इस सभ्य पौराणिक ग्रन्थों में केवल शाम्ब पुराण ही ऐसा ग्रन्थ है जो विशेष रूप से सूर्योपासना का वर्णन करता है । सूर्योपासना के माहात्म्य का उल्लेख भविष्य, ब्रह्म, स्कन्द, वराह, मत्स्य, अग्नि, विष्णुधर्मोत्तर,[4] भविष्योत्तर, कालिका पुराण एवं मार्कण्डेय पुराण आदि में भी मिलता है ।

पुराण वैदिक विचारों की विशद व्याख्या करते हैं और इसलिए प्राय: सभी पुराणों में सूर्य और सविता का महत्व मिलता है । प्रागैतिहासिक युग से लेकर पुराणों के विभिन्न युगों तक सूर्योपासना के विकास-वृत्त का विवेचन करते हुए डा0 वी0सी0 श्रीवास्तव ने विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य, भविष्य, स्कन्द, वराह एवं शाम्ब उपपुराण का आधार लिया है । उनके कतिपय प्रचलित उद्धरणों एवं उपाख्यानों यथा सत्राजित-कथा, याज्ञवल्क्यवृत्त का विवेचन किया है ।[5] वे हज़रा का अनुगमन करते हुए पहले के प्राचीन (अर्ली) और बाद के (लेट) पुराणों

---

१. क0व0क0, भाग ४ (वै0शै0), पृ0 २१९-२२०, स्ट0उपपु0, भाग १, पृ0 २९-३०
२. पु0रि0हि0रा0क0, पृ0 ८१,८२,९२,१०७
३. वही, पृ0 १०७
४. स्ट0उपपु0, भाग १, पृ0 २९
५. स0व0ए0इ0, प्रिफ़ेस, पृ0 १२,
अ0 ५ - 'पुराणिक वर्ल्ड', पृ0 २०३-२७१

के आधार पर सूर्योपासना तथा सूर्य-सम्प्रदाय के अस्तित्व को प्रचलित मानते हैं।[1] डा० श्रीवास्तव मानते हैं कि सूर्योपासना सम्बन्धी पौराणिक उद्धरण शाम्ब पुराण से ही भविष्य, स्कन्द और वराह पुराण में लिए गये हैं।[2] स्थानाभाव से यहां सभी पुराणों का विवेचन करना कठिन है।

वराह पुराण भी सूर्योपासना पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। शाम्बोपाख्यान से सम्बन्धित इसके उद्धरण (वराह, अ० १७७) का उल्लेख ही डा० हज़रा आदि ने किया है।[3] वराह पुराण के अन्य अध्यायों में उल्लिखित सूर्य और उनके महत्व की ओर विद्वानों का ध्यान कम गया है। मथुरा में भी सूर्य तीर्थ था। वहां भी सूर्य-मूर्तियां और मन्दिर थे। शाम्ब ने स्वयं मथुरा में ‘शाम्बपुर’ नाम सूर्य की स्थापना की थी।[4]

वराह पुराण में सूर्याराधन,[5] सूर्यतीर्थ,[6] सूर्य-मन्दिरों[7] तथा द्वादशादित्य[8] आदि के उल्लेख मिलते हैं।

सूर्याराधन-महत्व एवं कालप्रिय

भवभूतिकृत सूर्य-महत्व और सूर्यस्तवन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि भवभूति के युग को हम जानते हैं कि वे कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मन् के सभा-कवि थे। वे कहते हैं कि " भगवान् (कालप्रियनाथ) सूर्य सम्पूर्ण भुवन-दीपों के प्रदीप, विश्वमूर्ति, एवं

---

१. स०व० २०६०, विशेषक, पृ० २०५, २११, २१२, २३२, २३४
२. वही, पृ० २३२, २३४
३. पु०रि०हि०रा०क०, पृ० १०७
   पुराणाम्, वाल्यूम ८, सं० १, १९६६, पृ० ३६
४. वराह, १७७।५४-५६, स्ट०उपपु०, भाग १, पृ० ६६-७०, नोट ८७
५. वही, १५२।५०, १५७।३६, १७७।३८-४०
६. वही, १५२।५०
७. वही, १७७।३०-४२
८. वही, २।७१, २०।४-५

चित्र - १

कालपदेव

मंगलमय हैं।" अतः कवि कहता है - "जगन्नाथ मेरे पापों को नष्ट कर सकल सौख्य-सम्पत्ति सुलभ करायें।"[1] भवभूति की यह सूर्य-स्तुति यमुना तट पर स्थित कालप्रिय (सूर्य) मन्दिर के समक्ष तीर्थयात्रा या मेला पर आये हुए जनसमूह के समक्ष की गयी थी। डा० मीराशी ने कालप्रिय की पहचान काल्पी (उत्तर प्रदेश जिला जालौन) से की थी।[2] परन्तु डा० काणे ने इसके विरुद्ध कालप्रिय की पहचान उज्जयिनी से की।[3] परन्तु डा० मीराशी ने डा० काणे के मत का निराकरण कर कालप्रिय की पहचान काल्पी से ही की है।[4] संदेह दूर करने के लिए स्वयं काल्पी गया और लगातार तीन दिन तक घूमते हुए वहां के स्थानीय महात्माओं (साधुओं) और यमुनातटवासी निषादों से यह ज्ञात हुआ कि आज भी वहां 'काल्प देव' की पूजा होती है और वहां मेला लगता है जिसे वह काल्पदेव कहते हैं, वह एक पाषाणखंड पर बने 'कमल' (पद्म) की पूजा होती है।[5] (द्रष्टव्य, चित्र सं० १)। दूसरे दिन अकेले घूमते हुए यमुना तट पर ही निषादों की बस्ती के पास एक छोटे से मन्दिर (मठिया) में कुछ मूर्तियां लगी थीं। उन पर चन्दन आदि भी लगा था जिससे सिद्ध होता था कि ये पूजी जाती हैं। साफ करने के बाद देखा कि उनमें एक मूर्ति सूर्य की है (द्रष्टव्य,[6] चित्र सं० २)। इस प्रकार अब काल्पी और कालप्रिय की पहचान में संदेह न रहा।[7] सूर्य के नामों में ही कालप्रिय और मूलस्थान भी सूर्य के नाम रूप में मिलते हैं। अतः कालप्रिय निस्सन्देह काल्पी ही है और यहीं का सूर्यमन्दिर कालान्तर में कालप्रिय कहलाया। इससे सिद्ध होता है कि भवभूति के समय में (ईसा की आठवीं शताब्दी) में कालप्रिय का सूर्यमन्दिर प्रसिद्ध हो चुका था।

---

[1] मालतीमाधव, अंक १, पृ० : उदितभूयिष्ठ एव भगवानशेष भुवनदीप दीपः।
वही, १।३
कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते।
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव। प्रसीद।
यपत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ। नम्रस्य तन्मे।
भद्रं भद्रं वितर भगवन् भूयसे मंगलाय॥

[2] स्ट० इंडो०, भाग १, पृ० ३३

[3] उत्तररामचरित (मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित) की भूमिका,
पुराण, वाल्यूम ८, सं० १ (१९६६), पृ० ४४-४५

[4] वही, पृ० ४५-५१

[5] गरुड़ पु० ७०, पृ० २४५

[6] वही, पृ० ३७२

[7] पद्म, ५।७६।३९-४१

चित्र- २

कालप्रिय-सूर्य

सूर्यभक्ति : इसका महत्व

ऊपर कहा गया है कि कालप्रिय और मूलस्थान तथा पुंडरीक (सम्भवतः मुंडीर भी) सूर्य के नाम थे,[1] जो द्वादशादित्य के नामों[2] तथा अन्य १२ सूर्य-नामों[3] के अतिरिक्त विशेष नाम थे। इन नामों को जपने से सभी प्रकार के रोग, ज्वरादिक, विशेषतः कुष्ठरोग दूर हो जाते थे।[4] पद्मपुराण के इन अध्यायों (सृष्टिखंड अ० ७५- अ० ७६) से सूर्य-भक्ति का पूर्ण विकास सिद्ध होता है।[5] डा० हज़रा के अनुसार इस अध्याय का समय लगभग १००० ई० था।[6] इस प्रकार १००० ई० के पूर्व सूर्य-पूजा का सम्यक विकास हो चुका था तथा इसे पापों को दूर करने वाली तथा शरीरारोग्य, धनवृद्धि और यश को बढ़ाने वाली माना गया था।[7] वराह पुराण

---

१. पद्म, ५।७६।३६-४२(१) : यानि नामानि मुख्यानि तच्छृणुष्व षडानन ।
तमनस्तापनश्चैव कर्ता हर्ता महेश्वरः ॥
लोकसाक्षी त्रिलोकेशो व्योमाधिपो दिवाकरः ।
अग्निगर्भो महाविप्रः खगः सप्ताश्ववाहनः ॥
पद्महस्तस्तमोभेदी ऋग्वेदो यजुसामगः ।
कालप्रियं पुण्डरीकं मूलस्थानं च भावितम् ॥
यः स्मरेच्च सदाभक्त्या तस्य रोगभयं कुतः ।

२. वही, ५।७६।२४-२८

३. वही, ५।७६।३५-३७

४. वही, ५।७६।४२-४६

५. वही, ५।७६।४-१७, ३०-३४, यहाँ सूर्य का तादात्म्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अग्नि, वायु आदि से करते हुए महामंत्र, रविवारव्रत, मूर्ति, भानु-गायत्री (आदित्याय विद्महे भास्कराय धीमहि । तन्नो भानुः प्रचोदयात्) का वर्णन किया गया है ।
वही, खंड ५, अ० ७५, ५।७५।३०-३२

६. पु०रि०हि०रा०क०, पृ० १२४

७. पद्म, ५।७६।५६-६३

भी सूर्य-पूजा का महत्व बतलाता है। आदित्य-दिवस (रविवार), संक्रान्ति और सूर्य-चन्द्र-ग्रहण के समय सूर्य की पूजा करना पुण्य माना जाता है।[1]

द्वादशादित्य[2]

प्राचीन भारत के देवगणों - ब्रह्मा, रुद्र रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, मरुद्गण,[3] वसु, वायु, अश्विनीकुमारों, सोम आदि में आदित्यों का भी स्थान था। ब्रह्मा के पुत्र मरीच थे और मरीचिपुत्र, प्रजापति कश्यपमुनि[4] थे। उनके पुत्र ही द्वादश आदित्य थे। वे सभी आदित्य नारायण का तेज ही थे। ये सभी १२ आदित्य १२ मास थे तथा हरि ही संवत्सर थे।[5] हरि रूपी संवत्सर के १२ मास ही द्वादशादित्य कहे गये हैं।[6] वराह पुराण में इनके ये नाम नहीं मिलते हैं। पद्म पुराण के अनुसार १२ मासों से सम्बद्ध निम्नलिखित सूर्य-नाम थे -

१. मित्र -- मार्गशिर(अगहन)मास
२. विष्णु -- पौष मास
३. वरुण -- माघ ~~फाल्गुन~~ मास
४. सूर्य -- फाल्गुन मास
५. भानु -- चैत्र मास
६. तापन -- वैशाख मास
७. इन्द्र -- ज्येष्ठ मास
८. रवि -- आषाढ़ मास
९. गभस्ति -- श्रावण मास
१०. यम -- भाद्रपद मास
११. हिरण्यरेतस् -- आश्वियुज (क्वार)
१२. दिवाकर -- कार्तिक

---

१. वराह, १५२।५६
२. वही, २।७१
३. वही, १५१।११-१३(१)
४. वही, २०।२-३
५. वही, २०।४-५ : तस्य पुत्रा बभूवुर्हि आदित्या द्वादश प्रभो।
नारायणात्मक तेजो द्वादश सुप्रकीर्तितम् ।।
ते ते मासास्त आदित्याः स्वयं संवत्सरो हरिः।
एवं ते द्वादशादित्य मार्तण्डश्च प्रतापवान् ।।
६. वही, ६७।६
७. पद्म, ५।७६।२४-२८

इस प्रकार ये बारह आदित्य[1] हैं जिनमें इन्द्र, मित्र, वरुण, विष्णु, यम और सूर्य तो प्रसिद्ध वैदिक देवता ही हैं ।[2] शेष देवताओं में भानु, तापन, रवि, गभस्ति एवं दिवाकर सूर्य के तेज-रूप और कार्य के बोधक ही हैं । इस प्रकार द्वादशादित्य उपासना में वैदिक विचारों और परम्परा का प्रभाव परिलक्षित होता है । बारबार यही कहा गया है कि एक ही परम शक्ति (पुमान् या पुरुष) ने अपने आपको बहुत रूपों में (बहुधा अथवा द्वादशधा) विभक्त कर लिया ।

सूर्यस्थान (सूर्यभक्ति)

वराह पुराण के अनुसार यह ज्ञानशक्ति आत्मा जो एक ही थी, उसने द्वितीय (साथी) की इच्छा की और तदनुसार तेज का प्रादुर्भाव हुआ जो सूर्य कहलाया । वही तेज अथवा सूर्य जो तीनों लोकों को प्रभासित करता है, भास्वान् कहा गया । उस तेज के शरीर को ही वेदवादी लोग रवि कहने लगे । सम्पूर्ण संसार को भासित करने से वह भास्कर, प्रकर्ष होने से वह प्रभाकर, दिवस (दिन) करने के कारण वह दिवाकर तथा सम्पूर्ण जगत का आदि (कारण) होने से वह आदित्य कहलाता है ।[3] तेज से ही पृथक् पृथक् १२ आदित्य (द्वादशादित्याः) हुए । उनमें यह एक ही प्रधान है जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है[4] और अन्य देवतागण उसकी स्तुति करते हैं ।[5]

यह सूर्य ही जगत की उत्पत्ति, पालन और प्रलय का कारण है । वही आदिदेव समस्त चराचर जगत की आत्मा है[6] । शत्रु विध्वंसक, वेदमूर्ति और वेदान्तवेध सूर्यदेव ही यज्ञ में विष्णु कहलाते हैं । इस प्रकार भक्ति के साथ सूर्य की स्तुति

---

१. पद्म, ५।७६।२४-२८
२. धर्मदर्शन, पृ० २-६, हि०सा०बृ०इ०, भाग १, पृ० ४२२-४२५,
   ह० पाण्डेय, पृ० २५-२६
३. वराह, २६।२-७
४. वही, २६।८-९
५. वही, २६।१०-१४, सूर्यस्तुतिः
६. वही, २६।१३

और उपासना[1] तथा मूर्ति-पूजा की जाती थी । पूजा से प्रसन्न भास्कर इष्टफल देने वाले हैं । इस वर्णन[2] को पुरातन सूर्यास्थान कहा गया है जिसका सम्बन्ध आदि मन्वन्तर से है । वेद, वेदवादियों और वेदान्त से सम्बन्धित रवि-भक्ति आर्ष परम्परा पर आधारित थी ।

सूर्योपासना की प्राचीनता

वैदिक युग में सूर्य, सविता और मित्र आदि देवताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था ।[3] रामायण से ज्ञात होता है कि अगस्त्याश्रम में अन्य देवी-देवताओं के साथ सूर्य का भी स्थान (मन्दिर) था (स्थानं चैव विवस्वतः) ।[4] महाभारत युग में[5] सूर्योपासना[6] का विकसित रूप परिलक्षित होता है । यहाँ भगवान् सूर्य के १०८ नाम और स्तोत्र[7] का माहात्म्य प्राप्त होता है । युधिष्ठिर ने सूर्य की पूजा और[8] स्तुति की । युधिष्ठिर के स्तोत्र में वैदिक मन्त्र (सूर्य[9] आत्मा जगतः तस्थुषश्च) का उल्लेख (त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्)[10] मिलता है । महाभारत में सूर्य को ब्रह्म कहा गया[11] है । सप्तमी अथवा षष्ठी तिथि पर सूर्य की भक्तिपूर्वक पूजा की जाती थी । इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत युग में सूर्योपासना प्रचलित थी ।[12]

---

[1] वराह, २६।१४-१८
[2] वही, २६।१९ : एतत्ते कथितं राजन् सूर्यास्थानं पुरातनं ।
आदिमन्वन्तरे वृत्त मातरःशृणु साम्प्रतम् ।।
[3] ऋग्वेद, ५।८१।४
[4] रामा० आरण्य काण्ड, १२।१८(१)
[5] आदि पर्व, २४।५
[6] वन पर्व, ३।१६-३१
[7] वही, ३।३३-३५
[8] ऋग्वेद, १।११५।१
[9] वन पर्व, ३।३६
[10] वही, ३।६०
[11] वही, ३।६४
[12] वही, ३।७५-७९; विराट् पर्व, १५।१९-२०; शान्ति पर्व, ३१८।२-१०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वराह पुराण में मथुरा क्षेत्र में स्थित सप्तीठक तीर्थ और वहां स्थित कुंड के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा गया[1] है कि वासुदेव (कृष्ण) ने यहां सूर्य की आराधना कर पुत्र प्राप्त किया था । यहीं राजा[2] शान्तनु ने भी तपस्या कर (सूर्य के प्रसाद से) भीष्म नामक पुत्र को प्राप्त किया । देवी भागवत पुराण से भी ज्ञात होता है कि प्रतीप[3] ने सूर्य की स्तुति से प्रसन्न कर शंतनु (शांतनु) नामक पुत्र को प्राप्त किया था । इन उल्लेखों से भी सिद्ध होता है कि महाभारत युग में मथुरा के निकट स्थित सप्तीठक क्षेत्र सूर्य उपासना का प्रसिद्ध केन्द्र था ।

कृष्ण-पुत्र शाम्ब ने भी सूर्य-उपासना की और मथुरा में मन्दिरों की स्थापना करायी थी । वह सूर्योदय के समय उदयाचल-संश्रित सूर्य की उपासना करते थे, मध्यान्ह काल में वह कालप्रिय देव की आराधना करते थे तथा सूर्यास्त होने के समय (अर्थात् सायंकाल को सन्ध्या करने के समय) मूलस्थान-सूर्य की पूजा करते थे । इस प्रकार प्रातः, मध्यान्ह और अरान्ह में पूजने के लिये शाम्ब ने मथुरा में तीन सूर्यमूर्तियों की स्थापना की थी । अपने नाम से भी उन्होंने मथुरा में ही शाम्बपुर-देव की स्थापना करायी थी । यहीं सूर्योपासना करते हुए शाम्ब ने भविष्य पुराण को भी सुना था । इस, सूर्य-भाषित, शाम्ब पुराण का यहां नया संस्करण भी हुआ था । इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण के आधार पर कृष्ण-प्रिया[4] मथुरा में उनके पुत्र शाम्ब ने सूर्योपासना को विशेष रूप से समुन्नत किया था ।

वैरोचन बलि ने भी मथुरा[5] के सूर्य-तीर्थ में सूर्य की आराधना कर भगवान् पुषणि को प्रसन्न किया था । बद्रीनाथ-क्षेत्र में भी द्वादशादित्यों की पूजा होती

---

[1] वराह, १५७।३७-३९
[2] वही, १५७।४३-४४
[3] देवी भा०, २।३।४६
मिहिर भोज के ग्वालियर लेख (पं० १०-११) से ज्ञात होता है कि महाराज रामभद्र ने कान्यकुब्ज में सूर्य की उपासना से ही भोज को पुत्र रूप में प्राप्त किया था ।
[4] वराह, १७७।४०-५६
[5] वही, १५२।५०-५२

चित्र - ३

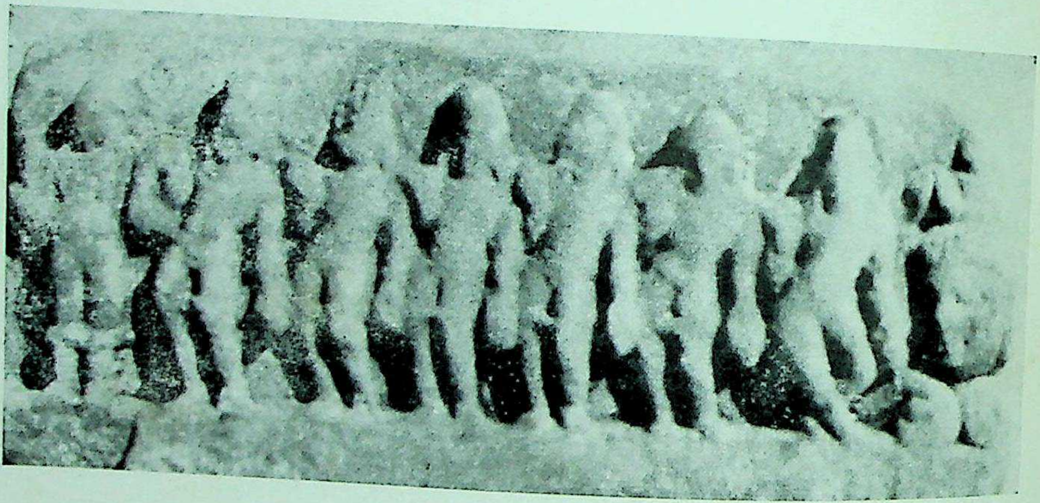

नवग्रह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

थी ।[1]

सूर्य-स्तोत्र - वराह पुराण के शाम्बोपाख्यान में कहा गया है कि शाम्ब ने वेदगुह्य-पदाधारों से पचास श्लोकों में सूर्य की स्तुति की (शाम्ब पन्चाशकैः श्लोकैर्वेदगुह्यपदाधारैः यः स्तुतो) ।[2] वराह पुराण में इस स्तुति का उल्लेख नहीं है ।

इस प्रकार अन्य देवों - शिव (लिंग), विष्णु, गणेश, देवी - की भांति सूर्य भी अर्च्य थे ।[3] मूर्तियों और मन्दिरों के अतिरिक्त उनकी पूजा पद्म-रूप, पद्म-गर्भ-आदित्य,[4] (पद्म देव) में भी होती थी ।[5]

प्रातःकाल, सूर्योदय के समय, ही भक्ति के साथ प्रणाम और पूजा से सूर्य प्रसन्न होते हैं और वह व्यक्ति भी उस सूर्य (तत् सवितुर्वरेण्यं) की ज्ञान ज्योति से प्रकाशित होकर अज्ञान और पाप से छूट जाता है ।[6]

नव-ग्रह - पूजन

सूर्य के साथ-साथ अन्य ग्रहों की भी पूजा होती थी ।[7] पौर्णमासी के दिन सोम (चन्द्र) का विशेष महत्व है ।[8] सूर्य की मूर्तियों के साथ-साथ नवग्रहों की भी मूर्तियाँ बनती थीं (देखिये चित्र सं० २) ।

---

१. वराह, १४१।२४-२६
२. वही, १७७।४३
३. वही, १८६।३५
४. वही, ६२।३१
५. वही, ६२।९-३०
६. वही, २११।१४-१५
७. वही, १८५।१२, २१०।५६(२)-५९(१)
८. वही, २११।१६(२)

गणेश

भारत के धार्मिक इतिहास में गणेश का महत्व भी कम नहीं है । ऋग्वेद में भी गणपति का उल्लेख श्रद्धा के साथ किया गया है । यहां गणपति शब्द का प्रयोग ब्रह्मणस्पति (प्रार्थना के स्वामी या पवित्र स्तवन के देवता) की उपाधि के रूप में आया है । --- तैत्तिरीय संहिता (४।१।२।२) एवं वाजसनेयी संहिता में पशु (विशेषतः अश्व) रुद्र के गाणपत्य कहे गये हैं । --- मध्यकाल में गणेश का विलक्षण रूप (हस्तिमुख -- तोंद या --मूषक-वाहन) वर्णित है, वह वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता है । -- गृह्य एवं धर्मसूत्रों में धार्मिक कृत्यों के मध्य गणेश पूजन की ओर कोई संकेत नहीं मिलता । स्पष्ट है, गणेश-पूजा कालान्तर का कृत्य है --- । ----- आरम्भ में विनायक दुरात्माओं के रूप में वर्णित हैं ------ ।[१] पुराणों में विनायक के जन्म,[२] मूर्ति-निर्माण[३] और उनकी पूजा का उल्लेख मिलता है ।[४] मुहरों[५] और मूर्तियों[६] से उनकी पूजा का साक्ष्य प्राप्त होता है । इस प्रकार साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि गणेश की पूजा प्रचलित थी ।[७] पूर्वमध्यकाल में `पंचायतन` और पंचदेवोपासना के प्रचार से गणपति उपासकों का भी गाणपत्य-सम्प्रदाय बन गया ।

वराह पुराण में हाथी के मुख के समान मुख वाले अनेक प्रकार के विनायकों (विनायकानेकविधागजास्या) का उल्लेख है ।[८] वराह पुराण (अ० २३) विनायकोत्पत्ति का भी वर्णन करता है । गणेश की पूजा होती थी ।[९] हनुमान को भी गणेश्वर कहा गया है ।[१०]

---

१. ध०शा०इ०, भाग १, पृ० १८५-१८६
२. वामन, २८।५६-७२
३. मत्स्य, २५६।५२-५५
४. गरुड़ पू० अ०, पृ० २४६-२४८
५. स्ट० इ० इ० सील्स, पृ० १६६-१६७
६. स०दे०प्र०, पृ० ३७-४०
७. पी० ता० रे०, पृ० १५२-१५५
८. वराह, २३।२१
९. वही, १८६।३५(२) : `गणेशश्रित्य नार्च्यं` -- सिद्ध करता है कि गणेश की अर्चना होती थी ।
१०. वही, १६०।१३(१)

गणपति-जन्म

अविघ्नरूप से सभी कार्यों में सिद्धि पाने के लिये उपाय का चिन्तन करते हुए सभी देवता शिव के पास गये । उन्होंने महादेव से विनयपूर्वक अपना मन्तव्य बतलाया । शिव ने उमा को देखा । उमा को उन्होंने देवताओं के पास पाया । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में तो यह मूर्ति दिखलायी पड़ती थी, परन्तु आकाश में अदृश्य थी ।[1] यह देखकर वे हंस पड़े । उनके हंसने से ही एक मूर्तिमान् कुमार अपने तेज से दिशाओं को प्रभासित करता हुआ तथा देवताओं को भी मोहित करता हुआ प्रकट हुआ ।[2] कुमार के उस परम रूप को देखकर उसकी ओर उमा, एकटक बिना पलक गिराये, देखती रहीं ।[3] कुमार के शोभन एवं मोहन रूप तथा स्त्री स्वभाव की चंचलता का विचार करते हुए, यह देखकर, शिव जी क्रुद्ध हो गये[4] और क्रोध से उन्होंने उस गणेश देव को शाप दे दिया -" कुमार ! तुम गजानन, प्रलम्बजठर (तोंद वाले, नीचे तक लटकते हुए पेट वाले) और सर्पोपवीत से युक्त होंगे ।"[5]

गणनायक

गणेश देव को भी क्रोध आ गया और क्रोध से वे अपना सिर धुनने लगे ।[6] उनके सिर धुनने से बहुत ही गजानन-देवता पैदा हो गये ।[7] ये ही विनायक थे । शिव-पुत्र विनायक गजास्य और गणेश नाम से प्रसिद्ध हुए ।[8] उसके अनुयायी विनायक क्रूर दृष्टि वाले, प्रचण्ड तथा कार्यों में सिद्धि देने वाले थे । सबसे पहले उनकी पूजा

---

[1] वराह, २३।२-१३
[2] वही, २३।१४-१५
[3] वही, २३।१६
[4] वही, २३।१७
[5] वही, २३।१८
[6] वही, २३।१९-२१
[7] वही, २३।२८(१-२)
[8] वही, २३।२८(३-४)-२९

की जाती है औरजो नहीं करता है, उसकी कार्यसिद्धि को वे नष्ट कर देते हैं ।[१] गणेश ही सभी विनायकों के अधिपति (राजा) रूप में अभिषिक्त किये गये ।[२] इस प्रकार वे गणनायक कहलाये । सभी ने उनकी स्तुति की ।[३] देवस्तुत महात्मा गणनायक देव उमा के पुत्र कहलाये ।[४]

गणपतिपूजन

चतुर्थी तिथि को गणाध्यक्ष की महातिथि कहा गया है । इस तिथि पर जो व्यक्ति तिलक कर भक्ति के साथ गणपति की आराधना करता है, उससे वह शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं ।[५] गणेश-स्तोत्र के भी पाठ और श्रवण करने से विघ्न और पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।[६]

—

---

[१] वराह, २३।३०
[२] वही, २३।३१
[३] वही, २३।३२
[४] वही, २३।३३-३५
[५] वही, २३।३६-३७
[६] वही, २३।३८

कार्तिकेय

विभिन्न साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि समाज के विभिन्न वर्गों और इतिहास के विभिन्न युगों में कार्तिकेय की उपासना प्रचलित थी।[1] वे यौधेयों के राष्ट्रीय देवता थे।[2] महामयूरी से भी ज्ञात होता है कि रोहतक का नगर-देवता (यक्ष) कुमार (कार्तिकेय) ही था (रोहितके कार्तिकेयः कुमारो लोकविश्रुतः)।[3] रामायण में भी इनका महत्व मिलता है।[4] पुराणों में भी कुमारसंभव का वर्णन किया गया है।[5] डा० ए०के० चटर्जी ने वैदिक साहित्य, महाकाव्य और पुराणों तथा अन्य साक्ष्यों[6] के आधार पर प्राचीन भारत में स्कन्द-कार्तिकेय-उपासना का विवेचन किया है। मुद्राओं और सिक्कों पर भी उनका नामरूपोल्लेख मिलता है।[7] वराह पुराण कार्तिकेय के जन्म, नाम, स्वरूप और उनकी उपासना पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

कार्तिकेय जन्म - वराह पुराण[8] (के अ० २५) में अहंकार (तत्व) से कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है। पुरुष रूपी शिव और अव्यक्तरूपी उमा के संयोग से अहंकार रूपी सेनापति-गुह (कार्तिकेय) का जन्म हुआ।[9] दैत्यों से पराभूत देवताओं को नायक अथवा सेनापति की आवश्यकता थी और इसी अभाव की पूर्ति

---

१. पौ० ता० रि०, पृ० १४७-१५०
२. यौधेयों का इतिहास, पृ० ६, २४, क० स्क० ए० इ०, पृ० ३८
३. ज० यू० पी० हि० सो०, सं० १६, भाग २, पं० २१
४. बाल का०, ३७।३१-३२
५. स्कन्द १-१, अ० २७ (मोर सं०, कलकत्ता)
वही, १-२, अ० २६
६. क० स्क० ए० इ०, अ० १- अ० ६, डॉ० चटर्जी ने वराह पुराण (अ० २५) के आधार पर स्कन्दोत्पत्ति के दार्शनिक तत्व का संकेत किया है (क० स्क० ए० इ०, पृ० १६, १०३, ११०)।
७. स्ट० ऐं० इ० सील्स, पृ० १६४-१६६
८. वराह, २५।१
९. वही, २५।२-५, ३५ (१)

तथा दैत्यवध के लिये सेनापति[1] अथवा सेनानाथ[2] की उत्पत्ति हुयी। शिव और उनकी शक्ति से ही कुमार का जन्म हुआ।[3] इस प्रकार उनका जन्म प्रयोजनवश ही हुआ।[4] विभिन्न मन्वन्तरों में उनकी उत्पत्ति बहुत रूप से बतायी जाती है।[5]

उनके जन्म होने के बाद सभी देवताओं, ऋषियों और सिद्धों ने विविध दान देकर उन्हें प्रसन्न किया। परन्तु उन्होंने खिलौना और साथी मांगे।[6] महादेव ने खेलने के लिये कुक्कुट तथा साथियों के रूप में शाख और विशाख को देते हुए कहा- "कुमार आप भूतगणनायक हो। सेना के पति बनो।"[7]

कार्तिकेय के विविध नाम[8] - इसके बाद ही सभी देवताओं ने सेनापति स्कन्द की स्तुति की। इस स्तुति में उन्हें देवसेनानी, महेश्वरसुत, शिवात्मज, महाभूतपतिसुत, षण्मुख, स्कन्द, विश्वेश, कुक्कुटध्वज, पावकि, जितारि, कम्पितारि, कुमारेश, बालग्रहानुग, क्रौञ्चविध्वंस, कृत्तिकाज, भूतग्रामपतिष्ठ, पावकप्रियदर्शन और त्रिलोचन कहा गया है।[9] इसके अतिरिक्त उन्हें कृत्तिकापुत्र, षण्मातृनन्दन एवं गुह भी कहा गया है।[10] इन नामों से उनके जन्म, स्वरूप, कार्य और इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। उनके पिता महेश्वर, महाभूतपति, शिव हैं। अतः उनके पुत्र कहलाये।[11] अग्नि के पुत्र होने से पावकि या पावकप्रियदर्शन कहलाये। छः माताओं के पुत्र षण्मातृनन्दन और उन छहों माताओं का दुग्धपान करने के कारण षण्मुख कहलाये।

---

[1] वराह, २५।१३,३०
[2] वही, २५।३१
[3] वही, २५।३२-३३
[4] वही, २५।३५
[5] वही, २५।३४
[6] वही, २५।३७
[7] वही, २५।३८
[8] वही, २५।३९
[9] वही, २५।४०-४२
[10] वही, २५।४५-४७
[11] ऊपर द्रष्टव्य, महेश्वरसुत, शिवात्मज, महाभूतपतिसुत इनके नाम हैं। इन्हें शिवनन्दन (अ०को०१०६०, पृ० ६५) भी कहते थे। वराह पु० (२५।४३) भी उन्हें भवनन्दन कहता है।

कृत्तिका, पावक और गिरिजा उनकी माताएं कही गयी हैं । इनसे गुह की उत्पत्ति हुयी ।[1] इसीलिए उन्हें कृत्तिकाज, कृत्तिकापुत्र और कार्त्तिकेय भी कहते हैं । देवताओं की सेना का नायक होने से वे देवसेनानी-सेनापति हैं,[2] जिन्होंने शत्रुओं को भयभीत कर उन्हें पराजित कर दिया । अत: वे `कम्पितारि` और `जितारि` भी कहे गये हैं ।[3] यह शत्रु-संहारक सेनापति द्वादशादित्य के समान तेजस्वी और अपार-पराक्रम वाला (अतुलविक्रम:) कहा गया है ।[4] अतुलविक्रमी होने के कारण ही उन्हें अपराजित,[5] जेता-भयनाशन, नित्यारिमर्दन, महासेन, वीरसेन, भीमसेन और वीर्यवान्[6] कहा गया है । अत: उसे शूर भी कहना उपयुक्त था जैसा कि मुहरों पर पाये गये कुछ लेखों से सिद्ध होता है ।[7] महाभारत में भी उन्हें शूर कहा गया है ।[8]

शाख-विशाख - शाख और विशाख को उनका अनुगामी कहा गया है (तथानुगो शाखविशाखसंज्ञौ) ।[9] अन्य पुराणों में शाख और विशाख को स्कन्द का भाई (पृष्ठजा:) कहा गया है ।[10] हुविष्क के कुछ सिक्कों पर भी विशाख का नाम प्राप्त होता है ।[11]

महादेव - सभी पापों को नष्ट करने वाले (सर्वपापप्रणाशन:) स्कन्द स्वयं महादेव हैं (स्वयं स्कन्दो महादेव:) ।[12] महादेव से दो बातें ज्ञात होती हैं ।

---

[1] वराह, २५।४७ : कृत्तिका पावकस्तस्य मातरो गिरिजा तथा ।
द्वितीयजन्मनि गुहस्यैते उत्पत्तिहेतव: ।।

[2] वही, २५।३१ में उन्हें सेनानाथ भी कहा गया है, क्योंकि उनकी देवी का भी नाम सेना (वनपर्व २२९।४९) था ।
वही, २५।३८ : भवस्व देवेश्वर सेनाया:पति: । द्रष्टव्य, महा० वनपर्व अ० २२९

[3] वही, २५।४३-४४

[4] वही, २५।४३(२): द्वादशादित्यसंकाशो वपुषातुलविक्रम: ।

[5] स्कन्द, १।२।२९।१२७

[6] वही, १।२।२९।१३१-१३४

[7] स्ट० इ०व० सील्स, पृ० १९५

[8] महा० वनपर्व, २३२।८(१) : सचारी ब्रह्मचारी च शूर: शरणोद्भव: ।

[9] वराह, २५।४९(१)

[10] कै०इ०का० ए०इ०, पृ० १३

[11] ए०गु०न्यू०स्ट०, पृ० १७९

[12] वराह, २५।४९(१)

प्रथमत: वे स्वयं महादेव अर्थात् शिव (के समान ही) हैं । ऊपर उन्हें विश्वेश और त्रिलोचन कहा गया है । द्वितीयत: वे महादेव, महान् देवता थे । यह भी स्पष्ट ही है ।

प्रभु: प्रभूनाम्[२][३] - महाभारत और स्कन्दपुराण[४] की नाम-तालिकाओं[१] में उन्हें प्रभु, विभु और सहस्रशीर्ष तथा अनन्तरूप कहा गया है । यही नहीं, उन्हें परमेश्वर सनातन[५] भी माना गया है - सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं प्रभु: प्रभूणामपि चाग्रधन्वा ।

वासुदेव-कुमार - विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि सनातन भगवान् वासुदेव ही देवसेना का नेतृत्व करने के लिए कुमार रूप में प्रादुर्भूत हुए थे ।[६] अत: कुमार वासुदेव के ही अवतार[७] थे । वासुदेव को ‘चतुरात्मा’ (चतुरात्मा हि भगवान्वासुदेव:) कहा गया है । यह प्रसिद्ध ही है - वासुदेव[८], संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध । अस्तु स्कन्द, विशाख, गुह और कुमार भी कुमार की ही चार मूर्तियां हैं ।[९]

विष्णु-स्कन्द - वराह पुराण भी कहता है कि काम्यव्रत की समाप्ति हो जाने पर गुह स्वरूप केशव की पूजा विधानपूर्वक करना चाहिए ।[१०] पुन:, वराह

---

१. क० स्क० का० १०६०, पृ० ६४-६५
२. महा० वनपर्व, २३२।७
३. वही, २३२।१४
४. वही, २३२।१५
५. वही, २३२।१७
६. वि० ध०, ३।७१।७ : चतुरात्मा हि भगवान्वासुदेव: सनातन: ।
प्रादुर्भूत: कुमारस्तु देवसेनानिनीषया ।।
७. वही, ३।७१।७, भागवत (१।३।६) और गरुड (१।१।१३) भी कुमार को अवतार बताते हैं ।
८. वही, ३।७१।६ (१) : स्कन्दो विशाखश्च गुह: कर्तव्यश्च कुमारवत् ।
९. वही, ३।७१।३ : चतुर्मूर्तिः कुमारस्य रूपं ते वच्मि यादव ।
कुमारश्च तथा स्कन्दो विशाखश्च गुरूस्तथा ।।
यहां ‘गुरूस्तथा’ अशुद्ध पाठ है ।
१०. वराह, ६१।५ : अग्निकार्यन्तु कुर्वीत गुहरूपेण केशवम् ।
पूजयित्वा विधानेन वर्षमेकं व्रतं चरेत् ।।

कहता है कि[1] षडवक्त्र कार्तिकेय, कुमार और स्कन्द रूपी विष्णु अपने नामों द्वारा पूज्य है ।

स्कन्द-पूजा - उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कार्तिकेय के विभिन्न रूपों में उपासना की जाती थी । भक्तिपूर्वक उनकी पूजा और उससे प्रसन्न उनके प्रसाद से सभी इच्छाएं पूरी होती हैं ।[2] काम्व्रत के करने से सभी कामनाएं पूर्ण होती हैं । एक वर्ष तक षष्ठी को फल खाकर व्रतोपवास करने के बाद होम (अग्निकार्य), कुमार-पूजा और पूजन के बाद सोने की बनी षण्मुख कार्तिकेय की मूर्ति ब्राह्मण को दान कर दे । इससे उसकी सभी इच्छाएं पूरी होती हैं । अपुत्र व्यक्ति पुत्र और धनार्थी धन पाता है । राज्य-भ्रष्ट व्यक्ति पुनः राज्य प्राप्त करता है । वराह पुराण बतलाता है कि[3] नल और अन्य राज्यच्युत नृपतियों ने इस व्रतचर्या से राज्य प्राप्त किया था ।

इस विवरण से कार्तिकेय-पूजा, काम्व्रत और षष्ठी तिथि का माहात्म्य ज्ञात होता है । षष्ठी तिथि को जो भी व्यक्ति योग-युक्त[4] होकर स्कन्दमहादेव की पूजा करता है, उसकी इच्छाओं की[5] पूर्ति होती है । कार्तिकेय-स्तोत्र का पाठ करने से भी घरोंदामारोग्य होता है ।

कार्तिकेय की भक्ति एवं पूजा के महत्त्व[6] के कारण ही देश के विभिन्न भागों में उनके मन्दिरों का निर्माण हुआ था ।

---

[1] वराह, ६१।६ : षडवक्त्रः कार्तिकेयश्च सेनानीः कृत्तिकासुत. ।
कुमारः स्कन्द इत्येवं पूज्यो विष्णुः स्वनामभिः ।।

[2] वही, ६१।८ : सर्वे कामाः समृद्ध्यन्तां मम देव कुमारक ।
त्वत्प्रसादादिमं भक्त्या गृह्यतां विप्रमापिरम् ।।

[3] वही, ६१।९-१२

[4] वही, २५।५०-५१

[5] वही, २५।५२

[6] का० स्क० का० १०७०, अ० ३ - अ० ५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नाग - पूजा

प्राचीन भारतीय इतिहास, भूगोल, साहित्य और कला में नागों का महत्वपूर्ण स्थान है।[1] धार्मिक जीवन में आज भी नाग-पंचमी[2] को नागों की पूजा होती है। वराह पुराण के अनुसार भी पंचमी-तिथि नागों को प्रिय है और इस तिथि को संयम तथा व्रत के साथ रहता हुआ जो व्यक्ति नागों को दूध से नहलाता है, नाग उसके मित्र हो जाते हैं। इसलिए यह नागप्रिय-पंचमी तिथि पुण्य और सभी पापों को नष्ट करने वाली कही गयी है।[3]

नागों को कुटिल,[4] तीक्ष्ण तथा प्राणघातक[5] कहा गया है। उन्हें सौम्य[6] और शान्त करने के लिए मनुष्यों और नागों में समझौता (सख्य)[7] हुआ था। इस मर्यादा के[8] अनुसार ही मनुष्यों द्वारा नागपूजा प्रचलित हुई। नाग[9] पाताल में रहने लगे। अतः यह सत्य ही है कि नागों के भय से बचने (रक्षा)

---

१. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० ३३-३७
   स्ट०ई०ह० सीरीज, पृ० १९९-२००
   हिन्दुइज़्म, पृ० १६६-१७०, १
   पी० ला० ई०, पृ० ६-१०
२. हिन्दुइज़्म, पृ० १८३
३. वराह, २४।३२-३३ : एतस्याञ्च पञ्चम्यां तेषाञ्जातं महात्मनाम् ।
   अतः प्रियं तिथिर्धन्या सर्वपापहरा शुभा ॥
   एतस्यां संयतो यस्तु अम्लन्तु परिवर्जयेत् ।
   क्षीरेण स्नापयेन्नागांस्तस्य यास्यन्ति मित्रताम् ॥
४. वही, २४।३,१९
५. वही, २४।९-१०, १३-१४, १९-२०
६. वही, २४।२२-३०
७. वही, २४।३२-३३
८. वही, २४।२४-२५, ३१
९. वही, २४।१५, यहां ब्रह्मा धरणी से रक्षा विधान के विषय में कहते हैं।

के लिए ही उनकी पूजा प्रचलित हुई।[1] वराह पुराण स्पष्ट कहता है कि पूजा से प्रसन्न होकर नाग मनुष्यों के मित्र हो जाते हैं (यास्यन्ति मित्रताम्)।[2]

यही तथ्य शान्तिव्रत (वराह, अ० ६०) के अध्ययन से भी सिद्ध होता है। कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी से आरम्भ कर एक वर्ष तक यह व्रत किया जाता है।[3] इस व्रत-चर्या के अनुसार विष्णु के शरीर में कल्पित नागों की पूजा होती है। शेष पर स्थित (शायी) हरि की पूजा करते हुए भगवत्पादों में अनन्त, भगवान् की कटि में वासुकि, उनके जठर (पेट) में तक्षक, हृदय में कर्कोटक, कण्ठ में पद्म, दो भुजाओं में महापद्म, मुख में शंखपाल और शिर में कुटिल नामक नागों की वन्दना करे। हरि का रूप ही समझकर उन्हें दूध से स्नान कराये और उसके सम्मुख तिल-क्षीर से होम करे। इस प्रकार विष्णुमय नागों की पूजा करे अथवा पृथक् रूप से उनकी पूजा करे। पूजा में सोने की नाग-मूर्ति भी बनायी जाती थी, जो पूजा के बाद ब्राह्मण को दान कर दी जाती थी। भक्तिपूर्वक व्रत एवं पूजा करने से शान्ति होती है और नागों का भय नहीं रहता है।[4]

State Museum Lucknow 7225

वासुकि, तक्षक और धनञ्जय नामक नाग शिव के वलयों (कंकणों) और कटिसूत्र (करधनी) रूप में शोभित रहते हैं।[5] अनन्त, वासुकि, कम्बल, महाबल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख और पापराजित नामक महाबली एवं प्रधान नाग ब्रह्मात्मज कश्यप की संतानें थीं।[6] मथुरा में कर्कोटक नाग की पूजा होती थी।

---

१. स्ट० ई० ह० सील, पृ० १६६, फुटनोट १

२. वराह, २४।३३(२)

३. वही, ६०।१-२

४. वही, ६०।३-८

५. वही, २७।१४

६. वही, २४।६-७

यहां कर्कोटक नाग नामक तीर्थ था, यहां इस नाम से नागदेवता का दर्शन किया जाता था ।[1] मथुरा क्षेत्र ही में नागतीर्थ भी प्रसिद्ध तीर्थ था ।[2] मथुरा के आस-पास का क्षेत्र नाग-पूजा का प्रसिद्ध केन्द्र था ।[3]

प्राण-त्याग

भारत के धार्मिक जीवन में प्राण-त्याग भी महत्वपूर्ण धार्मिक कृत्य था । पूर्व मध्यकालीन भारत के कई प्रथित सम्राटों - प्रतिहार सम्राट् नागभट्ट द्वितीय,[4] पालवंशीय रामपाल,[5] चन्देल शासक धंग[6] आदि ने योगयुक्त होकर अपने शरीर का त्याग किया । तीर्थों या पवित्र स्थानों में भी मृत्यु से मोक्ष मिलता है, इस विचार से प्रेरित होकर लोग मरने के पूर्व गंगा आदि तीर्थों में आकर प्राण-त्याग करना भी पुण्य मानते थे ।[7] यह `सुसाइड` अथवा आत्म-हत्या नहीं थी ।[8] तप और योग द्वारा ही शरीर का त्याग किया जाता था ।[9] वैष्णव धर्म में प्राणत्याग परम् सुख कहा गया है ।[10] इसीलिये कुब्जाम्र,[11] कोकामुख,[12] बदरी,[13]

---

[1] वराह, १६०।६७ : कर्कोटकं तथा नागं महादुष्टनिवारणम् ।
दृष्ट्वा गच्छेत्ततो देवीं या कृष्णेन विनिर्मिता ।।

[2] वही, १५४।१४

[3] स्ट०ई०ह० सी०ल, पृ० २००

[4] वि०गु०प्र०, पृ० ४८

[5] ए०इ०भा०, पृ० २८

[6] वही, पृ० ८६

[7] वराह, १६२।१२-१३

[8] घोषाल, स्ट०इ०हि०क०, पृ० ४७६-४८६
ज०यू०पी०हि०सो०, न्यू वाल्यूम १०, पृ० ६५-७६, यहां डा० घोषाल ने `प्रयाग में प्राणत्याग` का विवेचन किया है (पुसालकर, एपिक्स एंड पुराणाज़, पृ० १५६) ।

[9] वराह, २८।३

[10] वही, १२४।३६-४०, १२६।४०

[11] वही, ५५।५५

[12] वही, १४०।३६,४३,४६,४८,५७

[13] वही, १४१।६,१६

मन्दार गिरि,[1] त्रिवेणी[2] (नेपाल), शालग्राम,[3] द्वारका,[4] प्रभास,[5] और वहीं पंचकुंड,[6] मणिपूरगिरि,[7] कदम्बतीर्थ,[8] चक्रतीर्थ,[9] रैवतक,[10] सानन्दूर (दक्षिण में समुद्र और मलय के बीच) क्षेत्र में स्थित रामेश्वर,[11] शक्कर,[12] सूर्पारक,[13] लोहार्गल या लोहागंल क्षेत्र[14] (हिमालय), पंचसर,[15] नारदकुंड,[16] सप्तर्षिकुंड,[17] शरभंगकुंड,[18] अग्निसर,[19] बृहस्पतिकुंड,[20] वैश्वानर कुंड,[21] कार्त्तिकेयकुंड,[22] उमाकुंड,[23] महेश्वरकुंड,[24] ब्रह्मकुंड[25] और मथुरा-वृन्दावन के विभिन्न तीर्थों[26] में प्राण-त्याग

---

१. वराह, १४३।१५,२०,२३,२६,२६,३२,३८,४४
२. वही, १४४।१४२
३. वही, १४५।३७,४४,४७,५४,५८,६१,७८
४. वही, १४६।२५
५. वही, १४६।३१
६. वही, १४६।३८
७. वही, १४६।४३,४८
८. वही, १४६।५४
९. वही, १४६।६०
१०. वही, १४७।६५
११. वही, १५०।१६
१२. वही, १५०।३६
१३. वही, १५०।४३,५०
१४. वही, १५१।१८
१५. वही, १५१।३६
१६. वही, १५१।३८-३९
१७. वही, १५१।४८
१८. वही, १५१।५१
१९. वही, १५१।५४
२०. वही, १५१।५७
२१. वही, १५१।६०
२२. वही, १५१।६३
२३. वही, १५१।६६
२४. वही, १५१।७०
२५. वही, १५१।७७
२६. वही, १५२।३१, ३२, ३६, १५३।३५, १५४।१३, १५, १६, २२, २८, ३०, ३२,
१५७।११, १३, १५, १६, ३१, ३४, ३८, १५८।२१, २६, १६३।१४, १६४।६,७,९

का माहात्म्य कहा गया है । अन्य पुराणों में प्रयाग[1] आदि प्रसिद्ध तीर्थों में ही इसका विशेष माहात्म्य मिलता है । परन्तु उपर्युक्त विवरणों से सिद्ध होता है कि विभिन्न तीर्थों के उपतीर्थों में भी इस धार्मिक कृत्य का महत्व था ।

अनाशक व्रत - अनाशक व्रत करने के बाद (कृत्वा चानाशकं व्रतं)[2] भक्ति भाव से भगवत्कर्म परायण होकर प्राण त्याग करना (मुञ्चते प्राणान्धर्म कर्मपथे स्थित:) स्वर्गलोक अथवा विष्णुलोक की प्राप्ति का साधन बताया गया है ।[3] अत: यह प्राणत्याग अनाशक-विधि और वेदान्तदर्शन पर आधारित था, जिसके अनुसार साधक अपने आपको देह-भाव से मुक्त कर आत्मिक स्वरूप में स्थित होकर इस अनित्य शरीर को छोड़ता था ।[4] महाराज धंग ने सौ वर्षों तक जीवन की आयु में स्वधर्म (पृथ्वी-पालन) का सम्यक पालन करने के बाद गंगा-यमुना के संगम में नेत्र बन्द कर केवल रुद्र का हृदय में ध्यान एवं जप करते हुए कलेवर-त्याग द्वारा निर्वाण प्राप्त किया था ।[5] पूर्वमध्यकालीन धार्मिक संप्रदायों (४२ सैक्ट्स) का विवेचन करते हुए ग्यारहवीं शताब्दी के मुस्लिम लेखक अल-इन्द्रीसी[6] के अनुसार भी ऐसे लोग थे जो अपने आपको जलती हुई आग में झोंक देते थे ।

---

१. मत्स्य, १०३।२, १०४।३-६,८, ११-१२ इत्यादि

२. वराह, १४१, १३

३. वही, १४१।१६,१८,२३ इत्यादि

४. महा० अनुशासनपर्व, २५।६३-६४ : शरीरमुत्सृजेत् तत्र विधिपूर्वमनाशके ।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विज: ।।
अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनींस्तथा ।
तत: सिद्धो दिवंगच्छेद् ब्रह्मलोकं सनातनम् ।।

५. धंग और जयवर्मदेव का खजुराहो शिलालेख (ए०इ०, सं० ४६), श्लोक ५५ :
जीवित्वा शरदांशतं समधिकं श्रीधंगपृथ्वीपति: ।
रुद्रं मुद्रितलोचन: स हृदये ध्यायञ्जपञ्जाह्नवी-
कालिन्द्यो: सलिले कलेवरपरित्यागादगान्निर्वृतिं ।

६. जी०वा०वेध, इ०हि०क्वा०, भाग २, पृ० १६६
इलियट-डाउसन, हि०इ०, भाग१, पृ० ७६

विविध धार्मिक क्रियायें (व्रत,दान,तप आदि)

उपर्युक्त धार्मिक पद्धतियों के अतिरिक्त पौराणिक धर्म के अन्तर्गत सत्य,[१] तप,[२] दान,[३] दया,[४] श्राद्ध,[५] तर्पण,[६] जप,[७] ध्यान,[८] श्रवण,[९] स्तुति,[१०] नाम,[११] कीर्तन,[१२] उपवास,[१३] व्रत,[१४] अनशन[१५] (दृष्टव्य प्राणत्याग) एवं तीर्थ-यात्रा[१६] प्रसिद्ध हैं। धार्मिक जीवन में सत्संगति का माहात्म्य भी प्राप्त होता है[१७]।

---

१. वराह, ३१।४(१), १३९।४०-४६,६१-६२,६३,६७, १९३।३४-४९
२. वही, ३।५, ४।१९, २१।२५-२६, २२।४-९, ३६।९-११, ९९।१०,११, १४७।५, १९३।२७
३. वही, ९९।५५-७२, ८२-९३, अ० १००-अ० ११२(धेनुदान), १३८।५, १९३।२७,७५
४. वही, १२२।५,८
५. वही, अ० १३-अ० १४, १८०।३८-३९, ४९-५८
६. वही, १८०।४०-४८, ९२
७. वही, ३।८-९, ४।११
८. वही, ३।२९, ४८।९, ११५।४, १४४।३५, १५२।३५
९. वही, ११५।१३, १६५।५, १६७।२७
१०. वही, ३।११-२०, ५।४९-५८, ६।१०-१६, ७।३१-४०, ८।४३-५३, ९।२८-३३, १०।६-७, ११।११-२१, १२।५-१७, १५।९-२०, २०।२७-३०, २१।६८-७५, २३।३३-३४, २५।१७-१८, २६।१०-१४, २८।२९-३८, ३२।२०-२५, ३५।१६-२४, ३६।१२-२२, ७२।९, ७३।१७-३६, ९१।९-१५, ९४।५१-५९, ९६।४५-५१, ११३।२५-४६, १२४।११-१८
११. वही, ७।४०, १२।३, ११४।६२, १५२।६
१२. वही, १५७।२३
१३. वही, १९।७, ११५।८-९
१४. वही, अ० ४०-अ० ५०
१५. वही, १४२।३
१६. वही, ६।४०, पुष्कर, ७।२, गया, ८।४१-४२, पुरुषोत्तम, ११९।८-९, गंगा, अ० १२२,१२३,१२५।७२, अ० १२६, अ० १३७, अ० १३८, अ० १४०, अ० १४४-अ० १५१, अ० १५२-अ० १७७ अ० १४१, अ० १४३,
१७. वही, २११।३१-९२

व्रत - चर्या

प्राचीन भारत के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन में व्रत-चर्या का विशेष महत्व है । ऋग्वेद में भी वरुण को धृत-व्रत[१] (व्रत का पालन करने वाला) कहा गया है । इसके अतिरिक्त यहां कई स्थानों पर व्रत-पालन करने का महत्व प्राप्त होता है । व्रत-हीन पुरुषों को दस्यु कहा गया है । व्रत एक प्रकार से धर्म-नियम (ऋत) ही है जिससे सभी मनुष्य सदाचारी हो सकते हैं । मित्र, वरुण, अर्यमा आदि देवता भी इन व्रतों को नहीं तोड़ते हैं जिससे उनकी शक्ति बढ़ी ।

कालान्तर में भी, भारतीय जीवन और साहित्य में, व्रतों का माहात्म्य मिलता है । रामायण[२] और महाभारत[३] में व्रतों का उल्लेख मिलता है । किन्तु इनका विशेष महत्व स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) और पुराणों में प्राप्त होता है (यथा-वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड, अग्नि, गरुड़) । वराह पुराण में व्रतों का विशेष वर्णन मिलता है । विभिन्न तिथियों में करने वाले व्रतों से सम्बद्ध देवी-देवताओं की उपासना पर भी प्रकाश पड़ता है । उनकी मूर्तियां भी बनायी जाती थीं जिससे उनके मूर्ति-लक्षणों का भी ज्ञान होता है । तिथियों के माहात्म्य में भी व्रतोपवासों[४] का वर्णन किया गया है । शिव को भी कापालिव्रत कहा गया है ।[५] व्रतों[६] से ही शरीर का संस्कार होता है । व्रतों के प्रभाव से शरीर पवित्र हो जाता है ।[७] इसीलिए धार्मिक जीवन में उपवास, व्रत और नियमों का महत्व है । धनी लोग धन से यज्ञ और दान करते हैं, किन्तु धनहीन लोग व्रतों द्वारा ही अपने आराध्य (नारायण) को प्रसन्न कर लेते हैं ।[८] एकादशी व्रत, धरणी व्रत (मत्स्यद्वादशी व्रत) प्रसिद्ध व्रत था । इसी प्रकार पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्र, आश्विन,[९] और कार्तिक मासों के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को व्रत करना पुण्य माना गया है । इसी प्रकार धन्यव्रत, कान्तिव्रत, सौभाग्यव्रत, अविघ्नव्रत, शान्तिव्रत, काम्यव्रत, आरोग्यव्रत, पुत्रप्राप्तिव्रत, शौर्यव्रत, सार्वभौमव्रत आदि[१०] का भी वर्णन किया गया है ।

---

१. ऋग्वेद, १।९।४४।१४ : पिबतु सोमं वरुणो धृतव्रतो ---- ।
२. बाल काण्ड ४।७, अयोध्या काण्ड २०।५२, १०९।१९ इत्यादि
३. वनपर्व, १३३।९, १३८।२४, १८४।९ इत्यादि
४. वराह, ९९।७, २९।१५
५. वराह, ३३।२९(१)
६. वही, ४९।३
७. वही, ४९।२४
८. वही, ४९।१७-२०
९. वही, ३०४९-३०५०
१०. वही, ३०५१-३०६५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तिथि माहात्म्य

विभिन्न तिथियों पर व्रतोपवास आज भी प्रसिद्ध हैं । वराह (अ० १९- अ० ३४) में क्रमशः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पौर्णमासी को व्रतोपवास करते हुए क्रमशः अग्नि, अश्विनीकुमारों, गौरी, गणेश, नागों, स्कन्द, सूर्य, अष्टमातृदेवियों, दुर्गा, दिग्देवियों, धनद, विष्णु, धर्म, पशुपति, पितृगण और सोम की पूजा का वर्णन किया गया है । इनमें एकादशी व्रत अधिक प्रसिद्ध था । एकादशी माहात्म्य[१] का पाठ एवं श्रवण करना भी पुण्यप्रद था ।[२]

उपर्युक्त तिथि-माहात्म्यों से ज्ञात होता है कि धार्मिक जीवन में विविध देवी-देवताओं की उपासना में व्रतों का विशेष माहात्म्य रहा है ।

इसके अतिरिक्त वराह पुराण छः ऋतुओं (षड्ऋतुकर्माणि) - शरद, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि (ऋतूनां कर्म) और मासों - कार्तिक, मार्गशिर, वैशाख, फाल्गुन, आषाढ़ आदि का धार्मिक महत्व बताते हुए विभिन्न उपर्युक्त धार्मिक क्रियाओं का वर्णन करता है ।[३]

अतः स्पष्ट है कि संसारमोक्ष के लिए विविध धर्म[४] - ज्ञान, कर्म, दान, व्रत, योग[५] आदि - प्रचलित थे ।

---

[१] वराह, २११।९५,
इसे ‘गुह्याख्यान’ कहा गया है ।

[२] वराह, १४९।८६-८७, २११।७७-७९

[३] वही, १२३।८-३१, १२४।१-४७, १२५।१

[४] वही, १२७।१

[५] वही, १४८।२४-२५

इष्टापूर्त-धर्म

धन का महत्त्व था, परन्तु धन का प्रयोग धर्म के कार्यों में व्यय करना ही पुण्य माना जाता था । इष्टापूर्त ऐसा ही सामाजिक धर्म था । इसे द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) का प्रमुख धर्म कहा गया है (इष्टापूर्तं द्विजातीनां प्रथमं धर्मसाधनम्) ।[1]

इष्ट-धर्म

इष्ट कर्म से स्वर्ग-प्राप्ति होती है (इष्टेन्च नाकं) ।[2] इष्ट-धर्म के अन्तर्गत अग्निहोत्र करना, तप, सत्य और वेदों का पालन करना, आतिथ्य तथा वैश्वदेव करणीय कर्म हैं ।[3]

पूर्त-धर्म

पूर्त धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है (पूर्ते मोक्षञ्च विन्दति) ।[4] अग्निपुराण के अनुसार वापी (बावली, जलाशय), कूप, तड़ाग और देवतायतन का निर्माण करवाना, अन्न-दान देना तथा आराम (वाटिका, उद्यान) लगाना या लगवाना पूर्त-धर्म कहलाता है ।[5] इनके अतिरिक्त वराह पुराण के अनुसार[6] पतितोद्धार करने वाला पूर्तफल (मोक्ष) प्राप्त करता है ।

---

१. वराह, १७२।३३(१)
२. वही, १७२।३३(२)
   अग्नि, २०६।३
३. वही, २०६।३
४. वराह, १७२।३३(२)
५. अग्नि, २०६।२
६. वराह, १७२।३४ : वापीकूपतडागानि देवायतनानि च ।
   पतितान्युद्धरेयस्तु स पूर्तफलमश्नुते ।।

वृक्षारोपण

वृक्ष लगाना भी भूमिदान और गोदान के समान पुण्य कर्म था । ऐसा विश्वास था कि लगाये हुए वृक्ष उनके लगाने वालों को नरक से बचाते हैं ।[१]

वणिक् गोकर्ण ने संतान के लिए अनेक धर्म कार्य किये थे (धर्म आरब्ध:) । उसने वापी, कूप, तड़ागों, देवतायतनों और पौसाला (प्रपा) के अतिरिक्त एक विष्णु-मन्दिर का भी निर्माण करवाया था । उसी में आराम (बाग) और उसके चारों ओर प्राकार-परिखा बनवाकर आम्र, नारंगी, अनार आदि के वृक्ष भी लगवाये थे । इनके पुष्प पूजा के लिए स्त्रियों द्वारा चुने जाते थे । वहीं देवालय में स्नान, पूजन, मार्जन और दीप-कर्म भी किया जाता था ।[२] इस प्रकार भुक्ति (अभ्युदय, भोग) और मुक्ति देने वाला[३] इष्टापूर्त कर्म लोक-हितकारी धर्म ही था ।

---

१. वराह, १७२।३५-३७

२. वही, १७०।२२-२७

३. ध०शा०इ०, प्रथम भाग, पृ० ४४६-४५०

प्रतिमार्चन एवं देव प्रतिमाएं

प्रतिमार्चन

वराह पुराण के अनुसार देवतायतन बनवाना महत्वपूर्ण धर्म माना गया था (द्रष्टव्य, पीछे, इष्टपूर्त धर्म) । देव प्रतिमाओं के बिना देवालय का अस्तित्व वैसा ही है जैसे आत्मा अथवा प्राणहीन शरीर का होना है । अस्तु मन्दिर-निर्माण के साथ साथ प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा और उनका पूजन भी महत्वपूर्ण था ।[1] देव-प्रतिमार्चन पौराणिक धर्म की प्रमुख विशिष्टता है । वराह पुराण के अनुसार भी प्रतिमार्चन[2] महत्वपूर्ण धर्म था ।

वराह पुराण में प्रतिमा के लिए प्रतिमा,[3] अर्चा,[4] विग्रह,[5] मूर्ति[6] और रूप[7] शब्दों का प्रयोग हुआ है । मूर्ति-निर्माण,[8] इसकी संस्थापन-क्रिया और पूजा के लिए निर्धारित व्यवस्था (विधान) थी, जिसका वर्णन पुराणों, तन्त्रों और आगमों में मिलता है । मूर्ति-निर्माता कलाकार को रूपकार कहते थे जो अपने

---

[1] वराह, १८२।१६ : ततः प्रासादे स्थाप्योहं --- ।
वही, १८२।२०-२१

[2] वही, १८१।८-१० इत्यादि, १८३।१-७, १८४।१३,१४,२१

[3] वही, १८१।८, २१८।४१ इत्यादि

[4] वही, २१८।४२ इत्यादि

[5] वही, १४४।२२

[6] वही, १६६।२३

[7] वही, ६६।२६, १८२।६

[8] वही, १८१।२२,२३ इत्यादि, १८२।१०,३३(१)

कर्म में वधा होता था (वधां रूपकारं विनियोजयेत्) ।[१]

अतः प्राचीन भारतीय पूजा-पद्धति में प्रतिमाओं का विशेष महत्व था । वराह पुराण का कथन है कि परमात्मा के उस परमरूप (सूक्ष्मरूप) को देवता भी नहीं देख पाते हैं । नारायण के दशावतार रूपों को उनके दर्शन करने का साधन कहा गया है ।[२] इनके द्वारा साधक अपने साध्य (ध्येय) का साक्षात्कार करता है ।[३] यही उसकी परम सिद्धि अथवा सुगति है । अतः देव-प्रतिमाओं का सम्बन्ध देवार्चन से है ।

अर्चा (मूर्ति) ही अर्चना का आधार है ।[४] ऐसा पूर्व की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आज तक मूर्तियां और मन्दिर बनते रहे हैं । अतः धर्मानुचिन्तक, साहित्यकार और कलाकार का मूर्ति एवं मन्दिर की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था । किसी मन्दिर में उसके गर्भगृह में प्रतिष्ठित प्रमुख मूर्ति का वही स्वरूप और स्थान है जो शरीर में आत्मा का स्थान है । आत्मा अदृश्य है और आत्मानुचिन्तक उसका ध्यान करता है । ध्यान सभी लोगों का समान रूप से नहीं लगता है । इसीलिए उपनिषद् का निराकार-निरन्जन, ब्रह्म-परमात्मा-साधारण बुद्धि-बल के लोगों के लिए अग्राह्य रहा है । ऐसे बाल-बुद्धि वाले लोगों के कल्याण के लिए ही मूर्तियों की कल्पना की गयी है ।[५] कलाकार ने उस अमूर्त को मूर्त कर

---

१. वराह, १८२।२
२. वही, ४।१-४
३. वही, ४।३ : इत्येताः कथितास्तस्य मूर्तयो भूतधारिणि ।
दर्शनं प्राप्तुमिच्छानां सोपानानि च शोभने ।।
४. वि० ध०, ३।१।४-६, १०-११
५. ए० हि० आ०, १-१, पृ० २६ का फुट नोट- अज्ञानां [illegible]
अंगुष्ठमात्रत्वेन प्रतिमायामिव [illegible] प्रतिमा
निर्मातव्या (तन्त्रसार-भाष्य) ।
जाबालोपनिषद्- शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ।।

अरूप को रूप दिया । अस्तु, अमूर्त को मूर्त-रूप देना ही मूर्तिकला है । कभी कभी उस अमूर्त को देव को प्रतीकों (चिन्हों) द्वारा भी रूपांकित किया जाता है । प्रारम्भिक बौद्ध कला प्रतीकात्मक ही है ।[१] अतः मूर्तिकला या 'आइकनोग्राफी' वह विद्या है जिसमें प्रत्यक्ष-प्रतीकों[२] तथा मूर्तियों का वर्णन होता है । इस काल के विकास के प्रत्येक चरण में प्रतिमूर्ति के साथ साथ धर्म, कला और सांस्कृतिक-परम्पराओं-[३] लोक-आचार तथा आदर्श ने भी इसे अपने अनुरूप गढ़ा और बनाया । उस युग के प्रतीक कालान्तर में रूप-मात्र रह जाते हैं और उनकी व्याख्या करना कठिन हो जाता है । इसीलिए मूर्तिविद्या मूर्तिलक्षणों[४] का विवरण प्रस्तुत करती है । विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार मूर्तियां लक्षणों से युक्त बनायी जानी चाहिए ।[५]

ब्राह्मण-मूर्तियों के अध्ययन में पुराणों का महत्व सर्वमान्य है ।[६] वराह पुराण भी मूर्तियों के अध्ययन करने का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें वैष्णव-प्रतिमाओं का लक्षण विशेष रूप से वर्णित मिलता है । विष्णु के रूपों और प्रतिमाओं[७] के अतिरिक्त शैव-प्रतिमाओं[८] का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त सूर्य, देवी, स्कन्द आदि के भी मूर्ति-लक्षणों का उल्लेख मिलता है । मत्स्य, अग्नि और

---

[१] हि०फा०आ०इ०आ०, पृ० ३६

[२] के०ह०, जिल्द ७, पृ० ३७१ : 'आइकनोग्राफी इज दि ब्रान्च आफ नालेज व्हिच डील्स विद दि यूज आफ विजुअल सिम्बल्स ।'

[३] हि०के०आ०पे०, पृ० २५

[४] ए०हि०आ०, प्रतिमा लक्षणानि, १-२, पृ० १-१५६, २-२, पृ० २-२६६
हि०के०आ०पे०, द्वितीय खंड, प्रतिमालक्षणाम्, पृ० ७०-२६३
वै०आ०, अ० ५-अ० ७
के०इ०आ०, अ० ११- अ० १२
वि०ध०, तृतीय खंड
प्रि०वि०ध०, अ० ६, मत्स्य, अ० २५७-अ० २६०, अग्नि अ० ४४,अ० ४६,अ० ५२

[५] वि०ध०, ३।१।११ : तस्मात्सर्व प्रयत्नेन पुराणोक्तलक्षणान्विताम् ।
कारयेत्पूजने विद्वान्स्वलक्षणयुताम् ॥

[६] डे०हि०आ०, पृ० २०-२३, ए०हि०आ०, १-१, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ५५, पृ० ३६, ३९,४०
प्रि०वि०ध०, प्रिफेस, पृ० १५
गरुड़, अ०, पृ० ३०८-३६२, अ० ११

[७] वराह, अ० ४०-अ० ४६

[८] वही, १४४।१८-२४, २१३।३६-४१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गरुड़, पद्म और विष्णु धर्मोत्तर पुराणों की भांति वराह पुराण में स्वतंत्र रूप से प्रतिमा-लक्षण का वर्णन नहीं किया गया है । परन्तु इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि काष्ठ, मिट्टी, विभिन्न धातुओं, रत्नों[1] आदि बनी हुई प्रतिमाएं पूजी जाती थीं । काष्ठ की बनी हुई मूर्ति[2] (अर्चा काष्ठस्य), मृण्मयार्चा[3], शैलार्चा, ताम्रार्चा, कांस्यार्चा और सौवर्णप्रतिमा विशेष वर्णन मिलता है । एक स्थल पर स्तुतस्वामी नामक क्षेत्र के माहात्म्य (अ० १४८) का वर्णन करते हुए मुलगिरि पर स्थित विष्णु की आयसी प्रतिमा का उल्लेख किया गया है, जो अभेद्य थी । कुछ लोग इसे आयसी कहते थे तथा कुछ लोग इसे कांसे की बनी हुई (कांस्या) मानते थे, किन्तु अन्य[4] लोग इसे ही पाषाणी और दूसरे लोग इसे वज्र की बनी हुई (वज्रमयी) कहते थे । वस्तुतः वह आयसी प्रतिमा ही थी और अभेद्य होने के कारण लोग उसे वज्र की बनी हुई मानते थे ।

मथुरा-माहात्म्य के अन्तिम अध्याय (अ० १८०) के अन्त में ही धरणी देवी[5] भगवान् विष्णु (वराह) से प्रतिमास्थापन-सम्बन्धी जिज्ञासा प्रकट करती हैं । इसके बाद ही अगले अध्याय में धरणी देवी पुनः पूछती हैं कि भगवान् किस प्रकार काष्ठ, शैल, तांबे, कांसे, चांदी, सुवर्ण, दन्त (गजदन्त), रत्न और चित्र (भित्ति-चित्र) में निवास[6] करते हैं । इस कथन से स्पष्ट है कि इन द्रव्यों[7] से प्रतिमाओं[8] का निर्माण होता था । इसके अतिरिक्त रीति (पीतल) तथा सीसा और त्रपु (टीन या जस्ता) की

---

१. वराह, १८१।२२
२. वही, २१८।४१
३. वही, अ० १८१-अ० १८६
४. वही, १४८।४०-४१
५. वही, १८०।११८ : किसी विषय विशेष का वर्णन करने की यही पौराणिक शैली है ।
६. वही, १८१।४-६(१) : कथं तिष्ठसि काष्ठेषु शैलमध्यगतेषु च ।
ताम्रे कांस्ये च रौप्ये च स्थापितस्तिष्ठसे कथम् ।।
सौवर्णेषु च सर्वेषु स्थापितस्तिष्ठसे कथम् ।
दन्तरत्ने समासाद्य कथं सन्तिष्ठसी भगवान् ।।
कथं तिष्ठसि वा चैत्ये चित्रसंस्थो जनार्दनः ।।
ऊपर की अन्तिम पंक्ति में 'चैत्ये' पाठ अशुद्ध है । इसके स्थान पर 'चैत्ये' होना चाहिए ।
७. वही, १७७।६-७
८. वही, १८३।४-५

भी बनी हुई मूर्तियों का उल्लेख है। विभिन्न पदार्थों (द्रव्यों) से बनी हुई मूर्तियों को सामान्यतः सात वर्गों - 'पार्थिवी, दारुघटिता, लौहजा, रत्नजा, शैलजा, गन्धजा'[1] और 'कौसुमी' अथवा सुवर्ण-रूप्य-ताम्र, अश्म, दारु और लेप्य तथा चित्र[2] में विभक्त किया गया है। भविष्य पुराण भी सात प्रकार के द्रव्यों - सोना, चांदी, तांबा, मिट्टी, शैल, लकड़ी और चित्र - से बनी हुई प्रतिमाओं का उल्लेख करता है।[3] इस प्रकार वराह पुराण मूर्ति-निर्माण के उन विभिन्न उपादानों (द्रव्यों) से परिचित था जिनका उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।[4]

यहाँ पर यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन भारतीय मूर्तियों के निर्माण के लिये मथुरा अति प्रसिद्ध स्थान था। मूर्ति-निर्माण में मथुरा का महत्त्व इस तथ्य से भी सिद्ध होता है कि मथुरा-माहात्म्य के अन्तिम अध्याय में ही पृथ्वी देवी ने विष्णु से प्रतिमा-स्थापन सम्बन्धी प्रश्न पूछा।[5] इस प्रश्न के उत्तर-रूप में ही आगे के अध्याय[6] में विभिन्न पदार्थों से बनी हुई प्रतिमाओं के निर्माण, स्थापना और पूजन का वर्णन किया गया है।[7] इसके बाद ही इन विभिन्न प्रतिमाघटन-द्रव्यों से बनी हुई प्रतिमाओं[8] - काष्ठार्चा, शैलार्चा (मृत्तिका)

---

1. डे०हि०आ०, पृ० २०६-२२८
   इ०हि०आ०, १-१, बंद्योपाध्याय, पृ० ४८-५४
   वि०डे०आ०पं०, प्र०वि०, पृ० ११-१२
2. डे०हि०आ०, पृ० २०८
3. वही, पृ० २०९ (समरांगणसूत्रधार के आधार पर), डे०आ०, अ० २
4. भविष्य पु०, १।१३१।२-३(१) : अर्चा सप्तविधा प्रोक्ता मत्स्यानां शुभवृद्धये।
   काञ्चनी राजती ताम्री पार्थिवी शैलजा स्मृता॥
   वार्क्षी चालेख्यका चेति मूर्तिस्थानानि सप्त वै॥
5. वराह, १८०।११८(२) : पप्रच्छ मुदिता देवी प्रतिमास्थापनं प्रति।
6. वही, अ० १८१-अ० १८६
7. वही, १८१।४-६(१), १८३।४-५, १८६।२८-३०
8. वही, १८१।८-१४

(अ० १८२), मृण्मयी अर्चा (अ० १८३), ताम्रार्चा (अ० १८४), कांस्य प्रतिमा (अ० १८५) तथा राजती एवं सुवर्णिका प्रतिमा (अ० १८६) का वर्णन किया गया है । इन अध्यायों में प्रतिमाओं के वर्णनों से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय मूर्ति-शिल्प के अध्ययन में वराह पुराण का महत्व कम नहीं है । इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि मथुरा प्रतिमा-निर्माण का प्रथित कला-केन्द्र था, जहाँ मथुरा के शिल्पियों की कर्मशालाएं विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण कर रही थीं ।[1] न केवल मथुरा वासुदेव-धर्म (भक्ति या सात्वत धर्म) का ही केन्द्र था, प्रत्युत यहाँ विविध देवताओं की मूर्तियों का निर्माण किया गया था । इस सम्बन्ध में मथुरा-माहात्म्य के अध्यायों (अ० १५२-अ० १८०) से ज्ञात होता है कि यहाँ लोकनाथ[2] (वासुदेव), कृष्ण,[3] उनके चतुर्व्यूह[4] और केशव[5] के प्रसिद्ध देवालयों के अतिरिक्त गोपवेश,[6] गोपाल-कृष्ण,[7] गोविन्द,[8] हरिदेव,[9] दीर्घविष्णु,[10] गदाधर,[11] नारायण[12] और वराह,[13] वामन[14] आदि की वैष्णव मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी । इसी प्रकार सूर्य[15] शिव (क्षेत्रपाल),[16] गणेश,[17] देवियों[18] आदि की भी मूर्तियाँ नित्य पूजी जाती थीं । अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय मूर्ति-शिल्प के इतिहास में मथुरा का महत्वपूर्ण स्थान था । जब मन्दिरों के विध्वंस के साथ-साथ मूर्तियाँ भी नष्ट हो गयीं अथवा सोने-चाँदी की बहुमूल्य मूर्तियाँ लुटेरों द्वारा यहाँ से दूर देशों को ले जायी गयीं, उनका इतिहास वराह पुराण के मथुरा-माहात्म्य में कुछ-कुछ सुरक्षित रह सका है । आधुनिक खोजों और खुदाई से भी मथुरा के प्रख्यात मूर्ति-शिल्प पर प्रकाश पड़ता है ।[19]

---

[1] भा०क०, पृ० २६०-३२१

[2] वराह, १५७।५

[3] वराह, १५२।२५, १६६।१२

[4] वही,

[5] वही, १५८।७, १६०।२, १७४।३८, १६३।४२, १७४।३०, ७१, ७६, ७८

[6] वही, १५७।२२, १५७।१८-२२ गोपीश्वर, १५७।६, अ० गोपीश

[7] वही, १६०।५२

[8] वही, १५७।२८

[9] वही, १५७।२

[10] वही, १६०।२

[11] वही, १६०।३२

[12] वही, १६०।३९

[13] वही, १६३।२६

[14] वही, १७४।५३, ५४, ६१, ६६

[15] वही, १५२।५०, ५२, १५६।१२, १५७।१०, ४०-४२, १६०।७५

[16] वही, १५४।३१, १५८।१८, १६०।३१, ४१, ४७, अ० १७० - अ० १७३

[17] वही, १५४।२६-२८, १६०।४०, ४८

[18] वही, १६०।१५-१८, २८-२९, ४२-४५, ६३, ६७, ७०

[19] ज०यू०पी०हि०सो०, वाल्यूम २२, (१९४९) पृ० १०२-२१०

नैमिष, पुष्कर, पुरुषोत्तम, गया, हरिक्षेत्र-शालग्राम, मन्दार, द्वारका, प्रभास, मथुरा, सौकर क्षेत्र, चित्रकूट, अयोध्या, प्रयाग, सानन्दूर (दक्षिण-भारत) आदि थे। ये प्रायः वैष्णव तीर्थ थे। इनमें भी शिव, सूर्यादि अन्य देवताओं के भी तीर्थ थे। वाराणसी, केदार, गोकर्ण, एकलिंग और नेपाल आदि प्रायः शैव तीर्थ थे। कालप्रिय, मूलस्थान आदि सूर्य के प्रधान तीर्थ थे।

इन तीर्थों में तीर्थयात्री भिन्न-भिन्न धार्मिक क्रियायें - स्नान, पूजन, चिन्तन (ध्यान) और प्राणत्याग आदि - भी करते थे। एक ही क्षेत्र में विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना का साक्ष्य मिलता है। मथुरा क्षेत्र में विष्णु के अतिरिक्त शिव, सूर्य, देवी, गणेश आदि देवताओं की पूजा-प्रचलन का साक्ष्य मिलता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इन तीर्थों का वर्णन करने में असमर्थ हैं। इसके लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता है।

बहुत से प्रसिद्ध तीर्थों यथा - अयोध्या, काशी, कान्ची, उज्जैनी आदि नगरों और गंगा, गोदावरी, गंडकी आदि नदियों तथा रैवतक आदि पर्वतों एवं नैमिष आदि वनों का उल्लेख भूगोल के अध्याय में किया गया है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक तथा पूर्व में पुरुषोत्तम (पुरी) से लेकर पश्चिम में प्रभास तक तीर्थ स्थित थे।

नगाधिराज हिमालय अत्यंत पवित्र क्षेत्र था। हिमालय देवी-भक्त था और देवी हिमालय के घर में ही गौरी रूप से उत्पन्न हुईं। इससे गौरी-गुरु हिमालय का गौरव बढ़ गया।[१] इसीलिये हिमालय पवित्र क्षेत्र है।[२] यह महान तीर्थ बन गया।[३] कालिदास

---

१. देवी भाग०, ७।३१।४२-७१

२. वराह, २१५।५५

३. कु० सं०, १।१

पाषण्ड-पथ (नास्तिक मत)

अशोक के अभिलेखों में `पाषण्ड` शब्द का प्रयोग धार्मिक सम्प्रदाय के अर्थ में हुआ है।[१] परन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र में पाषण्डों और चण्डालों को एक साथ रखकर पाषण्डों[२] तथा पाषण्डावासों[३] को हेय दृष्टि से देखा गया है।[४] पुराणों में इन्हें निन्द्य कहा गया है।[५] वराह पुराण के अनुसार धर्म के विपरीत लक्षणों वाले (अर्थात् अधर्मी) को पाषण्ड कहते थे।[६] त्रयीबाह्य और वेदकर्म-बहिष्कृत लोग तथा उनका सम्प्रदाय भी पाषण्ड कहलाते थे। इसी कोटि में मोह एवं मोहशास्त्र[७] तथा पाशुपत शास्त्र और उसके अनुयायी (रौद्राः सुरामांसप्रियाः सदा स्त्रीलोलाः पापकर्माणः)[८] भी थे। मोह अज्ञान का सहचर है जिसके कारण संसारमोहित मनुष्य सत्य से पराङ्मुख रहते हैं।[९]

`नग्नकापालिपाषण्ड` लोगों से मिलना, उनके साथ बैठना और भोजन करना पाप कहा गया है।[१०] इनमें कापालिक शैवों के एक सम्प्रदाय का परिचायक है। कापालिक (शैव) को भी नग्न कहते थे।[११]

---

१. सप्तम् शिलालेख : सवत सवे पासंडा वसेयु ---- ।
   द्वादश शिलालेख : सव पासंडानि -----। सारवढी अस सव पासंडानं । ----
   किंति आत्मपासंडपूजा व परपासंडगरहा । — आदि
   भंडारकर, अशोक, पृ० २५९, २६२-२६३
   मुकर्जी, अशोक, पृ० १४७-१४८
२. कौ० अ० शा०, २।४ : पाषण्डचण्डालानां श्मशानान्ते वासः ।
३. वही, २।३६
४. कांगले, कौ० अ०, भाग ३, पृ० १५५
५. पु० रि० हि० रा० क०, पृ० ६६, ६७, ६८, ८८, ८९ इत्यादि
६. वराह, ७१।६२ : एतत्तः कथितं विप्रा मया धर्मस्य लक्षणम् ।
   एतस्माद्विपरीतो यः स पाषण्डरतो भवेत् ।।
७. वही, ७०।३५-३६, ७१।८,९
८. वही, १४२।५४-५५
९. वही, ७०।४०-४२
१०. वही, १७४।४३
११. वही, १७।३०, २९(१)

चित्र - ४

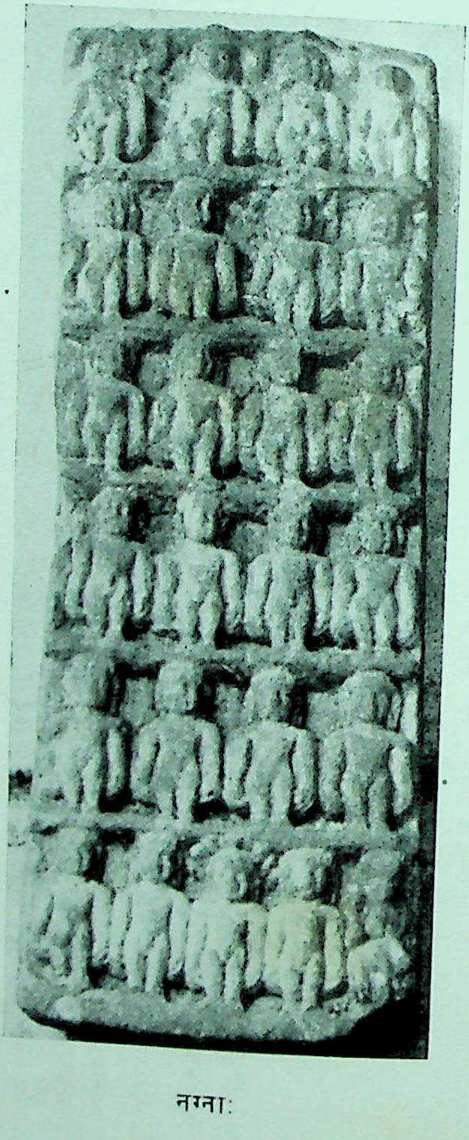

नग्ना:

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नग्नों और पाषण्डों से जैनों (निर्ग्रन्थों) और बौद्धों का ज्ञान होता है।[1] विष्णु पुराण में `नग्न` शब्द का विशद विवेचन किया गया है।[2] त्रयी (वेदत्रयी, ऋग्यजुसामसंज्ञेयं त्रयी) रूपी आवरण से रहित नग्न पातकी कहा गया है।[3] वही नग्न दिगम्बर, मुण्डी[4] (केश मुड़ाये हुए) एवं अर्हत-धर्म को मानने वाले (आर्हताः)[5] अर्थात् जैन एवं बौद्ध ही थे। जैन तीर्थंकर दिगम्बर होने के कारण नग्न ही रहते थे (चित्र सं० 8)।

नग्नों और पाषण्डों को दुराचारी एवं त्याज्य कहा गया है।[6] श्राद्ध, दान एवं व्रतों को न मानकर उनको मिथ्यादृष्टि से देखने वालों को भी नग्न कहा गया है।[7] ये ही लोग धर्मविमुख[8] और नास्तिक भी कहलाते थे। किन्तु बुद्ध को विष्णु का अवतार मानकर अन्य अवतारों की भाँति उनकी वन्दना की गयी है (नमोऽस्तु ते बुद्ध कल्किन्वरेश)।[9] बुद्धद्वादशी व्रत का भी माहात्म्य बताया गया है।[10] अधर्म (धर्मविरुद्ध आचरण) को नष्ट करने के लिये विष्णु गदा धारण करते हैं (अधर्मराजघातार्थं गदां धारय केशव)।[11] कृष्ण ने कंसादिक धर्मदूषकों का वध किया था।[12] पाषण्डाश्रम में रहने वालों को भी अधार्मिक कहा गया है।[13]

---

१. पु०रि०हि०रा०आ०, पृ० ९६
२. विष्णु पु०, तृतीय अंश, अ० १७-अ० १८
३. वही, ३।१७।५-६, ३।१८।२५
४. वही, ३।१८।२
५. वही, ३।१८।१२
६. वही, ३।१८।९९-१०३
७. वराह, १८०।७० : इत्येतैः पुराणेषु सेतिहासेषु पठ्यते।
तत्फलीकरणं श्राद्धं दानं व्रतं तथा।
नोपतिष्ठति तेषां वै तेन नग्नादयस्त्वमी॥
८. वही, १७४।५२(१), १४७।४७, १७४।४७
९. वही, ५५।३७, अन्यस्थल पर भी, ५८।२२(१)
१०. वही, अ० ४७, ४७।५ (कांचनं देवदेवन्तु ----) में बुद्ध की मूर्ति का उल्लेख होना चाहिए था, परन्तु बुद्ध का उल्लेख न होना पाठ दोष है।
११. वही, ३१।१५(२)
१२. वही, १५२।२७
१३. वही, १७४।४४ : संभवतः पाषण्डाश्रम (पाषण्डाश्रमांश्च:) का अर्थ पाषण्डावास या बौद्ध-विहार ही है।

उपसंहार

सभी पुराणों का एक ही प्रमुख लक्ष्य है कि मनुष्य धर्म का आश्रय ले (धर्मं समाश्रयेत्), क्योंकि धर्म से अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है। धर्म से ही मोक्ष भी प्राप्त होता है। धर्म से ही सब कुछ मिलता है।[1]

भारतवर्ष के नर-नारी विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते हैं (नानादेवार्चने युक्ता)।[2] इसीलिये धार्मिक जीवन में बहुत से मार्ग प्रचलित हुए। इनमें कुछ प्रवृत्ति-मूलक (यज्ञ आदि) हैं और कुछ निवृत्तिमूलक हैं।

निवृत्ति मार्ग अथवा संन्यास धर्म[3] का विशेष महत्व रहा है। संन्यास-धर्म का आश्रय न केवल समाज के साधारण लोग ही लेते थे, किन्तु राजा और राजकुमार भी राज्य त्याग कर संन्यास को ग्रहण करते थे।[4] तपोवनों और आश्रमों में लोग विभिन्न प्रकार की साधनाएं करते थे।[5] अतः तप प्रथित धर्म रहा है। वैखानस, वानप्रस्थ, मौनी, जलशायी आदि धीर मुनि उस एक ईश्वर का चिन्तन करते थे।

समाज के साधारण साधक और गृहस्थ विविध प्रकार से उपवास, जप, व्रत, देवार्चन, तीर्थ, यज्ञ आदि करते हुए विष्णु, शिव, देवी, गणेश, कार्तिकेय, सूर्य आदि देवी-देवताओं की पूजा करते थे।

धार्मिक कलह भी होते थे, किन्तु इसकी निन्दा की गई है।। विष्णु धर्म मात्सर्य-हीन सनातन धर्म ही है। वराह पुराण में पांचरात्र धर्म का विशेष

---

१. कूर्म, १।२।४४-५०
२. वही, १।४६।२१
३. बृहदारण्यक उप०, ४।४।२२
४. वराह, १३८।३९-४५
५. वही, १४४।१५-१६(१)

वर्णन करते हुए वासुदेव-कृष्ण की भक्ति-उपासना का प्रतिपादन किया गया है । इस पर भगवद्गीता और भागवत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है । साथ ही `ईशावास्य जग` एवं उपनिषदों के धार्मिक विचारों की ओर उन्मुख करता है ।

पुण्य आख्यानों द्वारा दिखाया गया है कि `सर्वं विष्णुमयं जगत्` । पहले अध्याय के दूसरे श्लोक में ही प्रार्थना की गयी है - सो यं कंसासुरारि-मुरनरकदशास्यान्तकृत सर्वसंस्थ:कृष्णोविष्णु: सुरेशो --- । अष्टमूर्तियों - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (पंच भूत) एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश - से युक्त नारायण ने ही सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है (वराह, ४।५-८) । यही सर्वव्यापी हरि मकोड़े, भौरों, पक्षियों, उरगों, अश्वों, गायों, हाथियों, सिंहों, व्याघ्रों आदि पशुओं और कीड़ों में भी विद्यमान है । सर्वशरीरस्थ यह विष्णु सर्वगत, सर्वसंस्थ और सर्वमय है (वराह, ४।२६-४०) । इसी भावना को दृढ़ कर परं, अद्वितीय विष्णु का चिन्तन करना (अद्वैतोपासना) और अभेद दृष्टि से उस प्रभु की आराधना करना वैष्णव धर्म और दर्शन है (वराह, ५।३६-४५) । उस एक ज्योति से ही सारा संसार[१] मायामय रचा गया है (मायाततं येन जगत्त्रयं कृतं यथाग्निनैकेन ततं चराचरं) ।

चतुर्व्यूह स्वरूप (वराह, अ० ४६) - (संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) से देवकी पुत्र वासुदेव ने भागवत धर्म का विवेचन तब किया । वासुदेव के पांच शिष्यों - शाण्डिल्य, जाजलि, कपिल, उपसायक और भृगु - ने भागवत-प्रकाश को दिग्दिगन्तरों में प्रसारित किया (वराह, १४८।१०-१३) । यह धर्म आत्मशास्त्र पर प्रतिष्ठित था (वराह, १४८।१६-१७) । इसी धर्म को वराह पुराण के सभी भागवत शास्त्रों से मथ कर नवनीत-रूप में मृत मानव का अमृत बनाने के लिये प्रचारित किया । यह पन्चरात्र-धर्म ही था ।

---

[१] वराह, ८।४७

शैवधर्म का भी महत्व कम न था । शिवाराधन के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा प्रचलित थी । इन विविध देवी-देवताओं से सम्बन्धित व्रतों और तिथियों का भी महत्व निरूपित किया गया है । देव-प्रतिमाएं पूजी जाती थीं । उनसे सम्बन्धित विविध तीर्थ भी प्रसिद्ध थे । लोग तीर्थ यात्राएं करते थे । यह भी एक धर्म था । स्वयं शिव जी ने भी तीर्थयात्रा की थी । इष्टापूर्त (वराह, ११५।२०) - कूप, वापी, तड़ाग, मन्दिर बनवाना और वृक्षारोपण करना - भी धर्म था जिसका लक्ष्य लोक-हित ही था ।

जब भगवद्भक्ति और तज्ज्योति से तम (तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो अन्ध संज्ञितः अविद्या पञ्चपर्वैषा) नष्ट होता है, तभी क्लेशक्षय होकर आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति होती है । विद्या (ज्ञान) से ही ममता तथा मोह को नष्ट कर और अभिमान रहित होकर विज्ञानलोचनों से वह ज्योति- एक तत्व, शिव - दिखाई पड़ती है । यही वराह का धर्म-दर्शन है ।

ज्ञानी विसृज्यममतामभिमानयोगं वैराग्य भावरसिकः सततं निरीहः ।
दीपेन दीपकशतं च यथा प्रजातं पश्येत्तथात्मबिम्बं भुवि चैक तत्वं ।।

अध्याय ७

आत्मविधा एवं दार्शनिक धाराएं

मायाततं येन जगत्रयं कृतं
यथाग्निनैकेन ततं चराचरं
चराचरस्य स्वयमेव सर्वतः
स मेऽस्तु विष्णुः शरणं जगत्पतिः ।।

- वराह, ८।४७

पुराणों का दार्शनिक महत्व

सर्वस्याधारमव्यक्तमनन्तं तमसः परम् ।
प्रपश्यन्ति परमात्मानं ज्ञानदीपेन केवलम् ॥[१]

संसार, माया, मोह और अज्ञान (अविद्या) को ही अन्धकार कहा गया है । जब मनुष्य पशुता के जीवन से उठकर सभ्यता के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और जब सभ्य मनुष्य ने भी इस भौतिक जीवन (पंचभूतात्मक शरीर और संसार) को अशान्त देखा, वह अपने लिये सुख-शान्ति को खोजने लगा । यह खोज ही सत्य की खोज है । सत्य ही सनातन शक्ति[२] है । सत्य ही वेद है । इस सत्य का तादात्म्य ब्रह्म से किया गया है । ब्रह्म ही ज्ञान का विषय है (ज्ञानं ब्रह्मैकविषयं) ।[३] वराह पुराण भी सत्य की प्रशंसा करता है ।[४]

ज्ञान ही सबसे बड़ा तत्व है (महतो महत्तत्व) जिसे हम वेद (वेदान्त), सांख्य शास्त्र, योगशास्त्र और पुराणों में भी पाते हैं ।[५] इसी ज्ञान (तत्वज्ञान) के जानने में पुराणों का भी महत्व है । समाज में पुराणों का प्रभाव अत्यधिक था और जन-साधारण में भी पुराणों का श्रवण करना पुण्य कर्म माना गया है । अधिकांशतः दार्शनिकों का कार्यक्षेत्र विद्वानों का समाज ही रहा है ।

---

१. कूर्म, १।१।७८(२)-७९(१)
२. भागवत, ६।१।२(१)
३. कूर्म, १।१।८३(२), २।१।३, ११(२)
४. वराह, १६३।३४-३८
५. ब्रह्म पु०, २३६।१०५

किन्तु वानप्रस्थी और सन्यासियों ने घूम घूम कर साधारण समाज में भी आन्वीक्षकी विद्या का सन्देश दिया । उन्होंने समाज को संसार के सभी पदार्थों (गृहदारसुतादिविधं) को अनित्य बताते हुए नित्य तत्व (आत्मा) की ओर उन्मुख किया । पुराणों में भी विभिन्न विचारकों ने सबको आत्म-तत्व की ओर उन्मुख किया । आत्म-स्वरूप को जानना ही ज्ञान[1] है और आत्मा को देखना (आत्मा वारे द्रष्टव्यः) दर्शन है ।

पुराणों ने कथाओं द्वारा सांख्य, योग और वेदान्त का प्रचार किया है । तत्ववेत्ताओं के समाज में ये विचार गीता द्वारा प्रचलित ही थे । साधारण समाज में भी पौराणिक-धर्म चिन्तकों ने इन्हें सरल और सुबोध बना दिया ।[2] सभी सुख चाहते हैं, किन्तु सुख है क्या, यह अज्ञात है । किस कर्म से महत्सुख मिलता है, यही दर्शन और धर्म चिन्तकों की समस्या रही है । गीता कहती है -

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।[3]

इस प्रकार इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला बाह्य सुख ही[4] वास्तव में दुःख है । अक्षय-सुख तो अन्तःसुख और अन्तराराम योगी होकर ही उस सर्वलोकेश्वर-महेश्वर को ही अपना और सबका सुहृद जानकर मिल सकता है ।[5]

---

१. भागवत, ४।३१।६-१८, ८।१।१०

२. वि०पु०, ३।१।१

३. गीता, ५।२१-२२

४. वही, ५।१-३२

५. वही, ५।२९ : भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।

दर्शन ग्रन्थों की अपेक्षा पुराणों की दार्शनिक विचारधारा का विशेष महत्त्व है। दर्शन-ग्रन्थों में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु पुराणों से ज्ञात होता है कि समाज में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित थे और लोग उनके अनुसार भी जीवन व्यतीत करते थे। भागवत पुराण में एक अवधूत ब्राह्मण[1] चौबीस गुरुओं का उल्लेख करता है जिनसे वेदान्त की शिक्षा मिलती है। भागवत पुराण कर्म, भक्ति और ज्ञान का प्रचार करता हुआ अद्वैत वेदान्त (वेद) का प्रतिपादन करता है। यहाँ[2] नारायण देव ही एक अद्वितीय, आदि पुरुष एवं आनन्द-स्वरूप कहे गये हैं। यही वैष्णव-दर्शन का वेदान्त है जिससे अनुप्राणित होकर शुद्ध भागवत पृथ्वी पर विचरण करते थे।

पुराणों के दार्शनिक महत्व ने विद्वानों को आकृष्ट किया है।[3] डा० दास गुप्त की धारणा है कि ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के दर्शन की एक महत्वपूर्ण विचारधारा पौराणिक परम्परा में सुरक्षित है।[4] डा० पुसल्कर के अनुसार दर्शन और धर्म के इतिहास के लिये पुराणों का अपार महत्व है।[5] वराह पु० में भी नारायण के वचन हैं -

> नाहं दानसहस्रेण नाहं यज्ञशतैरपि ।
> तुष्यामि न तु चित्तेन ये नरा स्वल्पचेतसः ।।
> एकचित्तं समाधाय यो मां जानाति माधवि । ६
> नित्यं तुष्यामि तस्याहं पुरुषं बहुलौकिकम् ।।

अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य यह अनुभव करता रहा है कि कहीं फँसा है अथवा बंधनों से जकड़ा हुआ है, जिन्हें तोड़कर वह मुक्त होने के लिये छटपटा रहा है। इसीलिये अन्तिम और श्रेष्ठ[7] पुरुषार्थ मोक्ष ही है। संसार ही बन्धन है और भव-संसृति कैसे कट सकती है, यही तत्वचिन्तकों की बुद्धि को उद्वेलित करती है। अतः संसार-विच्छित्ति[8], संसार-तरण[9], संसार-मोक्षण[10] या भव-बन्धमोक्ष[11] का विषय प्राचीन भारतीय वाङ्मय का प्राण ही है।

---

1. भागवत, ११।७।३२-७४, स्कन्ध, ११, अ० ८, ११।९।१-२४
2. वही, ११।९।२६-२८
3. दासगुप्त, हि० इ० फि०, वाल्यूम ३,४,५ (वही, वाल्यूम ३, अ० २३, वाल्यूम ४, अ० १, वाल्यूम ५, अ० ३७), हिरियान्ना, आउट० इ० फि०, पृ० ९२, पु० वि०, पृ० ५०२-५२६, स्ट० इ० पु०, पृ० ६२
4. हि० इ० फि०, वाल्यूम ३, पृ० ४९६,
5. स्ट० इ० पु०, पृ० २२
6. वराह, ११५।३-४
7. वराह, ५६।७(१): भगवन् कथमात्र केन क्षिपते भव-संसृतिः ।
8. वही, ७३।२६
9. वही, १२०।१(२)
10. वही, १२७।६(२), १२६।३,७, १२८।२७
11. वही, १२८।१७

अविद्याभूतं

रज्जु में सर्प, बालू में जल और आकाश में नीलिमा की भांति अविद्या के कारण यह असत् विश्व सत् रूप की भांति प्रतीत होता है ।[१] स्वप्न के समान[२] (मिथ्या)[३] जगत में दुःख-सन्तप्त मनुष्य सुख[४] के लिये तप, व्रत आदि सैकड़ों उपाय करते हैं । जगत सुख-दुःखादि पूर्ण है । यह भी अपने अपने कर्मों के आधीन है । अपने आप ही अपने को मनुष्य गिराता है । अतः उसे अपने आप ही अपना उद्धार करना[५] चाहिये (आत्मनात्मानमुद्धरेत्) । मनुष्य स्वयं अपना मित्र (बन्धु) अथवा शत्रु है । कर्म-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए पा० उपाध्याय कहते हैं कि " जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता (कृतप्रणाशः) और जिस फल को[६] हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का ही परिणाम है --- ।" वराह पुराण में कर्म-विपाक द्वारा इस सिद्धान्त का[७] विस्तार से विवरण किया गया है । इसे ही संसार-चक्र[८] की संज्ञा दी गयी है । संसार में सर्वव्याधिमन्दिर[९] मानुषत्व सुख-दुःख-मय है ।[१०] यही संसार बन्धन है । यह संसार-सागर[११] में निमज्जित हो रहा है । भव-संसृति,[१२] कर्म-संसार (पाठान्तर कर्म संसारसागर) अथवा भवबन्ध से मोक्ष चाहता है ।

---

१. वायु पु०, २।४२।३९
२. वराह, १६०।२
३. वही, २१०।३
४. वही, २१०।७(२)
५. वही, २१०।१४-१६, द्रष्टव्य गीता, ६।५
६. भा०द०, पृ० ४२, वराह, २१०।१७-२३
७. वराह, अ० १९३-अ० २१०
८. वही, १२२।४१
९. वही, १२२।४२(१)
१०. वही, ५१।७
११. वही, १२७।९(२)
१२. वही, ५१।७, ७३।२६, १२०।१, १२७।९, अ० १२८, पृ० ६३१,
१२८।१७, १२९।३,७, १८८।८७,८९, १३९।२,७,११

इसी को मोक्ष कहते हैं जो त्रिवर्ग (मोक्षधर्मार्थदो)[1] का सबसे महत्वपूर्ण अंग है (द्रष्टव्य है कि यहां 'मोक्षधर्मार्थ' में काम का समावेश नहीं किया गया है, मोक्ष को प्रथम, धर्म को द्वितीय और अर्थ को अन्तिम स्थान दिया गया है) ।

गर्भ में आना ही बन्धन है । सैकड़ों हड्डियों से जुड़े हुए नवद्वारपुर में बन्धन-बद्ध मनुष्य पुरीष-मूत्र, मांस-शोणित, वात-कफ आदि रोगों और दुःखों को भोगता हुआ दुःसह दुर्गंध में पड़ा हुआ सोचता है कि "गर्भ संसार से निकलते ही मोक्षोपाय करूंगा ।" परन्तु जन्म होते ही वह पूर्व-चिन्तित तत्व को भूल जाता है ।[2] संसार में आकर स्मृति-भ्रष्ट होकर वह पापों की कोड़े खाता हुआ गृहपुत्र-सुखादिविष से मोह के वशीभूत होकर बन्धनों से जकड़ जाता है । वैराग्य, तप, जिज्ञासा, एकान्त-सेवन तथा अध्यात्मयोग से ही बन्धन-मुक्ति हो सकती है ।[3] अतः स्पष्ट है कि अविद्या से बन्धन बनते हैं और विद्या से ही मुक्ति मिलती है ।[4] माया[5] और मोह[6] (मोक्षो[7] यस्य नश्यति) एवं[8] बन्ध का अन्त ही विज्ञानोत्पत्ति[9] है । इसी को आत्मदर्शन,[10] आत्मशास्त्र,[11] आत्मयोग[12] अथवा अध्यात्मयोग[13] कहते हैं ।

---

१. वराह, ५५।५८(२)
२. वही, १२५।७८-८१
३. भागवत, ५।५।७-१०
४. वही, ११।११।७-२१
५. वराह, ३६।१७, १२५।६-४८, ५७-६१
६. वही, ७०।३५ और आगे आगे
७. भागवत, ५।१।८(२), वराह, ५।२४ भी अहं भाव को त्याज्य बताता है ।
८. वराह, ३।५
९. वही, १२६।११(१)
१०. वही, ५४।१, ११४।७
११. वही, १४८।१६-२७
१२. वही, १३७।२४७
१३. वही, ३६।१०

प्रारम्भ में ही ब्रह्म से उत्पन्न सात मुनियों ने आत्मा[1] से आत्मा का ही यजन किया[2] (आत्मनात्मानमेवाग्रे अयजन्त इति श्रुतिः)। ये ही ब्रह्मवादी मुनि थे। यह आत्म-ज्ञान अथवा[3] आत्मविद्या ही ब्रह्मविद्या कहलाती है। महामुनि एवं महायोगी[4] याज्ञवल्क्य[5] आत्मविद्या-प्रचार के लिये प्रसिद्ध ही हैं। ब्रह्मवादी राजा के रूप में जनक का नाम प्रसिद्ध है[6]। याज्ञवल्क्य और जनक प्रसिद्ध तत्ववेत्ता थे जिनके विचारों का[7] वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में होता है। वराह पुराण, प्रसिद्ध[8] तत्ववेत्ता शुक का उल्लेख करता है। उन्होंने भी परीक्षित को आत्मयोग की शिक्षा दी थी।

वराह पुराण में भी वेद और[9] पुराणों के साथ ही ब्रह्मविद्या और इसका ज्ञान होना[10] महत्वपूर्ण कहा गया है। इसका ज्ञान अथवा श्रवण ही `ब्रह्मविद्यामृत` है।

चिन्तन से तत्वबुद्धि[11] उत्पन्न[12] होती है और तत्वभाव ही परं ज्ञान है (ज्ञानम्परन्तत्वभावं विदित्वा)। इसको ही ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या

---

१. वराह, १३।१०
वही, १२१।१६(१) : आत्मानात्मनि पश्यन्ति ये नरा निश्चितात्मनाः।

२. वही, १३।१३(१),१६

३. वही, ४४।१०

४. वही, ५५।२१

५. वही, २०७।३

६. बृ० उ०, अ० २, ब्राह्मण ४, अ० ३-अ० ४

७. ~~भागवत,--१२१~~ वराह, १७०।६२

८. भागवत, १२।५।२-११

९. वराह, ३८।२८ : उवाच वेदाः सांगास्ते सरहस्या सपक्रमाः।
ब्रह्मविद्या पुराणानि प्रत्यक्षाणि भवन्तु ते ।।

१०. वही, ३६।६

११. वही, १२।२(१)

१२. वही, ३३।२(१)

कहा गया है । इसका विवेचन उपनिषदों में विशेष रूप से किया गया है । यह विज्ञान ही है ।[1] उपनिषदों के इस विज्ञान ने पुराणों पर अपनी छाप लगा दी है । इन जन-प्रिय ग्रन्थों, विशेषकर, पुराणों द्वारा यह विज्ञान समाज के सभी वर्गों में कथामृत द्वारा भावना-मंगल बन गया । अतः भारतीय दर्शन के विविध विचारों के प्रचार में पुराणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।

पुराणों ने आधुनिक तत्वचिन्तकों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है । डा० दासगुप्त ने विष्णु, वायु, नारदीय, कूर्म एवं भागवत पुराणों के दार्शनिक तत्वों की समीक्षा की है ।[2] डा० दासगुप्ता ने भागवत पुराण के दार्शनिक विचारों, विशेषकर कपिल मुनि के सिद्धान्तों का विवेचन किया है ।[3] उन्होंने वायु एवं शिव महा पुराणों के शैव दर्शन की भी समीक्षा की है ।[4]

भागवत और शिव महापुराण पर वेदान्त का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है । भागवत पुराण में वेदान्त के २४ गुरुओं - पृथिवी, वायु, आकाश,

---

१. भागवत, १।२।१ : वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।
वही, १।२०(२) भगवत्तत्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ।
मुंडक, १।१।१, ३-५, २।२।७
वराह, ५४।१
वही, अ०७४, पृ० ३२६ : नारायण: विज्ञानमात्ररूप: ।
वही, ११४।७

२. दासगुप्त, हि०इ०फि०, भाग ४ एवं भाग ५
हिरियन्ना, आउटलाइन्स आफ इ०फि०, पृ० ६२
पुसल्कर, स्ट०इ०पु०, पृ० १६-२२
पं० बलदेव उपाध्याय, पु०वि०, पृ० ५०२-५२६

३. हि०इ०फि०, भाग ३, अ० २३, भाग ४, पृ० ११-५०, भाग ५, अ० ३७

४. वही, भाग ५, अध्याय ३७

जल, अग्नि, चन्द्र, रवि, कपोत, अजगर, समुद्र, पतंग, मधु-मक्खी, गज, शहद ले जाने वाला (मधुहा), हिरन, मीन, पिंगला, कुरर पक्षी, कुमारी, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीड़ा - का उल्लेख किया गया है ।[1] यहाँ निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि मनुष्य को मुक्त संग और अहंकार रहित होकर विचार करना चाहिये कि एक ही अद्वितीय ब्रह्म का ऋषियों ने[2] विविध प्रकार से निरूपण किया है (ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः) ।

मार्कण्डेय पुराण से ज्ञात होता है कि महाराज ऋतध्वज की रानी मदालसा पलंग पर पड़े[3] हुए अपने रोते हुए बालक को चुप करने के लिये अध्यात्म की शिक्षा देती थीं -

> पंचात्मकं देहमिदं न ते स्ति नैवास्य त्वं रोदिषि कस्यहेतोः ।[4]

आत्मा और देहात्मक बुद्धि का विच्छेद (नाहं देहः न मे देहः) करना ही आत्म-दर्शन है । भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने यही आत्म-बोध कराया है । पुराण भी हमें 'आत्मनात्मानुदर्शन'[5] करने की प्रेरणा देते हैं ।

पौराणिक-तत्वचिन्तन

विभिन्न मति और दृष्टि से (निरीश्वर-सेश्वर)[6] विविध भेदों में विभक्त भारतीय दर्शन का विपुल शास्त्र है । वैदिक युग से आज तक सनातन

---

१. भागवत, ११।७।३२-३४, स्कन्ध ११, अ०-८-९
२. वही, ११।९।३०-३१
३. मार्कण्डेय पु०, २३।१०-२०
४. वही, २३।१२(१)
५. वराह, १२२।६७(१)
६. पद्म पु०, ६।८१।६१-६१

(ब्रह्म) दर्शन अपनी विविध धाराओं से इस कर्मभूमि-भारत को आप्लावित करता रहा है । पौराणिक ज्ञानचिन्तक इन विविध दार्शनिक मतों से परिचित थे । उपनिषद काल के ब्रह्म-चिन्तकों को औपनिषदा-ब्रह्मचिन्तका[1] कहा गया है । बाण ने हर्षचरित में भी औपनिषद्-चिन्तकों (औपनिषदैः[2] वेदान्तवादिभिः) का उल्लेख किया है । पौराणिक तत्वचिन्तकों को अद्वैत,[3] वेदान्त,[4] मीमांसा,[5] सांख्य-योग,[6] शैव-पाशुपत, वैशेषिक, न्याय और भागवतदर्शन (पाञ्चरात्र) के अतिरिक्त चार्वाक[7] (लोकायतिक), बौद्ध (सौगत) एवं जैन दर्शन आदि विविध भेदों का ज्ञान था । बाण के समय (ईसा की ७वीं शताब्दी में) विभिन्न दार्शनिक मत प्रचलित थे जिनका उल्लेख हर्ष-चरित में मिलता है । ये

---

१. पद्म पु०, ६।२४६।१०६ : जन्मादिरहितं पूर्णं चित्सदानन्द लक्षणम् ।
त्वामौपनिषदा ब्रह्म चिन्तयन्ति परात्परम् ।।

२. हर्ष च०, उच्छ्वास ८, पृ० ३१७

३. कूर्म पु०, १।१।८८

४. वही, १।२।९५(१),
पद्म, ६।७२।२७६ (वेदान्तकथा), ६।२२३।७, ६।२४६।४४, ६।२५४।६८

५. पद्म पु०, ४।१००।४२(२) (मीमांसातत्वविज्ञान), ५।१८।४६

६. ब्रह्म पु०, २४३।१,४४, वायु, १।२४।६४(१), २।४३।४०(ब्रह्म),
भागवत, स्कन्ध ११, ~~६।१२।१२-(सांख्य)~~, अ० २४, मत्स्य, २१।३८(२)-३९(१)
योग ; कूर्म, १।३।१२-२७ (कर्मयोग) ; १।१२।५ (सांख्य); कूर्म, उत्तरार्द्ध,
अ० १ - अ० ११ (ईश्वरगीता) ; अग्नि, अ० ३७२।१-४४
पद्म, १।२।२-२८ ; १।३३।५ सांख्ययोगः ; ५।३७।५२-५३ ; ५।४०।३२२
वैतश्चापि निवृत्तिः ; ६।७२।२४४-२४५ ; ६।२५६।६४-१०३ ;
६।२१२।८३-८५

७. पद्म, ६।२४६।१०४-१२४ ;
६।२६३।६७-७०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विभिन्न सिद्धान्त (मत) निम्नलिखित थे -

आर्हत (बौद्ध), मस्करी (आजीविक संप्रदाय), भागवत, लोकायतिक, जैन, काणाद (वैशेषिक), औपनिषद्-चिन्तक, ऐश्वरकारणिक (नैयायिक), पौराणिक, शैव और शाब्दिक ।[1]

हर्ष युग के बाद ही कुमारिल और शंकर ने भारतीय चिन्तन में क्रान्ति-घोष किया । उनके धर्म-घोष और दार्शनिक तत्वों का उल्लेख पुराणकारों ने भी किया है । पद्म पुराण में अन्य विविध दार्शनिक आचार्यों के मतों के साथ-साथ शांकर मत का भी उल्लेख किया गया है -

कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै ।।
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम् ।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ।।
बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ।[2]
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।।

उपर्युक्त उद्धरण में प्रच्छन्न-बौद्ध रूप में शंकराचार्य और उनके वेदान्त को मायावाद कहा गया है । अन्य पुराणों में भी ब्रह्मज्ञान,[3] योग,[4] वेदान्त[5] आदि

---

[1] हर्ष चरित, अष्टम् उच्छ्वास, पृ० ३९६

[2] पद्म पु०, ६।२६३।६८-७०

[3] अग्नि पु०, अ० ३७८ - अ० ३७९,
विष्णु पु०, द्वितीय अंश, अ० १४- अ० १६

[4] अग्नि पु०, अ० ३७३- अ० ३७६,
देवी भाग०, ७।३५।१-६२

[5] देवी भाग०, ७।३४।१८-३९

का वर्णन मिलता है । लिंग पुराण में पाशुपत-ज्ञान (योग) का वर्णन किया गया है ।[1] इस पुराण में योग की विशेष महिमा बताई है ।[2]

वराह पुराण के दार्शनिक विचार

वराह पुराण वैष्णव पुराण है जिस पर उपनिषदों और पांचरात्र शास्त्र का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है । इसमें अन्य आचार्यों की विचार-धाराओं का भी उल्लेख पाते हैं । विष्णु ही परं ब्रह्म है । परन्तु मूढ़ लोग यह नहीं जानते हैं ।[3] वह योग ब्रह्म ही है ।[4] उसके वास्तविक रूप का ज्ञान होना ही वैष्णव दर्शन है ।[5] वराह पुराण कहता है कि ईश्वराराधन के बिना वैष्णवत्व प्राप्त नहीं होता है । शिव ज्ञानमूर्ति हैं और उनके प्रसाद एवं प्रभाव के बिना यज्ञ भी सफल नहीं हो सकता है (यथा दक्ष-यज्ञ-विध्वंस) और उनके परितोष से ही विध्वस्त यज्ञ भी सफलता के साथ समाप्त हो गया । स्वयं देवदेव महेश्वर देवताओं के पशुभाव को नष्ट करते हैं -

> पशुभावं तथा चापि अपनेष्यामि व: सुरा: ।
> मद्दर्शनेन यो जात: पशुभावो दिवौकसाम् ।।
> स मयापहृत: सद्य: पतित्वं वो भविष्यति ।।[6]

यह पाशुपत-दर्शन का सिद्धान्त है ।[7]

---

१. लिंग पु०, पूर्वार्द्ध, अ० ८६-८७

२. वही, १।६०।४२५

३. वराह, ७२।४-५

४. वही, ७२।६

५. वही, ७३।१३-१४

६. वही, २१।७८, लिंग, २।६।२४-२८

७. द्रष्टव्य, हि० इ० फि०, भाग ५, पृ० १७,
लिंग पु०, पूर्वार्द्ध, अ० ८६, कूर्म पु०, उत्तर भाग, अ० ७

सर्वविद्यामय रथ पर ओंकार रूपी गुण से संयुक्त गायत्री स्वरूप धनुष को ग्रहण कर देवदेव महेश्वर दक्ष-भूमि को गये थे ।[1] परन्तु रुद्रागमन से ऋत्विजों का मन्त्रजाल नष्ट हो गया । वे चकित होकर कहने लगे कि "कोई बलवान असुर आ रहा है ।"[2] इससे स्पष्ट है कि वेदवाद में फंसे हुए कर्मकाण्डी विद्वान गायत्री से युक्त (वेदमय) उस प्रणव-रूप (ओंकार) शिव को न जान सके । इस अज्ञान के कारण ही शिवानुचरों और देवताओं में युद्ध प्रारम्भ हो गया । यही युद्ध हरिहर युद्ध में परिणत हो गया ।[3] प्रजापति ब्रह्मा ने दोनों ही देव-विभूतियों में समझौता कराते हुए रुद्र की ज्येष्ठता और वरीयता स्वीकार की (रुद्रभागो ज्येष्ठभाग इतीयं वैदिकी श्रुति:) ।[4] सर्वविद्याप्रति,[5] सर्वविज्ञानमय सर्वज्ञ देवदेव, परमेश्वर हर ही श्वेताश्वर उपनिषद् के ब्रह्म हैं । उनके प्रसाद से ही आसुरी-माया का नाश होकर आत्मविद्यामृत की उपलब्धि होती है ।[6] कर्म-विधान के विरुद्ध ही ज्ञान, भक्ति और योग (कर्मयोग) का प्रचार हुआ ।[7]

नारायण ही परब्रह्म है -

> नारायण: परो चिन्त्य: पराणामपि पूर्वज: ।
> ब्रह्म स्वरूपो भगवाननादि सर्वसम्भव: ।।[8]

---

१. वराह, २१।३१-३५
२. वही, २१।३६-३७
३. वही, २१।५२-६०
४. वही, २१।६५
५. वही, २१।३१,७४,७६
६. वही, २७।३६-४०
अन्धकासुर-वध के दृष्टान्त से इसे समझाया गया है ।
७. मुंडक उप० २।२।३-४
ईशावास्य उप०, मन्त्र २
श्वेताश्वतर उप०, ६।१७-१८
८. वराह पु०, २।२४

पुराणों में यही नारायण - विष्णु (विष्णु: पुराण: पुरुष: शिव:)[1] - ध्येय बन गया और तद्गतेनमनसा[2] उसी का जप भी होने लगा । इसी की स्तुति भी की जाने लगी । ब्रह्मारम्भं स्तोत्र[3] में भी हमें उनके इस परमेश-स्वरूप का दर्शन होता है -

परं पराणाममृतं पुराणं, पारं परं विष्णुमनन्तवीर्यम् ।
नमामि नित्यं पुरुषं पुराणं, परायणं पारगतं पराणाम् ।।
पुरातनं त्वं प्रतिमं पुराणं, परापरं पारगमुग्रतेजसम् ।
गम्भीरगम्भीर धिया प्रधानं, नतो स्मि देवं हरिमीशितारं ।।
परात्परं चापरमं प्रधानं, परास्पदं शुद्धपदं विशालम् ।
परात्परेशं पुरुषं पुराणं, नारायणं स्तौमि विशुद्धभाव: ।।
पुरापुरं शून्यमिदं ससर्ज, तदा स्थितत्वात्यात्पुरुष: प्रधानम् ।
जने प्रसिद्ध: शरणं ममास्तु, नारायणो वीतमल: पुराण: ।।
पारं परं विष्णुमपारव्यं, पुरातनं नीतिमतां प्रधानम् ।
धृतक्षमं शान्तिधरं क्षितीशं, शुभं सदा स्तौमि महानुभावम् ।
सहस्रमूर्धानमनन्तपादमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।।
क्षमाधारं (याम्बाराधारं) क्षीरसमुद्रनिद्रं नारायणं स्तौम्यमृतं परेशं ।।
त्रिवेदगम्यं त्रिनयैकमूर्तिं, त्रिशुक्लसंस्थं त्रिहुताशभेदम् ।
त्रितत्वलक्ष्यं त्रियुगं त्रिनेत्रं, नमामि नारायणमप्रमेयम् ।।
कृतेसितं रक्ततनुं तथा च, त्रेतायुगे पीततनुं पुराणम् ।
तथा हरिं द्वापरत: कलौच, कृष्णीकृतात्मानमथो नमामि ।।

---

१. वराह पु०, ३।८
२. वही, ४।११ : नारायणात्मकं ब्रह्म परं जप्त्वा स्वयंभुव: ।
ततः स तद्गतमना: परं निर्वाणमाप्तवान् ।।
३. वही, ३।९,१०
विष्णु पु०, १।१५।५३,५६

ससर्ज यो वक्त्रत एव विप्रान् भुजान्तरे राजन्यमूरुयुग्मे ।
विश: पदाग्रेषु तथैव शूद्रान् नमामि तं विश्वतनुं पुराणम् ।।
परात्परं पारगतं प्रमेयं युधाम्पतिं कार्यत एव कृष्णम् ।
गदासिवर्मोग्यमृतोत्थपाणिं नमामि नारायणमप्रमेयम् ।।[1]

उपर्युक्त स्तोत्र में हमें ऋग्वेद के पुरुष, सांख्य मत के प्रधान, वेदान्त के ब्रह्म एवं गीता के योगेश कृष्ण-वासुदेव, योगेश्वर, का दर्शन होता है । वही `ब्रह्मादारभ्य नित्यं पुरुषोत्तम:`[2] भी है । पर ब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण - निराकार है और वही सगुण-साकार भी है ।

पौराणिक दर्शन, ज्ञान, कर्म और भक्ति का संगम है । यह संगम द्वैत को अद्वैत में बदलने का सरल मार्ग है । योग और तप इस मार्ग के साधन हैं । योग (बुद्धि और आत्मा का संयोग) तथा तप द्वारा उस पर ब्रह्म (ब्रह्मारभ्यं) का जप और ध्यान करना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है ।[3] ध्यान-योग द्वारा द्वैत को अद्वैत में बदल कर परम पद की प्राप्ति होती है ।[4] लक्ष्य का ज्ञान ही ज्ञान है । अक्षर ब्रह्म ही लक्ष्य है ।

औपनिषदिक-दर्शन

उपनिषदों में ही भारतीय दर्शन का मूलरूप देखने को मिलता है । उपनिषदों के विचारों को ही कालान्तर में आचार्यों और दार्शनिक सम्प्रदायों

---

[1] वराह पु०, ३।११-२०
द्रष्टव्य, विष्णु पु०, १।१५।५५-५७

[2] विष्णु पु०, १।१५।५८

[3] गरुड़ पु०, १।२२४।२० : तस्य सततं ध्यायन्निर्ध्येयं ब्रह्म निष्कलं ।
अवाप्स्यसि ध्रुवं तात शाश्वतं पदम व्ययम् ।।

वही, १।२२४।१०-१८
वही, पूर्वार्द्ध, अ० २२७

[4] मुंडक उप०, 2|2|3 : लक्ष्यं तदेवाक्षरं ......)

ने विकसित किया था । प्रायः सभी दर्शनों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपनिषदों के विचारों का प्रभाव पड़ा है । उपनिषदों का लक्ष्य सत्य, ज्ञान और ब्रह्म (सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म) की खोज करना है ।

मानव जीवन समस्याओं से उलझा है । ज्यों-ज्यों ज्ञान या सत्य की खोज करने वह आगे बढ़ता है, उलझनों में फंस जाता है । वह उलझन अविद्या या माया का परिणाम है । श्वेताश्वर उपनिषद के प्रारम्भ में प्रश्न होता है, " हम कहां से उत्पन्न हुए, हम किसमें निवास करते हैं और कहां जायेंगे ?"[1] इस जगत का एक मात्र कारण वह परमेश्वर ही है ।[2] यही परम ब्रह्म है जिसमें सब लोग जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर लीन हो जाते हैं ।[3] उन परमेश्वर से बढ़ कर अन्य कोई भी श्रेष्ठ नहीं है (यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्) ।[4]

वराह पुराण भी लोकनाथ - जगद्धाता[5] जगज्ज्योतिर्विभुः[6] - से सभी[7] शास्त्रों और जगत् को उत्पन्न मानता है । वही महायोगीश्वर और परमेश[8] हैं । वही नारायण पुरातन पुरुष हैं जिनकी सभी देवता आराधना करते हैं । वही ब्रह्म हैं ।

ईशावास्य-उपनिषद

भागवत पुराण ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम मन्त्र द्वारा मानवमात्र

---

१. श्वेताश्वतर उप०, १।१
२. वही, १।३
३. वही, १।७
४. वही, ३।९
५. वराह, १५२।२-५
६. वही, २०।८
७. वही, २०।९
८. वही, २०।२-३

को ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा देता है -

> येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्
> यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ।।९
> आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किंचिज्जगत्यां जगत् ।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१०
> यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ।
> तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत् ।।११
> न यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः ।
> विश्वस्यामूनि यद् यस्माद् विश्वं च तदृतं महत् ।।१२
> स विश्वकायः पुरुहूत ईशः सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः ।
> धत्ते स्य जन्माद्यजयाऽत्मशक्त्या तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ।।१३

ऊपर भागवत के उद्धरण में ईशावास्य उप० (मंत्र १) का ऊपर के श्लोक १० और केन उप० (१।५) का ऊपर के श्लोक ११ पर प्रभाव परिलक्षित होता है ।

ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में भागवत पुराण ने थोड़ा सुधार कर दिया है -

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

भागवत में हमें 'आत्मावास्यमिदं विश्व' मिलता है जिससे 'ईश' और आत्मा का तथा 'इदं सर्व' का तादात्म्य 'इदं विश्व' से किया गया है । बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है -

> अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः ---- ।[1]

---

[1] बृ० उप०, १।४।१६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रज्ञादर्शन (गीतादर्शन)

वराह पुराण की तत्व-मीमांसा गीता से अत्यधिक प्रभावित हुई है । संसार में मनुष्य पुत्र-जन्म पर हर्ष मनाता है, किन्तु उसकी मृत्यु पर शोक करता है, चाहे वह कितना ही प्रज्ञावादी न हो । लेकिन प्रज्ञावादी लोग[1] (पंडिताः) कोई शोक नहीं करते हैं (गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः) ।

निमि का एक धार्मिक और तपस्वी पुत्र कालग्रस्त[2] हो गया । निमि पुत्र-शोक से संतप्त रात-दिन चिन्ता में निमग्न[3] रहते थे । वे सोचने लगे कि 'पुत्रेण श्रीमता हीनं नाहं जीवितुमुत्सहे' । इसी समय निमि के आश्रम में नारद जी भी आ गये । उन्होंने निमि को समझाते हुए कहा -

निमे शृणु महाप्राज्ञ शोकमुत्सृज्य दूरतः ।
अशोच्यमनुशोचस्त्वं प्रज्ञावान्नावबुध्यसे ।।[4]
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।

जातस्य सर्वभूतस्य कालो मृत्युरुपस्थितः ।
अवश्यन्चैव गन्तव्यं कृतान्तविहितेन च ।।[5]

अतः नारद निमि से कहते हैं -

एतत्सर्वं विदित्वा तु नानुशोचितुमर्हसि ।।[6]

---

१. गीता, २।११
२. वराह, १८७।२५-२६, ४४-४७
३. वही, १८७।४८
४. वही, १८७।५२-५३(१), इसे द्रष्टव्य गीतासाम्य (गीता, २।११)
५. वही, १८७।५५, द्रष्टव्य, गीता, २।२७
   वही, १८७।७५(१) : जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
६. वही, १८७।५७(२), मिलाइये, गीता, २।३०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निमि शान्चित होकर कहने लगे -

शोकस्य तु प्रभावेण एतत्कर्म यथा कृतम् ।
अनार्य जुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरणं द्विज ।।
नष्ट बुद्धिस्मृतिात्वो ह्यज्ञानेन विमोहितः ।।[1]

योग

नारद ने निमि को जो उपदेश दिया, उसका सार है कि हम सभी लौकिक विषयों में आसक्ति छोड़ कर बुद्धि को धर्म (स्वधर्म) में लगायें (स्नेहं सर्वेषु संयम्य बुद्धिं धर्मे नियोजयेत्)[2] । यही कर्म योग है । ऊपर धर्म (बुद्धि धर्मे) शब्द कर्म (स्वधर्म) का ही वाचक है । गीता की ही पदावली में वराह पुराण भी योग (ऊपर, द्रष्टव्य, संयम्य बुद्धिं --) को ही श्रेयस्कर बताया है -

एकाकी यतचित्तात्मा निराशी निष्परिग्रहः ।
शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।।
नात्युच्चं नातिनीचं कृत्वा यतचित्तो जितेन्द्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।
समकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थितः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।
प्रकाशात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारी व्रते स्थितः ।।
संयम्य मयि चित्तं मां युक्त आसीतमत्परः ।
प्रयुञ्जीत सदात्मानं मद्भक्तो नान्यमानसः ।।[3]

---

[1] वराह, १८७।६४ मिलाइये, गीता, २।४८, ५७-६१, ३।१६
[2] वही, १८७।८६(१), द्रष्टव्य, गीता भाष्य, ६।१०(२)-१५(१)
[3] वही, १८७।३१-३६, वराह पुराण में केवल एक-आध शब्दों की हेर-फेर की गई है, यथा, 'प्रशान्तात्मा' (गीता ६।१४) के स्थान पर 'प्रकाशात्मा' और 'मच्चित्तः' (गीता ६।१४) के स्थान पर 'मयि चित्त' प्राप्त होता है । इसी प्रकार 'युञ्जन्नेवं सदात्मानं' (गीता ६।१५) के स्थान पर 'प्रयुञ्जीत सदात्मानं' तथा 'योगी नियतमानसः' (गीता ६।१५) के स्थान पर 'मद्भक्तो नान्यमानसः' के सुधार किये गये हैं ।

गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेचन किया गया है । वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार, अत्यन्त प्राचीन दर्शन है ।[1] यहाँ सांख्य-दर्शन के अनुसार तत्वों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि " अर्जुन ! जितने भी चर-अचर जीव जन्म लेते हैं, सबको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (प्रकृति और पुरुष) के संयोग से ही उत्पन्न समझो । सभी प्राणियों में परमेश्वर रहता है । उनके विनाश होने पर भी वह अविनाशी रहता है, उसी को देखना, सत्य-दर्शन है ।[2] जिस प्रकार एकमात्र सूर्य ही सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही (सर्वत्र व्यापक) सभी शरीरों के भीतर प्रकाशित हो रहा है ।[3] इस प्रकार ज्ञान-चक्षु से जो व्यक्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है ।[4]

इसी तत्व का प्रतिपादन वराह पुराण में नारद ने किया है -

तत्वार्थं वेत्ति यः सम्यक् पुरुषम्प्रकृतिं तथा ।
ज्ञात्वा वा यो न मुह्यते पदम्प्राप्नोति शाश्वतम् ।।[5]

वराह पु० भी, यहाँ, इसी प्रश्न या समस्या को सुलझाता है :-

कस्यैतच्चेष्टितं तात कथं कारयिता पि वा ।[6]

वराह भी इसी तत्व का निरूपण करता है :-

गुणागुणपरिज्ञाता ह्युपायापस्य पायस्य च[7] ।
ध्यानेनैव ह्यसंमूढः स पापेभ्यः प्रमुच्यते ।।

तृष्णाक्रोधरहित होकर समता, अहिंसा, प्राणायाम, युक्त, निराश, आसक्ति-हीन होकर योगधर्म द्वारा आत्मायन रहते हुए ही उस तत्व का ज्ञान होता है ।[8]

---

१. ऋग्वेद, १०।३२।७, गीता, १३।४ : ऋषिभिर्बहुधागीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।
ब्रह्मसूत्र, २।३
२. गीता, १३।२६-२७
३. वही, १३।३३
४. वही, १३।३४
५. वराह, २१०।३०
६. वही, २१०।६(१), इत्यादि २१०।६-७
७. वही, २१०।३१
८. वही, २१०।२६-३४

गीता की भाँति ही वराह भी संन्यास-योग, ज्ञानयोग एवं सांख्य[1] का महत्व प्रतिपादित करता है। संयमी एवं पवित्र (शुचिः) ज्ञानी भागवत[2] का भी उल्लेख है।[3] गीता की भाँति वराह भी ध्यानयोग का महत्व प्रतिपादित करता है।

गीता की भाँति वराह ने भी प्रपत्ति के सिद्धान्त को अपनाया है।[4] इस प्रकार जो भागवत व्यक्ति अहंकारहीन और एकचित्त होकर शान्त, दान्त[5] तथा दृढ़व्रती रहकर योग-विधान से कर्म करते हुए भगवान को ही पूजते हैं वे अमरत्व को प्राप्त करते हैं।[6]

सभी प्राणियों में आत्मा को देखना (गीता, ६।२९) तथा आत्मा में सभी प्राणियों को देखना (सर्वभूतानि चात्मनि) और इस प्रकार इस संसार को वासुदेव-मय देखना (वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः)[7] ही वासुदेव-धर्म (भागवतधर्म और दर्शन) है। वराह पुराण ने भी अष्ट-मूर्तियों- पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु, आकाश एवं ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र - वाले नारायण देव अथवा पुरुष (विराट् पुरुष) से ही अभिव्याप्त जगत बताया है। कर्म और ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। जो भी कर्म करें वे सभी (उनका फल) नारायण को अर्पित कर दें।[8] वे प्रभु ही यज्ञमूर्ति हैं।[9] उन्हें यज्ञ द्वारा प्रसन्न किया जाता है।[10] अन्त में यह वृत्ति संन्यास की ओर ले जाती है।[11] धर्मवित् लुब्धक और अश्वशिरा के उपाख्यानों से बताया गया है कि वह नारायण-प्रभु अभेद दृष्टि से आराध्य है।[12]

---

१. वराह, १४२।१३-२०, २३, ३९, ४१, ५९
२. वही, ११८।१०, कूर्म० गीता, ७।१६-१९
३. वही, ७३।३, १३०।५१, १४१।६७
४. वही, ११६।९(२), १०(२), २६(१)
५. वही, ११६।२,५
६. वही, ११६।४३
७. वही, ४।६-८, ६।१३-१६
८. वही, ५।१७
९. वही, ५।४९-५८
१०. वही, ६।२,३
११. वही, ६।४
१२. वही, ५।२२-२३, २७-४५

वैष्णव धर्म का आध्यात्मिक तत्व

वराह पुराण में ‘नारायण-परं-ब्रह्म’ का महत्व बताते हुए अश्वशिरा नामक राजा का पुण्याख्यान दिया गया है। यह उपाख्यान अत्यन्त रोचक एवं धर्म-प्रबोधक है। इसमें वैष्णव-दर्शन और भागवत धर्म के मूल सिद्धान्तों की व्यवस्था कपिल एवं जैगीषव्य द्वारा की गयी है। सत्य ही यह आख्यान शास्त्र-नवनीत है। अतः इसके विवेचन के लिये कपिल मुनि और महामुनि जैगीषव्य के विचारों का परिचय देना अत्यावश्यक है। दोनों ही धर्मोपदेशक, कपिल एवं जैगीषव्य, परम योगी, धर्मज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी (भिक्षु) थे। कपिल तो विष्णु के अवतार ही माने गये हैं और यहां, इस आख्यान में भी, वे नारायण रूप में चित्रित किये गये हैं। योगी जैगीषव्य गरुड़ रूप में चित्रित किये गये हैं। इस प्रकार जैगीषव्य रूपी गरुड़ (अपने आराध्य) नारायण (कपिल) का वाहन ही हैं। गरुत्मान् (गरुड़) मारुतक्रान्ति का प्रतीक है।[1] यह ब्रह्मलोकगामिनी गति है।

कपिल

ऋषि कर्दम और देवहूति के यहां कपिल का अवतार तत्वज्ञान का उपदेश देने के लिये (तत्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं) हुआ था।[2] वे ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, अवबोध, वीर्य और श्री सम्पन्न थे।[3] यह अवतार लुप्तप्राय आत्मपथ के सांख्य-ज्ञान का प्रवर्तन करने के लिये हुआ था। उन्होंने आत्मदर्शन कराने वाली आध्यात्मिकी विद्या का प्रचार किया। उन्होंने कर्दम ऋषि को उपदेश दिया, "मैं अन्तर्यामी और सर्व-व्यापी हूं। अपनी आत्मा में ही एकाग्र मन से मेरा भजन करते करते सांसारिक क्लेशों से मुक्त होकर परम पद को पाओगे।"[4] कर्दम ऋषि भी अहिंसात्मक

---

१. वराह, ३१।१०(१)
२. भागवत, ३।२४।१०
३. वही, ३।२४।३२
४. वही, ३।२४।३४-४०

संन्यास से ममत्व, अहंकार एवं द्वन्द्व को नष्ट कर समदर्शी और आत्मदर्शी (समदृक् स्वदृक्) होकर (सब में अपनी आत्मा को ही देखते हुए) प्रशान्त-मन (जो समुद्र की भाँति शान्त था)[१] हो गये। परम भक्ति भाव से सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान वासुदेव में उनका चित्त स्थिर हो गया। वे सम्पूर्ण प्राणियों और तत्वों में अपनी आत्मा और भगवान् को तथा सम्पूर्ण प्राणियों को भी हरि में देखने लगे।[२] वराह पुराण के इस उपाख्यान में भी यही बताया गया है कि सर्वज्ञ नारायण अथवा विष्णु[३] के गुणमय[४] (षाड्गुण्यं - ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य एवं तेज) स्वरूप की आराधना से ही परमार्थ की प्राप्ति हो सकती है। वही सर्वज्ञ भगवान् सभी शरीरों में स्थित है। अपने शरीर में भी विराजमान वही परमात्मा भक्ति से देखा जा सकता है। यही परमात्मा, वासुदेव अथवा विष्णु, का स्वरूप है जिसमें प्रतीति (विश्वास) करते हुए उनकी आराधना करनी चाहिए। यही सर्वव्यापी विष्णु, सुर, नर, पशु, कीट एवं राजा, मंत्री और भृत्य, सभी शरीरों में स्थित है। अत: यह सम्पूर्ण जगत ही विष्णुमय है। इस प्रकार हरि सर्वव्यापी हैं - यह भावना दृढ़ता के साथ धारण कर नारायण गुरु का स्मरण करना चाहिए। उस परमेश्वर की पूजा, और ब्राह्मणों का तर्पण तथा सुस्थित (यम, नियम से आसनस्थ) होकर उसका ध्यान करने से ही वह (परमेश्वर) सुलभ है।[५] इस प्रकार साधक आध्यात्मिक योग से मलशुद्धि और द्वन्द्वनाश करे। वही साधक अपने में और सब में आत्म-ज्योति को देखते हुए ब्रह्मसिद्धि के लिए

---

[१] भागवत, ३।२४।४४

[२] वही, ३।२४।४५-४६ : आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ।।
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ।।

[३] वराह, ४।३४-३५

[४] वही, ४।३५

[५] वराह, ४।३६-४२

भगवद्भक्ति-पथ का अनुसरण करे । यही कपिल-सिद्धान्त है । वराह भी यही तत्वावबोधन कराते हैं । इस प्रकार इसके मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

1. संन्यास, अहिंसा, समता और आत्मदृष्टि,
2. भगवान् की `एकभक्ति` (अव्यभिचारिणी भक्ति),
3. `सर्वमयोहरिः` - दृढ़भावना (हरि व्यापक सर्वत्र समाना),
4. परिपूर्णभाव से नारायण-स्मरण, पूजा, उपहार, धूप, तर्पण, योगस्थिति और ध्यान ।

यही भक्ति-योग है जिससे भागवती (अथवा परा) गति मिलती है ।

जैगीषव्य

यह महामुनि परम सिद्ध पुरुष थे जिन्होंने असित-देवल ऋषि को समत्व बुद्धि का उपदेश दिया था ।[1] इन्होंने ब्रह्मलोक प्राप्त कर लिया था । महाभारत से ज्ञात होता है कि असित - देवल गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए रहते थे । जैगीषव्य महान् योगी और तपस्वी थे । उन्होंने असित-देवल को अपने योग बल से यह दिखा दिया कि योग और तपस्या के बल से मनुष्य ब्रह्मलोक तक जा सकता है । किन्तु गार्हस्थ्य[2] आश्रम में रहता हुआ यज्ञादिकों द्वारा मनुष्य वहां तक नहीं पहुंच सकता है ।

पुनः, वराह पुराण में आगे चल कर पांचवें अध्याय[3] में, पुनः अश्वशिरा और कपिल का संवाद मिलता है । इसमें अश्वशिरा ने संदेह[4] करते हुए कपिल से पूछा कि कर्म से मोक्ष मिलता है या ज्ञान से मिलता है । इसके उत्तर में कपिल

---

१. शान्तिपर्व, २२९।४-५
२. महा० शल्यपर्व, अ० ५०
३. वराह, ५।१-३
४. वही, ५।४ : कर्मणा प्राप्यते मोक्ष उताहो ज्ञानिना मुने ।
एतन्मे संशयं छिन्धि यदि मे अनुग्रहः कृतः ॥

एक प्राचीन रैभ्य-वसु संवाद को कहते हुए इसी प्रश्नोत्तर का उल्लेख करते हैं।[1] बृहस्पति ने कहा -

जो भी ‘साधु’ या ‘असाधु’ (अच्छा या बुरा) कर्म किया जाय, वह नारायण को ही समर्पित कर दिया जाय, तो इस प्रकार कर्म करने में भी दोष नहीं है।[2]

इस विचार को पुष्ट करने के लिए फिर एक प्राचीन वृत्तान्त बताया गया है। धर्मारण्य में संयमन नामक आत्रेय मुनि रहते थे। वहां मृगों को मारते हुए एक व्याध से उन्होंने कहा कि ‘जीव हिंसा मत करो’। व्याध ने कहा कि ‘मैं ब्रह्म से पृथक जीव को नहीं मारता हूं। परमात्मा भगवान् ही इन प्राणियों के साथ क्रीड़ा करता है।’[3] उस व्याध ने मुनि को बताया कि मोक्ष चाहने वालों को ‘अहं’ भाव पर नियन्त्रण करना चाहिए।[4] पुनः, उस धर्मज्ञ लुब्धक ने एक लोहे के जाल के नीचे आग जला दी और आग जलने से उस लोहे की जाली से एक ही अग्नि के पृथक-पृथक हज़ारों आग के गोले (चिनगारियां या लौ) प्रकट हो गये। उस लुब्धक ने विप्र से कहा कि “तुम एक लौ (अग्नि-स्कंध) को पकड़ लो और हम अन्य को बुझा दें।” ऐसा कह कर उसने पानी के घड़े को उस आग पर उलट दिया। आग बुझ गयी। लुब्धक ने विप्र से कहा, “वह अग्नि जो तुमने ग्रहण की है मुझे दो, मैं उस पर अपना मांस गरम कर लाऊंगा।” परन्तु वहां अग्नि न थी। मूल अग्नि के नाश से ~~के~~ वह भी नष्ट हो गयी थी। ब्राह्मण भी शान्त था। लुब्धक ने कहा, “इस आयस-जाल के कारण एक ही अग्नि बहुत सी शाखाओं में परिवर्तित हो गयी थी। परन्तु मूल-अग्नि के नाश से सभी नष्ट हो गयीं। इसी

---

[1] वराह, ५।१६

[2] वही, ५।१७

[3] वही, ५।१८-२३

[4] वही, ५।२०-३७

प्रकार, प्रकृतिस्थ आत्मा भी प्राणियों का आश्रय है । उसके विकृत हो जाने से जगत की भी वही स्थिति होती है ।[1] इस प्रकार उस व्याध ने अद्वैत एवं अभेद भावना से अपने शरीर में नारायण देव का अवलोकन करते हुए उस प्रभु की आराधना करनी चाहिए ।[1]

इस उपदेश के अनुसार राजा वसु ने अपने राज्य का पालन (स्वधर्म) करते हुए बहुत से यज्ञों द्वारा (कर्मकाण्ड) के अनुसार (यज्ञमूर्ति) को तथा अभेद दृष्टि से चिन्तन करते हुए नारायण को सन्तुष्ट किया ।[2] अन्त में वह तन्त्र का अन्त कर तपोवन चला गया ।[3] इस प्रकार राज्य-निवृत्त होकर पुष्कर तीर्थ के तपोवन में पुण्डरीकाक्षपार स्तोत्र का जप करते हुए उसने तीव्र तपस्या से अपने शरीर को सुखा दिया । इस तरह आराधना करता हुआ वह नारायण में ही विलीन हो गया (तल्लयं प्राप्त:) ।[4] संसार से दु:खी मनुष्यों को निर्भय होने का यही भक्ति-मार्ग है । मुमुक्षु को प्रमाद रहित होकर घर से बाहर निकल कर एकान्त और पवित्र स्थान में विधिवत आसन लगाकर बैठे । वहाँ वह शुद्ध मन से बुद्धि रूपी सारथी की सहायता से मन और इन्द्रियों को उनके विषयों से निकाल कर भगवान् में लगा दे । इसके बाद ध्यान-मार्ग से परमानन्द पद को प्राप्त करे - पदं तत्परमं विष्णोर्मनोयत्र प्रसीदति ।[5]

भक्तियोग

उपर्युक्त दार्शनिक प्रक्रिया और आराधना को भागवत पुराण में भक्तियोग कहा गया है । शुक देव ने मृत्यु-भय से भयभीत होकर न केवल परीक्षित

---

१. वराह, ५।४५ : तस्मात्त्वमपि राजेन्द्र देवं नारायणं प्रभुम् ।
अभेदेन स्वदेहे तु पश्य आराधयन् प्रभुम् ।।
द्रष्टव्य, हि०द०वि०, खंड ३, भास्कर-भाष्य का दर्शन, पृ० ६,
भा०द०, पृ० ४८६-४९०
२. वराह, ६।२-३
३. वही, ६।४
४. वही, ६।६-८
५. भागवत, २।१।१२-१६

को ही इसका उपदेश किया है, प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य को उद्बोधित करते हुए कहा है कि " योगयुक्त होकर भगवान के विराट रूप का ध्यान करना ही उचित है। उनका स्वरूप ही समस्त विश्व है। ------ इस प्रकार नित्य जो प्राणी अपनी बुद्धि से मन को नारायण में लगाये रहता है, वह कृतकार्य है। अत: उस आनन्द-निधि सत्य का भजन करना चाहिए।"[1] पुन: शुक कहते हैं कि वेदमार्ग-प्रतिपादित यज्ञों से स्वर्ग मिलता है न कि मोक्ष। अत: आसक्ति-हीन होकर त्याग के साथ भोग करता हुआ आत्म-प्रिय अनन्त भगवान् में मन को लगा दे। भक्ति-योग से निरन्तर नित्य नारायण का ध्यान करते करते सभी जगह सब तरह से सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान भगवान् का भजन और कीर्तन करे[2]।

पांचरात्र की तत्व मीमांसा करते हुए प्रो० बलदेव उपाध्याय का विचार है, " पांचरात्र मत में परब्रह्म अद्वितीय ----- सब प्राणियों में निवास करने वाला, समस्त जगत में व्याप्त होकर स्थित होने वाला निरवद्य और निर्विकार है। वह ---- पूर्ण, नित्य तथा व्यापक है।"[3] अत: स्पष्ट है कि वराह पुराण ने उपर्युक्त आख्यान में कपिल-जैगीषव्य द्वारा भक्तियोग का प्रतिपादन किया है। इसे ही पान्चरात्र-मार्ग भी कहते हैं। " पान्चरात्र का ही दूसरा नाम भागवतधर्म और सात्वत धर्म था।"[4] अहिर्बुध्न्यसंहिता का भी यही मत है।[5] " परं ब्रह्म नारायण-विष्णु और उनके अनेक रूपों की पूजा पर ही वैष्णव धर्म आधारित है। महाकाव्य और पुराण नारायण और विष्णु में भेद नहीं करते हैं। दोनों ही नाम एक ही देव के परिचायक हैं जिन्हें इनके उपासक परं देव मानते हैं। इनके उपासकों को विभिन्न नामों से भागवत, पंचरात्र, एकान्ती, सात्वत और वैष्णव पुकारा गया था।"[6]

---

[1] भागवत, २।१।१५-३६

[2] वही, स्कन्ध २, अ० २, २।२।३६ : तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरि: सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ।।

[3] भा० द०, पृ० ५२६

[4] वही, पृ० ५२५

[5] हि०इ०फि०, वाल्यूम ३, पृ० ३४-४२

[6] सुविरा जायसवाल, ओ०डे०वै०, पृ० ३२

दार्शनिक धाराएं

सभी 'आस्तिक'[1] दर्शनों का मूलस्रोत वेद ही माना गया है। वेद-सर से निकलकर सभी धाराएं ब्रह्म में विलीन हो जाती हैं।[2] हिमालय पर स्थित ब्रह्मकुण्ड से चार वेदधाराएं - ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद - निकलीं[3] और उन्होंने ही इस कर्मभूमि को अपने विमलोदक से पुण्यभूमि[4] बना दिया। वेदविद ऋषियों ने सत्य की खोज और उसके द्वारा ही सिद्धि प्राप्ति की।[5] सत्य से ही मोक्ष की भी प्राप्ति होती है (मोक्षः सत्येन लभ्यते)।[6] 'तत्सत्य', 'तत्परं ब्रह्म' तक पहुंचने के लिये ऋषियों ने बहुत से मार्ग बताये हैं :

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥[7]

तत्त्व एक ही है और ऋषि, मुनि-साधक उसी का विभिन्न प्रकार से निरूपण करते हैं (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति)।[8] सभी शास्त्र उस ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।[9] किन्तु क्रूर-काल की थपेड़ों से श्रुतिपथ को धक्का लगा और वेद विस्मृत होने लगे।[10] किन्तु वेदसर में स्नान करने (अर्थात् वैदिक-ज्ञान-सागर के

---

१. भा०द०, पृ० २८ : "'आस्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे।"
२. द्रष्टव्य, मुंडक उप०, ३।२।८, जिस प्रकार नदियां समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र-स्वरूप को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार तत्ववेत्ता साधक भी ब्रह्म को प्राप्त कर नाम-रूप रहित होकर ब्रह्ममय हो जाता है।
हि०ध०वि०, भाग ३, पृ० ४४५,४५०,४५१ आदि
३. वराह, १५१।७१-७५
४. डा० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ० ३-४, भा०द०, पृ० ४८
५. वराह, १५५।२२
६. वही, १५५।२६(१)
७. पुष्पदन्तकृत, शिवमहिम्नस्तोत्र
८. ऋग्वेद, १।१६४।४६
९. ब्र०सू०, १।१।४ : तत्तु समन्वयात्।
१०. वराह, २।६७-६८,७३, वहां भारत के पतन का वृत्तान्त दिया गया है। उनका साक्षात्कार ऋषियों से हुआ।

मन्थन) से पुनः वेदों, शास्त्रों और ज्ञान की प्रतिष्ठा की गयी ।[1] वेदसर में स्नान से स्मृति आ गई । एकान्त में ध्यान द्वारा नारद ने अनुभव किया कि संसार (परिवार, धन, पुत्र आदि) स्वप्न ही है, इसके त्याग करने के बाद नारद ने तप करने का विचार किया ।[2] उन्होंने कर्मकाण्ड द्वारा केशव (भगवान् विष्णु), श्राद्ध द्वारा पितरों और यज्ञ द्वारा देवताओं का यजन किया ।[3] अन्त में ब्रह्मपारायण (परं ब्रह्म) का जप करते हुए वे नारायण का साक्षात्कार करने में सफल हुए ।[4] नारद के इस जीवन दर्शन से हमें ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद का परिचय मिलता है ।

" बौद्धों के द्वारा वेद तथा वैदिक धर्म के ऊपर जब बहुत आक्षेप हुआ, उस समय वेद की रक्षा के लिये मीमांसा शास्त्र की रचना हुई,--- ।"[5]

पूर्वमीमांसा

" मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है । जैमिनि ने धर्म का लक्षण किया है - चोदनालक्षणोर्थो धर्मः (१।१।२) । चोदना का अर्थ है क्रिया का प्रवर्तक वचन अर्थात् वेद का विधिवाक्य । ---- 'विधि' का प्रतिपादन ही वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य है (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्, मी० सू० १।२।१) । ---- इसीलिये किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यागादि अर्थ 'धर्म' कहलाता है । इन अर्थों के विधिवत् अनुष्ठान करने से पुरुषार्थों की निःश्रेयस - दुःखों

---

[1] वराह, २।८१(२)-८२ : गृहाण वेदाञ्छास्त्राणि सवस्त्वञ्च नारद ।
एतस्मिन्वेदसरसि स्नानं कुरु महाद्विज ।।
कृते स्नानेऽन्यजन्मीयं येन स्मरसि सत्तम ।

[2] वही, ३।२-५

[3] वही, ३।६ : एवं चिन्त्य मया पृष्टः कर्मकाण्डेन केशवः ।
श्राद्धैश्च पितरो देवा यज्ञैस्तान्यै तथा जना : ।।
पाठ में कुछ दोष है ।

[4] वही, ३।८-९

[5] भारतीय दर्शन, पृ० २३९

की निवृत्ति करने वाले स्वर्ग - की उपलब्धि होती है। यथा स्वर्गकामो यजेत (स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे)।[१]

वराह पुराण के अनुसार वेदवाद-रत द्विजों को वैदिक कर्म या वेदोदित क्रियाओं को करने से शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त होती है।[२] वेदों और शास्त्रों में प्रतिपादित परं ब्रह्म भी विविध यज्ञों तथा दानादि के देने से प्राप्त होता है।[३] इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञों द्वारा उस ब्रह्म की प्राप्ति होना बताया गया है, जिसे वेदान्त ज्ञान से प्राप्त किया जाता है।

वेदान्त

वराह पुराण में वेदान्त का भी उल्लेख है। विष्णु को ही वेदान्तवेद्य कहा गया है।[४] वेदान्त का मूल उपनिषद् है ---। उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिये वेदान्त शब्द का प्रयोग न्याय्य है। परन्तु कालान्तर में औपनिषद् सिद्धान्तों में आपाततः विरोधों के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिये बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया। ------ यह समस्त वेदान्त-सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है।[५] शंकराचार्य वेदान्त के महान् आचार्य थे।

वराह के अनुसार आत्मा[६] ही एक मात्र सनातन ज्ञानशक्ति है (यो मायात्मा ज्ञानशक्तिरेक एव सनातनः)। उसने द्वितीय की इच्छा की तो उससे ही तेज का उदय

---

१. भा०द०, पृ० ३६२
२. वराह, १४।५१, ३६।१०-११
३. वही, ३६।१५-१६
४. वही, २६।१३, द्रष्टव्य, भागवत पु०, १।१।१ : जन्माद्यस्य यतो ----।
५. भा०द०, पृ० ४००
६. वराह, २६।१(१)

हुआ ।[1] इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि पहले एक नारायण ही थे, कोई दूसरा न था । वह स्वच्छन्द कर्म करने वाले भगवान् अकेले ही रति को नहीं प्राप्त हुए । उनकी भी इच्छा थी कि कोई दूसरा हो और इस चिन्ता के फलस्वरूप भास्कर के समान अभाव संज्ञा वाली (शक्ति) प्रकट हुई ।[2] इसी से सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार हुआ ।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन है ।[4] बृहदारण्यक इस 'एक' (एकाकी) को ब्रह्म कहता है । किन्तु पुराण उसे विष्णु या नारायण अथवा शिव आदि का नाम देते हैं । नारायण ही आदिकर्ता विष्णु[5] हैं और वही शरण्य भी हैं ।[6]

सांख्य

अनाद्यन्तमपर्यन्तं यद्ब्रह्म श्रुतिबोधितम् ।
तदेव त्वं महाविष्णो यस्त्वां वेद स वेदवित् ॥
तवैवाद्या जगन्माता या शक्तिः परमा स्मृता ।
तां योगमायाप्रकृतिम्प्रधानमिति चक्षते ॥
निर्गुणः पुरुषोऽव्यक्तश्चित्स्वरूपो निरञ्जनः ।
आनन्दरूपः शुद्धात्मा ह्यकर्ता निर्विकारकः ॥
स्वां योगमायामाविश्य कर्तृत्वम्प्राप्तवानसि ।
प्रकृत्या सृज्यमानेऽस्मिन्द्रष्टा साक्षी निगद्यसे ॥
प्रकृतेस्त्रिगुणैरस्मिन् सृज्यमानेऽपि नान्यथा ।
सान्निध्यमात्रतो देव त्वयि स्फुरति कारणे ॥

---

१. वराह, २६।१२
२. वही, ६।२-३
३. वही, ६।४-२४
४. बृ०उप०, १।४।१-५, १०-१७
५. वराह, १०।१६-१७
६. वही, १०।७३

स्फटिके हि यथा स्वच्छो जपाकुसुमरागतः ।
प्रकाश्यते स्वतप्रकाशाज्ज्योतीरूपं नतोऽस्मि तत् ।।
ब्रह्मादयोऽपि कवयो न विदन्ति यथार्थतः ।
तत्कथं वेद्म्यहं मूढा तव रूपं निरञ्जनम् ।।[1]

ऊपर उद्धृत स्तुति में विष्णु - नारायण को पुरुष (जगत् का कारण) एवं श्रुतिबोधित-ब्रह्म कहा गया है जो ज्ञेय है (यमत्वा वेद सर्ववेदवित्) । वही वेदान्त का वेद्य-ब्रह्म है । वही निर्गुण पुरुष चित्स्वरूप, निरञ्जन और आनन्द रूप है । वही ज्योति-रूप से जगत् को प्रकाशित करता है ।

वही शुद्धात्मा, अकर्ता, निर्विकारक पुरुष अपनी शक्ति-प्रकृति के साथ मिलकर कर्ता बन जाता है । इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के संयोग से ही सृष्टि होती है ।

इस प्रकार ऊपर के उद्धरण में हमें सांख्य तत्वों (प्रकृति-पुरुष का योग और सृष्टि तत्व) का भी दर्शन होता है । यह सेश्वर सांख्य है जो पुराणों को अभीष्ट है । पुराणों के अनुसार सांख्य मत के प्रवर्तक कपिल मुनि विष्णु के ही अवतार थे ।

वराह पुराण में सांख्य एवं योग[2] का बार-बार उल्लेख हुआ है । इससे इनकी प्रसिद्धि और महिमा का ही बोध होता है ।

सांख्य का महत्व कम न था । ऊपर विष्णु-स्तुति (ब्रह्मस्तुति) में महाविष्णु को प्रधान, पुरुष और चैतन्य (चित्स्वरूपी) तथा निर्गुण कहा गया है । उनकी शक्ति योगमाया को प्रकृति कहा गया है । वह स्वयं अकर्ता और विकारहीन हैं । परन्तु प्रकृति के संयोग से ही उनमें कर्तृत्व शक्ति भी आ गयी । तीनों गुणों (सत्व, रजस् और तमस्) की साम्यावस्था ही प्रकृति है । इस प्रकार प्रकृति और

---

[1] वराह, १४४।४१-४७
[2] वही, ११४।५८, १२०।१८, १२६।२३,२६, १४०।६१

पुरुष के सान्निध्य[1] (संयोग) से सृष्टि कार्य होता है। स्वयं पुरुष साक्षी-द्रष्टा मात्र ही है।

दूसरे स्थान पर कार्त्तिकेय (अहंकार)[2] की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए भी सांख्य दर्शन का परिचय दिया गया है। इसके अनुसार सभी तत्त्वों में पुरुष को प्रमुख कहा गया है। उससे अव्यक्त (प्रकृति) उत्पन्न हुआ। वह त्रिविध तत्त्व (गुणों) वाली है। पुरुष और अव्यक्त[3] (प्रकृति) से महत्-तत्त्व की उत्पत्ति हुई। महत्-तत्त्व वही अहंकार कहलाता है। पौराणिक दर्शन में विष्णु अथवा शिव ही पुरुष हैं तथा उमा या श्रीदेवी ही[4] अव्यक्त हैं। उनके संयोग से अहंकार रूपी सेनापति कार्त्तिकेय की[5] उत्पत्ति हुई। नारायण आद्य देव हैं और उन्हीं से सृष्टि का विस्तार[6] हुआ। इस वर्णन (सांख्य-तत्त्व) को 'आत्मविद्यामूलं गुह्यं' कहा गया है। वराह पुराण के अनुसार जो तत्त्वार्थ को जानता है और प्रकृति तथा पुरुष[7] को जान कर मोह को नहीं प्राप्त होता है, वही शाश्वत पद प्राप्त करता है।

---

१. वराह, १४४।४१-४५

२. वही, अ० २५

३. वही, २५।२-३ : सर्वेषामपि तत्वानां यः परः पुरुषः स्मृतः ।
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं तत्वादि त्रिविधन्तु सत् ।।
पुरुषाव्यक्तयोर्मध्ये महत्वं समपद्यत ।
स चाहङ्कार इत्युक्तो यो महान्सगुणाकृतः ।।

४. वही, २५।४-५

५. वही, २५।६-७

६. वही, २५।४८

७. वही, २१०।३०

योग

भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में योग अत्यंत प्राचीन और प्रसिद्ध सिद्धान्त है।[1] विष्णु को योगीश्वर (सर्वयोगीश्वरो हरिः)[2] माना गया है। ईश्वर (ईश), शिव, अपने योगबल के लिये प्रसिद्ध हैं।[3] योग और सांख्य[4] भी उनके साथ रहते थे।

गीता में वर्णित योग (समत्वं योगमुच्यते)[5] के स्वरूप को वराह पुराण में भी पाते हैं - लाभालाभ एवं[6] शीत-उष्ण तथा मोह-काम हीन अवस्था योग[7] गति ही है।[8] एकचित्त-समाधि ही योग की अन्तिम स्थिति है, जहाँ पर ध्येय के चिन्तन में ही साधक पूर्णरूप से लीन हो जाता है।

अहंकार रहित एकचित्तता की स्थिति में नित्य, शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय रहकर भगवत्-चिन्तन में चित्त को लगाये हुए ([illegible]) पवित्र और धार्मिक रीति से व्रत पालन करना ही योग[9] विधान है।

---

१. गीता, ४।१-३
शान्ति पर्व, ३४८।५१

२. वराह, १७।२२

३. वही, १३६।२१,२६

४. वही, १३४।४३

५. वही, १२२।४

६. गीता, २।४८

७. वराह, ११५।३५-३७
गीता, २।३८, २।१४,१५,३८,४८

८. वराह, ११५।३-४

९. वही, ११६।२,५
वही, १२७।७ : योगव्रत का भी उल्लेख है।

वराह भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियों का निग्रह कर मुझ में चित्त लगाकर मेरे कर्म-परायण होकर मेरे योग में संन्यास कर एक-चित्त दृढ़व्रत होकर स्त्री या पुरुष ज्ञान संन्यास योग से परम गति को पाता है। इन शरीरधारियों के मन, चित्त और बुद्धि अनीश ही हैं। ज्ञान से एकचित्त मन करके समचित्त हो जाते हैं। जब समचित्तता के साथ मनुष्य ईश्वर की शरण में जाते हैं तो उन्हें कोई कर्म नहीं है। इस प्रकार समत्व बुद्धि से ही (समत्वादेव) व्यवस्थित चित्त वाले पुरुष परा सिद्धि को प्राप्त करते[1] हैं। सोते-जागते, उठते-बैठते, सुनते-देखते वे उस प्रभु का ही चिन्तन करते हैं। इस प्रकार चित्त ही लोक-नाश का कारण है और चित्त ही मोक्ष का कारण है (चित्तं नाशो हि लोकस्य चित्तं मोक्षस्य कारणम्)[2]। भ्रमित चित्त वाले दुःख पाते हैं (प्राप्नुवन्ति च दुःखानि भ्रमच्चित्ता[3] नराधमाः)। चित्त की वृत्तियों का रोकना ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः), अर्थात् भ्रमित चित्त की बाह्य वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करके ईश्वर में लीन कर देना ही योग है।

इसके लिये भी वराह योग साधना का वर्णन करता है - अकेला, युक्तचित्त वाला मनुष्य निराशी और निष्परिग्रह होकर पवित्र स्थान पर अपना स्थिर आसन (अजिन, कुशासन) बनाकर, जो न अधिक ऊँचा हो और न अति नीचा ही हो, उस पर बैठकर एकाग्र चित्त एवं जितेन्द्रिय होकर आत्म-शुद्धि के लिये (योगमात्मविशुद्धये) योग में जुटे। साधक इस प्रकार बैठे कि ग्रीवा, सिर और शरीर सीधा, सम और अचल रहे, हिले-डुले नहीं। केवल अपनी नासिका के अग्र भाग को देखता हुआ प्रशान्तात्मा,[4] निर्भय, भगवत्-परायण और ब्रह्मचारी संयम के साथ चित्त को भगवान् से जोड़ दे। इसके प्रतिकूल पाँच प्रकार की अविद्या (तम, मोह, महामोह, तामिस्र

---

[1] वराह, १४२।१३-२१

[2] वही, १८२।२६-२८

[3] पातंजल योग, सूत्र २

[4] वराह, १८७।३४-३६

और अन्ध)[१] ही सम्पूर्ण दुःखों का कारण है (अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः)[२] । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, सांख्य परिभाषा में क्रम से तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामान्तर हैं ।[३] ये सभी अज्ञानमूलक और दुःख-जनक हैं ।

भास्कर-मत

वराह पुराण में 'वचनं भास्करस्य'[४] और 'भास्करस्य मतं'[५] के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन भास्कर की पहचान भास्कर भट्ट से की जा सकती है जो भेदाभेद सिद्धान्त के पोषक प्रसिद्ध दार्शनिक थे । माधवाचार्य ने शंकर विजय में शंकर और भास्कर के मिलने का उल्लेख किया है, किन्तु यह संदिग्ध है । परन्तु भास्कर ने शंकर के विचारों की समीक्षा की और उदयन ने भास्कर का उल्लेख किया है । इस तथ्य से सिद्ध होता है कि ईसा की आठवीं और दसवीं शताब्दी के बीच भास्कर का जीवन-काल था । डा० दास गुप्त के अनुसार वे ईसा की नवीं शताब्दी में हुए थे ।[६] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भास्कर का समय आठवीं शताब्दी (अष्टम् शतक) माना है ।[७] डा० उमेश मिश्र के अनुसार " शंकराचार्य के समकालीन अथवा ठीक परवर्ती यह थे । इसलिये इनके विचारों का यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा । नवम् शतक में ही भास्कर का समय कहा जा सकता है । पद्मपादाचार्य

---

[१] वराह, २।२८

[२] पातंजल योग, साधनपाद सूत्र ३

[३] सांख्यकारिका, ४८

[४] वराह, २०८।८७ (अपि च, २०८।८३,८७, २०६।२०(१))

[५] हि० इ० फि०, भाग ३, पृ० २

[६] वही, पृ० ३

[७] भा० द०, पृ० ४८६

की 'विज्ञानदीपिका' की 'विवृति' (कारिका ६४) में इनका उल्लेख है। दशम् शतक के वृद्ध वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत की चर्चा नाम लेकर की है (ब्रह्मसूत्र ३-३-२८-२९)। यामुनाचार्य (ग्यारहवीं सदी), चित्सुखाचार्य (तेरहवीं सदी), वर्धमान उपाध्याय (चौदहवीं सदी) आदि लोगों ने इनकी चर्चा की है।[1]

इनके अनुसार ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] डा० उमेश मिश्र के अनुसार 'भास्कर भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। इनका कहना है कि केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, कर्म की भी आवश्यकता है। ज्ञान की उत्पत्ति श्रवण-मनन-रूप साधन से होती है, कर्म से नहीं। इसीलिए जिस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिए शम, दम, आदि योगांगों का अनुष्ठान भी आवश्यक है, तभी मोक्ष मिलता है, अन्यथा नहीं। कर्म का त्याग किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता।' -- इनका दूसरा सिद्धान्त है कि 'संसारावस्था में जीव परमात्मा से भिन्न है, किन्तु मोक्षावस्था में वह परमात्मा से मिल जाता है। इसलिये जीव और परमात्मा में भेद और अभेद दोनों हैं। वस्तुतः जीव तथा परमात्मा में स्वभाव से ही अभेद है, किन्तु संसार रूपी उपाधि के कारण भेद भी है। यही भेदाभेद भास्कर का सिद्धान्त है।'[3]

भास्कर मत का विवेचन करते हुए प्रो० बलदेव उपाध्याय का विचार है कि भास्कर का स्पष्ट मत है कि -- जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निस्फुलिंगवत अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों में अभेदरूप स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है। स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्नरूपं स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम् - २।३।४३ भा०भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है - यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थिति है।[4] भास्कर-भाष्य का विवेचन करते हुए डा० दास गुप्त कहते हैं कि जिस प्रकार समुद्र और उससे उठती हुई तरंगों में भेदाभेद है। जिस प्रकार अग्नि से उसकी दहन-प्रकाश-शक्ति भी भिन्नाभिन्न है, उसी प्रकार एक (ब्रह्म) भी अनेक (जगत्) रूप में भी उससे भिन्न भी और अभिन्न भी।[5] वराह पुराण में इस सिद्धान्त की व्याख्या

---

[1] भारतीय दर्शन, पृ० ३६६

[3] भारतीय दर्शन, पृ० ४८८-४८९/५००

[4] भा० द०, पृ० ४८०

[2] हि०इ०फि०, भाग ३, पृ० ८
भा०द०, पृ० ४८१-४८२

[5] हि०इ०फि०, भाग ३, पृ० ६
भास्कर भाष्य, २-२-१८

की आयस जाल और अग्नि ज्योति से की गयी है । आग जला कर उसके ऊपर एक लोहे की जाली रख दी गयी जिससे वह एक ही ज्योति कई अग्नि-शिखाओं में बंट गयी । परन्तु सभी ज्योतिस्कन्धों का मूल एक मूल ज्योति ही थी ।[1] मुंडक उपनिषद में भी अग्नि और चिनगारियों का दृष्टांत दिया गया है । जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में से उसी के समान रूप-रंग वाली हजारों चिनगारियां चारों ओर निकलती हैं, उसी प्रकार परम्पुरुष अविनाशी ब्रह्म से सृष्टि काल में नाना पकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं और पलय-काल में उन्हीं में लीन हो जाते हैं ।[2]

प्रकृति में स्थित (शरीराश्रित) होने से आत्मा समस्त भूतों (तत्वों) के आधीन हो जाती है । आत्मा के भूताश्रित होने से ही संसार-चक्र चल पड़ा । शरीर धारण के साथ जो नियम धारण किये गये हैं, उन सबको आत्मा में अर्पण कर देने से दुःख नहीं प्राप्त होता है और जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है ।[3] अस्तु अद्वैतोपासना से स्वधर्म-स्वजाति धर्म को करने से मुक्ति होती है ।[4] अतः ईश्वर की आराधना करते हुए अभेद भाव से अपने शरीर में नारायण देव को देखना चाहिए ।[5]

---

१. वराह, ५।२७-३६

२. मुंडक, २।१ : तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः ।
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः ।
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।

३. वराह, ५।३७-३८ : आत्मा स प्रकृतिस्थश्च भूतानां संश्रयो भवेत् ।
विकृतादुद्भवस्तस्य एषा वै जगतः स्थितिः ।।
पिण्डग्रहणधर्माणि यदस्य विहितं व्रतम् ।
तदात्मनि संयोज्य कुर्वाणो नावसीदति ।।

४. वही, ५।४२-४३, द्रष्टव्य, गीता, १८।५६

५. वही, ५।४५, द्रष्टव्य, गीता, १८।२०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उपसंहार

सम्पूर्ण दार्शनिक प्रक्रिया में, चाहे वह मीमांसा हो या योग, वराह पुराण प्रारम्भ से अन्त तक पुरुषाधिप, नारायण, वासुदेव (विष्णु) को ही परमेश्वर, पर ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित पाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वराह पुराण के दार्शनिक चिन्तन पर श्री रामानुजाचार्य का भी प्रभाव अत्यधिक मात्रा में पड़ा था। सभी शास्त्रों को मथ कर (शास्त्रनवनीत) ही यह वाराह घृत है। यह महाज्ञान, महाशास्त्र और संसारमोक्ष का परम शास्त्र है। इसमें ज्ञान, कर्म (विधिमूल, पूर्वमीमांसा), योग (एकचित्तव्यवस्थिति) आदि का वर्णन किया गया है।[१] भगवान कहते हैं -

आत्मशास्त्रम्प्रतिष्ठेत यत्र धर्मः सुनिश्चितः ।[२]

---

१. वराह, १४८।२०-२७

२. वही, १४८।१६

अध्याय ८

शिक्षा एवं साहित्य

शिष्यैः समुच्चारितशास्त्रनादः
सुश्रूषयाग्निद्विजकन्यकायुतः ।
इतीदृशोऽस्यावसथो वराश्रमे
सुपुष्पिताशेषतरुप्रसूनः ॥

– वराङ्ग, ११।७२

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति

सभ्य समाज की यही महत्वाकांक्षा रही है कि उसके नागरिक विनीत हों और उनके व्यक्तित्व का सम्यक विकास हो । प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था का भी यही उद्देश्य था । वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण का स्वधर्म अध्यापन[1] करना था । व्रतधर-ब्राह्मण आश्रमों में शिलोञ्छ-वृत्ति से जीवन-यापन करता हुआ उच्च-आदर्श-जीवन की सिद्धि में स्वयं लगा हुआ अपने विद्यार्थियों को भी अनुप्राणित करता था । इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन को ब्रह्म (सर्वेभ्यो बृहत्वात् इति ब्रह्म) या परमेश्वर की चर्या (सेवा) या साधना का अवसर, अवलंब और आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) कहा गया है । इसीलिए ब्राह्मण का जीवन क्षुद्र-वृत्ति और अपने ही स्वार्थ के लिए न होकर तप एवं अनन्त सुख के लिये होता था -

> ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
> कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥
> शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
> मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥[1]

राजसिक-स्वभाव से रहित (विरजं या शान्तरजसं) ऐसे ब्राह्मण का गृह ही गुरुकुल था, जहाँ रहता हुआ बालक (ब्राह्मण्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः वसन् गुरुकुले) अपनी दसों इन्द्रियों को अपने वश में कर (दान्त) ब्रह्म विद्या का अध्ययन करता था (ब्रह्माधीयीत चाहूतः) । उसका वेश-विचार एवं वृत्ति सरलता, सेवा और त्याग पर आधारित था ।[2] गुरु-भक्ति के साथ गुरुकुल में रहता हुआ, वह

---

1. भागवत, ११।१७।४२-४३
2. वही, ११।१७।२२-३०

व्रती विद्यार्थी अपनी विद्या समाप्त करता था ।[1] इस प्रकार गुरुकुल से लौटा हुआ विद्यार्थी समाज में अपने जीवन को चलाने में प्रायः सभी प्रकार से समर्थ था । आज भी गुरुकुल के स्नातक और किसी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के स्वरूप तथा चरित्र में अन्तर देखा जा सकता है ।

गुरु के अतिरिक्त बालक की शिक्षा और उसके विकास में उसके माता-पिता का भी उत्तरदायित्व था । सत्य ही कहा गया है -

माता शत्रुः पिता वैरी बाला येन न पाठिताः ।[2]

मार्कण्डेय पुराण से ज्ञात होता है कि सम्राट् ऋतध्वज की महादेवी मदालसा बहुत ही विदुषी थीं । जब उनका एक पुत्र (विक्रान्त) पलंग पर पड़े पड़े रोने लगता था, तब उसे चुप (शान्त) करने के लिए वह उसे अध्यात्म का मधुर एवं अमृत (ब्रह्म) रस पिलाती थीं । वे कहती हैं - " हे वत्स ! तुम तो शुद्ध आत्मा हो, तेरा कोई नाम नहीं है, ---- यह शरीर भी पांच भूतों का बना है, न यह तेरा है और न तू इसका है । फिर तू रोता क्या है ।"[3] इस प्रकार माता शैशव काल में ही ज्ञान-संस्कार कर बालक को सुधारती हुई पुष्ट करती थी । जबाला का चरित्र प्रसिद्ध ही है । उसने अपने उस पुत्र में सत्य को प्रतिष्ठित कर दिया जो गुरुकुल में रहते हुए अध्ययन करना चाहता था ।[4] मदालसा ने अन्य पुत्र (अलर्क) को भी (जब उसका उपनयन हो चुका था) राजधर्म एवं अन्य धर्मों की शिक्षा दी ।[5] अतः स्पष्ट है कि शिशु के उन्नयन में माता

---

१. भागवत, १०।८०।२७-४३
२. गरुड़ पु०, १।११५।८०(१)
३. मार्कण्डेय पु०, २३।११-२१
४. छान्दोग्य उप०, चतुर्थ खण्ड
५. मार्कण्डेय पु०, २४।२-३४,
अ० २४ आदि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का कितना महत्त्व था । माता, पिता या गुरुओं की शिक्षा का लक्ष्य शिशु के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ उसे आत्म-बोध कराना था । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना ही था[1] । यह विकास घरों और मायामय-प्रपंचपूर्ण जगत के कोलाहल से दूर अरण्यों (तपोवनों) और आश्रमों में ही सम्भव है । अतः गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति से बालक में विवेक-शक्ति, विनय और शिष्टता का उदय होता था ।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार उपनयन के बाद गुरुकुल में रहता हुआ ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) विद्याध्ययन करता था[2] (प्रथमाश्रमनिष्ठस्य ------ विद्याभ्यसनशीलस्य तिष्ठतस्तु गुरोः कुले)[3] । वेदाध्ययन के बाद वह गुरु-दक्षिणा देकर घर वापस आता था ।

गुरुकुल अथवा वन्याश्रमों के मनोरम वातावरण में रहता हुआ, गुरु के संपर्क और सदुपदेशों - सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद आदि[4] - से विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य-निष्ठा तथा सदाचार की और अग्रसर होता था । गुरु भी शीलवान् और प्रबुद्ध होते थे जिनका सरल और त्यागमय जीवन उनके शिष्यों को प्रेरणा देता था । इसीलिए गुरु और शिष्यों में परस्पर स्नेह बना रहता था । इस प्रकार शिक्षा के समुचित वातावरण में सुयोग्य गुरुओं द्वारा शिक्षा की विशेष उन्नति हुई थी ।

वराह पुराण एक धर्म-संहिता है । इस वैष्णव पुराण में वैष्णवी

---

१. अल्टेकर, ए०ई०ए०, पृ० ५-७

२. पद्म पु०, १।२२।८०

३. वही, ६।२३२।१, ६।२३५।५-६, ६।२३८।७-१४, ६।२४८।६-१०

४. तैत्तिरीयोपनिषद्, १-११

दीक्षा[१] का विशेष वर्णन किया गया है। इस दीक्षाविधान के अनुसार दीक्षा ग्रहण करने वाला मनुष्य गुरु के पास जाकर शान्तचित्त से कहता था – "मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिए (शाधि शिष्योऽस्मि मां गुरो)।"[२] इसी प्रकार साधारण शिक्षा के लिये भी श्रद्धापूर्वक शिष्य गुरु के पास जाता था और अपनी जिज्ञासा प्रकट करता था। गुरु भी शिष्य को वेद और अन्य शास्त्र (धर्मशास्त्र आदि) पढ़ाता था।[३] विप्र का धर्म पढ़ना-पढ़ाना ही था। अतः शिक्षा का विकास करना प्रथम वर्ण (ब्राह्मण) और प्रथम आश्रम (ब्रह्मचारी) का मुख्य कर्त्तव्य था।

विद्या का महत्व

प्राचीन भारत में विद्या का महत्वपूर्ण स्थान था। पुराणों से भी विद्या और शिक्षा के महत्व पर प्रकाश पड़ता है। गरुड़ पुराण के अनुसार[४] विद्या ही सबसे बड़ा गुरु है तथा विद्या-विहीन मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा के महत्व को बतलाते हुए कहा गया है कि "जो माता-पिता अपने बालकों को नहीं पढ़ाते हैं, वे उसके शत्रु ही हैं।"[५] वराह पुराण भी विद्या

---

[१] वराह, अ० १२७-अ० १२८ में चारों वर्णों की दीक्षा का वर्णन किया गया है।
वही, १२७।४,६-१०

[२] वही, १२७।११ : मयि शान्तं मनः कृत्वा तत्कृष्टञ्च सुन्दरि।
अभिगच्छेद्गुरुन्देवि शाधि शिष्योऽस्मि मां गुरो॥

[३] विष्णु पु०, १।१।२-४, १।१७।२८

[४] वराह पु०, ४४।१६(१)
गरुड़ पु०, १।११५।८१ : विद्या नाम कुरूपरूपमधिकं विद्यातिगुप्तं धनं।
विद्या साधुकरी जनप्रियकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनार्तिनाशनकरी विद्या परं दैवतं।
विद्या राजसु पूजिता हि मनुजो विद्याविहीनः पशुः॥

[५] वही, १।११५।८० : माता शत्रुः पिता वैरी बाला येन न पाठिताः।
सभामध्ये न शोभन्ते हंसमध्ये बका यथा॥

और उसके प्रभाव के महत्व पर प्रकाश डालता है । अत्रि मुनि ने सम्राट् सुप्रतीक को वरदान दिया कि ‘ तेरा पुत्र विद्या प्रभाव को जानने वाला (विद्याप्रभावतत्वज्ञः) होगा । ’[1] जन्म के बाद संस्कार से संस्कृत होकर वह पुत्र सांख्य तथा वेद-शास्त्र और अर्थ-विद्या में पारंगत हो गया था । उसकी दूसरी रानी का पुत्र भी वेद-वेदांग का ज्ञाता हुआ ।[2] एक सम्राट् ने अपनी वृद्धावस्था में त्याग (वैराग्य) से प्रेरित होकर अपने अनुभव को व्यक्त करते हुए[3] विचार किया कि विद्या के समान चक्षु नहीं है (नास्ति विद्यासमञ्चक्षुः) । यहाँ विद्या का महत्व ‘परं सुख’[4] अथवा मोक्ष की सहायिका शक्ति के रूप में है ।[5]

ब्राह्मण और विद्या

प्राचीन भारतीय सामाजिक विधान के अनुसार ब्राह्मणों के षट् कर्मों[6] में अध्यापन और अध्ययन[7] सम्मिलित था । सामान्यतः अधिकांश ब्राह्मण ज्ञान-संस्कार-संस्कृत[8] ऋषितुल्य थे जो वेद-वेदांग-कुशल, वेदार्थविचारक और सर्वशास्त्र-

---

१. वराह पु०, १०।२६(२)

२. वही, १०।३०।३१

३. वही, १५३।२६(१)

४. भागवत पु०, ११।६।१(२) : अनन्तं सुखम् ---- ।
   भगवद्गीता, ६।२१-२८

५. ईशावास्योपनिषद ११, मुण्डक १।१।४-५
   विष्णु पु०, १।१६।४१ : सा विद्या या विमुक्तये ।
   स्कन्द पु०, २।२।१०।६६ : यया वेत्ति जगन्नाथं सा विद्या परिकीर्तिता ।
   भागवत पु०, ११।११।७(२) : विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ।।

६. वराह पु०, ११५।१८

७. मनु, १।८८

८. वराह पु०, १४२।२३(१) : ---- ज्ञानसंस्कार संस्कृताः --- ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पारंगत होते थे ।[१] इनके द्वारा ही प्राचीन भारत में विद्या की उन्नति हुई थी । वे स्वकर्मरत, वेदविद्याव्रत-स्नात, श्रोत्रिय और धर्मपाठक विप्र थे ।[२] इसी लिए सत्य ही कहा गया है कि विप्रों का भूषण विद्या है (विप्राणां भूषणं विद्या) ।[३] ज्ञानहीन ब्राह्मणों का समाज में आदर न था ।[४]

वराह पुराण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणेतर लोग भी ज्ञान-सम्पन्न थे । क्षत्रिय राजकुमार भी वेद-मन्त्रविशारद[५] और वेदवेदांग-सम्पन्न[६] थे । एक मतंग (चाण्डाल) का पुत्र भी सर्वशास्त्र-विशारद[७] था । एक व्याध भी शुद्ध होकर वेद-पुराण का ज्ञानी हो गया और वेदों का अध्यापन करने लगा ।[८] इसके अतिरिक्त समाज में एक ऐसा भी वर्ग था जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को अस्वीकार करते हुए कहते थे कि " मुझे ब्राह्मणों से क्या मतलब ? ब्राह्मण क्या चीज़ है ?[९] किन्तु ब्राह्मण और वेद अनिंद्य कहे गये हैं ।[१०]

दु:शिक्षा

पक्षी-पशु योनियों में घूमने के बाद सुकृति से ही मानुष-योनि मिलती है । पुण्यकर्मों के द्वारा ही मनुष्य, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय योनियों में उत्पन्न

---

[१] वराह पु०, १९७।२२-२४, २०७।२४(१), २८(२)-३०(१)

[२] वही, १९०।१७-१८

[३] गरुड़ पु०, १।११३।१३(१)

[४] वराह पु०, १९०।१२५

[५] वही, ५५।२४(१)

[६] वही, ५५।२८(१)

[७] वही, ८।१०(१)

[८] वही, ३८।२८-३२

[९] वही, ३७।२५

[१०] वही, ९९।४१(१)

होता हुआ ब्राह्मण योनि को प्राप्त करता है।[1] दुरात्मा और पापकर्मा ब्राह्मण दुःशिक्षित होने से आत्म-द्रोही बन जाता है और शरीर घोर व्यसनों से भर जाता है।[2] अतः ब्राह्मणों के सुधार के लिये ही संस्कार-विधान बना था।[3] सुधरा हुआ अथवा सुशिक्षित एवं ज्ञान-संस्कार-संस्कृत ब्राह्मण ही सच्चा शिक्षक था। संस्कारहीन ब्राह्मण अपाक्तेय था।[4]

ब्रह्मयज्ञ एवं ब्रह्मतेज

पंचयज्ञों[5] में ब्रह्मयज्ञ[6] भी सम्मिलित है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार - 'ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन का वेदाध्ययन (या स्वाध्याय) है। --- शतपथ ब्राह्मण ने वेदों के अतिरिक्त अन्य विषयों -- अनुशासन (वेदांग), विद्या ---, वाकोवाक्य, --- इतिहास-पुराण, गाथाएं, नाराशंसी, --- के अध्ययन की बात बतायी है।'[7]

इस विद्यावृत्ति के कारण ही ब्राह्मण को ब्रह्म तेज कहा गया है।[8] तैत्तिरीयोपनिषद में अध्ययन और अध्यापन करने वालों को अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ शास्त्रनिर्दिष्ट मार्ग पर चलना भी आवश्यक बताया गया है।[9]

---

१. वराह पु०, २००।६३-६६
२. वही, २००।६७
३. ए० स्क० पु० पृ० ३००-३०१,
भविष्य पु०, १।२।१४२(१), १४३(२), १४४(१)
४. वराह पु०, १६०।२१(१)
५. पीछे, समाजवर्णन (अ०४)
६. वराह पु०, ८।३०, १६०।१०(१)
७. भा० शा० इ०, प्रथम भाग, पृ० ३८५-३८६
८. वराह पु०, ६।१५
९. तैत्तिरीयोपनिषद, १-६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विद्योपार्जन - एक संस्कार

अतः स्पष्ट है कि लौकिक और पारमार्थिक जीवन में विद्याबल का महत्व था । विद्या के प्रभाव से ही व्यक्ति के चरित्र और स्वभाव में विनयशीलता तथा सौम्यता का विकास होता है, यथा हम सर्ववेदांगतत्व के ज्ञाता नाचिकेता के व्यवहार में पाते हैं । उसके विद्वान पिता, उद्दाल ऋषि ने क्रोधावेश में उससे कहा, " दुर्मते ! शीघ्र ही यमराज को देख ।" परन्तु नाचिकेता ने शान्त चित्त होकर विनयभाव से (विनयात्) उत्तर दिया कि " आपका वाक्य मिथ्या न हो ।"[1]

विद्यारम्भ एवं गणेश-पूजन

विद्या के इस महत्व तथा प्रभाव के कारण हिन्दू समाज-व्यवस्था में ही शिक्षा का भी विधान था और यह विधान उपनयन संस्कार ही था । इसी संस्कार में विद्यारम्भ होता था । निर्विघ्न विद्याप्राप्ति के लिये विघ्नराज (गणेश) की पूजा[2] होती थी । विद्यारम्भ संस्कार के समय गणेश का पूजन अविघ्न करने वाला था ।

गायत्री-सन्ध्या और गुरुकुल

उपनीत विद्यार्थी के जीवन में गायत्री का विशेष महत्व है । इसका शाब्दिक अर्थ है - " हम दिव्य सविता के, जो हमारी[3] धी (बुद्धि या मनीषा) को उत्तेजित करे, देदीप्यमान तेज का ध्यान करते हैं ।" गायत्री के जप से शुचिता प्राप्त होती है और जप करने वाले की इच्छा शक्ति उरी उसकी बौद्धिक विकास

---

१. वराह पु०, १६३।१२-१५

२. वही, १५४।२८

३. क० ध०शा०इ०, भाग १, पृ० २२३

की ओर प्रेरित करती है । ब्रह्मचारी के नित्य करणीय कर्म में सन्ध्या मुख्य है जिसमें वह गायत्री का जप भी करता है । इसीलिए विद्याध्ययन का उपयुक्त स्थान गुरुकुल था जो वन्य-आश्रम में होते थे । यहाँ ही आचार्य उसे आचार-शिक्षा देते हुए विद्याध्ययन कराते थे ।[1] उपनयन के समय बालक किस आचार्य को सौंप दिया जाता था ।

उपनयन(ब्रह्मचर्य)

संस्कारों[2] का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बालक उपनय-संस्कार हो जाने के बाद गुरु-गृह में रहता हुआ विधिपूर्वक विद्याध्ययन करे ।[3] इस प्रकार प्रथम आश्रम(ब्रह्मचारी)का जीवन विद्याग्रहण और सदाचरण ही से सम्बन्धित था ।[4]

शिक्षा-केन्द्र

प्रायः शिक्षा-केन्द्र अर्थात् विद्यालय या गुरुकुल नदी-तटों पर अथवा वन्याश्रमों में होते थे ।[5] वनों और आश्रमों के उपवनों में ही समिधा, कुश, पुष्प और फल तथा नदी और सरोवर आदि में जल सुलभ थे ।[6] वराह पुराण के प्रारम्भ में ही श्वेतद्वीप के एक सर के किनारे नारद ने कुमारी, वेदमाता, सावित्री

---

[1] मनु, २।६६

[2] विष्णु पु०, ३।१०।१-२६, (तृतीय खंड, अ० १०)

[3] वही, ३।१०।१२ : ततोऽनन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरुवेश्मनि ।
यथोक्तविधिनाश्रित्य कुर्याद्विद्यापरिग्रहम् ॥

[4] ऊपर, समाज-वर्णन (अ० ४) में आश्रम-व्यवस्था के साथ ब्रह्मचारी का वर्णन किया गया है ।

[5] वि०पु०भा०, पृ० १४६-१४८

[6] रघुवंश, १।४९-५३

को प्रत्यक्ष देखा था । इसे वेदसर कहा गया है ।[1] पूर्वजन्म में नारद अवन्तिपुर (उज्जयिनी) के निवासी वेद-वेदांग-विद् ब्राह्मण थे और उनका नाम सारस्वत था ।[2] वे गृह त्याग कर तप करने के लिये पुष्कर के सारस्वत-सर पर चले गये थे ।[3] इससे सिद्ध होता है कि अवन्तिपुर के- और पुष्कर अवश्य ही प्रसिद्ध विद्या केन्द्र थे । कृष्ण-बलराम भी अवन्तिपुर विद्या पढ़ने गये थे । वहीं उन्होंने सभी विद्याओं की शिक्षा ग्रहण की थी ।[4] उज्जयिनी के विष्णु मन्दिर में वेद-पारंग-वाचक पुराण पाठ करते थे ।[5] पद्म पुराण से ज्ञात होता है कि पुष्करारण्य (पुष्कर) का वन्याश्रम भी प्रसिद्ध विद्या केन्द्र था ।[6]

वन्याश्रम-मण्डल

गौरमुख मुनि का आश्रम वन-जन्तुओं से भरे हुए अरण्य में विमलजल और सुगन्धि वाले वृक्षों से सुशोभायमान था ।[7] यहां मुनि के सुन्दर आश्रम में शिष्य-गण सामवेद का सुघोष कर रहे थे । यहां तपस्विनी स्त्रियां और ऋषि कन्यायें भी थीं ।[8] वाराणसी के सम्राट् सुप्रतीक का पुत्र दुर्जय था । पिता के बाद वह सम्राट् बना ।[9] उसके दो पुत्र थे जिन्हें लेकर वह इस वन्याश्रम को गया था ।[10]

---

१. वराह पु०, २।६३-८२

२. वही, ३।३

३. वही, ३।७

४. विष्णु पु०, ५।२१।१८-२४

५. वराह पु०, १६७।२५-२६

६. पद्म पु०, ५।१५।२८२-३००

७. वराह पु०, १०।६८-७१

८. वही, १०।७२ : शिष्यैः समुच्चारितसामनादकः ।
सुरूपयोषिदृषिकन्यकायुतः ।
इतीदृशोऽस्यावसथो वराश्रमे
सुपुष्पिताशेषतरुप्रसूनः ॥

९. वही, १०।३३-३५

१०. वही, १०।६७-६८

इस रम्य आश्रम में परमधार्मिक ऋषि रहते थे ।[१] यहां अग्निहोत्रशाला[२] भी थी । यह नैमिषारण्य ही था जिसे ब्राह्मणों का निवास-स्थान (ब्राह्मण निवेशनम्) और ब्रह्मपुरुष (विष्णु) का पुण्यस्थल कहा गया है ।[३] इसी प्रकार के अन्यत्र भी[४] आश्रम थे । हिमालय के तपोवन में अम्बर नाम के मुनि का रमणीक आश्रम था ।[५] हिमालय पर स्थित बदरी प्रसिद्ध तपोवन रहा है जहां व्यास[६] ने भी ध्यानयोगचर्या की थी । यमुना नदी के तट पर कृष्णद्वैपायन (व्यास) का आश्रम था जहां वेदतत्त्वज्ञ ऋषिगण और ज्ञानी लोग चातुर्मास्य व्यतीत करते हुए श्रौत, स्मार्त और पुराणों के सन्देहों को दूर करते थे ।[७]

सुमेरु के उत्तरी भाग में शुकदेव का आश्रम भी ऋषियों और महर्षियों से भरा रहता था, वहां वेद, इतिहास और पुराणों का पठन-पाठन होता था ।[८]

मठ-विहार-देवालय

आश्रमों की भांति मठ[९] तथा विहार-देवालय[१०] भी विद्या-केन्द्र थे । दक्षिणापथ में स्थित प्रतिष्ठान (औरंगाबाद के निकट, गोदावरी-तट पर स्थित पैथन) के विष्णुमन्दिर में वाचक पौराणिकी कथाएं कहते थे ।[११] यहां विद्याध्ययन और अध्यापन भी होता होगा ।

---

१. वराह पु०, ११।१-२
२. वराह पु०, ११।७८-७९
३. वही, ११।१०९-१११
४. वही, ५।४४, ४७।१८, १७४।२-४
५. वही, ९५।५-७
६. वही, १७५।८
७. वही, १७५।१-५
८. वही, १७०।५१-५९
९. वही, १३७।२५४
१०. वही, १३७।८३
११. वही, १९५।३३-३४

संभवत: पाषण्डाश्रम (पाषण्डाश्रमसंस्थश्च)[1] बौद्ध विहार को ही कहा गया है। नालन्दा, वलभी और विक्रमशिला के प्रसिद्ध बौद्ध विहार प्रथित विद्या-केन्द्र थे।

इस प्रकार इन विवरणों से तत्कालीन बौद्धिक जीवन के निर्माताओं, ऋषियों और महर्षियों को देश के विभिन्न भागों में शिक्षा (विद्या) और शुद्ध विचारों की उन्नति करते हुए पाते हैं। उनके आवास (आश्रम), अथवा आचार्यकुल तथा मन्दिर अध्ययन-अध्यापन के केन्द्र थे।

शिक्षा-पद्धति

वराह पुराण से शिक्षा-पद्धति पर प्रत्यक्ष प्रकाश नहीं पड़ता है। स्वाध्याय और प्रवचन[2] अध्यापन के मुख्य साधन थे। गुरु-शिष्यों में वाद-विवादों द्वारा संदेहों को दूर किया जाता था।[3] तैत्तिरीयोपनिषद् में स्पष्टत: गुरु-शिष्यों की संहिति से शिक्षा-पद्धति पर प्रकाश पड़ता है :-

अथाधिविद्यम्। आचार्यः[4] पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम्।

---

[1] वराह पु०, १७४।४४

[2] तैत्तिरीयोपनिषद्, १-६

[3] वराह पु०, १७५।५

[4] तैत्तिरीयोपनिषद्, १-३,
भागवत पु० (११।१०।१२) में भी विद्यासंधि का उल्लेख किया गया है। यहाँ आचार्य को आद्य अरणि और अन्तेवासी को उत्तर अरणि बतलाया गया है। प्रवचन ही संधान है। यह विद्या संधि सुखदायक है।

यहां संहिता-दृष्टि से समझाया गया है कि जिस प्रकार सन्धि में पूर्व और पर वर्णों की संधि में तीसरा नया वर्ण बन जाता है। इसी प्रकार विद्या रूपी संहिता में गुरु पूर्व वर्ण है और श्रद्धा-भक्ति से गुरु की सेवा करने वाला विद्याभिलाषी शिष्य पर वर्ण है। जैसे संधि में दो वर्णों के मेल से तीसरा वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गुरु-शिष्य के सम्पर्क से विद्या या ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस ज्ञान के प्रकट होने (विद्यासंधि) में गुरु का प्रवचन करना और गुरु के पादान्त में बैठने वाले (अन्तेवासी) शिष्य को सुन-समझकर धारण करना ही संधान है।

जब जिज्ञासु शिष्य किसी गुरु अथवा आचार्य से कुछ जानना या सीखना चाहता था तो वह हाथ में समिधा लिये हुए (समित्पाणयो) जाते थे।[1] हाथ में समिधाएं लेकर पास जाना श्रद्धायुक्त गुरु-सेवा का प्रतीक ही था। सत्यकाम जाबाल अज्ञातगोत्र एवं परिचारिणी का पुत्र था। उससे उसकी मां ने उसकी उत्पत्ति का सत्य वर्णन कर दिया था और यह वर्णन सत्यकाम ने भी गुरु हारिद्रुमत गौतम को बता दिया था। बालक और उसकी मां की सत्य-प्रियता से प्रसन्न होकर गौतम ने कहा, "सौम्य, तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूंगा, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्यकुल में जिज्ञासु बालक का प्रवेश उसके स्वभाव और आचरण तथा उसकी जिज्ञासा पर निर्भर करता था। वराह से भी इसका संकेत मिलता है। शिष्य समिधा आदि (दीक्षा-सामग्री) लेकर गुरु की शरण में जाकर कहे - "शाधि शिष्यो स्मि मां गुरो।"[3] आगे शिष्य गुरु को देव-समान समझता हुआ[4] गुरूपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करता था।

---

१. प्रश्नोपनिषद्, १-१

२. छान्दोग्य उपनिषद्, चतुर्थ खंड

३. वराह पु०, १२७।११

४. वही, १२७।६२

गुरु

गुरु परमपूज्य था । गुरु-पूजा[1] की महिमा आज भी सुनाई पड़ती है । भागवतशास्त्र और भगवत्वचन के अतिरिक्त सभी शास्त्रों में गुरु-पूजा की प्रतिष्ठा रही है ।[2] जो व्यक्ति ज्ञान देने वाले अपने गुरु के समक्ष भक्ति से नत मस्तक नहीं होता है, वह बड़ा अपराधी माना गया था ।[3] इस प्रकार गुरुशुश्रूषा[4] शिष्य का परम् धर्म रहा है । इसलिये विद्वान को आचार्य की भक्ति-पूर्वक पूजा करनी चाहिये ।[5]

देविका नदी के तट पर आरुणि तप करते थे । एक व्याध उन्हें मारने के लिये आया । परन्तु उसके हाथों से धनुष-बाण छूट गये और उसने अपने अपराधों तथा पापों को बताते हुए आरुणि से शिष्य बनाने को कहा । किन्तु उसे आरुणि ने अपना शिष्य नहीं स्वीकार किया । वह व्याध वहीं स्थित रहा । एक दिन एक भूखा व्याघ्र आरुणि को मार डालना चाहता था, परन्तु उस व्याध ने उस व्याघ्र को मार डाला । इसी बीच आरुणि के मुंह से ‘नमो नारायणेति’ मंत्र निकल गया ।[6] इस प्राणरक्षक व्याध को आरुणि ने वरदान दिया कि "तुम अब पवित्र हो गये हो और तप करो ।"[7] गुरु का स्मरण कर वह तप करता रहा ।[8] वहीं इसके पास दुर्वासा ऋषि भी आये और गुरुकृपा[9] से

---

[1] वराह पु०, १७४।१, १८३।२७(२)-२८

[2] वही, १८३।३० : तथैव भगशास्त्रेण मम च वचनाच्छुभे ।
सर्वशास्त्रेण कल्याणि गुरुपूजा व्यवस्थिता ।।

[3] वही, १८०।६६ : यः शिष्यो न नमेद्भक्त्या गुरुं ज्ञान प्रदायकम् ।

[4] वही, २०७।४०(२)

[5] वही, २११।७०

[6] वही, ३७।६-२१

[7] वही, ३७।३६-४०

[8] वही, ३८।१,२२

[9] वही, ३८।२४

वह कठिन परीक्षा में सफल हुआ ।[१] उसकी सेवा से प्रसन्न होकर दुर्वासा ने भी उसे वरदान दिया कि " तुम्हें अंगों सहित सरहस्य पदक्रमवाले वेदों का ज्ञान प्राप्त हो । ब्रह्मविद्या और पुराण भी तुम्हें प्रत्यक्ष हों ।[२] " दुर्वासा ने उसे अब सत्यतपा का नाम दे दिया जो महान् ऋषि हो गया । परन्तु उसने प्रश्न किया - मैं व्याध (नीच वर्ण)[३] होने से कैसे वेद पढ़ा सकूंगा (व्याधो भूत्वा कथं ब्रह्मन् वेदानध्यापयाम्यहम्) । दुर्वासा ने कहा कि निराहार रहने से तुम्हारा (व्याध वाला) प्राक्शरीर नहीं रहा, तप से तुम्हारा तपोमय शरीर हो गया है और प्राग्विज्ञान भी नष्ट हो गया है । इस समय तुम शुद्ध शरीर वाले हो (शुद्ध कायोसि) । इसीलिए तुम्हें वेद और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त होगा ।[४] इस प्रकार इस आख्यान से सिद्ध होता है कि गुरु-कृपा और गुरु-प्रसाद से तप-द्वारा शरीर शुद्ध होता है । इस शरीर-शुद्धि से स्वभाव एवं वृत्ति में परिवर्तन होता है । अतः पापमय शरीर का संस्कारों द्वारा धर्म-शरीर बनता है । इस संस्कृत शरीर में ही वेद-पुराणों का ज्ञान प्रकट होता है ।[५] शरीर की अवस्था से उसमें परिवर्तन होते हैं और आठवीं वर्ष के बाद चेष्टा बदलती है ।[६] इसीलिए आठ वर्ष की इस परिवर्तनशील अवस्था में बालक का गुरु के सम्पर्क में आना (उपनयन) बालक के विकास का प्रथम सोपान माना गया था । ब्राह्मण का उपनयन इसी समय होता था ।

अध्यापक (भृतकाध्यापक)

भृतकाध्यापक और सूतकाध्यापक[७] (ब्राह्मण) को श्राद्ध-कर्म के अयोग्य

---

१. वराह पु०, ३८।१-२७
२. वही, ३८।२८-२९
३. वही, ३८।३०(२)
४. वही, ३८।३१-३२
५. वही, ३९।१-७
६. वही, ३९।८-९
७. वही, १४।५

कहा गया है। वेतन लेकर अध्यापक को भृतकाध्यापक कहते थे। इससे स्पष्ट है कि पैसे पर आश्रित अध्यापन करने वाले ब्राह्मण का समाज में सम्मान न था।[1] सूतकाध्यापक का अर्थ[2] स्पष्ट नहीं है। संभवतः सूतकान्न से जीविका चलाने वाला (सूतकान्नोपजीवी) अध्यापक ही सूतकाध्यापक था।

देव-गुरु

किन्तु[3] याज्ञवल्क्य ऐसे मेधावी शिष्य को स्वयं सूर्य (सविता) ने भी शिक्षा दी।

शिष्य (सुशिष्य एवं कुशिष्य)

ऊपर विद्या-संधि[4] के दृष्टांत[5] से गुरु-शिष्य का निकट संपर्क[6] सिद्ध होता है। शिष्यों को आज्ञाकारी और गुरु को प्रणाम करते हुए, उस पर श्रद्धा रखना चाहिए। ऊपर[7] कहा गया है कि शिष्य द्वारा गुरु को प्रणाम[8] न करना अपराध था। यह सुशिष्य के लक्षण थे। ब्रह्मचारी को शुचि तथा

---

१. विष्णु स्मृति (अंग्रेजी अनुवाद, जॉली), ८२।२०,
मनु स्मृति, ३।१५६(१), याज्ञवल्क्य स्मृति, १।२२३(१)
वायु पु०, २।१७।७६(१), ब्रह्म, २२०।१३१(२), कूर्म, २।२१।३१;
ब्रह्मांड, उपोद्, १५।४६(२), मार्कण्डेय, २८।२६(२), विष्णु पु०, ३।१५।६(२)

२. ब्रह्म, २२०।१३२(१)

३. वराह पु०, १७७।४५

४. तैत्तिरीयोपनिषद्, १।३; भागवत, ११।१०।१२

५. वराह पु०, १२७।१२(१)

६. वही, १२७।५२(२)

७. वही, १८०।६६

८. वही, १६७।१५(२), १०४(१)

क्रोधरहित, जितेन्द्रिय और सत्यवादी[1] भी होना चाहिए। इनके प्रतिकूल आचरण करने वाला कुशिष्य कहलाता था। वराह कुशिष्य[2] और सुशिष्य[3] का उल्लेख करता है। सुशिष्य के लिये गुरु-शुश्रूषा परम धर्म था।[4]

व्यासपुत्र शुकदेव की पूर्व-जन्म की कथा से गुरु-शिष्य के सम्बन्धों तथा शिष्य के आचार पर विशेष प्रकाश पड़ता है। स्वयं शुक जी कहते हैं, " मैं सुकोदर नामक वामदेव का शिष्य था। बाल्यकाल से ही श्रद्धान्वित होकर सुनीति से आगे बढ़ता हुआ भ्रष्ट हो गया। तर्क और बार-बार प्रश्न करने पर अन्यायवादी मुझको गुरु नित्य ही रोकते रहते थे। कथा में गुरुओं के पहले ही पूर्वपक्षीय सिद्धान्त जानने की इच्छा से अन्तराक्षेप करने पर गुरु ने मुझे रोका। गुरु के रोकने पर भी जब मैंने नहीं माना तो ऋषियों ने मुझे शाप दे दिया कि यह बटु (विद्यार्थी) बहुत बोलने वाला है, अतः शुक पक्षी हो जायगा।"[5] इससे शिक्षा-पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है। गुरु-शिष्यों में तर्कयुक्त प्रश्नोत्तर भी होते थे। परन्तु कभी-कभी गुरु शिष्य की द्रुतगामिनी मेधा के साथ चलने में असमर्थ थे।

अध्ययन के विषय

ऊपर के विवरणों से ज्ञात होता है कि शिक्षा-पद्धति में वेद-वेदांगों, और शास्त्रों तथा पुराणों का प्रमुख स्थान था।

---

[1] वराह पु०, १४१।६६(१)

[2] वही, १२८।६७(२)

[3] वही, १२८।६८(२)

[4] वही, १६४।५,२३, २०७।४०, २१०।३७

[5] वही, १७०।५७-६१

विविध विद्यायें

'सभी विद्याओं' (समस्त विद्या विधृताय,[1] सर्वविद्या[2]) के उल्लेख से ज्ञात होता है कि विविध विद्यायें थीं। विष्णु पु० के अनुसार विद्यायें १४ थीं- ४ वेद, ६ वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र। इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र मिलाकर कुल १८ विद्यायें हुईं।[3] वराह पुराण से ज्ञात होता है कि वेद-वेदांग,[4] पुराण-इतिहास,[5] धर्मशास्त्र,[6] अर्थशस्त्र-नीतिशास्त्र[7] और काव्य[8] का पठन-पाठन होता था। क्षत्रियों को शस्त्रास्त्र की शिक्षा मिलती थी।[9] इनमें वेदों, पुराणों और शास्त्रों का अध्ययन अधिक प्रचलित था।

कला

कला की भी शिक्षा पुरुषों और स्त्रियों को दी जती थी। राजपुत्र को सर्वशास्त्रों के अतिरिक्त कला का भी ज्ञान होता था।[10] राजपुत्री ६४ कलाओं में दक्ष थी।[11] गान्धर्व, गायन,[12] वादन और नृत्य का भी धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था।

---

[1] वराह पु०, ७३।१८

[2] वही, २१४।५४

[3] ~~वही~~ विष्णु पु०, ३।६।२८-२९

[4] वराह पु०, १०।३०।३१

[5] वही, १८०।७०

[6] वही, १३७।११५-११७, १९१।१

[7] वही, १३७।१७५

[8] वही, ५८।५

[9] वही, १२८।१, १२८।६ के बाद गद्यांश, १२८।८(१)

[10] वही, १२६।१०९

[11] वही, १३७।५५,७७

[12] वही, १३७।१७९, १३८।१,४,४१, १३९।२०-२५,२७,७१,७५,७६,८५, १४६।२२,२४, १५५।६०

विद्या और देव-शक्तियां

देवी को विद्या, पुराण और शिल्प की जननी कहा गया है (विद्या-पुराणशिल्पानां जननी)[1] । वही वेदों के रहस्य को जानने वाली विद्या और अविद्या कहलाती थी ।[2] लोक में सम्पूर्ण वाङ्मय सृष्टि देवी (ब्राह्मी) द्वारा ही स्थापित किया गया है ।[3] वही वेदोत्पत्ति भी है ।[4] शिव के रथ को वेद-विद्यांग रथ कहा गया है । उनके धनुष को गायत्री तथा बाणों को सप्तस्वर बताया गया है । इस सर्वविद्यामय शकट (रथ) के सारथी ब्रह्मा थे ।[5] शिव को सभी वेद-वेदांग और विद्याओं का घर कहा गया है ।[6] इसलिये उनके रथ को वेद-विद्यांग रथ अथवा सर्वविद्यामय शकट कहा गया है । यह भी माना गया है कि ऋगादि (वेद) और सम्पूर्ण शास्त्रों की उत्पत्ति विष्णु से हुई ।[7] विष्णु पुराण के अनुसार सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय शब्दमूर्तिधारी विष्णु का ही शरीर है । वही सम्पूर्ण विद्याओं का आधार भी है । इतिहास, उपवेद, वेदान्त, वेदांग, मनु आदि द्वारा प्रणीत शास्त्र (धर्मशास्त्र), आख्यान, अनुवाक, काव्य और गीत उसी के अंग हैं ।[8] इन उक्तियों से वाङ्मय की दिव्यता और पवित्रता सिद्ध होती है ।

वेदाध्ययन

भारतीय जीवन में वेदों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इनकी रक्षा करना केवल भारतीय आर्यों का ही कर्तव्य न था, प्रत्युत देव-शक्तियों को

---

[1] वराह पु०, ६५।५६
[2] वही, ६५।५७
[3] वही, ६०।४४
[4] वही, ६१।११
[5] वही, २१।३१-३४
[6] वही, २१।७४
[7] वही, ११।१६
[8] विष्णु पु०, १।२२।८१, ८३-८५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी इनकी रक्षा के लिये प्रयत्नशील होना पड़ा है ।[1] वराह के पहले अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि वेदों के नष्ट होने जाने पर विष्णु ने मत्स्य रूप धारण कर उनका उद्धार किया और फिर उन्होंने वेदों को ब्रह्मा को दे दिया ।[2]

सावित्री और वेद

नारद ने श्वेतद्वीप में वेदसर के निकट एक कुमारी को देखकर उससे पूछा कि, " भद्रे तुम कौन हो ----- ।"[3] इसके बाद ही उनका सारा ज्ञान और सब वेदाध्ययन, सब शास्त्र, योग, शिक्षा और सब स्मृतिशास्त्र विस्मृत हो गया ।[4] नारद ने उससे पूछा कि " मेरा वेदों का ज्ञान किस कारण विस्मृत हो गया है ?" कुमारी ने उत्तर दिया कि " मैं वेदों की माता सावित्री हूं । तू मुझे नहीं जानता है । इसीलिये तुम्हारे वेद नष्ट हो गये हैं ।" नारद ने सावित्री के प्रसाद से वेदसर में स्नान कर पुनः वेदों का ज्ञान प्राप्त किया ।[5] गायत्री भी वेदमाता कहलाती है ।[6] इसीलिये वेदाध्ययन करने वाले गुरु और शिष्य दोनों के जीवन में वेदमाता सावित्री-गायत्री का विशेष महत्व है ।

---

१. भागवत, ८।१४।४ : चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुति गणान् यथा ।
तपसा ऋषयो पश्यन् यतो धर्मः सनातनः ॥

२. वराह पु०, १।५, १५।१०, ३६।४८
३. वही, २।६३-६७
४. वही, २।६७(२)-६८ : स्मृत्वा तूष्णीं स्थिता यावत्तावन्मे ज्ञानमुत्तमम् ॥
विस्मृतं सर्ववेदाश्च सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥
योगशास्त्राणि शिक्षाश्च वेदानां स्मृतयस्तथा ।

५. वही, २।७४-८३
६. वही, ३८।३०
हरिवंश, भविष्यपर्व, ३६।१०-११

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वेद, वेदार्थ एवं वेदाध्ययन

हरिवंश के अनुसार गायत्री और वेदों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1] वेदों की उत्पत्ति[2] के बाद ही कहा गया है। "वेद प्रकट होते ही अपने-अपने क्षेत्र का तत्वतः वेदन (उपलब्धि) करते हैं, इसलिये उन्हें वेद की संज्ञा मिली। वे उस ब्रह्मपद का भी वेदन (लाभ) करते हैं। इसलिये भी वेद कहलाते हैं।"[3] इस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति के साथ वेदों का विशेष सम्बन्ध होने के कारण भारतीय बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन में वेदों का विशेष महत्व रहा है। वराह पुराण के अनुसार वेदाध्ययन याज्ञिक व्रत कहलाता था।[4]

वेद विद्या - वेदध्यायी को पाप नहीं लगता है। विष्णु-स्मरण के साथ वेद पढ़ता हुआ विद्यायुक्त और दान करने से ब्राह्मण शुद्ध रहता है।[5] अतः अध्ययन और अध्यापन में वेदों के महत्व के कारण ही इसे वेद विद्या[6] का रूप मिला। शिव का अधिष्ठान (रथ)[7] भी वेद विद्या था और वह सभी वेदांगों (वेदविद्यांगरथं) से युक्त था। इसी को सर्वविद्यामय शकट भी कहा[8] गया है, जिसका चालक ब्रह्मा था (शकटं सर्वविद्याश्च स्वयं ब्रह्मा हि सारथिः)। इससे स्पष्ट है कि सभी विद्याएं वेद-विद्याओं पर ही आधारित थीं।

---

[1] हरिवंश, भविष्यपर्व, १७।४४-४६

[2] वही, १७।४७-४८(१)

[3] वही, १७।४८(२)-४९

[4] वराह, ३७।६

[5] वही, ६८।१७-१८(१)

[6] वही, ६९।२

[7] वही, २१।३१(२)

[8] वही, २१।३३(२)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चारवेद (चतुर्वेद) - वेद चार हैं।[१] ऋग्वेद ही नारायण कहा गया है, जो अग्नि के समान पापों को नष्ट करता है।[२] यजुर्वेद को ब्रह्म माना गया है और सामवेद को रुद्र कहा गया है।[३]

त्रयी - इन तीन महावेदों (त्रयो महावेदा) को ही तीन देव[४] (देवास्त्रय:) अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और महेश मान कर इन वेदों का महत्व ही प्रतिपादित किया गया है। त्रयी अथवा वेदत्रय[५] (वेदास्त्रयो)[६] अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का घोष[७] पवित्र माना गया है। वैदिक धर्म अर्थात् वेदकर्म,[८] ~~और~~ वेद-सिद्धान्त[९] पर आधारित था। त्रयीबाह्य लोग वेदकर्म से बहिष्कृत होकर निन्द्य थे।[१०] उपनिषदों का भी अध्ययन होता था।

यज्ञविद्या - वेदकर्म पर ही यज्ञ विद्या भी आधारित थी।[११]

शास्त्र - संहिताध्ययन[१२] अर्थात् वेदों के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य विभिन्न शास्त्रों का भी अध्ययन-अध्यापन होता था।[१३] पञ्चरात्र[१४] का भी

---

[१] वराह पु०, ५२।९(२)
[२] वही, २।७६
[३] वही, २।७७-७८
[४] वही, २।८०(१)
[५] वही, ७०।२७(१)
[६] वही, ७०।४५(१)
[७] वही, ७१।४(२) : सामऋग्युजुणां स्वनम्
[८] वही, ७२।४
[९] वही, ३९।९-११,१७
[१०] वही, ७१।३९(२)
[११] वही, ४४।११७
[१२] वही, ६६।१०
[१३] वही, ६६।११
[१४] वही, ६६।११,१३,१४,१७,१८

अध्ययन होता था । इसी को भगवच्छास्त्र ('भग शास्त्र' अथवा 'भग संहिता')[1] कहते थे । इसके अतिरिक्त पाशुपतशास्त्र[2] भी प्रसिद्ध था ।

स्मृतियाँ - स्मृतियाँ अथवा धर्मशास्त्र[3] का भी अध्ययन-अध्यापन होता था । मनु का धर्म शास्त्र सर्व प्रसिद्ध था ।[4]

पुराण - ऊपर कहा गया है कि उज्जयिनी और प्रतिष्ठान के विष्णु मन्दिरों में पुराणों का पाठ होता था । उज्जयिनी में मथुरा के प्रसिद्ध विश्रान्ति तीर्थ का माहात्म्य (विश्रान्ति तीर्थ माहात्म्यं)[5] प्रसिद्ध था । भविष्य पुराण[6] और ब्रह्म पुराण (पुराणं ब्रह्मसंशितं)[7] का विशेषोल्लेख हुआ है । भविष्य पुराण को सूर्य भाषित पुराण कहा गया है ।[8] सामान्य रूप से अठारह पुराणों का भी उल्लेख है । कृष्ण द्वैपायन गुरु (व्यास) को १८ पुराणों का ज्ञाता कहा गया है । उनके शिष्य रामहर्षणि थे । ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड नामक १८ पुराण हैं जिनका पठन-पाठन पुण्य कर्म था ।[9]

---

[1] वराह पु०, १२६।६७, १८३।३०

[2] वही, ७०।४२

[3] वही, १३७।११५,११६,११७, १७५।१-५, १९१।१, १९७।१५-१९(१)

[4] वही, ६८।१९

[5] वही, १६७।२५-२६

[6] वही, १७७।३४,५१

[7] वही, २४।१२

[8] वही, १७७।५०

[9] वही, ११२।६८-७३, यहाँ वायु पुराण के स्थान पर शिव पुराण का उल्लेख है ।

काव्य - काव्य[१] का भी अध्ययन-अध्यापन होता होगा । वैवस्वती महानदी का सुन्दर काव्य शैली में वर्णन करते हुए[२] कहा गया है कि यह नदी कवियों की निर्मल अर्थ वाली कृति (काव्य रचना) के समान मनोहर (कान्ता) है :-

या देवतानामपि पूजनीया
तमोनिधीनान्च तथा मुनीनाम् ।
या दृश्यते तोयभरेण कान्ता
कृतिः कवीनामिव निर्मलार्था ।।[३]

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से निम्नांकित स्तोत्र[४] का प्रथम श्लोक दृष्टव्य है :-

परं पराणाममृतं पुराणं
पारं परं विष्णुमनन्तवीर्यं
नमामि नित्यं पुरुषं पुराणं
परायणं पारगतं पराणाम् ।।[५]

इसी प्रकार आगे भी ~~[illegible]~~ इस स्तोत्र में काव्य-गुणों का दर्शन होता है ।

---

१. वराह पु०, ५८।५

२. वही, १६६।२३-३४, बन्धुवर्मन-कुमार गुप्त १ के वत्स भट्टि रचित मंदसोर में दशपुर आदि के वर्णन साम्य से हमें साहित्य-सौष्ठव का परिचय देता है, यथा -

वैवस्वती नाम महानदी सा
शुभा नदीनां प्रवरातिरम्या
प्रयाति मध्ये नगरस्य नित्यं
मातेव पुत्रं परिपालयन्ती ।।२३।। आदि

३. वही, १६६।२८

४. वही, ३।११-२१

५. वही, ३।११

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शिल्प - शिल्प (सुकृतं शिल्पं)[1] भी प्रसिद्ध था । दक्ष रूपकार[2] का उल्लेख मिलता है जो मूर्तिकला और चित्रकला में कुशल था ।[3]

उपसंहार

इस प्रकार स्पष्ट है कि वराह पुराण के युग में भी वेद, वेदांग (छन्द, शिक्षा, कल्प, निरुक्त आदि), गान्धर्व तथा अन्य बहुत शास्त्रों (सर्वशास्त्र) में पारंगत लोग थे ।[4] इस प्रकार विद्या और शिक्षा की उन्नति के मूल कारण गुरु और शिष्यों के सौहार्द सम्बन्ध तथा राजाओं का आश्रय और संरक्षण थे । साथ ही विद्या और विद्यागुरु को दिव्यता प्रदान की गई थी । इस पवित्र-पक्ष के साथ ही साथ प्रकृति के मनोरम वातावरण में शरीर, मन और बुद्धि का सम्यक विकास हुआ था । इस विकास का मूलाधार सरलता, सत्यता, शुचिता और शिष्टता थी ।

---

१. वराह पु०, २०६।४२(१)
२. वही, १८२।२
३. वही, १८२।३(१)
४. वही, १९७।२२-२४

आधार ग्रन्थ सूची

१. संस्कृत ग्रन्थ

क. वैदिक साहित्य

ऋग्वेद ४ भाग : श्रीराम शर्मा, बरेली

ऋग्वेद ५ भाग : वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३–५१

यजुर्वेद : बनारस, १८६६

सामवेद : सं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८७३

सामवेद : सं० आचार्य धीरेन्द्र शास्त्री, आदर्श साहित्य मंडल, रायबरेली, १९५३ ई०

अथर्ववेद : श्रीराम शर्मा, बरेली

ऐतरेय ब्राह्मण : आनंदाश्रम, पूना

ईशादि नौ उपनिषद् (ईश,केन,कठ,प्रश्न,मुंडक, माण्डूक्य,ऐतरेय,तैत्तिरीय) : हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, सं० २०१६

छान्दोग्य उपनिषद् : गीता प्रेस

बृहदारण्यक उपनिषद : गीता प्रेस, सं० २०१४

काठक गृह्यसूत्र : डॉ० वि० कालण्ड, लाहौर, १९२२

वाराह गृह्यसूत्र :

ख. आर्ष काव्य

वाल्मीकि रामायण २ भाग : गीता प्रेस

वाल्मीकि रामायण (क्रि०) : बड़ौदा

वाल्यूम १, बालकांड : जी०एच० भट्ट, बड़ौदा, १९६०

,, २, अयोध्याकांड : पी०एल० वैद्य, बड़ौदा, १९६१–६२

,, ३, अरण्यक कांड : पी०सी० दीवान जी

वाल्यूम ४, किष्किंधा कांड :
वाल्यूम ५, सुन्दर कांड : जी०सी० झाला, बड़ोदा, १९६६
वाल्यूम ६, युद्ध कांड, ३ भाग : पी०एल० वैद्य, बड़ोदा, १९६७,६९,७१
वाल्यूम ७, उत्तर कांड : यू०पी० शाह
महाभारत - ६ भाग : गीता प्रेस
हरिवंश : गीता प्रेस
भगवद्गीता : गीता प्रेस

ग. अर्थशास्त्र (एवं नीतिशास्त्र)

कामन्दकीय नीतिसार, २ भाग : आनन्दाश्रम, पूना, १९५८ ई०, १९६४ ई०
कौटिलीय अर्थशास्त्र : पंडित पुस्तकालय, काशी
अर्थशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद) : डॉ० शाम शास्त्री, मैसूर, १९५१
अर्थशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद) : आर०पी० कांगले, बम्बई, १९६३
नीतिवाक्यामृत : सोमदेव सूरि, माणिक्यचन्द्र जैनग्रन्थमाला,
हीराबाग, बम्बई, १९७६ वि०
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र (बार्हस्पत्यसूत्र) : डॉ०एफ०डब्लू टॉमस, लाहौर, १९२४

घ. धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र संग्रह : कलकत्ता, १८७६
नारद स्मृति :
पराशर स्मृति : एस०वी० प्रेस बम्बई, १९५८ ई०
मनु स्मृति : चौखम्बा, १९७०
याज्ञवल्क्य स्मृति : चौखम्बा, १९६७
विष्णु स्मृति २ भाग : सं०, पं० कृष्णमाचार्य, अड्यार लाइब्रेरी
केशववैजयन्ती संहिता सीरीज़, वाल्यूम ९३, मद्रास, १९६४
सेकरेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट,
वाल्यूम ७ : जुलियस जॉली, मोतीलाल बनास,
(इन्स्टीट्यूट्स ऑफ़ विष्णु) देहली, १९६५
सेकरेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट, वाल्यूम ३३ : मोतीलाल बनास, देहली, १९६५
(माइनर लॉ-बुक्स, नारद-बृहस्पति)

मिताक्षरा : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८८७ ई०

(च) पुराण

अग्नि पुराण : गुरुमंडल, कलकत्ता, सं० २०१४
अग्नि पुराण : सं०, पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, १९६६ ई०
कूर्म पुराण : सं०, डा० रामशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी, १९६८
गरुड़ पुराण : सं०, जीवानन्द, कलकत्ता
गरुड़ पुराण : पंडित पुस्तकालय, १९६३
नारदीय पुराण : यस०वी० प्रेस, बम्बई, सं० १९८०
पद्म पुराण : आनंदाश्रम, पूना
ब्रह्म पुराण : गुरुमंडल, कलकत्ता
ब्रह्मांड पुराण : यस०वी० प्रेस, बम्बई, सं० १९६२
ब्रह्मवैवर्त पुराण : आनन्दाश्रम, पूना, १९३५ ई०
भविष्य पुराण : यस०वी० प्रेस, बम्बई, सन् १९५९
भागवत पुराण : गीता प्रेस
मत्स्य पुराण : जीवानन्द सं०, कलकत्ता, १८७६ ई०
मत्स्य पुराण (हिन्दी अनुवाद) : रामप्रताप त्रिपाठी, हि०सा० सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३
मार्कण्डेय पुराण : रामप्रताप त्रिपाठी, हि०सा०सम्मेलन, प्रयाग,
मार्कण्डेय पुराण : यस०वी० प्रेस, बम्बई
मार्कण्डेय पुराण (अंग्रेजी अनुवाद) : पार्जिटर, वाराणसी, १९६९ ई०
लिंग पुराण : जीवानन्द सं०, कलकत्ता
लिंग पुराण : यस०वी० प्रेस, बम्बई, सं० १९८९
वराह पुराण : श्री हृषीकेश शास्त्री, कलकत्ता, सन् १८९३ ई०
वराह पुराण : खेमराज, यस०वी० प्रेस, बम्बई, १८९७ ई०
वामन पुराण : काशी राज ट्रस्ट, वाराणसी, १९६८
वायु पुराण : यस०वी० प्रेस, सन् १९३३

वायु पुराण (हिन्दी) : रामप्रताप त्रिपाठी, हि०सा० सम्मेलन, प्रयाग संवत् २००७
विष्णु पुराण : गीता प्रेस, संवत् २००६
विष्णु पुराण (अंग्रेजी अनुवाद) : एच०एच० विल्सन, कलकत्ता
शिव पुराण : पंडित पुस्तकालय, काशी
स्कन्द पुराण : एस०वी० प्रेस, बम्बई, १९१० ई०
विष्णु धर्मोत्तरम् : एस०वी० प्रेस, बम्बई
विष्णु धर्मोत्तरम् (भाग ३, अंग्रेजी अनुवाद) : डॉ० प्रियबाला शाह, बड़ौदा
देवी भागवत पुराण : पंडित पुस्तकालय, काशी सं० २०१६
कल्कि पुराण : काशी, संवत् १९६३
नीलमत पुराण : लाहौर, १९२४
जैन पुराण : जिनसेन
आदि पुराण (महापुराण) जिन
हरिवंश पुराण

(ख) अन्य संस्कृत ग्रन्थ

अपराजितपृच्छा : बड़ौदा, १९५०
अभिज्ञान शाकुन्तलम् (कालिदास) : राजेन्द्र मोहन बोस, कलकत्ता, १९५३
कथासरित सागर : सोमदेव सूरी, मोतीलाल ब०दास, देहली, १९७० ई०
काव्यमीमांसा (राजशेखर) : सं०, सी०डी० दलाल एवं पं० आर०ए० शास्त्री, बड़ौदा, १९३४
कुमार संभव (कालिदास) : निर्णय सागर प्रेस, सन् १९३५
कुमार संभव : पंडित पुस्तकालय, काशी, १९६४
कृत्यकल्पतरु, कांड १,६,८,१०-१२,१४ : लक्ष्मीधर, बड़ौदा, १९४८,४४,५०,१९४१,५३,४२,४३,४५
दशकुमार चरित (दंडी)
पातञ्जलयोगप्रदीप : श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीताप्रेस, सं० २०२४

पृथ्वीराजविजय : जयानक, अजमेर

बृहत्संहिता : वराहमिहिर, चौखम्बा, १९५९ ई०

बृहत्कथामंजरी : क्षेमेन्द्र, बम्बई, १९३१ ई०

महावीरचरित : भवभूति, चौखम्बा, १९५५ ई०

मालतीमाधव : भवभूति, चौखम्बा, १९५४ ई०

मृच्छकटिकम् : शूद्रक, मोतीलाल ब०दास, सन् १९६९

यशस्तिलक, २ भाग : सोमदेव सूरी, निर्णय सागर प्रेस, १९०१

यशस्तिलक, पूर्वखंड : सोमदेव सूरी, वाराणसी, १९६०

रघुवंश : कालिदास, चौखम्बा, १९६१ ई०

राजतरंगिणी, २ भाग : कल्हण, होशियारपुर, १९६३ ई०, १९६५ ई०

राजतरंगिणी, २ भाग (अंग्रेज़ी अनुवाद) : सर आरिल स्टाइन, मोतीलाल ब०दास, देहली, सन् १९६१ ई०

स्पंदन : सं० बलराम श्रीवास्तव, वाराणसी, संवत् २०२१

विक्रमोर्वशी : कालिदास, ~~नी~~ चौखम्बा, १९६३

वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) : गीता प्रेस, संवत् २०२४

हर्षचरित (बाण) : सं०, ए०ए० फ्यूरर, बम्बई, १९०९

(ज) संस्कृत बौद्ध साहित्य

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प : मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६४ ई०

जातकमाला : आर्यशूर, पूर्णियाँ, १९५२ ई०

दिव्यावदान : सं०, पी०एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९

महावस्तु (३, खंड) : सं०, ई० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७

(झ) अभिलेख एवं सिक्के

अशोकन इंस्क्रिप्शन्स : डॉ० राधागोविन्द बसाक, कलकत्ता, १९५९

कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, वाल्यूम ३ : फ्लीट, वाराणसी

कार्पस इंसक्रिप्शनम इंडिकेरम, २ भाग, वाल्यूम ४ : डॉ० वी०वी० मीराशी, उटकमंड, १९५५

सेलेक्ट इंसक्रिप्शन्स (भाग १) : डॉ० डी०सी० सरकार, कलकत्ता

हिस्टारिकल ऐंड लिटरेरी इंसक्रिप्शन्स : डॉ० राजबली पांडे, चौखम्बा

क्वाइन्स ऑफ ऐंशेंट इंडिया : सर ए० कनिंघम, वाराणसी, १९६३

कैटलाग ऑफ दि क्वाइन्स आफ ऐंशेंट इंडिया : जॉन एलन, ऑक्सफोर्ड, १९६७

कैटलाग ऑफ दि क्वाइन्स आफ दि गुप्त डाइनेस्टी : जॉन एलन, ऑक्सफोर्ड, १९६७

क्वाइन्स ऑफ ऐंशेंट इंडिया (कैटलाग ऑफ दि क्वाइन्स इन दि इंडियन म्यूज़ियम), वाल्यूम १ : विंसेंट स्मिथ, वाराणसी, १९७२

प्राचीन मुद्रा : आर०डी० बनर्जी (अनुवादक, गौरीशंकर हीराचंद ओझा), काशी ना० सभा, संवत् १९८१

२. आधुनिक ग्रन्थ

(क) हिन्दी

अग्रवाल, डॉ० वी०एस० : प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, १९६४

अग्रवाल, डॉ० वी०एस० : पाणिनिकालीन भारत, बनारस, २०१२

अग्रवाल, डॉ० वी०एस० : भारतीय कला, वाराणसी, १९६६

अग्रवाल, डॉ० वी०एस० : कला और संस्कृति, इलाहाबाद, १९५२

अग्रवाल, डॉ० वी०एस० : मार्कण्डेय पुराण (एक सांस्कृतिक अध्ययन), इलाहाबाद, १९६१

अल्टेकर, डॉ० ए०एस० : प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, बनारस, सं० २००४

अवस्थी, ए०बी०एल० : प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, लखनऊ, १९६४

अवस्थी, ए०बी०एल० : प्राचीन भारतीय भूगोल, लखनऊ १९७२

अवस्थी, ए०बी०एल० : गरुड़ पुराण - एक अध्ययन, लखनऊ, १९६८

अवस्थी, ए०बी०एल० : स्टडीज इन स्कन्द पुराण, पार्ट वन,(हिन्दी) लखनऊ, १९७५

अवस्थी, आचार्य गिरीशचन्द्र : वेदधरातल, काशी, संवत् २०१०

उपाध्याय, प्रो० बलदेव : भारतीय दर्शन, बनारस, १९४८

उपाध्याय, प्रो० बलदेव : धर्म और दर्शन, काशी, १९४५

उपाध्याय, प्रो० बलदेव : पुराण विमर्श, वाराणसी, १९६५

उपाध्याय, भरत सिंह : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल

उपाध्याय, भगवतशरण : कालिदास का भारत, प्रयाग, सं० २०१८

काणे, डॉ० पी०वी० (अनुवादक अर्जुन चौबे) : धर्मशास्त्र का इतिहास, ३ भाग, लखनऊ, १९६५, १९६६

गांगुली, डॉ० डी०सी० : परमारराजवंश का इतिहास, लखनऊ

जायसवाल, के०पी० (अनुवादक रामचंद्र वर्मा) : हिन्दू राज्यतंत्र, २ भाग, ना०प्र०सभा, काशी, सं० २००८, २०१२

दीक्षित, डॉ० प्रेमकुमारी : महाभारत में राज्य-व्यवस्था, लखनऊ, १९७०

दीक्षित, डॉ० प्रेमकुमारी : रामायण में राज्य-व्यवस्था, लखनऊ १९७१

नदवी, सय्यद सुलेमान (अनु० रामचंद्र वर्मा : भारत और अरब के सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९३०

पाठक, डॉ० सर्वानन्द : विष्णु पुराण का भारत, चौखम्बा, १९६७

पाण्डेय, डॉ० राजबली : हिन्दू संस्कार, चौखम्बा, १९६६

पाण्डेय, डॉ० श्यामलाल : जनतंत्रवाद, लखनऊ

बाजपेयी, कृष्णदास : ब्रज का इतिहास, प्रथम खंड, मथुरा, सं० २०११

भट्टाचार्य, डॉ० रामशंकर : अग्निपुराण- विषयानुक्रमणी, वाराणसी,

भट्टाचार्य, डॉ० रामशंकर : इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, १९६३

मजूमदार, डॉ० रमेशचन्द्र (अनु० प्रो० के०डी० बाजपेयी) : प्राचीन भारत में संगठित जीवन, सागर वि०वि०, १९६६

मीराशी, डॉ० वासुदेव विष्णु : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, १९६४

मीराशी, डॉ० वा०वि० : कलचुरि नरेश और उनका काल, भोपाल, सं० २०२२

मोतीचन्द्र : काशी का इतिहास, बम्बई, १९६२

राय, सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८

लाल, डॉ० अंगने : संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, लखनऊ, १९७३

वीणापाणि : हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, वाराणसी, १९६०

शुक्ल, डॉ० डी०एन० : भारतीय वास्तुशास्त्र, लखनऊ, १९५५

(ख) अंग्रेजी ग्रन्थ

अग्रवाल, डॉ० वासुदेव शरण : इंडिया ऐज़, वाराणसी, १९६३ ई०
नोन टु पाणिनि

अग्रवाल, डॉ० वासुदेव शरण : मत्स्य पुराण अ स्टडी, वाराणसी, १९६३

अग्रवाल, डॉ० वासुदेव शरण : वामन पुराण अ स्टडी, वाराणसी, १९६४

अग्रवाल, डॉ० वासुदेव शरण : इंडियन आर्ट, वाराणसी, १९६५

अग्रवाल, डॉ० उर्मिला : खजुराहो स्कल्पचर्स ऐन्ड देयर सिगनीफिकेन्स, न्यू देहली, १९६४

अयंगर, के०वी० रंगास्वामी : ऐस्पेक्ट्स ऑफ सोशल ऐन्ड पोलिटिकल सिस्टम ऑफ मनुस्मृति, लखनऊ, १९५१

अयंगर, के०वी० रंगास्वामी : ऐस्पेक्ट ऑफ ऐंशेंट इंडियन इकनामिक थाट, वाराणसी, १९६५

अयंगर, एस०के० : हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स इन साउथ इंडिया, मद्रास, १९३१

अली, डा० एस० मुज़फ्फर : दि ज्याग्रफी ऑफ दि पुराणाज़, न्यू देहली, १९६६

अल्टेकर, डॉ० ए०एस० : एजुकेशन इन ऐंशेंट इंडिया, बनारस, १९५१

अल्टेकर, डॉ० ए०एस० : राष्ट्रकूटाज़ इन ऐंशेंट इंडिया, पूना, १९६७

अल्टेकर, डॉ० ए०एस० : स्टेट ऐन्ड गवर्नमेंट इन ऐंशेंट इंडिया, डेलही, १९५८
अल्टेकर, डॉ० ए०एस० : पोज़ीशन ऑफ़ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन
अवस्थी, डॉ० ए०बी०एल० : स्टडीज़ इन स्कन्द पुराण, पार्ट वन, लखनऊ, १९६६
आचार्य, डॉ० पी०के० : हिन्दू आर्किटैक्चर इन इंडिया ऐंड अब्रॉड, (ऑक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रेस), इलाहाबाद, १९४४-४६
आचार्य, डॉ० पी०के० : ऐन इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिन्दू आर्किटैक्चर (मानसार) (ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस), इलाहाबाद, १९४६
आध्या, डॉ० जी०एल० : अर्ली इण्डियन इकनामिक्स, बाम्बे, १९६६
आशिरवथम : पोलिटिकल थ्योरी, अपर इंडिया, लखनऊ
बरुआ, डॉ० बेनीमाधव : अशोक ऐंड हिज़ इंसक्रिप्शन्स, कलकत्ता, १९४६
बलराम श्रीवास्तव : ट्रेड ऐंड कामर्स इन ऐंशेंट इंडिया, चौखम्बा, १९६८
बाजपेयी, प्रो० के०डी० (सं०) : दि ज्याग्रफ़िकल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ऐंशेंट ऐंड मैडिवल इंडिया, वाराणसी, १९६७
बार्थ, ए० (अनुवादक- रेव जे०वुड) : दि रिलिजन्स ऑफ़ इंडिया, चौखम्बा, १९६३
बील, सेमुअल : ट्रैवेल्स ऑफ़ ह्वेनसांग, ४ भाग, अनु० गुप्ता, कलकत्ता, १९५८
बील, सेमुअल : ट्रैवेल्स ऑफ़ फाहियान ऐंड सुंग युन, सुशील गुप्ता, १९६४
बुच, एम०ए० : इकनामिक लाइफ़ इन ऐंशेंट इंडिया, २ भाग, बड़ौदा, १९२४
बुद्ध प्रकाश (डॉ०) : ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री ऐन्ड सिविलाइज़ेशन, आगरा, १९६५
बुद्ध प्रकाश (डॉ०) : इंडिया ऐंड दि वर्ल्ड, होशियारपुर, १९६४
बेनी प्रसाद (डॉ०) : थ्योरी ऑफ़ गवर्नमेंट इन ऐंशेंट इंडिया, इलाहाबाद, १९६८
बेनी प्रसाद (डॉ०) : दि स्टेट इन ऐंशेंट इंडिया, इलाहाबाद, १९२८

ईलियट, सी० : हिन्दुइज़्म ऐन्ड बुद्धिज़्म, २ भाग, लन्दन, १९२१
उपाध्याय, भगवतशरण : इंडिया इन कालिदास, देहली, १९६८
कनिंघम, मेजर जनरल सर) अलग्जेंडर : ऐंशेंट ज्याग्रफी ऑफ इंडिया, वाराणसी, १९६३
कन्टवाला, डॉ० एस०जी० : कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि मत्स्य पुराण, बड़ौदा, १९६४
काणे, महामहोपाध्याय डा०पी०वी० : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, ५ वाल्यूम्स, पूना
कांगले, आर०पी० : दि कौटिलीय अर्थशास्त्र (अंग्रेज़ी अनुवाद), बाम्बे, १९६५
कांगले, आर०पी० : दि कौटिलीय अर्थशास्त्र अ स्टडी, पार्ट ३, बाम्बे, १९६५
कुमारस्वामी, डॉ० आनन्द के० : हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन ऐन्ड इंडोनेशियन आर्ट, न्यूयार्क, १९६५
कृष्णदेव : टैम्पेल्स ऑफ नार्थ इण्डिया, डेल्ही, १९६९
केर्फल, डबल्यू : दस पुराण लक्षण, बॉन, १९२७
गोस्वामी, डॉ० भगवतकुमार : दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया, वाराणसी, १९६५
गोंडा, डॉ० के : ऐस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज़्म, यूट्रेट, १९५४
ग्यानी, डॉ० एस०डी० : अग्नि पुराण अ स्टडी, वाराणसी, १९६४
घरपुरे, के आर० : टीचिंग्स ऑफ धर्मशास्त्र, लखनऊ, १९५६
घोषाल, डॉ० यू०एन० : अ हिस्ट्री ऑफ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज़, आक्सफोर्ड यूनी० प्रेस, १९५९
घोषाल, डॉ० यू०एन० : स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर, ओरियन्ट लांगमेन्स, कलकत्ता, १९५७
चटर्जी, डॉ० अशोक : पद्मपुराण अ स्टडी, कलकत्ता, १९६७
चटर्जी, डॉ० असीमकुमार : दि कल्ट ऑफ स्कन्द, कार्तिकेय इन ऐंशेंट इंडिया, कलकत्ता, १९७०
चट्टोपाध्याय, डॉ० सुधाकर : अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, कलकत्ता, १९५८
जान वुड्रोफ (सर) : शक्ति ऐंड शाक्त, मद्रास, १९६५

जायसवाल, के०पी० : हिन्दू पालिटी, बंगलोर, १९५५

जायसवाल, सुविरा : दि ओरीजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑफ़ वैष्णविज़्म, डेलही, १९६७

डे, नन्दलाल : ज्योग्राफ़िकल डिक्शनरी ऑफ़ ऐंशेंट ऐन्ड मेडिवल इंडिया, डेलही, १९७१

त्रिपाठी, डॉ० आर०एस० : हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, डेलही, १९५९

थपलियाल, डॉ० किरनकुमार : स्टडीज़ इन ऐंशेंट इण्डियन सील्स, लखनऊ, १९७२

दडेकर, एस डॉ० आर०एन० : ए हिस्ट्री ऑफ़ दि गुप्ताज़, पूना, १९४१

दास, एस०के० : इकनामिक हिस्ट्री ऑफ़ ऐंशेंट इंडिया

दासगुप्त, डॉ० एस०एन० : हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन फ़िलासफ़ी -५ भाग, केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९६३

दासगुप्त, डॉ० एस०एन० : फ़न्डामेंटल्स ऑफ़ इंडिन आर्ट, बाम्बे, १९५४

दीक्षितार, वी०आर० रामचन्द्र : पुराण इन्डेक्स, ३ भाग, मद्रास, १९५२,१९५५, १९५६

दीक्षितार, वी०आर० रामचन्द्र : गुप्त पालिटी, मद्रास, १९५२

दीक्षितार, वी०आर० रामचन्द्र : मत्स्य पुराण ए स्टडी, मद्रास, १९३५

दीक्षितार, वी०आर० रामचन्द्र : सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ दि वायु पुराण, मद्रास, १९३३

पाटिल, डी०आर० : कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम दि वायु पुराण, पूना, १९४६

पाठक, डॉ० वी०एस० : शैव कल्ट इन नार्दर्न इंडिया, वाराणसी, १९६०

पाठक, डॉ० वी०एस० : ऐंशेंट हिस्टोरियन्स ऑफ़ इंडिया, एशिया प०, १९६६

~~पाठक, डॉ० वी०एस०~~ : ~~शैव कल्ट इन नार्दर्न इंडिया, वाराणसी~~

पार्जिटर, एफ०ई० : ऐंशेंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, डेलही, १९६२

पार्जिटर, एफ०ई० : दि पुराण टेक्स्ट ऑफ़ दि डायनेस्टीज़ ऑफ़ दि कलि एज, चौखम्बा, १९६२

पार्जिटर, एफ०ई० : मार्कण्डेय पुराण, अंग्रेज़ी अनुवाद, वाराणसी, १९६९

पार्सी, एडवर्ड ए० : दि मौखरीज़, मद्रास, १९३४

पुरी, बैजनाथ : इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स, इलाहाबाद

पुरी, डॉ० बैजनाथ : इंडिया इन दि टाइम्स ऑफ़ पतंजलि, बाम्बे, १९५७

पुरी, डॉ० बैजनाथ : दि हिस्ट्री ऑफ़ दि गुर्जर प्रतिहाराज़, बाम्बे, १९५७

पुरी, डॉ० बी०एन० : इंडिया अन्डर दि कुषाणाज़, बाम्बे, १९६५

पुरी, डॉ० बी०एन० : हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेशन, पार्ट वन,

पुसलकर, डॉ० ए०डी० : स्टडीज़ इन एपिक्स ऐंड पुराणाज़, बाम्बे, १९६३

पोद्दार, हनुमान प्रसाद : दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ लव, गीताप्रेस, १९५७ (भक्ति-सूत्राज़ ऑफ़ देवर्षि नारद)

फ़र्कुहर, डॉ० जे०एन० : एन आउटलाइन ऑफ़ दि रैलिजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया, डेल्ही, १९६७

बैनर्जी, डॉ० जे०एन० : दि डवलपमेंट ऑफ़ हिन्दू आइकनोग्राफ़ी, कलकत्ता, १९५६

बैनर्जी, डॉ० जे०एन० : पौराणिक ऐंड तांत्रिक रैलिजन, कलकत्ता, १९६६

बैनर्जी, डॉ० जे०एन० : रैलिजन इन आर्ट ऐंड आर्कियोलाजी, लखनऊ, १९६८

बैनर्जी, डॉ० सुरेशचन्द्र : ए ग्लासरी ऑफ़ स्मृति लिटरेचर, कलकत्ता, १९६३

भट्टाचार्य, तारापद : दि कल्ट ऑफ़ ब्रह्मा, पटना, १९६९

भंडारकर, सर आर०जी०
(सं० नारायण बापूजी उत्गीकर) : कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ सर आर०जी० भंडारकर,
४ वाल्यूम्स, वाल्यूम १- १९३३,
वाल्यूम २ - १९२८,
वाल्यूम ३ -(हिस्ट्री ऑफ़ डेकन) १९२७,
वाल्यूम ४ (वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐंड माइनर रैलिजस सिस्टम्स)- १९२९, पूना (भं०ओ०रि०इं०)

भंडारकर, डी०आर० : सम ऐस्पैक्ट्स ऑफ़ ऐंशेंट हिन्दू पॉलिटी, वाराणसी, १९६३

भगवान सिंह : हिस्ट्री ऑफ़ दि आभीराज़, बड़ौदा

मजूमदार, डॉ० बी०के० : दि मिलिटरी सिस्टम इन ऐंशेंट इंडिया, कलकत्ता, १९६०

मजूमदार, डॉ० ए०के० : चालुक्याज़ ऑफ़ गुजरात, बाम्बे, १९५६

मजूमदार, डॉ० रमेशचन्द्र : ऐंशेंट इंडिया, देहली, १९५२

मजूमदार, डॉ० रमेशचन्द्र : कार्पोरेट लाइफ़ इन ऐंशेंट इंडिया, कलकत्ता, १९२२

मजूमदार, डॉ० रमेशचन्द्र : क्लासिकल अकाउन्ट्स ऑफ़ इंडिया, कलकत्ता, १९६०

मजूमदार, डॉ० रमेशचन्द्र
सं० अनन्त सदाशिव अल्टेकर : दि वाकाटक गुप्त एज़, बनारस, १९५४

मजूमदार (आर०सी०) एवं ए०डी०
पुसलकर : हिस्ट्री ऐन्ड कल्चर ऑफ़ इंडियन पीपुल,
वाल्यूम १-५, भारतीय विद्याभवन, बाम्बे,
१९५१-१९५७

मजूमदार, सुरेन्द्रनाथ : मैक्रिन्डिल्स ऐंशेंट इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई
टॉलमी, कलकत्ता, १९२७

मित्रा, डॉ० एस०के० : दि अर्ली रूलर्स आफ़ खजुराहो, कलकत्ता, १९५८

मिश्रा, डॉ० बी०बी० : पालिटी इन दि अग्नि पुराण, कलकत्ता, १९६५

मुकर्जी, डॉ० राधाकुमुद : लोकल गवर्नमेंट इन ऐंशेंट इंडिया, आक्सफोर्ड, १९२०

मुकर्जी, डॉ० राधाकुमुद : हर्ष, लन्दन, १९२६

मुकर्जी, डॉ० राधाकुमुद : दि गुप्त इम्पायर, बाम्बे, १९५२

मुंशी, के०एम० : ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश, २ भाग, बाम्बे, १९५५

मुंशी, के०एम० : टु बद्रीनाथ, बाम्बे, १९५३

मुंशी, के०एम० : सोमनाथ-दि श्राइन इटरनल, बाम्बे, १९५२

मोतीचन्द्र (डॉ०) : ज्याग्रफिकल ऐन्ड इकनामिक स्टडीज़ इन दि
महाभारत : उपायन पर्व, लखनऊ, १९४५

मोनियर विलियम्स (सर) : हिन्दुइज़्म, डेल्ही, १९७१

रे, डॉ० एच०सी० : डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ नार्दर्न इंडिया,
२ भाग, कलकत्ता, १९३१, १९३६

रायचौधरी, डॉ० हेमचन्द्र : मैटीरियल्स फ़ार दि स्टडी आफ़ दि अर्ली
हिस्ट्री आफ़ दि वैष्णव सेक्ट, न्यू डेल्ही, १९७५

ललन जी गोपाल (डा०) : इकनामिक लाइफ़ ऑफ़ नार्दर्न इंडिया,
देल्ही, १९६५

ला, डा० बी०सी० : ज्याग्रफ़िकल एसेज़, लन्दन, १९३७

लुडविक स्टर्न बैक (डॉ०) : चाणक्य नीति टैक्स्ट ट्रैडिशन (वाल्यूम १, पार्ट २, होशियारपुर, १९६४

व्यास, शान्तिकुमार नानूराम : इंडिया इन दि रामायण एज, देहली, १९६७

विर्जि, डॉ० कृष्णकुमारी : ऐंशेंट हिस्ट्री ऑफ़ सौराष्ट्र, बाम्बे, १९५२

विन्टरनित्ज़, एम० : ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पार्ट १, कलकत्ता, १९५९

विन्टरनित्ज़, एम० : ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पार्ट २, कलकत्ता, १९६३

शाह, डॉ० प्रियबाला : विष्णुधर्मोत्तर (तृतीय खंड), (अंग्रेज़ी अनुवाद), बड़ौदा, १९६१

शुक्ल, डॉ० डी०एन० : वास्तुशास्त्र, वाल्यूम १ (हिन्दू साइंस आफ़ आर्किटैक्चर), लखनऊ १९६०

शुक्ल, डॉ० डी०एन० : वास्तुशास्त्र, वाल्यूम २ (हिन्दू कैनन्स आफ़ आइकनोग्राफ़ी ऐंड पेंटिंग), लखनऊ, १९५८

संकालिया, डॉ० एच०डी० : प्रिहिस्ट्री ऐंड प्रोटोहिस्ट्री इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान, बाम्बे, १९६२

सचाउ, एडवर्ड सी० : अलबेरूनीज़ इंडिया, देहली, १९६४

सरकार, डॉ० डी०सी० : स्टडीज़ इन ज्याग्रफ़ी आफ़ ऐंशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया, देहली, १९६०

सरकार, डॉ० डी०सी० : इंडियन एपिग्राफ़िकल ग्लासरी, देहली, १९६६

सरकार, डॉ० डी०सी० : लैंडलार्डिज़्म ऐन्ड टिनैन्सी इन ऐंशेंट इंडिया, लखनऊ, १९६९

सरकार, डॉ० डी०सी० (सं०) : शक्ति कल्ट ऐंड ऐंशेंट इंडियन ज्याग्रफ़ी, कलकत्ता, १९७०

सरकार, डॉ० डी०सी० : शक्ति कल्ट ऐंड तारा, कलकत्ता, १९६७

सिंह, डॉ० आर०बी० : हिस्ट्री ऑफ़ दि चाहमानाज़, वाराणसी, १९६४

सिंह, डॉ० रामचन्द्रप्रसाद : किंगशिप इन नार्दर्न इंडिया, देहली, १९६८

सिनहा, डॉ० बी०पी० : दि डिक्लाइन ऑफ़ दि किंगडम ऑफ़ मगध, पटना, १९५४

सिनहा, पूर्णेन्दु नारायण : अ स्टडी ऑफ़ दि भागवत पुराण, अभार, मद्रास, १९५०

सैलीटोर, डॉ० भास्कर आनन्द : ऐंशेंट इंडियन पॉलिटिकल थाट ऐंड इंस्टीच्यूशन्स, बाम्बे, एशिया प०हा०, १९६३

शर्मा, डॉ० दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्टीज़, देहली, १९५९

शर्मा, डॉ० आर०एस० : ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ पॉलिटिकल आइडियाज़ ऐंड इंस्टीच्यूशन्स,

शर्मा, डॉ० आर०एस० : इंडियन फ्यूडलिज़्म, कलकत्ता, १९६५

शास्त्री, के०ए० नीलकान्त : अ हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया, मद्रास, १९५५

शास्त्री, के०ए० नीलकान्त (सं०) : अ काम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, वाल्यूम २, कलकत्ता, १९५७

शिवानन्द (स्वामी) : लार्ड शिव ऐन्ड हिज़ वरशिप, शिवानन्दनगर, ऋषिकेश, १९६२

स्मिथ (विंसेंट) : अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, आक्सफ़ोर्ड, १९२४

स्मिथ, एच०डैनियल : अ सोर्सबुक ऑफ़ वैष्णव आइकनोग्राफ़ी, मद्रास, १९६९

हाज़रा, डॉ० आर०सी० : स्टडीज़ इन दि पुराणाज़ रिकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स ऐंड कस्टम्स, ढाका, १९४०

हाज़रा, डॉ० आर०सी० : स्टडीज़ इन दि उपपुराणाज़, भाग १, कलकत्ता, १९५८
,, ,, ,, २, ,, १९६३

हापकिन्स, ई० डबल्यू : रिलिजन्स ऑफ़ इण्डिया, लन्दन, १८८९

लखनऊ

Library • Lucknow •

State Museum Library
Lucknow

राज्य संग्रहालय
प्रो बी एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ